श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

गौडीय सेनाधिपति श्रील श्रीजीवगोस्वामी प्रभुपाद विरचितः

सर्वसम्बादिनी एवं विनोदिनी टीकापेतः

श्रीभगवत् सन्दर्भः

हिन्दी अनुवाद सहित

गौडीयसम्प्रदायाचार्य

श्रीहरिदास शास्त्रीणा सम्पादितः

आधुनिक प्रतिलिपि संस्करण

पण्डित श्रीरघुनाथ दास शास्त्रीजी महाराज

व्याकरण,वेदान्तदर्शन,(श्रीधामवृन्दावन)

www.bhaktidarshan.org

Whatsapp +918218476676

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे

द्वितीयः

("सर्वसम्वादिनी एवं विनोदिनी" टीकोपेतः)

श्रीभगवत्सन्दर्भः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, कालीदह, पो० वृन्दावन ।
जिला—मथुरा (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास ।
पुराणा कालीदह ।
पो०—वृन्दावन ।
जिला—मथुरा । (उत्तर प्रदेश)

द्वितीयसंस्करणम्—पञ्चशतम्

प्रकाशनतिथि

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्री-श्रील विनोदविहारी गोस्वामी प्रभु विरह तिथि
पौष कृष्णा द्वितीया १०।१२।८४

श्रीगौराङ्गाब्द ४९८

मुद्रकः—

श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

❋❋❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋❋❋

विज्ञप्ति



"**भगवत्सन्दर्भ**" नामक ग्रन्थ—"भागवत सन्दर्भ" अपर नाम षट् सन्दर्भ के क्रम पर्य्याय में द्वितीय सन्दर्भ है। कलियुग पावन स्वभजन विभजन प्रयोजनावतार श्रीचैतन्यदेव के मनोऽभीष्ट श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के प्रमाणानुसार व्रजभक्ति प्रतिपादन—निबन्धन तदीय अनुचर श्रीरूप, सनातन, गोपालभट्ट, रघुनाथभट्ट, रघुनाथदास एवं श्रीजीव गोस्वामीचरण अक्लान्त परिश्रम किये थे। उक्त षट् गोस्वामी के एकतम अद्वितीय दार्शनिक जगज्जनहितव्रती पूज्यपाद श्रीजीव गोस्वामी ही प्रस्तुत ग्रन्थ रचयिता हैं, तदीय आशीर्वाद स्वरूप प्रस्तुत सन्दर्भ—जगज्जीव के हृदयस्थ अज्ञानान्धकार विदूरित कर तः तत्त्व की विमल ज्योति के सहित भक्ति की स्निग्धधारा से मानव हृदयस्थ विषम विष-ज्वाला को प्रशमित कर करुणामय श्रीभगवान की शाश्वत मूर्त्ति की दिव्य च्छवि को उद्भाषित करने में सक्षम है।

विषम विष-ज्वाला जर्जरित मानव को मुक्त करने के निमित्त आदि सृष्टि के समय से अद्यावधि विविधोपायोद्भावित होते रहते हैं, तन्निमित्त ही अपौरुषेय वेद-पुराण, संहितादि एवं वेदकल्प त्रिकालज्ञ ऋषिगण प्रणीत विभिन्न दर्शनशास्त्र प्रचारित हुये हैं, एवं विशेष श्रेणीभुक्त मानव के निमित्त देहातमवाद प्रकाशक ग्रन्थ का प्रणयन भी हुआ है।

महर्षि कृष्ण द्वैपायन के द्वारा वेद का विभाग हुआ है। वेद शब्द से—वेद, पुराण, ब्रह्मसूत्रादि का बोध होता है। कारण— उक्त ग्रन्थ समूह वेदोक्त तात्पर्य से मण्डित हैं। जिससे परतत्त्व का ज्ञान होता है वह वेद है, एवं वेदान्तादि शास्त्र हैं। प्रचलित वेदादि शास्त्र के मध्य में परतत्त्व प्रकाशक अंश व्यतीत यज्ञादि प्रतिपादकांश, आयुर्वेद, धनुर्वेद प्रभृति परिदृष्ट होते हैं, उसमें साक्षात् रूप में वेद लक्षण विद्यमान न होने से भी वे सब उपेक्षणीय नही हैं, कारण उक्त अंश समूह का एक ही उद्देश्य है।

वैदिक आदेश की द्विविध धारा हैं, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति। प्रवृत्ति मार्ग में ऐहिक पारत्रिक विविध सुख भोगादि का उपाय वर्णित है, किन्तु वह भी निवृत्ति पर वाक्य के याथार्थ्यानुभव के प्रति श्रद्धा सम्पन्न कराने के निमित्त ही है।

चिरन्तन भोग लिप्सारत चित्त को सहसा सर्वभोगविवर्जित होने का उपदेश प्रदान करने से उसके पक्ष में ग्रहण करना असम्भव अथवा असाध्य ही होगा। सुतरां प्रवृत्ति मार्गावलम्बन द्वारा ऐहिक पारत्रिक सुख-भोग के प्रलोभन से प्रलुब्ध कर मुग्ध जीव के हृदय में शास्त्रीय श्रद्धा सम्पादन हेतु काम्य कर्मादि का उपदेश प्रदान किया गया है।

विविध विषयों का वर्णन वेद में संक्षिप्त रूप से होने के कारण उससे यथार्थ अर्थोपलब्धि करना साधारण व्यक्ति के पक्ष में दुरूह है, अतएव पुराण ग्रन्थ का आविर्भाव हुआ। पुराण में वेदोक्त विषय समूह का, आख्यायिका के द्वारा परिस्फुट अर्थ का परिवेषण हुआ हैं, अतएव "पूरण" कार्य्य निर्वाहक के कारण "पुराण" नाम सफल हुआ है, इसको पञ्चम वेद भी कहते हैं।

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्"

छान्दोग्योपनिषद में सुस्पष्ट वर्णित है—

"इतिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्" मैत्रेय उपनिषद् में पुराण का अपौरुषेयत्व एवं वेदत्व स्वीकृत हुआ है।

"पुराण संहिताश्चक्रे पुराणार्थ विशारदः" संहिता शब्द का अर्थ—"उपाख्यानैः पुरावृत्तै गथाभिच्छन्द

विशेषैश्च संहिता" पुरावृत्तादि उपाख्यान का उपदेश से जिसमें जीव हितकर सामग्री विद्यमान है, वह ही संहिता है, मन्वादि संहिता में भी मानव का ऐहिक पारत्रिक माङ्गल्य विधायक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का एवं वर्णाश्रमादि धर्म का विविध उपदेश विद्यमान है।

व्यर्थ तर्कनिष्ठ संशयाकुलित चित्त व्यक्तिगण के पक्ष में यथार्थ वस्तु को यथार्थ रूप में ग्रहण करना सम्भव नहीं है, तज्जन्य "नेत्रार्पित अङ्गुलि" रीति से वस्तु दर्शन कराने के निमित्त दर्शन शास्त्र की आवश्यकता है। "दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेन" अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व विषयक यथार्थ ज्ञान होता है, वह ही दर्शन है, तत्त्वज्ञानलाभ हेतु दर्शन शास्त्राध्ययन अवश्य कर्त्तव्य है, अन्यथा वास्तविक तत्त्व हृदयङ्गम नहीं होगा।

"यथारुचि यथामति" रीति से प्रेरित होकर विविध दर्शन शास्त्र का प्रणयन हुआ है, तन्मध्य में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, मीमांसा वेदान्त नामक षड् दर्शन का ही प्राधान्य है, सर्वदर्शन संग्रह ग्रन्थादि में एतद्व्यतीत दर्शन का भी उल्लेख है—किन्तु वे सब वेदान्तादि के द्वारा निरस्त होने के कारण आर्य्य दर्शन नाम से अभिहित नहीं होते हैं।

उपनिषद् को मूल रूप में अङ्गीकार कर अध्यात्मतत्त्वविद्मनीषिवृन्द की बहु दर्शिता से जिस तत्त्व का प्रकाश हुआ है, वह ही वास्तविक दर्शन है।

परतत्त्वानुसन्धान करना ही दर्शन शास्त्र का मुख्य उद्देश्य होने पर भी अवान्तर रूप में जीव तत्त्व, प्रकृति तत्त्व, सृष्टि तत्त्व, कर्मानुसार जीव का प्राकृतदेह देव, मनुष्य, पशु, कीट, पतङ्गादि देह धारण का विषय भी सकारण वर्णित है, उक्त तत्त्व समूह का सम्यक् ज्ञानलाभ व्यतीत कर्मपाश मुक्त होकर सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है।

अनीप्सित रूप से भी जीव को देह धारण क्यों करना पड़ता है? शरीर को अवलम्बन कर विविध दुःख भोग भी क्यों होते हैं? कैसे दुःख के कराल कवल से निष्कृति लाभ होगा, इसका ही विशद प्रदर्शन होने के कारण शास्त्र का नाम दर्शन हुआ है। चक्षुरादि इन्द्रियसे जो कुछ चाक्षुष प्रत्यक्ष हम सब करते हैं, वे सब यथार्थ दर्शन नहीं हैं, अतीन्द्रिय विषय का ज्ञान जब तक मानव का नहीं होता है तब तक मानव अज्ञानाच्छन्न अथवा अन्ध रहता है। त्रिकालदर्शी ऋषिगण साधन बल से जीव की विद्या एवं अविद्या, गति एवं अगति को जानते थे। वे सब मनीषिवृन्द अधिकारानुरूप विभिन्न दर्शन शास्त्र प्रणयन पूर्वक मानव को तत्त्वोपदेश प्रदान किये हैं। स्थूल नश्वर विषय प्राधान्याभिमुखी चार्वाकादि दर्शन स्वाभाविक रोचक होने पर भी नित्य आत्मतत्त्व प्रतिपादक षड् दर्शन की ही प्रतिष्ठा है।

ज्ञानी मुमुक्षु सम्प्रदाय के निकट वैशेषिक, न्याय पातञ्जलादि दर्शन से भी वेदान्त दर्शन के प्रति समधिक समादर दृष्ट होता है। "कारण—यस्य भासासर्वमिदं विभाति" श्रुति के अनुसार श्रीभगवत् शक्ति के द्वारा सर्व वस्तु विकसित हैं। इस अनुभूति से ही परमाण्वादि कारण वाद के प्रति तादृश आस्था न होकर वेदान्त का समादर होता है।

देहात्मवादी चार्वाक्—प्रत्यक्ष मात्र को ही प्रमाण मानते हैं, देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं, देहादि सुख सम्भोग को पुरुषार्थ मानते हैं, आत्मज्ञ व्यक्तिगण के पक्ष में उक्त मत परित्याग होने पर भी स्थूलदर्शी अज्ञ के पक्ष में वह वाद स्वीकृत ही है। ईश्वर के अनुशासन में सुनिश्चित मति सम्पन्न को आस्तिक कहते हैं, ईश्वर वाक्यों में अनास्था सम्पन्न व्यक्ति को नास्तिक कहते हैं, स्थूल वाद को श्रेष्ठ मान कर जब तक चलते हैं, सूक्ष्म विषय का अनुसन्धान नहीं करते हैं, तब तक—"अन्नं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" से स्थूल का ही ज्ञान होता है, एवं स्थूल के अवलम्बन से विराट् मूर्त्ति की कल्पना भी होती है। यह प्रत्यक्ष वाद है, इसका अस्वीकार नहीं होता है। जब तक शास्त्रानुगत्य से सच्चिदानन्द स्वरूप की सत्‌चित् आनन्द शक्ति का ज्ञान एवं उनके कार्य समूह का परिज्ञान नहीं होता है, तब तक स्थूल में ही आसक्त होना पड़ता है।

आस्तिक प्रवर भक्ताग्रणी अर्जुन की भी इस प्रकार स्थिति हो गई थी, स्वजन वियोगाशङ्का से अर्जुन मुह्यमान ही गये थे। वर्त्तमान काल में भी परलोक विश्वासी परम आस्तिक व्यक्ति को भी मायिक नश्वर देहादि में अत्यासक्त देखा जाता है। अतएव कहना असमीचीन नहीं होगा कि—देहात्मवाद की विस्तृति अत्यधिक नहीं है।

भक्त प्रवर प्रह्लाद ने कहा भी—"कौमार आचरेत् प्राज्ञ: धर्मान् भागवतानिह" कारण देह—"तदप्यध्रुवमर्थदः" है। अर्थात् कुमार काल से ही भागवत धर्म का आचरण करें, कारण—शरीर अनित्य होने पर भी अर्थप्रद है। इससे प्रतीत होता है कि—अर्थदातृत्व के कारण देह की आवश्यकता एवं साफल्य समधिक है। अतएव समस्त कार्य्य सम्पादन में देह रक्षा अवश्य कर्त्तव्य है, अन्यथा कोई भी कार्य्य सम्पादित नहीं हो सकते हैं।

अद्वैत तत्त्व वाद गुरु श्रीपाद शङ्कराचार्य—परिदृश्यमान जगत् को ब्रह्म रूप में निर्देश किये हैं, किन्तु उनके उपदेश में स्थूल वाद लुक्कायित है। अवश्य उनका उद्देश्य स्वतन्त्र है, कारण—बड़िशामिष न्यायालम्बन से उपदेश न करने पर अज्ञान को आयत्त में नहीं किया जा सकता है, तज्जन्य ही आपने नवोद्भावित मायावाद की कल्पना की है।

वाचस्पति मिश्र ने तो कह ही दिया है—"अनेन स्फुटितोऽयं मायावादः"

कल्पित शून्यवाद की विभीषिका में जगत् निमज्जित होने पर पूज्यपाद श्रीमत् शङ्कराचार्य ही पुनर्वार श्रौत मत संस्थापन एवं प्रचार पूर्वक जगत् को उद्भाषित किये थे। आपातत: दृष्टि से उनके मत में साकार वस्तु मात्र ही मायिक है, अतएव निराकार की प्रहेलिका प्रतीत होती है। किन्तु यथार्थ रूप से उनके द्वारा प्रतीत ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि—उस विषय में उनका हार्द्दिक निर्भर नहीं है। तदीय ब्रह्म सूत्र भाष्य में उक्त तथ्य पोषक अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। आचार्य का उक्त मत सर्वत्र विशेष प्रतिष्ठित होने पर भी वह सार्वजनीन नहीं है।

वेदान्त दर्शन शब्द से ब्रह्म सूत्र अथवा व्यास सूत्र का बोध आपातत: होने पर भी वह श्रुति, न्याय एवं स्मृति रूप प्रस्थानत्रय में विभक्त है, उपनिषद्—श्रुति प्रस्थान, ब्रह्म सूत्र—न्याय प्रस्थान एवं गीतादि स्मृति प्रस्थान है। उक्त प्रस्थानत्रय से ही वेदान्त शास्त्र की पूर्णता है।

श्रीकुमारिल एवं शङ्कराचार्य के समय से ही सनातन धर्म का परिचय उपलब्ध होता है। श्रीपाद आचार्य शङ्कर के अव्यवहित उत्तर काल में श्रीरामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ, श्रीसम्प्रदायी नाम से आप सुविश्रुत हैं।

आपने तथा कथित निर्विशेष अद्वय वाद की आलोचना कर कहा है—"निर्विशेष ब्रह्म सर्वथा अप्रतिष्ठित हैं"। आपने स्वतन्त्र विशिष्टाद्वैत वाद का संस्थापन किया है। आपके मत में ब्रह्म—सगुण हैं, तत् सृष्ट—जगत् सत्य है, अशेष कल्याण गुणगण रत्नाकर ब्रह्म जगत् के सर्वविध कारण हैं—जीव उनका अंश है, ब्रह्म—जीव एवं जगदंश के सहित अद्वय भाव में विराजित होने के कारण ही विशिष्टाद्वैत वाद है। भक्ति—मोक्षलाभ का एकमात्र उपाय है, सालोक्यादि मुक्ति ही उनका लक्ष्य है।

उक्त समय में श्रीमन्मध्वाचार्य का भी आविर्भाव हुआ था। आप द्वैतवादी थे, आपने ब्रह्म सूत्रादि भाष्य में तत्त्वमस्यादि वाक्य का अर्थ, पुराण सिद्धान्त वाक्य के सहित ऐक्य स्थापन कर ब्रह्म के सहित जीव का चित् सादृश्य किया है।

उनके मत में जीव नित्य है एवं भगवत् दास है। श्रीमध्व मत् का संग्रह प्रमेयरत्नावली में इस प्रकार है—

"श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्च भावंगताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥"

श्रीजीव गोस्वामी प्रणीत दार्शनिक ग्रन्थ समूह में श्रीरामानुजीय एवं श्रीमाध्व सम्मत सिद्धान्त गृहीत होने पर भी आपका सिद्धान्त अपर किसी भी मत में अन्तर्भुक्त नहीं है। आपके मत में—अचिन्त्य भेदाभेद वाद है, सर्व सम्वादिनी में आपका कथन इस प्रकार है—

"अतो भेदाभेदवादो विशिष्ट वस्त्वपेक्षयैव प्रवर्त्तताम्। अभेद वादश्च विशेष राहित्येनैवेति। अपरेतु "तर्काप्रतिष्ठानात्" भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्मर्य्याद दोष सन्तति दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतया चिन्तयितुमशक्यतया तद्भेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्य भेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदावेव—अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।।"

महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन का हृदय—ब्रह्मसूत्र पर्यन्त शास्त्र समूह प्रणयन करने के बाद भी अशान्त था। चित्त में शान्ति प्राप्त करने के निमित्त ही भगवत् कृपालब्ध ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्यभूत श्रीमद् भागवत ग्रन्थ प्रकाश पूर्वक श्रीभगवत्तत्त्व का द्वार उद्घाटन आपने किया। श्रीमद् भागवतस्थ श्लोकों के द्वारा ब्रह्मसूत्रों का यथार्थ समन्वय मत्प्रणीत "वेदान्त दर्शन" नामक ग्रन्थ में द्रष्टव्य।

भगवत् कृपा व्यतीत भगवत्तत्त्व की स्फूर्त्ति नहीं होती है। अनुमानादि लौकिक प्रमाण समूह के द्वारा ईश्वर प्रतिपन्न हो सकते हैं, किन्तु भगवत्तत्त्व की स्फूर्त्ति—भगवत् कृपा सापेक्ष है। भा० १०।१४।२९ में श्रीब्रह्मा ने कहा है—

"अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसाद लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो नचान्य एकोऽपि चिरंविचिन्वन्।।"

अतएव दर्शनादि एवं श्रीमद् भगवद् गीतोपदिष्ट तत्त्व समूह की सम्यक् पूर्त्ति अकृत्रिम ब्रह्म सूत्र भाष्यभूत श्रीमद् भागवत में ही हुई है।

उक्त श्रीमद् भागवत १।२।११ श्लोक—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।"

के अवलम्बन से ही षट् सन्दर्भाख्य भागवत सन्दर्भ की रचना हुई है। **भगवत् सन्दर्भ**-उक्त सन्दर्भ के द्वितीय खण्ड है। इसमें प्रधानतः दश विषय विस्तारित हुये हैं—

[१] अद्वय ज्ञान तत्त्व की ब्रह्म, परमात्म, भगवद्रूप में त्रिविध स्फूर्त्ति, ब्रह्म—भगवान् का असम्यक् आविर्भाव, ब्रह्म परमात्म विचार, [२] वैकुण्ठ एवं विशुद्ध सत्त्व निरूपण, [३] भगवत् स्वरूप का सशक्तिकत्व एवं विरुद्ध शक्त्याश्रयत्व, [४[शक्ति का अचिन्त्यत्व, स्वाभाविकत्व एवं नानात्व स्थापन, [५] अन्तरङ्गा, वहिरङ्गा शक्ति प्रभृति का भेद वैशिष्ट्य। [६] गुणों की स्वरूप भूतता, नित्यता एवं स्वरूप गुण निरूपण। [७] भगवद् विग्रह की नित्यता, विभुता, सर्वाश्रयता, स्थूल सूक्ष्मातिरिक्तता, स्वप्रकाशता, जन्म-कर्म नित्यता, रूप-गुण लीला मयता, नाम-नामी की अभिन्नता, अप्राकृतत्व, पूर्ण स्वरूपता, परिच्छद प्रभृति का स्वरूपांशत्व, [८] वैकुण्ठ, पार्षद एवं त्रिपाद विभूति का अप्राकृतत्व, वैकुण्ठ का स्वरूप भूतत्व, कर्मादि द्वारा अप्राप्यता, नैर्गुण्याश्रयत्व, मोक्ष सुख तिरस्कारित्व, भक्ति लभ्यत्व एवं सच्चिदानन्द रूपता, [९] प्राप्त ब्रह्मानन्द की भी भगवत् सेवा स्पृहा, स्वरूपानन्द से भजनानन्द की श्रेष्ठता, ब्रह्म एवं भगवान् में तारतम्य, भगवत्ता में ही परिपूर्णता, सर्व वेदाभिधेयता, स्वरूप शक्ति का विवरण। [१०] भगवान् की वेदैकवेद्यता प्रभृति।

एतत्सह भगवत् सन्दर्भ की अनुव्याख्यारूप सर्व सम्वादिनी ग्रन्थ भी सन्निविष्ट है—उसमें निम्नोक्त विषय समूह आलोचित हुये हैं— (१) शक्तिवाद स्थापन (२) शक्ति अस्वीकार से दोष, द्विधर्मता—विज्ञानानन्द रूपता (३) आनन्दमयोऽभ्यासात् सूत्र व्याख्या (४) निर्विशेष वाद खण्डन (५) त्रिविधभेद विचार (६) अतकर्याचिन्त्य भावत्व (७) शक्ति की स्वाभाविकता (८) शक्ति की त्रिविधता (९) भगवद्

की नित्यता, परिच्छिन्नत्व अपरिच्छिन्नत्व, (१०) ब्रह्म का विशेषातिरिक्तत्व, (११) अन्नमयादि पुरुषद्योतक तैत्तिरीयक श्रुति की व्याख्या, (१२) श्रीभगवान् का पूर्णतत्त्वाकारत्व, (१३) श्रीकृष्ण में सर्व शास्त्र समन्वय, (१४) परब्रह्म का वाच्यत्व दुर्निवार्य इत्यादि।

श्रीभगवान् श्रीकृष्ण—नदीय विश्वस्थ वस्तु समूह में ममत्व स्थापन पद्धति की शिक्षा प्रदानार्थ श्रीकृष्ण चैतन्यदेव आविर्भूत हुये थे।

नदीया उदयगिरि पूर्णचन्द्र गौरहरि
कृपाकरि हइल उदय।
पाप तमो हैल नाश त्रिजगतेर उल्लास
जगभरि हरि ध्वनि हय॥

आपनि करिव भक्तभाव अङ्गीकारे
आपनि आचरि भक्ति शिखाइमु सबारे।
आपनि ना कैले धर्म शिखान ना याय
एइत सिद्धान्त गीता भागवते गाय॥

व्रजभक्ति का निगूढ़ आस्वादन स्वयं करके प्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव भक्तवृन्द को शिक्षा प्रदान किये थे। जिस प्रेमरस द्वारा श्रीकृष्ण व्रज में आवद्ध हुये थे, भक्तवृन्द उस प्रेमरस का अनुभव ही किये थे। जिसके एक कण मात्र लाभ करने के निमित्त ब्रह्मा ने भी व्रजभूमिस्थ कीट अथवा स्थावरादि जन्म की प्रार्थना की।

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्द
स्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ भा० १०।१४।३४

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ १०।१४।३०

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ही निखिल जीववृन्द के निमित्त व्रजीय प्रेम भाण्डार का द्वार उद्घाटित किये हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ ही व्रजभक्ति का एकमात्र उत्स है।



श्रीहरिदास शास्त्री

❊ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❊

सूची-पत्र



अनुच्छेद	विषय	पत्राङ्क
	अन्तरङ्गादि भेद से शक्तित्रिधा	
१७	चिदचिच्छक्ति भगवान्	४६
१८	वहिरङ्गा शक्ति निर्णय	५०
	—अन्तरङ्गा शक्तिनिर्णय—	**५४-६६**
१६	अन्तरङ्गा शक्ति समूह की प्रवृत्ति का कारण	५४
२०	स्वरूप शक्ति के द्वारा भगवान् सर्वद्रष्टा हैं	५८
२०-२१	स्वरूप शक्ति का नियम्यमाया	६०
	मायाशक्ति मिश्रण से कैवल्याभाव	
२२	मुक्ति में ज्ञानाभाव हेतु मोक्षानन्द का अभाव	
२३	अतएव कैवल्य में चिच्छक्ति का प्रभाव	
	माया का निर्वचन	
	आत्ममाया का त्रैविध्य	६६
	—गुणों की स्वरूपात्मता—	**६६-७०**
२४	भगवद् गुणों की स्वरूपभूतता	६६
२५	भगवद् गुणों की नित्यता	६९
	—स्वरूप गुण निर्णय—	
२६	श्रीभगवान् के एकोनचत्वारिंशद्गुण एवं	
	अपर अनन्त गुण समूह	७१
	—श्रीभगवद्विग्रह की पूर्णस्वरूपभूतता—	**७२-७७**
२७	श्रीभगवद् विग्रह की स्वरूपभूतता	७२
२८	ऐश्वर्य्यादि स्वरूपभूतत्व	७३
२६	श्रीविग्रह की स्वरूपभूतता कथन	
	हेतु प्रकरण प्रारम्भ	७३
३०	भगवद्रूप अकृत्रिम है	७५
	—भगवद्विग्रह का विभुत्व—	**७७-१०६**
३१	विभुत्व का वर्णन	७७
३२	विभुत्व में विद्वदनुभव	८२
३३	श्रीब्रह्मा का अनुभव जलादि से	
	अपरिच्छिन्न भगवद् वपु	८७

अनुच्छेद	विषय	पत्राङ्क

अनुच्छेद	विषय	पत्राङ्क

मूलम् २०२
उतद्धाः श्लोकाः ४९८
लेख्याः २७४०

समाप्तोऽयं श्रीभगवत् सन्दर्भः





श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

श्रील श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते

श्री भागवतसन्दर्भे

द्वितीयः

श्री भगवत्सन्दर्भः

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील-रूप-सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ॥१॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥२॥

१। अथैवमद्वयज्ञानलक्षणं तत्तत्त्वं सामान्यतो लक्षयित्वा पुनरुपासक-योग्यता-वैशिष्ट्येन प्रकटितनिजसत्ताविशेषं विशेषतो निरूपयति (भा० १।२।११) "वदन्ति" इति, अस्यैवोत्तरार्द्धेन "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" इति ॥

श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिता

सर्वसम्वादिनी

श्रीभगवत्सन्दर्भानुव्याख्या

ताविति ; तौ पूर्वोक्तरीत्या प्रसिद्धौ ॥१॥

(मूल-श्रीभगवत्सन्दर्भ-प्रारम्भे) अथैवमिति ; 'सत्ता' प्रकाशः ॥१॥

(मू० ८म अनु०) (भा० २।९।९) "तस्मै स्वलोकं" इत्यादि । अत्र शुद्धसत्त्वविचारे (भा० १२।८।४५,४६) 'सत्त्वं रजस्तमः' इत्यादि-मार्कण्डेय-वाक्य-द्वये केचिदन्यथा व्याचक्षत इत्यत्र प्राह,—'अर्थान्तरे' (मूल-सन्दर्भे)

अनुवाद

प्रणम्य सच्चिदानन्दं गौरगदाधरं प्रभुम् ।
सन्दर्भेषु द्वितीयस्य व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥

श्रीवृन्दाविपिन निवासी विश्रुतकीर्त्ति वरेण्य श्रील सनातन—श्रीरूपगोस्वामि महोदय के सन्तोष विधान हेतु दक्षिणदेश वास्तव्य पूज्यपाद श्रील गोपालभट्ट महाशय द्वारा जो भागवतीय सन्दर्भ ग्रन्थ निर्म्मित हुआ था, वह ग्रन्थ क्रमयुक्त, क्रमहीन एवं खण्डित था। अतः श्रीमज्जीवगोस्वामिचरण उक्त ग्रन्थ की पूर्वापर सविशेष पर्य्यालोचना कर यथारीति पर्य्याय क्रम से प्रणयन कर रहे हैं ॥१-२॥

तत्त्व सन्दर्भ नामक प्रथम भागवतीय सम्बन्धि तत्त्व निर्णायक प्रथम सन्दर्भ में—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

अद्वय ज्ञानस्वरूप तत्त्व का प्रतिपादन सामान्याकार से हुआ है, सम्प्रति भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ में उक्त अद्वय ज्ञानतत्त्व, उपासक की योग्यता के अनुसार निज स्वरूप को प्रकट करते हैं। उक्त श्लोकस्थ उत्तरार्द्ध की व्याख्या के द्वारा विशेष रूप से उस शाश्वत नियम का प्रदर्शन करते हैं।

उपासना के तारतम्य से उपासक की योग्यता विभिन्न होती है। ज्ञान, योग, भक्ति उपासना से त्रिविध योग्यता भिन्न भिन्न होती है, उपास्य कल्पतरु श्रीभगवान् भी साधनानुरूप वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं।

२। अथ श्रीमद्भागवताख्य एव शास्त्रे क्वचिदन्यत्रापि तदेकं तत्त्वं त्रिधा शब्द्यते; क्वचिद्ब्रह्मेति, क्वचित् परमात्मेति, क्वचिद्भगवानिति च। किन्त्वत्र श्रीमद्व्याससमाधि-

सर्वसम्वादिनी

इति; तद्यथा (श्रीस्वामिपादकृत-टीकायाम्) "ननु ब्रह्म-रुद्रावपि ममैव मूर्त्ती, अतो मामेव किमत्यन्तमाद्रियसे? तत्राह,—सत्त्वमिति। यदपि यद्यपि तवैव माया-कृता एता लीलास्त्वयैव धृतास्तथापि या सत्त्वमयी, सैव प्रशान्त्यै मोक्षाय; तदेव सदाचारेण द्रढ़यति,—तस्मादिति। हे भगवन्! तव शुक्लां तनुं श्रीनारायणाख्याम्; अथ तावकानाञ्च शुक्लां तनुं नराख्याम्; यद्यस्मात् सात्वताः सत्त्वमेव पुरुषस्येश्वरस्य रूपमुशन्ति मन्यन्ते, न चान्यद्रजस्तमश्चेति। अत्र हेतुः—यतः सत्त्वाल्लोको वैकुण्ठाख्यः; लोकत्वे सत्यप्यभयञ्च, भोगत्वे सत्यप्यात्मसुखञ्च" इत्येषा। तदेतत्तेषामेव स्वारस्यान्तरादिना त्यजति,—(मूल-सन्दर्भे) 'भगवद्विग्रहम्' इति ॥१०॥

अनुवाद—

श्रीमद् भगवद्गीता में उक्त है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तां स्तथैव भजाम्यहं" गी० अ, ११,

आचार्य श्रीशङ्कर के मत में—"ये यथा येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन यत् फलार्थितया मां प्रपद्यन्ते, तां स्तथैव तत् फलदानेन भजामि, अनुगृह्णाम्यहम्।"

आचार्य श्रीरामानुज के मत में—"यथा येन प्रकारेण सापेक्षानुरूपं मां संकल्प्य प्रपद्यन्ते समाश्रयन्ते, तान् प्रति तथैव तन्मनीषित प्रकारेण भजामि मां दर्शयामि। किमत्र बहुना, सर्वे मनुष्या मदनुवर्त्तनैक मनोरथा मम वर्त्म मत् स्वभावं सर्वयोगिनाम् अवाङ्मनसगोचरमपि स्वकीयैश्चक्षुरादिकरणैः सर्वशः स्वापेक्षितैः सर्वप्रकारैरनुभूयानुवर्त्तन्ते।"

श्रीमद् बलदेव लिखते हैं—"ये भक्ता मामेकं वैदुर्य्यमिव बहुरूपं सर्वेश्वरं यथा येन प्रकारेण भावेनेति यावत्, प्रपद्यन्ते भजन्ति, तानहं तादृशस्तथैव तद् भावानुसारिणा रूपेण भावेन च भजामि साक्षात् भवन्ननुगृह्णामि।"

श्रीभगवद् गीता एवं उस के भाष्यकारगण इस में एकमत हैं कि—उपासक के योग्यतानुसार से ही एक भगवत्तत्त्व के आविर्भावमें तारतम्य होता है, प्रागुक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध में "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" इस अंश द्वारा भक्ति पथावलम्बी भक्त उपासक के उपासना योग्य भगवत्तत्त्व ही इस सन्दर्भ की आलोचना का विषय है ॥१॥

श्रीमद् भागवत शास्त्र में एवं अन्यान्य अनेक शास्त्र के अनेक स्थलों में उक्त एक ही तत्त्व पृथक् तीन संज्ञा से अभिहित होते हैं, ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्। किन्तु उक्त अद्वय ज्ञानतत्त्व कहीं पर जीव संज्ञा से संज्ञित होते हैं, इस प्रकार उक्ति श्रीमद् भागवत में नहीं है, किन्तु महर्षि श्रीवेदव्यास निज समाधि में परमेश्वर से जीव को विलक्षण रूप से ही अवलोकन किए थे।

ब्रह्म एवं भगवान् का विश्लेषण करने पर परमात्मा की व्याख्या स्वयं ही होगी। तज्जन्य प्रथमतः ब्रह्म एवं भगवद्विषयक आलोचना करते हैं।

मूल में क्रम वैशिष्ट्य प्रकाश करने के लिए अर्थात् उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रकाश हेतु प्रथम—ब्रह्म, पश्चात् परमात्मा, अनन्तर भगवान् शब्द विन्यस्त है, अर्थात् इससे भगवत्तत्त्व का ही श्रेष्ठतमत्व प्रदर्शित हुआ है।

मूलस्थ त्रिधा शब्द से एक वस्तु के ही अनेक प्रकार जानना होगा। प्रकारार्थ में 'धा' प्रत्यय होता है। जब एक तत्त्व का ही अनेकीकरण 'धा' प्रत्यय से बोध होता है, तब ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् शब्द त्रय के सहित 'जीव' शब्द की आशङ्का नहीं हो सकती है, सुतरां जीव पृथक् तत्त्व है, एवं अखण्ड तत्त्व नहीं है।

किन्तु यहाँ पर "श्रीमद्व्याससमाधिलब्धाद्भेदाज्जीव इति च शब्द्यते" इस प्रकार नहीं कहा है।

लब्धाद्भेदाज्जीव इति च शब्द्यत इति नोक्तमिति ज्ञेयम् । तत्र ब्रह्म-भगवतोर्व्याख्यातयोः परमात्मा स्वयमेव व्याख्यातो भवतीति प्रथमतस्तावेव प्रस्तूयेते । मूले तु क्रमाद्वैशिष्ट्य-द्योतनाय तथा विन्यासः । अयमर्थः—तमेकमेवाखण्डानन्दस्वरूपं तत्त्वं थूत्कृत-पारमेष्ठ्या-

सर्वसम्वादिनी

अथ श्रीभगवदाविर्भावे द्वितीयस्कन्ध-प्रकरण-समाप्तावस्य वाक्यस्य चूर्णिकातः प्रागिदं विचार्य्यम् ।—

तत्राद्वैतवादिन एवं वदन्ति ।—'सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-रहितं ज्ञानमेव परं तत्त्वमिति (भा० १।२।११) "वदन्ति" इत्यादावद्वय-पदेन लभ्यते; तच्च 'भाव'-साधनम् । तद्ध्येव तस्याद्वय-पद-विशेषलब्धेन स-जातीयादि-भेद-राहित्येनानन्तत्वं सत्यमुपपद्यते; अन्यथा 'कारक'-साधने ज्ञेयज्ञान-तत्-साधनैः प्रविभागे सान्तत्वमेव स्यात्; तथा 'कर्त्तृ'-साधने, ज्ञानस्य कर्त्तृतया विक्रियमाणस्य 'करणादि'-साधने च वास्यादि-वज्जडतया प्रतिपन्नस्यासत्यत्वमेव च स्यात् । तस्माज्ज्ञप्त्यवबोध-पर्य्यायं तज्ज्ञानं नाम तत्त्वं शक्तिमदिति न युज्यते । "स्वरूपभूतयैव शक्त्या युज्यते" इति चेत्, कास्वित् स्वरूपशक्तिः ? सा च किं तदतिरिक्ता-ऽनतिरिक्ता वा ? आद्ये कथं स्वरूपत्वम् ? अन्त्ये च, कथं शक्तित्वम् ? अथ साधितायाश्च भेदेन स्वरूप-शक्त्यां तस्याः कथं षड्गुणात्मक-भगमयत्वम्,—येन तद्भगवानिति शब्द्यते ? तस्य तत्त्वस्य ज्ञानमात्र-स्वरूपत्वात् सापि ज्ञानैकस्वरूपैव भवितुमर्हति; ततश्च तद्विलासस्य नानात्वं न सम्भवति; कथमपि

अनुवाद—

मन की एकाग्रता ही समाधि है, "तदवार्थमात्रनिर्भासं ज्ञानांशरूप शून्यमिव समाधिः" उक्त समाधि—सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात, सवीज, निर्वीज, सवितर्क, निर्वितर्कादि भेद से अनेक प्रकार है, किन्तु ईश्वर प्रणिधान व्यतीत समाधि सिद्ध नहीं होती है, ईश्वर प्रणिधान शब्द से भक्ति विशेष को जानना होगा। सुतरां प्रेमभक्ति को ही जानना होगा।

मूल वाक्य में इति त्रय का सन्निवेश है, "जीव इति, शब्द्यते इति, नोक्तमिति ज्ञेयम्" इति शब्द अव्यय है, प्रकरण, प्रकाश, एवमर्थ, समाप्ति अर्थ में इति शब्द का प्रयोग होता है। इति शब्द से निदर्शन का भी बोध होता है। "आपोनाराः इति प्रोक्ता" "अनुत्कर्ष" अर्थ में इति शब्द का प्रयोग होता है। विवक्षा, नियम, प्रत्यक्ष, अवधारण, परामर्श, परिमाण, प्रकार अर्थ में इति शब्द प्रयुक्त होता है।

आलोच्य स्थल में "जीव इति च शब्द्यते" यहाँ इति शब्द निदर्शन बोधक है। अर्थात् एक अद्वयतत्त्व 'जीव' शब्द से शब्दित होते हैं, इस प्रकार प्रयोग नहीं है। "च" समुच्चयार्थक अव्यय है। "जीव इति च शब्द्यते इति च नोक्तम्" द्वितीय 'इति' परामर्श द्योतक है। "इति ज्ञेयम्" 'इति' 'एवं' अर्थ में व्यवहृत हुआ है। सुतरां 'जीव' अद्वय तत्त्व के मध्य में नहीं आ सकता है। परमात्म सन्दर्भ में 'परमात्म' की विशेष व्याख्या होगी। प्रथम 'ब्रह्म—भगवान्' की व्याख्या होने से परमात्म की व्याख्या स्वयं ही होगी, सुतरां "पाठक्रमादर्थक्रमो बलवान्" न्याय से प्रथम ब्रह्म—भगवान् का विश्लेषण करते हैं, मूलस्थ पाठ, क्रमवैशिष्ट्य बोधनार्थ है। एक तत्त्व का ज्ञान होने से अपर तत्त्व का ज्ञान स्वतः ही होता है।

सम्प्रति साधक किस प्रकार योग्यता से ब्रह्म भगवत्तत्त्व की उपलब्धि करता है, उस को कहते हैं। जो लोक निज साधन शक्ति से ब्रह्मलोकस्थ आनन्द समुदय के प्रति अति तुच्छ ज्ञान कर उसे परित्याग करते हैं, इस प्रकार परमहंसगण आत्मानुभवकारी व्यक्तिगण परतत्त्व के चिदंशभावापन्न हुए हैं। अर्थात् सोऽहं भाव प्राप्त हुए हैं। एवम्भूत परमहंस के पक्ष में एकमात्र अखण्ड आनन्दस्वरूप तत्त्व, जिन में स्वरूपशक्ति की विचित्रता विद्यमान होने पर भी सामर्थ्याभाव हेतु साधक उसकी उपलब्धि नहीं कर सकते हैं। अर्थात् श्रीभगवान् की शक्ति शक्तिमत्तत्त्वावस्था की उपलब्धि जिस से होती है वैसी शक्ति का प्रदान श्रीभगवान् न करने से ही, उस समय,—वे सव जन उक्त परम तत्त्व का साक्षात्कार सामान्याकार से अथवा केवल चिद्रूप से करते हैं। इस स्फूर्त्ति को ही ब्रह्म कहते हैं।

दिकानन्दसमुदायानां परमहंसानां साधनवशात्तादात्म्यमापन्ने सत्यामपि तदीयस्वरूपशक्ति-वैचित्र्यां तद्ग्रहणासमर्थे चेतसि यथा सामान्यतो लक्षितं तथैव स्फुरद्वा तद्वदेवाविविक्तशक्ति-शक्तिमत्ताभेदतया प्रतिपाद्यमानं वा ब्रह्मेति शब्द्यते । अथ तदेकं तत्त्वं स्वरूपभूतयैव शक्त्या

सर्वसम्वादिनी

नानात्वे चेशितादि-लक्षण-क्रियागुणत्वं तस्या न युज्यत एव । किञ्च, नील-पीताद्याकारत्वं परिच्छिन्नत्वञ्च तस्य निषिद्धम् । सम्प्रति तु तत्तद्वर्णता-परिच्छिन्न-चतुर्भुजाद्याकारता च कथमस्याङ्गीकृता ? अपि च तत्परिच्छिदानां द्रव्य-विशेषत्वात्, वैकुण्ठस्य लोक-विशेषत्वात्, तत्रत्य-जनानाञ्च जीवनिर्विशेषत्वात् कथं तदादीनां तादृक्त्वम् ? तदेवं तस्य तत्त्वस्य पुनरपि तत्तदवस्था-स्वीकारे हस्तिस्नानमिव सर्वं जातम् । तस्माद्या शक्तिः कार्य्यान्यथानुपपत्त्या प्रतीयते, सा तत्त्वातत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वेन मिथ्यैव, न तु स्वरूप-भूता; तन्मयञ्च भर्गादिकमत्रोपलक्षणमेवेति जहदजहल्लक्षणयैव तेनाद्वय-ज्ञानेन भगवतः सामानाधिकरण्यं युक्तमिति ।

श्रीवैष्णवास्त्वेवं वदन्ति ।—'भावरूपस्यैव तस्य तत्त्वस्य **'गले-गृहीत'**-न्यायेन स्वरूप-शक्तिस्तावदवश्यमेव तैरप्यङ्गीकार्य्या,—जगदादि-कार्य्यदर्शनेन तस्या अवश्यम्भावात् कैवल्ये च दोषापत्तेरिति । तथा हि शक्तिर्नाम कार्य्यान्यथानुपपत्तिसिद्धो वस्तुनो धर्मविशेषः; सा तु सर्वस्मिन्नुपादाने निमित्ते च कारणे

अनुवाद—

"एकमेवाखण्डानन्दस्वरूपं" कहने से एक अखण्ड आनन्दस्वरूप तत्त्व का बोध होता है । 'एक' शब्द का अर्थ अवधारण है । ब्रह्मा प्रभृति का आनन्द अनित्य सुतरां अखण्ड नहीं है । स्वरूपार्थ में मयट् प्रत्यय है । अखण्डानन्दमय का बोध होता है । "ॐ एकमेवाद्वितीयम्" (छ) ६।२।१) "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्तिरीय २-६) इत्यादि श्रुति वाक्य ही प्रमाण है ।

"थूत्कृत पारमेष्ठ्यादिकानन्दसमुदायानां परमहंसानां" वाक्य में परमेष्ठि पद ब्रह्मा का वाचक है । "ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठ परमेष्ठिपितामहः" अमरकोषोक्त परमेष्ठि शब्द के उत्तर "ष्णच" प्रत्यय से पारमेष्ठ्य पद होता है । इस से ब्रह्मा सम्बन्धीय आनन्द का बोध होता है । 'परमहंस' शब्द से "परमः श्रेष्ठ हंस सोऽहं आत्मा येषां" आत्मज्ञ का बोध होता है । परमहंसगण तत्त्वमस्यादि महावाक्य द्वारा "सोऽहं" भावना करते हैं । मन्त्र "ॐ" कार है ।

"प्रणवाद्यास्त्रयो वेदाः प्रणवे पर्य्यवसिता । तस्मात् प्रणवमेवैकं परमहंसः सदा जपेत् ।।

शैव परमहंस व्यतीत वैष्णव परमहंस भी होते हैं । किन्तु वे सब भक्त नहीं है, ज्ञानी वैष्णव हैं । भक्त परमहंस को 'भागवत परमहंस' कहते हैं । "थूत्कृत पारमेष्ठ्यादिकानन्द" से श्रीजीवगोस्वामी पाद का लक्ष्य समस्त परमहंस ही है । श्रीमद् भागवत वक्ता श्रीशुकदेव स्वयं ही परमहंस श्रेष्ठ थे । आप आत्माराम एवं एतदुभय तत्त्व के सम्यक् अनुभवी थे । इन की जीवनी से ही तत्त्व वैशिष्ठ्य की सम्यक् उपलब्धि होती है ।

"सत्यामपि त्वदीय स्वरूपशक्ति वैचित्र्याम्" श्रीभगवान् के स्वरूप एवं शक्ति में कोई भेद नहीं है । "स्वरूपमेव शक्तिः स्वरूपशक्तिः विशुद्धोर्ज्जितसत्त्वादिभिर्व्यक्तत्वात् शक्तिस्वरूपयोरभेदाञ्च तद्रूपमेवेत्यर्थः" भा० १।३।३ की व्याख्या में श्रीजीवगोस्वामिपाद का कथन ।

"राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान् । दुइ वस्तुते भेद नाइ शास्त्र परमाण ।। (चै० च०)

श्रुति कहती है—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" 'सोऽहं' भावाक्रान्त साधक के चित्त उक्त स्वरूपशक्ति के वैचित्र्य को ग्रहण करने में अक्षम है । सुतरां सामान्याकार से लक्षित कहा गया है ।

उक्त एक ही तत्त्व जिस समय निज अनिर्वचनीय स्वरूपशक्ति के द्वारा किसी एक विशेष मूर्त्तिधारी परा शक्त्यादि का मूल आश्रयरूप, अर्थात् षडैश्वर्य्य परिपूर्ण भगवत्तत्त्व की स्फूर्त्ति होती है एवं जिस

कमपि विशेषं धर्त्तृं परासामपि शक्तीनां मूलाश्रयरूपं तदनुभवानन्दसन्दोहान्तर्भावित-ताद्दशब्रह्मानन्दानां भागवत-परमहंसानां तथानुभवैकसाधकतम-तदीयस्वरूपानन्दशक्ति-विशेषात्मक-भक्तिभावितेष्वन्तर्वहिरपीन्द्रियेषु परिस्फुरद्वा तद्वदेव विविक्त-ताद्दशशक्ति-शक्ति-

सर्वसम्वादिनी

स्वरूपभूतैव मन्तव्या, कार्य्यविशेषोत्पत्तौ तत्कारणत्वेन वस्तु-विशेष-स्वीकारानर्थकत्व-प्रसङ्गात्। विवर्त्तेऽपि रजतादि-स्फूर्त्तावधिष्ठानं शुक्त्यादिकमेवाङ्गीक्रियते, न त्वङ्गारादि। प्रस्तुतेऽपि ब्रह्मण एव जगदधिष्ठानत्वम्, न त्वन्यस्येति तथैव स्वरूप-शक्तित्वं विदितम्।

किञ्च, जगद्रूपे विवर्ते ब्रह्मणः किञ्चित्करत्वमस्ति, नास्ति वा ? नास्ति चेत्, अज्ञानेनैव विवर्त्तताम्! किं तदतिरिक्त-तदङ्गीकारेण ? अस्ति चेत्, आयाता तस्य ज्ञानाश्रयस्य शुद्धस्यैव शक्तिः। एवञ्चाद्वैत-शारीरक-कृताप्युक्तम्, (ब्र०सू० २।१।१८ शा०भा०)—"**शक्तिश्च कारण-कार्य्य-नियमार्थ-कल्पयमाना, नान्याऽप्यसती कार्य्यं नियच्छेत्,—असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च; तस्मात् कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्य्यम्**" इति।

किञ्च, यत्र चैतन्यम्, तत्रैव ज्ञानमिति नियम-दर्शनेन तत्सत्तापि तत एवेति पर्य्यवसानात्तस्याः

अनुवाद—

भगवत्तत्त्व के अनुभव से तदन्तर्गत ब्रह्मानन्दानुभवी भागवत परमहंसगण के हृदय में उस समय भगवत् तत्त्वानुभव का एकमात्र साधक—तदीय स्वरूपशक्ति की श्रेष्ठा ह्लादिनी शक्ति की विशेष वृत्तिरूपा भक्ति का आविर्भाव होता रहता है। इस भक्ति के प्रभाव से जव उक्त भागवत परमहंस की बहिरिन्द्रिय विशेष रूप से भावित होती है, तव उनके सम्बन्ध से उक्त तत्त्व, शक्ति एवं शक्तिमान् के पृथक् अवस्था का द्योतक रूप में प्रतीत होते हैं, उक्त प्रतिपाद्यमान—तत्त्व अथवा उक्त सशक्तिक आविर्भाव ही "भगवान्" आख्या से अभिहित होते हैं।

उक्त स्थल में केवल परमहंस न कहकर भागवत परमहंस कहने का तात्पर्य्य यह है कि—भागवत परमहंसगण के चित्त अनुक्षण ही ब्रह्मानन्द से परिप्लुत होते रहते हैं। वह शुष्क ज्ञानी के ब्रह्मानन्दवत् नहीं है।

सारार्थ यह है कि—यावत् पर्य्यन्त उक्त स्वरूपशक्तिसम्पन्न अद्वय तत्त्व को पृथक् करके अर्थात् विचित्र शक्ति एवं शक्तिवैचित्र्यमयी लीलादि एवं अनन्त महिम नित्य विचित्र लीलारसानुभविता अखिलरसामृतमूर्त्ति श्रीभगवान् की दर्शन योग्यता का लाभ नहीं होता है, तावत्काल पर्य्यन्त उक्त साधक के निकट शक्ति-शक्तिमान् की जो अपृथक् स्फूर्त्ति, उसे ब्रह्म कहते हैं।

कारण—भगवत्तत्त्वानुभूति के प्रति भक्ति ही एकमात्र कारण है। भक्ति परिभावित हृत्-सरोज में श्रीभगवत्तत्त्व की स्फूर्त्ति होती है। भक्ति साधन से भक्त वहिरिन्द्रिय-अन्तरिन्द्रिय के समक्ष में परतत्त्व नित्य श्रीविग्रह रूपमें विराजित होते हैं। भागवतपरमहंस वृन्द के निकट आनन्दमय श्रीभगवान् स्वीय स्वरूपशक्ति की महिमा से स्वप्रकाश होते हैं, एवं भक्तगण भी उक्त परतत्त्व को सन्दर्शन कर कृतार्थ होते हैं।

"ज्ञान, योग, भक्ति एइ तीन साधनेर वशे। ब्रह्म, आत्मा, भगवान् त्रिविध प्रकाशे॥" (चै० च०)

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।" (गी० १८।५५)

"तया परयाभक्त्या तत्त्वतो मामभिजानाति, कथम्भूतं यावान् सर्वव्यापी, यश्चास्मि सच्चिदानन्दघन-स्तथाभूतं।" (स्वामिपाद) "स्वरूपतो गुणतश्च योऽहं विभूतितश्च यावानहमस्मि।
तं मां परया मद्भक्त्या तत्त्वतोऽभिजानात्यनुभवति॥ (बलदेवविद्याभूषण)

अर्थात् मैं, मेरा स्वरूपगुण विभूति प्रभृति के द्वारा किस प्रकार हूँ। मेरा तत्त्व क्या है? इस सव का अनुभव, मेरी पराभक्ति से ही होता है।

वेदान्त सूत्र ३।२।१७—"दर्शयति चाथोऽपि स्मर्य्यते" भाष्य—"विज्ञानानन्दस्यात्मनो मूर्त्तत्वमलौकिक

ब्रह्माभेदेन प्रतिपाद्यमानं वा भगवानिति शब्द्यते एवमेवोक्तं श्रीजड़भरतेन (भा० ५।१२।११)—

"ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक,-मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं, यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति" ॥३॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

स्फोरकता-लिङ्गेन स्वरूप-शक्तिरुपलभ्यते । अतएव (ब्र०सू० २।३।५, २।४।२१—माध्वभाष्यधृता अग्निवेश्माख्या, अथर्वशिराः श्रुतिः) "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म वृंहति वृंहयति" इति श्रुतिश्च, (वि०पु० १।१२।५७, ३।३।२१) 'वृहत्त्वाद्वृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम्', "वृहत्वाद्……यद्ब्रह्म परमं विदुः" इति श्रीविष्णुपुराणञ्च वृंहणत्वेन शक्तिमत्त्वं दर्शयति । तत्सन्निधान-बलेनैव तथा-तथा-भावेऽन्येषामङ्गीकृतेऽपि शक्तिरेव पर्य्यवस्यतीति ।

तथैव व्याख्यातं (ब्र०सू० २।२।२) "प्रवृत्तेश्च" इत्यत्राद्वैत-शारीरकक्कृतापि (शा०भा०)—"ननु देहादि-संयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञान-रूपाऽव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्त्तकत्वमिति चेत् ? न;अयस्कान्तादिवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्त्तकत्वोपपत्तेः" इति ।

अनुवाद—

वस्तुत्वात् श्रुतिमात्रात् प्रतिपत्तव्यम् । तन्मूर्त्तत्वं खलु भक्तिभावितेन हृदा ग्राह्यं गन्धर्ववासितेन श्रोत्रेण रागमूर्त्तत्वमिव । अन्यथा विज्ञानानन्दघनेति श्रुतिर्व्याकुप्येत् ॥"

अर्थात् विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा का मूर्तिमत्व होना अलौकिक वस्तु होने के कारण श्रुति प्रमाण सिद्ध है । गान्धर्ववासित श्रोत्र में राग की जिस प्रकार उपलब्धि होती है, उस प्रकार भक्तिभावित चित्त में श्रीभगवत् विग्रह की उपलब्धि होती है, अन्यथा विज्ञानघन आनन्दघन श्रुति का मुख्यार्थ अस्वीकृत होता है । विशेष घन शब्द का प्रयोग मूर्त्ति में ही होता है । "मूर्त्तौ घनः, मूर्त्तौ काठिन्येऽर्थे अभिधेये हन्तेरप् प्रत्ययो घनश्चादेशो भावे स्यादिति । यथा दधि-घनः, सैन्धव-घनः' इत्यादि" ।

यहाँ भाव वाच्य में प्रत्यय होने पर भी धर्म शब्द से धर्मी लक्षित होने से शङ्का का अवसर नहीं है । सुतरां विज्ञानघनानन्दघन शब्द से घनीभूत सच्चिदानन्द मूर्त्ति श्रीभगवान् का बोध होता है ।

उक्त ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् के सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि—"शक्तिवर्गलक्षणतद्धर्मातिरिक्तं केवलज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते, अन्तर्य्यामित्वमय—मायाशक्तिप्रचुरचिच्छक्त्यंशविशिष्टं परमात्मा । परिपूर्ण-सर्वशक्तिविशिष्टं भगवान् ।" अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के अनुसार शक्तिवर्ग ही ब्रह्म का लक्षण है । किन्तु ज्ञानी साधकगण उनमें शक्तिसमूह धर्म का अनुभव करने में अक्षम हैं । धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान का अनुभव करते हैं । सुतरां केवल ज्ञान रूप में ही परतत्त्व का अनुभव वे सब करते हैं ।

योगीगण,—परतत्त्व को अन्तर्य्यामि रूप में अनुभव करते हैं । अन्तर्य्यामि तत्त्व में माया शक्ति का प्राचुर्य्य है, एवं चित्शक्ति का अंश विद्यमान है । योगियों के हृदय में परतत्त्व का प्रकाश परमात्म रूपमें ही होता है । भक्तगण के निकट उक्त परतत्त्व परिपूर्ण सर्वशक्तिविशिष्ट रूप में प्रतिभात होते हैं ।

सुतरां सर्वत्र दृष्ट होता है कि—भगवत्तत्त्व साक्षात्कार में एकमात्र भक्ति ही साधन है । भक्तिनेत्र उन्मीलित न होने से श्रीभगवद् दर्शन लाभ नहीं होता है ।

श्रीमद् भगवद्गीता का संवाद भी उक्त सिद्धान्त के अनुरूप ही है ।

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्योश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (गी० ६।४६-४७)

"योगिनामपि सर्वेषां रुद्रादित्यादि ध्यानपराणां मध्ये मद्गतेन मयि वासुदेवे समाहितेनान्तरात्मनान्तः-करणेन श्रद्धावान् श्रद्दधानः सन् भजते सेवते । यो मां स मे मम युक्ततमोऽतिशयेन युक्ततरोऽभिप्रेत इति ।"
भजनकारी साधक ही भगवान् का अति प्रिय है, यह ही भाष्य का तात्पर्य्य है, स्वामिपाद के मत में—

"मय्यासक्तेनान्तरात्मना मनसा यो मां परमेश्वरं श्रद्धायुक्तः सन् भजते, स योगयुक्तेभ्यः श्रेष्ठो मम

श्रीध्रुवं प्रति श्रीमनुना च (भा० ४।११।३०)—"त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्ते, आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ" इति ॥२॥

३ । एवञ्चानन्दमात्रं विशेष्यम्, समस्ताः शक्तयो विशेषणानि, विशिष्टो भगवानित्यायातम् । तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेनाखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान् । ब्रह्म तु स्फुटम-प्रकटितवैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैवासम्यगाविर्भाव इत्यायातम् । इदन्तु पुरतो विस्तरेण

सर्वसम्वादिनी

ननु येन जगद्रूपेण कार्येण यदज्ञानमङ्गीक्रियते, वस्तुतस्तयोर्द्वयोरप्यसत्त्वात्तत्प्रवर्तकादि-लक्षिता शक्तिरपि ब्रह्मणो नास्त्येवेति चेत् ? न; तथा च सति जगज्जन्मादि-लक्षितस्य तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः; सति च तस्मिन्नज्ञान-तत्कार्य्यातिरिक्तत्वेन स्वरूप-भूतायास्तथा स्थितिर्दुर्निवारैव,—विरोधिनोऽसत्त्वात् । न हि सवितृप्रकाशः प्रकाश्यनाशे नश्यति; सवितैव तिष्ठतीति युक्तम्; तथा 'अर्द्धकुक्कुटीव' उपहास्यञ्चेदं स्यादिति। तदुक्तमद्वैत-शारीरकेऽपि (ब्र०सू० १।१।५—शा०भा०)—"असत्यपि कर्मणि सवितुः 'सविता प्रकाशते' इति कर्त्तृत्व-व्यपदेश-दर्शनात् सत्यपि ज्ञान-कर्मणि ब्रह्मणः (छा० ६।२।३) 'तदैक्षत' इति कर्त्तृत्व-व्यपदेशोपपत्तेर्न दृष्टान्तवैषम्यम्" इति; तथा तदीय-सहस्रनामभाष्ये (२४) च—"स्वरूप-सामर्थ्येन न च्युतो न च्यवते, न च्यविष्यत इत्यच्युतः; (महा-ना० ९।३) 'शाश्वतं शिवमच्युतम्' इति श्रुतेः" इति । तस्माद्वस्तुनः शक्तिः कार्य्य-पूर्वोत्तरकालेऽपि

अनुवाद—

सम्मतः, अतो मद्रूक्तोभवेति भावः ।।"

श्रीमद् भागवतस्थ पञ्चम स्कन्धीय श्रीजड़भरत की उक्ति इस प्रकार है—

"विशुद्ध परमार्थभूत बाह्याभ्यन्तर शून्य, परिपूर्ण अपरिच्छिन्न जो निर्विकार अद्वय ज्ञान है, ज्ञानिगण जिस को ब्रह्म कहते हैं। शब्द प्रमाण निपुण तत्त्ववेत्तागण, उनको प्रति जीव में अवस्थित प्रशान्त भगवत् संज्ञक वासुदेव शब्द से कहते हैं।"

स्वामिपाद के मत में—"ज्ञानं-सत्यं-व्यवहारिकसत्यत्वं व्यावर्त्तयति परमार्थं" अर्थात् व्यवहारिक सत्यत्व का परिहार पूर्वक पारमार्थिक सत्यत्व का ही प्रकाश हुआ है। श्रील विश्वनाथचक्रवर्त्ति के मत में—"परमोऽर्थोमोक्षादिको यस्मात् तत् परमार्थम्" अर्थात् मोक्षादि का लाभ जिस से होता है, वह ही परमार्थ है। "तच्च ज्ञानं—ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते इत्युक्तवदेवाह—ब्रह्म, ब्रह्मशब्दवाच्यं निर्विकल्पकं ज्ञानिनामुपास्यं, प्रत्यक् प्रशान्तं परमात्म शब्दवाच्यं योगिनां उपास्यं प्रशान्तमिति जीवात्मव्यावृत्त्यर्थं। भगवच्छब्दः संज्ञा यस्य तत् भक्तानामुपास्यं यत्त्रिरूपं इदमपि वासुदेवं वसुदेवनन्दनं वदन्ति।" "पूर्णं ब्रह्म सनातनं" इति, "कृष्णाय परमात्मने" इति ततस्तु भगवान् कृष्ण इत्यादिभ्यः तत्रापि ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति" प्रमाण द्वारा उक्त सिद्धान्त पुष्ट होता है।

श्रीजीवगोस्वामिपाद की क्रमसन्दर्भ व्याख्या इस प्रकार—"अत्र तारतम्येन मतद्वयमाह—ज्ञानमिति—यदेव कवयः पूर्वोक्त निर्विशेषज्ञानवादिभ्योऽपि शब्दप्रमाणे निपुणा भगवच्छब्दसंज्ञमाहुः, श्रुत्या युक्त्या च सशक्तित्वेनैव सिद्धत्वात्। तथैव सर्वाश्रयत्वेन दर्शयति वासुदेवमिति ।।"

श्रीध्रुव के प्रति श्रीमनु की उक्ति इस प्रकार है—४।११।३० "हे ध्रुव! तुम प्रति जीव में परमात्म रूप में अवस्थित सर्वशक्तिपूर्ण आनन्दमात्र स्वरूप श्रीभगवान् का भजन करो ॥२॥

यहाँ "आनन्दमात्र" विशेष्य है, "समस्त शक्तयः" उस का विशेषण है, इस विशेष्य विशेषणसमूह विशिष्ट ही भगवान् हैं। इस प्रकार वैशिष्ट्य से पूर्णाविर्भावत्व सिद्ध होता है। उक्त पूर्णाविर्भावत्व ही अखण्डत्व का साधक है। सुतरां जहाँ पूर्णाविर्भाव नहीं है, वहाँ अखण्ड शब्द का प्रयोग असङ्गत है। निखिल विशेषण विशेष्य जिन में विद्यमान् हैं वह ही पूर्णतम हैं, वह ही अखण्ड हैं, वही श्रीभगवान् हैं।

श्रीभगवान् का असम्यक् आविर्भाव ही ब्रह्म है। ब्रह्म में शक्तिवर्ग विद्यमान होने से भी अनुद्बुद्ध है।

विवेचनीयम् । भगवच्छब्दार्थश्च श्रीविष्णुपुराणे (६।५।६६-६९) **प्रोक्तः—**

"यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमक्षयम् । अनिर्द्देश्यमरूपञ्च पाणिपादाद्यसंयुतम् ।।४।।
विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम् । व्याप्यव्याप्यं यतः सर्वं तद्वै पश्यन्ति सूरयः ।।५।।
तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणाम् । श्रुतिवाक्यचोदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम् ।।६।।
तदेतद्भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः । वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः" ।।७।।

इत्याद्युक्त्वा (वि० पु० ६।५।७३-७५)—

"संभर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः । नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ।।८।।
ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना ।।९।।
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि । स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः" ।।१०।।

इति चोक्त्वा (वि० पु० ६।५।७९)—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्य-वीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः"।।११।।**इति पर्य्यन्त्येन ।**

सर्वसम्वादिनी

मन्त्रादेरिवास्त्येव, कार्य्य-कालं प्राप्य तु व्यक्तीभवतीत्येव विशेषः; तद्ब्रह्मणोऽपि भविष्यति । एवमद्वैत-शारीरकेऽप्युक्तम्,—(**ब्र०सू० २।३।१८ – शा०भा०**) **"विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावात्"** इति । किञ्च, शक्तेरप्युत्पत्तिनाशाभ्युपगमे कार्य्यत्वमेव स्यात्, न तु कारणत्वम्; ततस्तस्याः स्वरूपहानिश्च । किञ्च, ज्ञानवदाश्रयमज्ञानं सम्भवति, न ज्ञानमात्राश्रयमिति तेनैवाज्ञानेन तद्विलक्षण-ज्ञानमपि तत्रावश्यं **भवेदित्यतोऽपि तत्र भवेच्छक्तिः ।** अपि च, चिन्मात्रब्रह्म-व्यतिरिक्त-कृत्स्न-निषेधविषय-ज्ञानस्य कोऽयं **ज्ञानी ? अध्यास-स्वरूप एवेति चेत् ?** न;–तस्य निषेध्यतया निवर्तकज्ञानकर्मत्वात् कर्त्तृत्वानुपपत्तेः । **ब्रह्म-**स्वरूपमेवेति चेद्ब्रह्मणो निवर्तक-ज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपमुताध्यस्तम् ? अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासस्त-न्मूलाविद्यान्तरञ्च निवर्त्तक-ज्ञानापेक्षया तिष्ठत्येव; निवर्त्तक-ज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वाज्ज्ञात्र-पेक्षयानवस्था स्यात् । ज्ञातृत्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेऽस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतः स्यात् । किञ्च, नित्यं

अनुवाद—

जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि अनुद्बुध्य है, अतः उसे अग्नि नहीं कहते हैं, तद्रूप ब्रह्म में विशेष्य विशेषण की उपलब्धि न होने से ब्रह्म निर्विशेष है । सुतरां ब्रह्म को पूर्णाविर्भाव—नहीं कहा जाता है । तज्जन्य ब्रह्म तत्त्व भगवत्तत्त्व का असम्यक् आविर्भाव ही है, इस की आलोचना अग्रिम ग्रन्थ में होगी ।

श्रीविष्णुपुराण में भगवत् शब्द का अर्थ इस प्रकार है—(६।५।६६।६९) "जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, जन्मादिविकार शून्य, अक्षय, अनिर्देश्य, प्राकृत हस्तपदादि तथा अरूप, व्यापक, नित्य सर्वत्रगामी होकर अपरिच्छिन्न, समस्त भूतों का कारण होकर भी स्वयं कारणान्तरशून्य, सर्वव्यापी होकर अन्य का अव्याप्य, देवगण जिन को प्रत्यक्ष करते हैं, वह ही ब्रह्म हैं । श्रुति उन को ही परम धाम, सूक्ष्म शब्द से कहती है, वह ही श्रीविष्णु का परम पद, एवं मोक्षार्थियों के ध्येय तत्त्व हैं । परमात्मा के इस स्वरूप को ही भगवत् शब्द से कहते हैं । उक्त आद्य अक्षरात्मा पुरुष का वाचक ही भगवत् शब्द है ।" इस प्रकार कथन के पश्चात् भगवत् शब्द की निरुक्ति को कहते हैं—"हे मुने ! सम्भर्त्ता, भर्त्ता, एतदुभार्थ में "भ" कार अन्वित है, नेता, गमयिता, स्रष्टा, त्रिविध अर्थ में "ग" कार अन्वित है, एवं ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य जिस में परिपूर्ण रूप में वर्त्तमान है वह ही भग संज्ञा से अभिहित—भगवान् हैं ।

"जो निखिल भूतों के आत्मा हैं, जिन में समस्त भूत निवास करते हैं, एवं जो अविनश्वर होकर भी नश्वर समस्त भूतों में निवास करते हैं, "व" अर्थ से वह ही अभिहित हैं । सत्त्व, रजः, तमः प्रभृति प्राकृत हेय गुणादि भिन्न नित्य ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, तेज जिन में अशेष रूप में वर्त्तमान हैं वह ही भगवत् शब्द वाच्य है ।

पूर्ववदत्र च विशेष्य-विशेषण-विशिष्टता विवेचनीया; विशेषणस्याप्यहेयत्वं व्यक्ती-भविष्यतीति। "अरूपं पाणिपादाद्यसंयुतम्" इतीदं ब्रह्माख्य-केवलविशेष्याविर्भावनिष्ठम्; 'ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य' इत्यादिकं केवलविशेषणनिष्ठम्; 'विभुं' 'भगवत्' इत्यादिकं नु विशिष्टनिष्ठम्; अथवा 'अरूपम्' इत्यादिकं प्राकृतरूपादिनिषेधनिष्ठम्। अतएव 'पाणिपादाद्यसंयुतम्' इति संयोगसम्बन्ध एव परिह्रियते, न तु समवाय-सम्बन्ध इति ज्ञेयम्। 'विभुम्' इति सर्ववैभव-

सर्वसम्वादिनी

ज्ञानमेव सर्वस्फूर्त्तौ कारणमिति,—तथाभूतस्य ज्ञानस्य केनाप्यप्रमेयत्वात्। प्रमाणैरन्यापोहेऽपि निकृष्ट-वस्त्वस्पर्शेन शून्यप्रतीतिमात्रस्यानर्हत्वाद्विवेकावस्थायां यत्तस्यास्तित्वेन प्रत्ययनम्, तत् पारिशेष्यप्रमाणेन स्वयमेव भवेदिति चास्त्येव तादृशी शक्तिः। कैवल्ये तु सा निरावरणा भविष्यतीति युक्त्या लभ्यते। अतएव तादृश-शक्तितया विलक्षणवस्तुत्वेन वस्त्वन्तरवत् स्वात्मनि क्रिया-विरोधश्च नाशङ्कनीयः, प्रकाश-वस्तुनः स्व-प्रकाशनवत्।

अथ कैवल्येऽपि दोषो यथा;—तत्रानन्दसत्त्वैव केवला, न त्वानन्द-स्फूर्त्तिस्ततश्च तदा तस्य स्वस्मिन्न-

अनुवाद—

विशेषण विशेष्य रूप में ही उक्त कथन समूह की सार्थकता है, एवं विशेषण समूह भी अप्राकृत ही है, इस का कथन उत्तर ग्रन्थ में होगा।

श्रीभगवद् गुणों का नित्य सम्बन्ध—अरूप, पाणिपादादि-असंयुक्त, विशेषण द्वय-'ब्रह्म' आख्या से अभिहित केवलमात्र विशेष्याविर्भाव, अथवा असम्यक् आविर्भाव निष्ठ है। ऐश्वर्य्यादि षट् सम्पूर्ण वर्त्तमान केवल विशेषण निष्ठ है। विभु, सर्वग, इत्यादि विशिष्ट निष्ठ है। किम्वा "अरूप, पाणिपादादि रहित" विशेषण समूह—उक्त श्रीभगवान् के प्राकृत रूपादिका निषेधक हैं। अर्थात् प्रकृति कार्य्य मात्र ही उत्पाद विनाशशील है, उक्त उत्पद्यमान वस्तु का परस्पर सम्बन्ध भी उत्पत्ति विनाशशील है। श्रीभगवद् विग्रह में प्राकृत रूप नहीं है, कथन से संयोग सम्बन्ध रूप अनित्य सम्बन्ध का परिहार हुआ है, किन्तु समवाय सम्बन्धरूप नित्य सम्बन्ध परिहृत नहीं हुआ है।

अप्राप्त वस्तुद्वय की परस्पर प्राप्ति अथवा मिलन को संयोग कहते हैं, श्रीभगवद् विग्रह में उस प्रकार संयोग नहीं है। उक्त संयोग त्रिविध है। प्रथम,—एक कर्मजन्य, द्वितीय,—उभय कर्मजन्य, तृतीय,—संयोगजन्य संयोग।

(१) पक्षी का अवतरण रूप एक क्रियाजन्य-संयोग, (२) विवदमान मेषद्वय का परस्पर के प्रतिधावन रूप उभय क्रिया जन्य संयोग, (३) वृक्षादि के सहित हस्त संयोग से वृक्षादि के सहित शरीर का संयोग।

समवाय सम्बन्ध का विवरण इस प्रकार है—

"घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रतीर्त्तितः" ॥

समवायादि सम्बन्ध में—अनुयोगित्व-प्रतियोगित्व की आवश्यकता होती है, उस का परिचायक शब्द षष्ठी सप्तम्यन्त युक्त होता है। "अवयवावायविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनो क्रिया क्रियावतो नित्यद्रव्य विशेषयोश्च यः सम्बन्धः समवायः"। अर्थात् अवयवि के सहित अवयव का जाति-व्यक्ति का, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

"इहेदमिति यतः कार्य्यकारणयोः स समवायः"। अर्थात्—अयुतसिद्धानामाधार्य्याधार भूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्यय हेतुः स समवायः॥ आधार्य्याधारभूत अयुत सिद्ध पदार्थ का परस्पर जो सम्बन्ध है, उस का नाम समवाय है, अतएव समवाय में आधार आधेय भाव की आवश्यकता है। सुतरां समवाय सम्बन्ध नित्यसम्बन्ध है। भगवत् शब्द ब्रह्म का वाचक है, लक्ष्य नहीं—विभु शब्दका अर्थ—सर्ववैभवयुक्त,

युक्तमित्यर्थ; 'सर्वगतम्' **अपरिच्छिन्नम्;** 'व्यापि' **इति सर्वव्यापकम्;** 'अव्याप्यम्' **इति अन्येन व्याप्तुमशक्यम् । तदेतद्ब्रह्मस्वरूपं भगवच्छब्देन वाच्यम्, न तु लक्ष्यम् । तदेव निर्धारयति भगवच्छब्दोऽयं तस्य नदीविशेषस्य गङ्गाशब्दवद्वाचक एव, न तु तटशब्दवल्लक्षकः । एवं सति** 'अक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयात्' **इति** (पूर्व० २।१) **निरुक्तमतमाश्रित्य रूढ़िमप्याश्रित्य भगादिशब्दानामर्थमाह**—संभर्त्तेति; संभर्त्ता—**स्वभक्तानां पोषकः;** भर्त्ता—**धारकः स्थापक इत्यर्थः;** नेता—

सर्वसम्वादिनी

स्फूर्त्तेर्विषयेन्द्रियवज्जड़त्वमेव तत्र पर्य्यवस्यति; तथा तदाऽपराभावात् स्वस्मिन् परस्मिंश्चास्फूर्त्तेः शून्यत्वं वा । अतः कस्यचित्तथा पुरुषार्थसाधने प्रवृत्तिरपि न स्यात् । तस्माद्युष्माभिरपि स्वरूपावस्थान-लक्षणस्य पुरुषार्थत्वं श्रूयत इति श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्या च स्वरूपशक्तिर्मन्तव्यैव ।

ननु स्वप्रकाशत्वादेव तद्भासिष्यते, कुतः शक्तचेति चेत् ? एवमपि निगृहीतोऽसि वाग्वागुरया। यस्मात् स्वप्रकाशत्वात् स भासिष्यते, तदेवास्माकं स्वरूपशक्तिरिति स्वयमेव कण्ठे प्रतिबद्धत्वात्। न च स्वप्रकाशत्वं विना स्वप्रकाशं नाम वस्त्वस्तीत्यत: स्वप्रकाशत्वं नाम परानपेक्षा-सिद्धिरेव, न तु वस्त्वन्तरमित्यादि-

अनुवाद—

व्यापी—सर्वव्यापक, अव्याप्य—जो दूसरे के द्वारा व्याप्य नहीं होता है । इस प्रकार ब्रह्म स्वरूप वस्तु ही भगवत् शब्द का वाच्य है, लक्ष्य नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार "गङ्गा" शब्द नदी विशेष का वाचक है, तटादि शब्द के समान लक्ष्य नहीं है ।

अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य्य नामक शब्द की चतुर्विध शक्ति है, शब्दोच्चारण मात्र से जिस का बोध होता है, उसे 'अभिधा' 'मुख्यार्थ' कहते हैं । "सङ्केतितार्थ बोधनादग्रिमा अभिधा" जिस प्रकार गो शब्दोच्चारण से गलकम्बल विशिष्ट एक प्राणी का बोध होता है । अर्थात् अभिधा वृत्ति के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ को प्रकाश करता है, वह उस का वाच्यार्थ है, उस का वाचक—उक्त शब्द है ।

"लक्षणाशक्यसम्बन्धस्तात्पर्य्यानुपपत्तितः" अर्थात्—तात्पर्य्य की अनुपपत्ति होनेसे शक्य के सम्बन्धसे जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, वह ही लक्ष्यार्थ है, उक्त शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है, "लक्ष्यो लक्षणया मतः" । "याद्दशार्थस्य सम्बन्धवति शक्तन्तु यद्भवेत् । तत्र तल्लक्षकं नाम तच्छक्ति विधुरं यदि" । अर्थात् याद्दश अर्थ में सङ्केतित शब्द ताद्दशार्थ बोधन हेतु शक्तिशून्य होकर यदि अर्थान्तर को लक्ष्य करता है, तब उसे लक्षक कहते हैं ।—

जिस प्रकार—"गङ्गायां घोषः" गङ्गा शब्द का अर्थ नदी है, उस में घोष पल्ली का अवस्थान असम्भव है। अतः 'गङ्गा' शब्द प्रवाहयुक्त नदी बोधनमें शक्ति शून्य होकर तटका बोधक हुआ, उसे लक्षणा कहते हैं।

यहाँ भगवत् शब्द—गङ्गादि शब्द के समान ब्रह्म स्वरूप का लक्ष्यक नहीं है, वह ब्रह्म का वाचक है, कारण भगवान् शब्दोच्चारण से साक्षात् सम्बन्ध से ब्रह्म का ही बोध होता है ।

दृष्टान्त स्वरूप—गङ्गाप्रवाह में आभीर पल्ली की स्थिति नहीं हो सकती है, अतः गङ्गा पद से तट का बोध होना आवश्यक है । यहाँ भगवत् शब्दोक्त गुणावलि का अवस्थान ब्रह्म में असम्भव नहीं, कारण—ब्रह्म एवं भगवान् तत्त्वतः एक ही वस्तु है, गुणादि के आविर्भाव-अनाविर्भाव से जिस अवस्था की सृष्टि होती है । उस का पार्थकच नाम मात्रत ही है, वस्तुत पार्थकच नहीं है । निर्विकल्पक—सविकल्पक ज्ञान में वस्तु का पार्थकच नहीं होता है, केवल उपलब्धि का तारतम्य होता है । सुतरां भगवत् शब्द ब्रह्मका वाचकसिद्ध होनेसे अक्षरों की समतासे निरुक्त के अनुसरण 'भगवत्' शब्द का विशेष अर्थ करते हैं। वेद के षड़ङ्ग में एक अङ्ग निरुक्त है,—

"शिक्षाकल्पव्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषस्तथा । छन्दश्चेति षड़ङ्गान् वैदिकाविदुः ॥"

स्वभक्तिफलस्य प्रेम्णः प्रापकः; गमयिता—**स्वलोक-प्रापकः**; स्रष्टा—**स्वभक्तेषु तत्तद्गुणस्योद्गमयिता ; जगत्पोषकत्वादिकन्तु तस्य परम्परयैव, न तु साक्षादिति ज्ञेयम् ।** ऐश्वर्य्यम्—**सर्ववशीकारित्वम्**; 'समग्रस्य' **इति सर्वत्रान्वेति**; वीर्य्यम्—**मणिमन्त्रादेरिव प्रभावः**; यशः—**वाङ्मनःशरीराणां साद्गुण्यख्यातिः**; श्रीः—**सर्वप्रकारा सम्पत्**; ज्ञानम्—**सर्वज्ञत्वम्**; वैराग्यम्—**प्रपञ्चवस्त्वनासक्तिः**; इङ्गना— **संज्ञा । अक्षरसाम्यपक्षे भगववानिति वक्तव्ये मतुपो वलोपश्छान्दसः, संभर्त्तेत्यादिषु संभर्तृत्वादिष्वेव तात्पर्यम् । यथा** (अमरकोषे स्व० २८०) 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्' **इत्यत्र 'पचति भवति' इत्यस्य वाक्यस्य पाको भवतीत्यर्थः क्रियते । यथा वा 'सत्तायामस्ति भवति' इत्यत्र धात्वर्थ एव विवक्षितः । तदेवमेव भगवानित्यत्र मतुवर्थो**

सर्वसम्वादिनी

पक्षेऽपि सिद्धिप्रभृतयोऽपि सैवेति ।

किञ्च, निर्विशेषप्रकाशमात्र-ब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम् । प्रकाशोऽपि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहार-योग्यतामापादयन् वस्तुविशेषः । निर्विशेषवस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावाद्घटादिवदचित्त्वमेव । तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमिति चेत् ? तन्न; तत्क्षमत्वं हि तन्सामर्थ्यमेव । सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्विशेषवादः परित्यक्तः स्यादिति; तथा निर्विशेषवादे स्वाभ्युपगमानित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्युरिति च । अपि च (ब्र० सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ४९तम-अनु०)—"**निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्विशेषवस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम्,—सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम्** ।" तेषां निर्विशेष-विषयत्वे च प्रमेयत्वापातेन नश्वरत्वमेव भवन्मतं ब्रह्मण्यपि स्यात् । (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ४९तम-अनु०) "**यस्तु स्वानुभवसिद्धं निर्विशेषत्वमिति**

अनुवाद—

उक्त निरुक्त पञ्च प्रकार है—"वर्णागमो वर्णविपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातुस्तदर्थातिशयेनयोगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥"

वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, वर्ण विकार, वर्ण का लोप, एवं गण निर्दिष्ट अर्थ व्यतीत धातु की भिन्नार्थ कल्पना, निरुक्त में पञ्च प्रकार विषय की आलोचना होती है । यास्ककृत निरुक्त की टीका में देवराज यज्व का कथन यह है—"शब्दलक्षण परिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात् एवं शब्दार्थं परिज्ञानं निरुक्तात्" । अर्थात् व्याकरण से जिस प्रकार शब्दार्थ का परिज्ञान होता है, उस प्रकार निरुक्त से भी शब्दार्थ निर्वचन ज्ञान सम्पन्न होता है । भगवत् शब्द की निरुक्ति । निरुक्त के अनुसार "सम्भर्त्ता" का अर्थ—निज भक्त का पोषक । भर्त्ता-धारक-स्थापक-नेता-निज भक्ति फल-स्वरूप प्रेम का प्रापक । गमयिता—स्वलोक प्रापक, अर्थात् जो भक्तगण को निजलोक प्राप्त कराते हैं । स्रष्टा—स्वकीय समुदाय गुणों का आविर्भावक । जगत् पोषकादि कार्य्य परम्पराक्रम से सम्पन्न होता है । ऐश्वर्य्य—वशीकारिता । वीर्य्य—मणि मन्त्रादिका अनिर्वचनीय प्रभाव । यश—मन, वाक्य, एवं श्रीविग्रहादि की साद्गुणख्याति । श्री—सर्व प्रकार सम्पद्, ज्ञान—सर्वज्ञाता, वैराग्य—प्रापञ्चिक वस्तुमें अनाशक्ति । इङ्गना—संज्ञा, पूर्वोक्त भगवत् शब्दके अक्षर साम्य पक्ष में अर्थात् भ, ग, व, शब्दके उत्तर मतुप् प्रत्यय के द्वारा भगववान् निष्पन्न होने से भी वैदिक शासन के अनुसार मतुप् प्रत्यय के 'व' कार का लोप से 'भगवान्' पद सिद्ध हुआ है ।

सम्भर्त्ता प्रभृति का तात्पर्य्य,—सम्भरणादि अर्थ में ही है । जिस प्रकार—"सुप् तिङन्तययोवाक्यम्" अर्थात् सुवन्त तिङन्त पद समूह वाक्य है । "तिङ्चय सुप्चय सम्बन्धो वाक्यम्" अर्थात् तिङ् समूह, सुप् समूह के सम्बन्ध में वाक्य की उत्पत्ति होती है । "पचति भवति" उभय ही तिङन्त पद है, उभय पद का अर्थ—पाको भवति । "प्रकृतिसिद्धमिदं महात्मनाम्" यह सुवन्त चय का दृष्टान्त है । यह महात्मा का प्रकृति सिद्ध है । अर्थ उस से होता है । विद्यमान अर्थ में अस्ति, भवति का प्रयोग होता है,

योजयितुं शक्यते। प्रकारान्तरेण षड्भगान् दर्शयति—ज्ञानशक्तीति। ज्ञानमन्तःकरणस्य, शक्तिरिन्द्रियाणाम्, बलं शरीरस्य, ऐश्वर्य्य-वीर्य्ये व्याख्याते; तेजः—कान्तिः, अशेषतः सामग्रेच्यणेत्यर्थः; "भगवच्छब्दवाच्यानि" इति भगवतो विशेषणान्येवैतानि, न तूपलक्षणानीत्यर्थः। अत्र भगवानिति नित्ययोगे मतुप्। अथ तथाविधभगवद्रूपपूर्णाविर्भावं तत्तत्त्वं पूर्ववज्जीवादि-नियन्तृत्वेन स्फुरद्वा प्रतिपाद्यमानं वा परमात्मेति शब्द्यत इति। यद्यप्येते ब्रह्मादिशब्दाः प्रायो मिथोऽर्थेषु वर्त्तन्ते, तथापि तत्र तत्र सङ्केतप्राधान्यविवक्षयेदमुक्तम् ॥ श्रीसूतः ॥

४। एवमेव प्रश्नोत्तराभ्यां विवृणोति; राजोवाच (भा० ११।३।३४)—

सर्वसम्वादिनी

स्वगोष्ठीनिष्ठः समयः, सोऽप्यात्मसाक्षिक-सविशेषानुभवादेव निरस्तः।" किञ्च, विवादाध्यासितं ब्रह्म सविशेषं वस्तुत्वाद्घटादिवदविशेषं यत्तदसत्;—प्रमाणासिद्धत्वात् शशविषाणादिवत्। (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ५०तम-अनु०) "शब्दस्य तु विशेषणविशिष्ट एव वस्तुन्यभिधानसामर्थ्यम्, पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः। प्रकृति-प्रत्यययोगेन हि पदत्वम्। प्रकृतिप्रत्यययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादनमवर्ज्जनीयम्। पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः। पदसङ्घात-रूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेषवस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यान्न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्। विशेष खण्डन-शब्दयुक्ती च तत्प्रतियोगि-विशेषान्तरमवलम्ब्यैव प्रवर्त्तेते" इति।

तस्मात् सविशेषत्वमेव सिद्धम्। स च विशेषः शक्तिरेव। ततश्च शक्तिलेशं विना न क्वचिदवगम्यते

अनुवाद—

उसमें तिवादि का अर्थ संख्यादि का प्रकाश नहीं होता है, केवल धात्वर्थ का प्रकाश होता है, यद्यपि 'पचति' कहने से 'पाक हो रहा है' बोध होता है, तथापि तत्सह—भवति पदान्वित होकर वाक्य हुआ है, तद्रूप यहाँ भी 'भगव' कहने से ही ब्रह्म का बोध होने से भी उसके उत्तर मतुप् प्रत्यय हुआ है, "भगव" जिसका वाचक है, उस के उत्तर मतुप् प्रत्यय करके निरुक्त के अनुसार 'व' कार का लोप कर जो "भगवत्" शब्द निष्पन्न हुआ है, वह भी ब्रह्म का वाचक है।

प्रकारान्तर से उक्त षड् "भग" का अर्थ करते हैं। ज्ञान—अन्तःकरण का धर्म, शक्ति—इन्द्रिय सामर्थ्य, बल—शरीर की शक्ति, तेज—कान्ति, अशेष प्रकार से—सम्पूर्ण रूप से वर्त्तमान है।

विष्णुपुराणोक्त भगवत् शब्द वाच्य समूह भगवान् के विशेषण हैं, उक्त विशेषण विशिष्ट ही भगवान् हैं, उपलक्षित नहीं हैं।

"भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां मतुमुख्या भवन्ति ते ॥

अर्थात् बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय, संसर्गार्थे अस्ति विवक्षा होने से मतुप् प्रत्यय होता है। नित्ययोग शब्द का अर्थ—नियत सम्बन्ध, सुतरां जिस के सहित नियत सम्बन्ध है, वह कभी भी उपलक्षण नहीं हो सकता है, भगवान् शब्द भी नित्ययोग रूप मतुप् प्रत्यय सिद्ध है।

इस प्रकार पूर्णाविर्भूत भगवत् तत्त्व ही पूर्वोक्त ब्रह्मतत्त्व के समान जीवादि नियन्तृत्व रूप धर्माश्रय से स्फूरित होकर आत्मा का श्रेष्ठ आत्मा अर्थात् परमात्मा आख्या से अभिहित होते हैं। अर्थात् जब आप जीव हृदय में सङ्कल्प से अवस्थित होकर उस का नियन्ता होते हैं, तदवस्था में स्फूरित होकर, अथवा जीव नियन्ता रूप में प्रतिपादित होकर 'परमात्मा' होते हैं।

यद्यपि "ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्" शब्दत्रय ही परस्पर के अर्थ में विद्यमान है, अथवा एकार्थ में ही प्रयुक्त भी होते हैं। तथापि उक्त विभिन्न भाव से विभिन्न वैशिष्ट्य स्थापन के निमित्त ही पृथक् नाम से अभिहित होते हैं। यह उक्ति शौनकादि ऋषिगण के प्रति श्रीसूत की है ॥३॥

अवस्था भेद से अद्वय तत्त्व का नामान्तर। "ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्" शब्दत्रय का विवरण प्रश्नोत्तर

"नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः। निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः"॥१२॥

श्रीपिप्पलायन उवाच (भा० १२।३।३५)—

"स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य, यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्वहिश्च।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन, संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र" ॥१३॥

अत्र प्रश्नस्यार्थः,—नारायणाभिधानस्य भगवतः (भा० १।२।११) "ब्रह्मेति परमात्मा" इत्यादिप्रसिद्धतत्समुदायतृतीयतया पाठात्; (भा० ११।४।३) "स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः" इत्यत्र तत्समानार्थत्वात्, (भा० १०।१४।१४) "नारायणस्त्वम्" इत्यादौ वक्ष्यमाण-निरुक्तचनुसाराच्च, (भा० ११।१५।१६) "नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते"

सर्वसम्वादिनी

वस्तुतत्त्वमिति सर्वानुभवसिद्धश्च। श्रुतिश्च केवलस्यैव तस्य स्वानुभवमभिदधाति,—(बृ० १।४।१०) 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमवेदहं ब्रह्मास्मि' इति; (बृ० ४।३।२३) 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्यते' इति च।

अत्र श्रीमध्वाचार्य्यानुसृतं व्याख्यानम्।—(ब्र०सू० ३।३।२८) "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" इति; (तै० २।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; (मु० १।१।९) 'यः सर्वज्ञः'; (ब्र०सू० ३।२।६, २८—शा०भा० धृता श्रुतिः) 'एष एवात्मा परमानन्दः'; (तै० २।४।१) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादावुभयव्यपदेशाद्युज्यते ब्रह्मणो ज्ञानादित्वं ज्ञानादिमत्त्वञ्च। 'तु'-शब्दः श्रुतिरेवात्र प्रमाणमिति निर्द्धारयत्यतः स्वस्मिन्नेवाभेद-भेदनिर्द्देश-लक्षणोभयव्यपदेशादहिकुण्डलवत्तत्त्वं भवितुमर्हति; यथा,—अहिरित्यभेदः, कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादिभिर्भेदः; एवमिहापि इति।

अनुवाद—

के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। निमिजायन्तेय उपाख्यान में महाराज निमि कर्त्तृक पृष्ट होकर नव योगेन्द्र के अन्यतम श्रीपिप्पलायन के उत्तर यह है—राजाने पुछा—हे महात्मगण! आप सव ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ हैं। अतएव परव्योमाधिपति नारायण नामक—ब्रह्म, परमात्मा स्वरूप, तत्त्व का वर्णन आप करें, आप उसके ज्ञाता हैं।

निमि महाराज का प्रश्न एवं 'वदन्ति' श्लोकोक्त "ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्" का विवरण एक ही है। "नारायणे तुरीयाख्ये" इस शब्द से प्रकट हुआ है। जिस प्रकार एक अद्वय तत्त्व का आविर्भाव साधक के साधन तारतम्य से विभिन्न होते हैं, एवं विभिन्न नाम से ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् नाम से अभिहित होते हैं, तद्रूप उक्त भगवान् विचित्र जगत् सृष्ट्यादि कार्य के निमित्त अवस्थानुसार विभिन्न नाम रूप से अभिहित होते हैं। लघुभागवतामृत का संवाद यह है—

"यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते। आकृत्यादिभिरन्यादृक्, स तदेकात्मरूपकः॥

स विलासः स्वांश इति धत्ते भेदद्वयं पुनः॥" (लघु भा० १४)

श्रीबलदेवकृत टीका—"तदेकात्मरूपस्य लक्षणं, यद्रूपमिति तदभेदेन—स्वयं रूपैक्येन। आकृत्यादिभिः अङ्गसन्निवेश—चरितैश्च, अन्यादृक्—ततोऽन्य इव दृश्यते, नतु अन्यः, आकृतिः कथिता रूपे सामान्य-वपुषोरपि" इति विश्वः" स इति तदेकात्मरूपः।" विलासो यथा—"स्वरूपमन्याकारम्"।

नारायणाभिधानस्य श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामिपाद की उक्ति—"नारायण परोमायां तरतीत्युक्ते पृच्छति नारायणाभिधानस्येति। निष्ठां—स्वरूपं। अयं भावः। ब्रह्मैव तावन्नारायण इति भगवानिति परमात्मेति चोच्यते। तदुक्तं "वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" इति, "तथा नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितं। गृहीत मायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः। इत्यादिषु तत्र किमेभिः शब्दैर्निविशेषं तदेव वस्तूच्यते अस्ति वा कोऽपि विशेषांश इति"। अर्थात् एक

इत्यत्र स्पष्टीभावित्वाच्च; निष्ठां तत्त्वम् । प्रश्नक्रमेणैवोत्तरमाह,—स्थितीति । यत् स्थित्यादि-हेतुरहेतुश्च भवति, यच्च जागरादिषु सद्वहिश्च भवति, येन च देहादीनि संजीवितानि सन्ति चरन्ति, तदेकमेव परं तत्त्वं स्वप्रश्नक्रमेण नारायणादिरूपं विद्धीति योजनीयम् । तथापि ब्रह्मत्वस्पष्टीकरणाय विपर्ययेण व्याख्यायते । तत्रैकस्यैव विशेषणभेदेन तदविशिष्टत्वेन च प्रतिपादनात्तथैव तत्तदुपासकपुरुषानुभवभेदाच्चाविर्भाव-नाम्नोर्भेद इत्युत्तरवाक्यतात्पर्यम् । एतदुक्तं भवति—स्वयमहेतुः स्वरूपशक्त्येक-विलासमयत्वेन तत्रोदासीनमपि प्रकृति-जीव-प्रवर्त्तकावस्थ-परमात्मापरपर्यायस्वांशलक्षणपुरुष-द्वारा यदस्य सर्गस्थित्यादिहेतुर्भवति, तद्-

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० ३।२।२८) "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्" इत्यत्र (शा०भा०) "अथवा प्रकाशाश्रयवदेव तत् प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयः सविता च नात्यन्तभिन्नौ,—उभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्; अथच भेदव्यपदेशभाजौ भवतः; एवमिहापीति ।" (ब्र०सू० ३।२।२९) "पूर्ववद्वा" इति; अथवा, (ब्र०सू० २।३।२०) 'स्वात्मना चोत्तरयोः' इत्यत्रोत्तर-शब्दवदनन्तरमेवोक्तयोः प्रकाशाश्रययोः पूर्वो यः प्रकाशस्तद्वदेव मन्तव्यम् । ततश्च तस्य यथा-प्रकाशैक-रूपत्वेऽपि स्व-पर-प्रकाशन-शक्तित्वमुपलभ्यते । एवं ज्ञानानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपि स्व-पर-ज्ञानानन्दहेतुरूपशक्तित्वम् । अत्र 'स्वयं स्वं जानाति' इति स्वार्था च स्फूर्त्तिरिति न प्रकाशवत् पारार्थ्यमात्रमिति विवेक्तव्यम् ।

अनुवाद—

ब्रह्म ही विभिन्न नाम से कथित होते हैं । तत्त्वविद्गण—एक अद्वय ज्ञान को ही 'तत्त्व' कहते हैं । वह तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् शब्द से अभिहित होते हैं । जो स्वरूपतः मायादिगुणों से अतीत होकर भी सृष्ट्यादि कार्य निमित्त स्वेच्छासे मायागुण ग्रहण करते हैं, उक्त षड़ैश्वर्य्य पूर्ण श्रीभगवान् नारायण ही विश्वस्रष्टा रूप में प्रतीत होते हैं । यहाँ नारायण शब्द एवं भगवत् शब्द का प्रयोग एक भगवत्तत्त्व के उद्देश्य से ही हुआ है ।

जिज्ञास्य यह है कि—पृथक् पृथक् शब्द द्वारा निर्विशेष ब्रह्म ही उक्त हैं, अथवा नामानुरूप इन में कुछ विशेष भी है ? उत्तर में दृष्ट होता है—उक्त अद्वय तत्त्व का वैशिष्ट्य निर्देश कर एक तत्त्व का ही अवस्था भेद से विभिन्न नाम का स्वीकार ग्रन्थकार ने किया है । यह ही मत श्रीधरस्वामी का भी है । उक्त श्लोक की व्याख्या में स्वामी पादने "निष्ठां स्वरूपं" निष्ठा शब्द का स्वरूप अर्थ किया है, वह तत्त्वार्थ का द्योतक है । पूर्वापर आलोचना से प्रतीत होता है, स्वरूप शब्द तत्त्वार्थ में विशेष सङ्गत है । उक्तार्थ में प्रयुक्त भी हुआ है ।

प्रश्नोत्तर में श्रीपिप्पलायन ने कहा "हे नरेन्द्र" ! जो इस विश्व की सृष्टि स्थिति लय के कारण होकर भी स्वयं कारणातीत हैं, वह ही नारायण हैं । जो स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति तथा तदतिरिक्त समाधि अवस्था में भी विद्यमान हैं, वह ही ब्रह्म हैं । जिन से देहेन्द्रिय, प्राण, हृदयादि सञ्जीवित होकर निज निज कार्य्य में परिचालित होते हैं, वह परमात्मा हैं । अवस्था भेद से नारायणादि नाम होने से भी उन को एक ही परतत्त्व जाने ।

अर्थात्—ब्रह्म तत्त्व को विशद् रूप से हृदयङ्गम कराने के निमित्त भिन्न क्रम से व्याख्या करते हैं । 'वदन्ति' श्लोकोक्त अद्वय तत्त्व ही विशेषण भेद से उपासक के उपासना के अनुगत अनुभव के अनुसार अविशिष्ट एवं विशिष्ट तत्त्व का आविर्भाव के सहित विभिन्न नाम से अभिहित होते हैं ।

जो स्वयं अहेतु हैं एवं एकमात्र निज स्वरूप शक्ति की विलासमयता के द्वारा प्रकृति के प्रति उदासीन है, एवं उदासीन होकर भी प्रकृति एवं जीव की प्रवर्त्तकावस्था में, परमात्म नामक निजांश लक्षण पुरुष द्वारा

भगवद्रूपं विद्धि; अनेनास्य पूर्णस्वरूपशक्तित्वेन भगवत्तैवोपस्थापिता। यद्वा, अंशित्वाज्ज विद्यते हेतुः पुरुषाद्यवतारस्य स्वयमिवाश्रयान्तरं यस्य स इत्यपि भगवति तत्रैव परमात्म-रूपता चैवमुपतिष्ठतीत्याह पुनस्तेनैव—येन हेतुकर्त्रा आत्मांशभूतजीवप्रवेशनद्वारा संजीवितानि सन्ति,देहादीनि तदुपलक्षणानि प्रधानादि-सर्वाण्येव तत्त्वानि येनैव प्रेरिततया चरन्ति.स्व-स्व-कार्य्ये प्रवर्त्तन्ते, तत् परमात्मरूपं विद्धि। तथा च (भा० १०।२८।७)—"नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने" इत्यत्र वरुणकृत-श्रीकृष्णस्तुतौ। टीका च—"परमात्मने सर्वजीवनियन्त्रे" इत्येषा। जीवस्यात्मत्वं तदपेक्षया तस्य परमत्वमित्यतः परमात्म-शब्देन तत्सहयोगी स एव व्यज्यत इति। तत्तदविशिष्टत्वेन ब्रह्मत्वमात्रञ्चैवमुपतिष्ठतीत्याह—स्वप्नेति। जागरे स्वप्ने सुषुप्तौ च यत् सदन्वितं तद्बहिः समाध्यादौ च यदवशिष्टं चिन्मात्रत्वेन प्रकाशमानं तद्ब्रह्म-रूपं विद्धि। यद्यपि (भा० ११।१३।२७)—

"जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" ॥१४॥

इति दर्शनेन शुद्धजीवस्वरूपमेवात्रोपस्थितं भवति, तथाप्यत्र न तन्मात्रं विवक्षितम्, किन्त्व-न्तर्भूत-जीवाख्यादिशक्तिकं पूर्णचिद्रूपमेव विवक्षितम्। यत्र पूर्णं वस्तु दर्शयितुं न शक्यते,

सर्वसम्वादिनी

तदेवमुभयव्यपदेशात् साधयित्वा श्रुत्यन्तरतश्च साधयति,—(ब्र०सू० ३।२।३०) "प्रतिषेधाच्च" इति। न च वक्तव्यं तत्र सर्वज्ञत्वादिवस्त्वन्तरम्; यतो (बृ० ४।४।१९) 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति; तत्रा (श्वे०६।८)—

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१॥ इति;

च-कारेण त्वज्ञानादिकं प्रतिषिध्य स्वरूपज्ञानादि-शक्तित्वमेव स्थाप्यते। इत्थं श्रीस्वामिचरणैरपि (भा० ८।२४।५०—भा०दी०) "त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणः" इत्यत्र श्रीमत्स्यदेवस्तुतौ व्याख्यातम्—"अर्क-प्रकाशवत् स्वत एव दृक् ज्ञानं यस्य सोऽर्कदृक्; अतः सर्वदृशां सर्वेन्द्रियाणां समीक्षणः प्रकाशकः" इति। एवञ्च श्रीरामानुजचरणैरुक्तम् (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ८१तम अनु०)—"ज्ञानस्वरूपस्य च तस्य ज्ञातृस्वरूपत्वं

अनुवाद—

सृष्टि, स्थिति, लयादि के हेतु होते हैं। उन को भगवद्रूप कहते हैं। एवं उन की परमात्मावस्था भी उपस्थापित होती है, अर्थात् जो आत्मांशभूत जीव के अभ्यन्तर में प्रवेश करते हैं। एवं देहादि तदुपलक्षित प्रधानादि तत्त्व समूह जिन की प्रेरणा से निज निज विभिन्न कार्य्य में प्रवर्त्तित होते हैं। उक्त जीव प्रेरणावस्था को परमात्मा की मूर्त्ति अथवा स्वरूप जानें।

वरुणकृत श्रीकृष्ण के स्तव में 'तस्मै नमो भगवते' उक्त विवरण है। अर्थात् जो ब्रह्म परमात्मा स्वरूपमें भी अवस्थित हैं। उन भगवान् को प्रणाम करता हूँ। इस को टीका में स्वामिपाद ने परमात्मा शब्द का अर्थ—'सर्वजीव नियन्ता' किया है। (परमात्मने सर्व जीव नियन्त्रे) 'जीव नियन्ता' शब्द एक सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान स्वतः ही होता है। जीव में स्वतः चेतनता, आत्मता विद्यमान होने से भी 'परम' शब्द से परमात्मा की तदपेक्षा श्रेष्ठता स्पष्टतः ही अभिव्यक्त होती है, एवं परमात्मा को 'जीव नियन्ता' कहने से परमात्मा की सहयोगिता से ही जीवात्मा की नित्यावस्थिति सम्यक् प्रख्यापित है। अतएव उक्त धर्म समूह की अनभिव्यक्त अवस्था में केवलानुभूति ही ब्रह्म आख्या से अभिहित होती है। पूर्वोक्त 'यत् स्वप्न'

तत्रैकदेश-निर्देशेनैवोद्दिश्यते,—अङ्गुल्यग्रे समुद्रोऽयमितिवत्। ब्रह्मत्वग्रहणञ्चाभेददृष्ट्यैव स्यादिति तदभेदनिर्द्देशश्चात्रोपयुक्त एव। एवमन्यत्राप्यभेदनिर्द्देशो विवेचनीयः। यदि भेदो ज्ञापनीयस्तदा स्वप्नादौ यदन्वयेन स्थितं यच्च तद्बहिः शुद्धायां जीवाख्यशक्तौ तथा स्थितम्, च-कारात् ततः परत्रापि व्यतिरेकेण स्थितं स्वयमवशिष्टमिति व्याख्येयम्। तदेवं यत् त्रिविधत्वेनैवाविर्भवति, तत् परमेव तत्त्वमवेहीति ॥ श्रीनारदः ॥

५। इदमेव त्रयं सिद्धिप्रसङ्गेऽप्याह त्रिभिः (भा० ११।१५।१५-१७)—

"विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ-चोदनाम् ॥१५॥
नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्म्मावशितामियात् ॥१६॥
निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते" ॥१७॥

टीका च—"त्र्यधीश्वरे—त्रिगुणमायानियन्तरि; अतएव कालविग्रहे आकलयितृरूपे अन्तर्यामिणि; तुरीयाख्ये—"विराड् हिरण्यगर्भश्च कारणञ्चेत्युपाधयः। ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तत्

सर्वसम्वादिनी

मणिवुधमणि-दीपादिवद्युक्तमेवेत्युक्तम्।" अद्वैतगुरुणापि (ब्र०सू० १।१।५) "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यत्र सांख्यपूर्व-पक्षमाक्षिपतैवं व्याख्यातम्; यथा—"यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरसम्बन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति,—सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबन्धकारणशून्यस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमौ ईश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरण-ज्ञानताञ्च दर्शयतः,—(श्वे० ६।८) 'न तस्य कार्य्यम्' इत्यादि, (श्वे० ३।१९) 'अपाणिपादः' इत्यादीनि" इति। ज्ञान-नित्यत्वे ज्ञान-विषय-स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेत्? न; प्रततोष्ण-प्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति,—स्वातन्त्र्यव्यपदेश-दर्शनात् इति च।

इत्थमेवाद्वैत-शारीरक एव विज्ञानवाद-निराकरणे (ब्र०सू २।२।२८) 'नाभाव उपलब्धेः' इत्यस्य व्याख्याने

अनुवाद—

इत्यादि श्लोक में उक्त है। अर्थात् जो एक तत्त्व स्वप्नादि समय में जीव के सहित मिलित होकर अवस्थान करते हैं, जो बाहर अर्थात् समाधि अवस्था में शुद्ध जीवाख्य शक्ति में एवं तुरीयावस्था में जो व्यतिरेक में अवस्थित हैं। किन्तु उक्त समस्त अवस्था में अवस्थित होकर भी स्वयं अवशिष्ट रहते हैं, उन को ही परमात्म शब्द से जानना। यह उक्ति देवर्षि श्रीनारद की है ॥४॥

एकादश स्कन्धोक्त सिद्धि वर्णन प्रसङ्ग में कथित है—कालविग्रह अर्थात् अन्तर्य्यामी त्र्यधीश्वर विष्णु में चित्त धारण करने पर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ की प्रेरणा रूप ईशित्व लाभ होता है। तुरीय शब्द से अभिहित भगवान् नारायण मैं हूँ, मद्धर्मा योगी उक्त रूप मुझ में मन धारण कर वसिता को प्राप्त करता है। निर्गुण ब्रह्म स्वरूप मुझ में मन धारण करने से विविध कामना शून्य मन परमानन्द लाभ करता है।

स्वामिपाद—'त्र्यधीश्वर' शब्द का अर्थ—मायानियन्ता, 'कालविग्रहे' शब्द का अर्थ—अन्तर्य्यामी किए हैं। पूर्वोक्त मायाशक्ति का प्राचुर्य्य सम्बलित चित्शक्ति का अंश—अन्तर्य्यामी परमात्मा के उद्देश्य से ही कहा गया है।

पदं विदुः ॥" इत्येवंलक्षणे; (वि०पु० ६।५।७४) "ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना ॥" तद्वति भगवच्छब्दशब्दिते।" इत्येषा ॥ श्रीभगवान् ॥

६। अथ 'वदन्ति' इत्याद्यस्य पद्यस्य प्रत्यवस्थापनं यावत् तृतीय-सन्दर्भमुद्भाव्यते। तत्र योग्यतावैशिष्ट्येनाविर्भाववैशिष्ट्यं वक्तुं ब्रह्माविर्भावे तावद्योग्यतामाह (भा०१०।१४।६)—

"तथापि भुमन् महिमागुणस्य ते, विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो, ह्यनन्य-बोध्यात्मतया न चान्यथा" ॥१८॥

यद्यपि ब्रह्मत्वे भगवत्त्वे च दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्, तथापि हे भूमन्! स्वरूपेण गुणेन चानन्त! ते तव अगुणस्य अनाविष्कृतस्वरूपभूतगुणस्य यो महिमा महत्त्वं वृहत्त्वं ब्रह्मत्वमिति यावत्—

सर्वसम्वादिनी

साक्षित्वं चैतन्यस्य दृश्यते। तस्मादेकस्यैव तत्त्वस्य स्वरूपत्वम्, स्वरूपत्वापरित्यागेनैव शक्तित्वञ्च सिद्धम्। तथा चोक्तम्,—

"चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते, सा सत्यैव परा जड़ा भगवतः शक्तिस्त्वविद्योच्यते।
संसर्गाच्च मिथस्तयोर्भगवतः शक्त्योर्जगज्जायते, तच्छक्त्या सविकारया भगवतश्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते ॥२॥ इति।

इत्थमेव व्याख्यातं श्रीविष्णुपुराणेऽपि (६।७।६१) श्रीस्वामिपादैः,—

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते" ॥३॥

इत्यत्र "विष्णुशक्तिर्विष्णोः स्वरूपभूता चित्(स्वरूपा)शक्तिः परा परमपद-परब्रह्म-परतत्त्वाद्याख्या प्रोक्ता: (वि०पु० ६।७।५३) 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रम्' इत्यत्र प्रागुक्तं स्वरूपमेव कार्य्योन्मुखं शक्ति-शब्देनोक्तम्" इति। अतः स्वरूपस्य कार्योन्मुखत्वेनैव शक्तित्वम्, न स्वत इत्यायातम्। ततश्च विशेष्यरूपं तदेव स्वयं शक्तिमद्-विशेषणरूपम्; कार्योन्मुखत्वं तु शक्तिः, जगच्च कार्यक्षमत्वमूलमिति। तत्क्षमत्वादिरूपा नित्यैव

अनुवाद—

द्वितीय श्लोकस्थ 'तुरीय' शब्द की व्याख्या में विराट हिरण्यगर्भ एवं कारण ये तीन उपाधि है। उपाधित्रय की अतीतावस्था को तुरीयावस्था कहते हैं। इस तुरीयावस्था में ऐश्वर्य्यादि षड़्भग विशिष्ट अर्थात् नित्य षड़ैश्वर्य्य परिपूर्ण सर्वशक्तिमान्—परतत्त्व है। इस प्रकार कथन श्रीभगवान् में—इस प्रकार व्याख्या होने से इस का कथन श्रीभगवान् को लक्ष्य कर हुआ है। साधक के तारतम्य से अद्वय तत्त्व के विभिन्न नाम रूपादिका संवाद श्रीधरस्वामि अनुमोदित है। यह उक्ति श्रीभगवान् की है ॥५॥

"वदन्ति तत्तत्त्वविदः" श्लोक के द्वारा ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् का विवरण परमात्म सन्दर्भ पर्य्यन्त परिवेशित होगा। साधक की योग्यता के अनुसार उक्त तत्त्वका आविर्भाव विशेष होता है। अतः प्रथमतः—ब्रह्म तत्त्वाविर्भाव की योग्यता का निरूपण करते हैं। हे भूमन्! आप की महिमा को अवगत होने में निर्मल आत्मा साधुवृन्द ही सक्षम हैं। कारण—उन के चित्त से विकार विदूरित होने से उन्होंने शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ का ज्ञान अर्जन किया है। विषयाकार परिशून्यत्वम् पदार्थ का ऐकच बोध व्यतीत आप के तत्त्व को जानने का अपर कोई उपाय नहीं है। अर्थात् एक आप ही निर्गुण ब्रह्म, सगुण भगवान् रूप में प्रकाशित होते हैं, तथापि आप के निर्गुण ब्रह्म तत्त्व, एवं सगुण-भगवत्तत्त्व एतदुभय ही समान दुर्ज्ञेय हैं। हे भूमन्! स्वरूपभूत गुण समूह के द्वारा आप अनन्त हो, आप की अगुणावस्था में, जब गुण समूह अनभिव्यक्त ही होकर रहते हैं, उस समय, आप की जो महिमा महत्त्व, बृहत्त्व, ब्रह्मत्व शब्द से अभिहित है, उस का परिज्ञान विशुद्धान्तः करण साधुगण का ही होता है। वे सब ही आप को जान सकते हैं। कारण शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ बोध से स्वानुभवानन्दी होकर वे सब वाह्य विकार शून्य होते हैं। अतः आप का प्रकाश वहाँपर होता है।

"अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म बृंहति बृंहयति च" इति श्रुतेः, स तव महिमा अमलान्तरात्मभिः शुद्धान्तःकरणजनैर्विबोद्धुमर्हति, तेषां बोधे प्रकाशितुमर्हति, समर्थो भवतीत्यर्थः। कस्मान्निमित्तात्? तत्राह—स्वानुभवात् शुद्धत्वम्पदार्थस्य बोधात्। नन्वनुभवः खल्वन्तःकरणवृत्तिः, सा च स्थूल-सूक्ष्मदेहविकारमय्येव सती कथं निर्विकारं त्वम्पदार्थं विषयं कुर्व्वीत? तत्राह,—अविक्रियात् त्यक्त-तत्तद्विकारात्। ननु विषयाकार एवानुभवो विषयमुपाददीत, शुद्ध-त्वम्पदार्थस्तु न कस्यापि विषयः स्यात्, प्रत्यग्रूपत्वात्? तत्राह—अरूपतो रूप्यते भाव्यत इति रूपो विषयः, तदाकारतारहितात्। देहद्वयावेशविषयाकारताराहित्ये सति स्वयमेव शुद्धत्वम्पदार्थः प्रकाशत इति भावः। ननु सूक्ष्मचिद्रूप-त्वम्पदार्थानुभवे कथं पूर्ण-चिदाकार-रूपमदीयब्रह्मस्वरूपं स्फुरतु? तत्राह—अनन्यबोध्यात्मतया चिदाकारतासाम्येन शुद्ध-त्वम्पदार्थैक्य-बोध्यस्वरूपतया। यद्यपि तादृगात्मानुभवानन्तरं तदनन्यबोध्यताकृतौ साधक-

सर्वसम्वादिनी

सा शक्तिरित्यवगम्यते; तथापि वस्तुतोऽत्यन्तव्यतिरेकेण तस्या निरूप्यत्वाभावान्न ततः पृथक्त्वमस्तीत्यभिप्रायेणैव तथोक्तमिति ज्ञेयम्। 'वस्त्वेवास्तु, का तत्र शक्तिर्नाम' इति मतं तु न वेदान्तिनां मतम्;—सत्यपि वस्तुनि मन्त्रादिना शक्तिस्तम्भादि-दर्शनाद्युक्तिविरुद्धञ्च तत्।

तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयत इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ; तौ चाचिन्त्याविति।

केवलाभेदे (वि०पु० ६।८।७)—

"ज्ञातश्चतुर्विधो राशिः शक्तिश्च त्रिविधा गुरो। विज्ञाता चैव कार्त्स्न्येन त्रिविधा भावभावना" ॥४॥

इति श्रीमैत्रेयस्यानुवादेऽपि पौनरुक्त्य-दोष-ज्ञानायासन्निहित-सन्निधापन-लक्षण-कष्टकल्पना प्रसज्येत,—चतुर्विधराशि-कथनेनैव स्वरूपस्योक्तत्वात्। नागपत्नीस्तुतौ चैवं तैर्व्याख्यातं (भा० १०।१६।४०) "ज्ञान-विज्ञाननिधये" इत्यादौ,—(भा० टी०) "ज्ञानं ज्ञप्तिर्विज्ञानं चिच्छक्तिस्तयोर्निधये ताभ्यां पूर्णाय; कथं

अनुवाद—

यहाँ संशय यह हो सकता कि—अनुभव अन्तःकरण की वृत्ति है, वह स्थूल-सूक्ष्म देह विकारमयी है। विकारमयी वृत्ति का निर्विकार होना कैसे सम्भव होगा? और 'त्वम्' पदार्थ को विषय करना कैसे सम्भव होगा? संशय निवारण हेतु एक विशेषण प्रदत्त हुआ है—'अविक्रियात्' अर्थात् निर्विकार ब्रह्मोपराग के द्वारा लवणाकर न्याय से समस्त विकार विदूरित हुआ है। पुनर्वार आशङ्का करते हैं—अनुभव विषयाकार है, वह विषय को ग्रहण करता है। 'शुद्ध त्वम् पदार्थ' किसी का विषय नहीं है, कारण वह प्रत्यक् रूप है, अर्थात् प्रति शरीर में भ्रमण रत है? समाधान हेतु कहते हैं—'अरूपतः' रूप अर्थ से जो भावित होता है, वह ही रूप—विषय है। वह जिस का नहीं है, उसे अरूप कहते हैं। स्थूल-सूक्ष्मादि देहावेश रूप जो विषय है, उस का परित्याग से शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ ही अवशिष्ट रहता है। तदवस्था ही अरूपावस्था है। उक्तावस्था में स्वरूप की प्रतीति होती है।

पुनर्वार आशङ्का हो सकती है—जो 'त्वम्' पदार्थ को सूक्ष्म चिद्रूप कहा गया है, ब्रह्म वस्तु को पूर्ण चिदाकार कहा गया है, अतएव सूक्ष्म चित् स्वरूप 'त्वम्' पदार्थ के ज्ञान से पूर्ण चिदाकार मदीय ब्रह्म स्वरूप की स्फूर्त्ति होना कैसे सम्भव होगा? उत्तर में कहते हैं—'अनन्य बोध्यात्मतया' सूक्ष्म एवं पूर्ण रूप से पार्थक्य उभय में होने से भी चिद्रूप में कोई पार्थक्य नहीं है। 'त्वम्' पदार्थ के सहित पूर्ण स्वरूप का ऐक्यबोध ही ब्रह्मावबोध का कारण है। यद्यपि तादृश ब्रह्म अथवा पूर्ण चिदात्मानुभव के वाद एकत्व

शक्तिर्नास्ति, तथापि पूर्वं तदर्थमेव कृतया सर्वत्राप्युपजीव्यया साधनभक्त्याराधितस्य श्रीभगवतः प्रभावादेव तदपि तत्रोदयत इति भावः। तदुक्तं 'वदन्ति' इत्यादिपद्यानन्तरमेव (भा० १।२।१२)— "तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुत-गृहीतया" ॥१९॥ इति।

सत्यव्रतं प्रति श्रीमत्स्यदेवोपदेशे च (भा० ८।२४।३८)—

"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि" ॥२०॥ इति ॥ श्रीब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

तथात्वम् ? अत उक्तम्—ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये; ब्रह्मणे कथम्भूताय ? अगुणायाविकाराय; कथम्भूतायानन्तशक्तये ? प्राकृताय प्रकृति-प्रवर्त्तकाय; अप्राकृतायेति वा,—अप्राकृतानन्तशक्तियुक्ताय। अयमर्थः।—अगुणत्वादविकारं ब्रह्म ज्ञप्तिमात्रत्वात् कारणातीतं प्रकृतिप्रवर्त्तकत्वादनन्तशक्तिः; विज्ञान-निधित्वादीश्वरः कारणम्; तदुभयात्मने नम इति" इति।

श्रीरामानुजीयास्तु शक्ति-शक्तिमतोर्भेदमेव वर्णयन्ति। तथापि तथाभूतायास्तस्याः स्वरूपान्तरङ्गत्वात् स्वरूपभूतत्वमेव प्रतिपादयन्तीति समानः पन्थाः। विशिष्टस्यैव चाव्यभिचारि-रूपत्वेन स्वरूपत्वम्, न केवलं विशेष्यमेवाव्यभिचारिरूपतया सम्प्रतिपद्यन्ते त इति तस्मादस्त्येव स्वरूपशक्तिः। न चेत्थं स्वगतेन भेदेनाद्वयता-प्रतिज्ञा-विरोधादि-दोषः, षड्भाव-विकार-निषेधेऽप्यस्तित्ववत् सर्वथैवापरिहार्य्यत्वात्। दृश्यते चान्यत्रापि क्वचित्तन्मात्रत्वेऽपि स्वगत-भेदयाथार्थ्यम्; यथा—गन्धात्मनि पृथिवी-गुणे; तत्र हि गन्धलक्षण-गुणमात्रात्मन्यप्यङ्गुलिनिक्षेपाक्षमस्तदनुभवैकगम्यो यो यो विशेषो यो यो वा भेदः, स स न गन्धाद्-व्यतिरिक्तः,—घ्राणैकानुभवनीयत्वात्।

अनुवाद—

बोध में द्वितीय कोई साधक शक्ति नहीं है। तथापि पूर्व में तादृश बोध के निमित्त प्रयत्नशील साधक के लिए सर्वत्र भगवद् दर्शन होना आवश्यक है, वह भी एकमात्र साधक भक्ति से ही सम्भव है। उक्त साधन भक्ति के द्वारा आराधित श्रीभगवत् प्रभाव ही यहाँपर एकमात्र कारण है। अर्थात् ऐक्य बोधेच्छु साधक की आकाङ्क्षा पूर्त्ति हेतु वाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान की कृपाशक्ति का प्रभाव होना आवश्यक है, उक्त प्रभाव से ही सूक्ष्म चिद्वस्तु में पूर्ण चिद्वस्तु का आविर्भाव होता है, और परस्पर की अभेद प्रतीति भी होती है। अतएव साधक निज साधन शक्तिके बल से 'ब्रह्मास्मि' अथवा 'सोऽहं' अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता है। इस का विशदीकरण हुआ, एवं जो लोक ब्रह्म को सर्वथा निर्गुण, निर्धर्मक-निर्विशेष कहते है, उस मत का भी खण्डन हुआ। सुतरां साधकशक्ति सर्वथा अकिञ्चित्कर है। पूज्यचरण ग्रन्थकार ब्रह्म तत्त्व को श्रीभगवान् का अनभिव्यक्त-शक्ति अथवा असम्यक् आविर्भाव तत्त्व कहे हैं, वह अतीव समीचीन है।

'वदन्ति' श्लोक के पश्चात् श्रीमद्भागवत स्वयं ही कहे हैं—"श्रद्धाशील मुनिगण श्रुत्यादि शास्त्र प्रतिपादिता ज्ञान-वैराग्य युक्ता भक्ति के द्वारा आत्मा में अद्वय आत्म तत्त्व का ज्ञान अथवा दर्शन लाभ करते हैं।" अर्थात् ज्ञान-वैराग्य युक्ता भक्ति द्वारा सेविता जो प्रेम लक्षणा भक्ति है, उस से साधक निज साधनानुकूल-तदीय इच्छा अथवा कृपा से कभी केवल स्वरूप में, कभी जीवाख्य मायाशक्ति के आश्रय रूप में, कभी परिपूर्ण सर्वशक्ति गुण लीलादिका आश्रय रूप में दर्शन प्राप्त करते हैं।

सत्यव्रत के प्रति श्रीमत्स्यदेव के उपदेश से भी उक्त विवरण ज्ञात होता है, "परब्रह्म संज्ञा से अभिहित मेरी महिमा है, जिसको हृदय में वरण किए हो, मेरी कृपा से उस को जानोगे, तथा उक्त मूर्त्ति का दर्शन करोगे।" सुतरां साधन सहकृत भगवत् कृपा सर्वत्र ही कारण रूप में उल्लिखित है। यह वृत्तान्त,

७। तादृशाविर्भावमाह सार्द्धेन (भा० २।७।४७)—

"शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं, शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो, माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो, ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्" ॥२१॥

अयमर्थः—सर्वतो बृहत्तमत्वाद्ब्रह्मेति यद्विदुस्तत् खलु परमस्य पुंसो भगवतः पदमेव, निर्विकल्पतया साक्षात्कृतेः प्राथमिकत्वात्। ब्रह्मणश्च भगवत एव निर्विकल्प-सत्तारूपत्वाद्-विचित्ररूपादिविकल्पविशेषविशिष्टस्य भगवतस्तु साक्षात्कृतेस्तदन्तरजत्वात् तदीयस्वरूपभूतं तद्ब्रह्म तत्साक्षात्कारास्पदं भवतीत्यर्थः। निर्विकल्पब्रह्मणस्तस्य स्वरूपलक्षणमाह, प्रतिबोध-

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, ब्रह्मणो लक्षणविचारेऽभेदवादिभिरपि तादृश-स्वगतभेदवृत्तिरपरिहार्य्या दृश्यते; तथा हि—(बृ० ३।९।२८) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति। किमिह विज्ञानानन्द-शब्दावेकार्थौ, भिन्नार्थौ वा? नाद्यः,—पौनरुक्त्यात्। अन्त्यश्चेद्विज्ञानत्वमानन्दत्वञ्च तत्रैकस्मिन्नेवेति तादृश-स्वगतभेदापत्तिः; अथ तौ जाड्य-दुःख-प्रतियोगिपरौ; तौ व्यावर्त्त्य तत्प्रतियोगि यदेकं वस्तु, तदेव ब्रह्मेति प्रतिपादयतः! तदप्ययुक्तम्। तद्द्वयव्यावृत्तिर्यथा-स्वं द्वयमेवोपस्थापयितुं युक्ता; अनुपस्थापने वा शून्यवादप्रसङ्ग इति।

किञ्च, यदेकमुपस्थाप्यते, तत् किं तयोरेकतरत्, ताभ्यामन्यदेव वा? एकतरदिति चेत्, अन्यतर-परित्यागे को हेतुः? एकतरस्य वा कथं द्विःप्रतियोगिता? अथानन्दमात्रे द्वयोरपि प्रतियोगितोपलभ्यत इति। तदेव लाघवेनावशिष्टमिति चेत्, आनन्दे विज्ञानत्वमप्यस्तीत्यायातम्,-तत्प्रतियोगित्वेन तत्प्रतीतेः। ततो विज्ञानं पुनरुक्तमेवेति दोषान्तरञ्च,—तेनैव तत्तद्व्यावृत्ति-सिद्धेः। किंवा, विज्ञानत्वस्य विज्ञानेऽस्मिंश्चानुगतत्वेनाव्यभिचारात्तदेवावशिष्टमस्तु; ततश्चानन्दता-हान्या पुरुषार्थत्वाभावश्च। यद्येवमुच्यते,—

अनुवाद—

ब्रह्म श्रीभगवान् को कहे थे ॥६॥

अद्वय तत्त्व का आविर्भाव-तारतम्य साधन-तारतम्य से होता है। इस विषय में नारद के प्रति ब्रह्मा का कथन इस प्रकार है—

"जिस ब्रह्म में यज्ञादि बहु कारक साध्य शब्द प्रवर्त्तित नहीं होता है, एवं माया जिन के सम्मुख में अवस्थान कर नहीं सकती है, भगवदुन्मुख व्यक्ति के निकट भी माया आ नहीं सकती है, उस नियत, प्रशान्त, अभय, ज्ञानैकरस, शुद्ध, उच्चावचता दोषशून्य, अर्थात् कार्य्य कारणातीत नित्य सुखस्वरूप आत्माख्य तत्त्व को ही ब्रह्म शब्द से जानना, वह परम पुरुष श्रीभगवान् का पद है, अर्थात् निर्विकल्पक रूप में प्रथम आविर्भाव है।"

अर्थात् सब प्रकार बृहत्त्व धर्म के द्वारा जो ब्रह्म आख्या से अभिहित होते हैं, वह परमपुरुष षड़ैश्वर्य्य परिपूर्ण श्रीभगवान् का ही आविर्भाव अथवा रूपविशेष है। घट-पटादि लौकिक वस्तु का प्रत्यक्ष में जिस प्रकार प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान होता है, अनन्तर विशेष बोध होता, अथवा सविकल्पक ज्ञान होता है। इस को वैशिष्ट्यानवगाहि अथवा निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं, "ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते" निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। वह अतीन्द्रिय है। इस निर्विकल्पक ज्ञान को अवलम्बन करके ही 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादि श्रुति की सङ्गति होती है। अनन्तर विशिष्ट बुद्धि होने से उस का प्रत्यक्ष होता है। "विशिष्ट बुद्धौ विशेषण ज्ञानस्य कारणत्वात्, तथा च प्रथमतो घट घटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पात्मकं तच्च न प्रत्यक्षम्। ज्ञाने घट स्तत्र घटत्वं यः प्रकारः स एव विशेषण

मात्रमिति, अजस्रसुखमिति च। जड़स्य दुःखस्य च प्रतियोगितया प्रतीयते यद्वस्तु, यच्च नित्यं तदेकरूपम्, तद्रूपमित्यर्थः। यदात्मतत्त्वं सर्वेषामात्मनां मूलम्; आत्मा हि स्वप्रकाश-रूपतया निरुपाधिपरमप्रेमास्पदतयां च तत्तद्रूपेण प्रतीयत इत्यर्थः। अथ तस्य सुखरूपस्याजस्रत्वे हेतुमाह,—शश्वत् प्रशान्तं नित्यमेव क्षोभरहितं तद्वदभयं भयशून्यं विशोकं शोक-रहितश्चेति। न च सुखरूपत्वे तस्य पुण्यजन्यत्वं स्यादित्याह,—शब्दो न यत्रेति। यत्र

सर्वसम्वादिनी

"अनुकूलं विज्ञानमेव ह्यानन्दस्ततश्चानन्दाकारं यद्विज्ञानम्, तद्ब्रह्मेति।" तथाप्यानुकूल्यलक्षणो धर्मस्तत्र दुष्परिहरः। ताभ्यामन्यदिति चेत्? न;—प्रतियोगित्वासिद्धेः।

अथैक एवमाचक्षीत,—यत्तयोः प्रतियोगि ब्रह्मेति; किन्तु जड़प्रतियोगि विद्योपहितश्चेद्ब्रह्म ज्ञानमित्या-चक्ष्महे; दुःखप्रतियोगि तदुपहितं चेदानन्द इति; तस्माद्विद्या-द्वारोभय-व्यावृत्तौ सत्यां यदवसीयते, तदेकमेकरूपं ब्रह्मेति। अत्रोच्यते।—विद्या नाम भवतां तदनुभवि-बुद्धिवृत्तिस्ततश्च तस्यैव प्रतियोगित्वे सति तदनुभवि-बुद्धिवृत्तेरपि प्रतियोगित्वं सिध्यति। न हि सूर्यस्य च्छटादेरिव तमःप्रतियोगित्वं विना तदनुभवि-चक्षुर्वृत्तिमात्रस्य सूर्यच्छटोद्दीपित-मुकुरच्छटाया वा तमःप्रतियोगित्वं घटते। तस्मान्नूनं तस्यैव तत्प्रतियोगित्वं योग्योपाधिविशेषे तूपलभ्यते। (सङ्क्षेपशारीरके २।३८)

"नित्यबोध-परिपीड़ितं जगद्-,विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः। वासुदेव-निहतं धनञ्जयो, हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः" ॥५

अनुवाद—

मित्युच्यते।" इस प्रकार दर्शनाभिलाषी साधक के सम्बन्ध में भी भगवद् दर्शन का प्रथम सोपान स्वरूप निर्विकल्पक दर्शन ही ब्रह्मदर्शन है। अर्थात् सत्‌चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म का प्राथमिक जो ज्ञान, वह ही निर्विकल्पक ज्ञान है। अनन्तर उक्त सत्‌चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म में सत्‌चित् आनन्दधर्म शक्ति का ज्ञान होता है, तब शक्त्यादि विशेषण विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान होता है, वह ही वैशिष्ट्य ज्ञान अथवा सविकल्पक ज्ञान है।

वैशिष्ट्य बुद्धि का उदय से विचित्र शक्ति, गुण, लीलादि विशिष्ट श्रीभगवन्मूर्त्तिका आविर्भाव होता है। उस समय आप अतीन्द्रिय नहीं होते। भगवदाकार का दर्शन साधक को होता है। उक्त सविकल्पक ज्ञानावस्था में पूर्वोक्त 'यतोवाचो निवर्त्तन्त' श्रुति का भिन्नार्थ होता है, अनन्तगुण लीलादि शक्ति सम्पन्न श्रीभगवान का वर्णन कैसे हो सकता है? इस प्रकार श्रुत्यर्थ का साफल्य रक्षित होता है। ब्रह्म पूर्णतः वाक्य का अविषय है, इस प्रकार कहना असङ्गत ही है।

सुतरां उक्त रूप-गुण-लीलादि विशेष विशिष्ट श्रीभगवान् की निर्विकल्पक सत्तास्वरूप ही ब्रह्म है। अनन्तर उक्त लीलादि विशिष्ट श्रीभगवान् का साक्षात्कार होता है। अतएव श्रीभगवान् के स्वरूपभूत ब्रह्म—तदीय साक्षात्कार का प्रथम सोपान है। इस श्लोक में निर्विकल्पक तत्त्व अथवा ब्रह्म का स्वरूप व्यक्त हुआ है। प्रतिबोध—ज्ञान एवं नित्यसुख। इस में जड़–दुःख का प्रतियोगी रूपमें जिस की प्रतीति होती है, वह ही सुख है। जड़-दुःख का प्रतियोगी कहने से चेतन–सुख का लाभ होता है। जागतिक सुख, क्षणिक है, सामयिक तृप्ति मात्र है, उक्त सुख नित्य अजस्र है, अर्थात् उक्त सुख ही जिन का एकमात्र स्वरूप है, ऐसा जो आत्मा, अर्थात् आत्मा का मूल—वह ही ब्रह्म है। आत्मा स्वयं प्रकाश रूप में, निरुपाधि प्रेमास्पद रूप में प्रतीत होता है। अजस्र सुख का कारण दिखाते हैं—नियत क्षोभ शून्य, अतएव भयादि क्षोभ का कारण उन में नहीं है। जो सम्पूर्ण शोक रहित है, वह ही ब्रह्म है। ब्रह्म को सुख-स्वरूप कहने से उन में पुण्य स्थिति की सम्भावना क्यों नहीं होगी? पुण्य ही सुख का कारण है, "ते ह्लाद परितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात्" "ते जन्मायुर्भोगाः पुण्य हेतुकाः दुःखफलः इति" अर्थात्

क्रियार्थो यज्ञाद्यर्थः पुरुकारकवान् शब्दो न प्रवर्त्तत इत्यर्थः। किन्तु (बृ० ३।९।२६) "औपनिषदः पुरुषः" इत्यादिरीत्या केवलमुपनिषदेव प्रकाशिका भवतीत्यर्थः। पुनः स्वसुखरूपत्वे चेन्द्रिय-जन्यत्वं व्यावर्त्तयति—शुद्धमित्यादिना। तत्र शुद्धं दोषरहितम्, सममुच्चावचताशून्यम्, सदसतः परं कारणकार्य्यवर्गादुपरिस्थितम्। किं बहुनेत्याह—माया च यस्याभिमुखे यदुन्मुखतया स्थिते जीवन्मुक्तगणे विलज्जमानेव परैति पलायते, ततो दूरं गच्छतीत्यर्थः॥ श्रीब्रह्मा नारदम्॥

व्यञ्जिते भगवत्तत्त्वे ब्रह्म च व्यज्यते स्वयम्। अतोऽत्र ब्रह्मसन्दर्भोऽप्यवान्तरतया मतः॥२२

सर्वसम्वादिनी

इति [धनञ्जय-न्यायेन] च दृष्टान्तितं भवद्भिरेव। ततः पूर्ववदेव तस्मिन्नुभयधर्मापातः। अतो यदेवमाचक्षीत, शब्दो हि व्यवहार्य्य एव वस्तुनि प्रवर्त्तते, नाव्यवहार्य्ये,—जाति-गुणादि-निर्द्देशेनैव तस्य प्रवृत्तेः; ततश्च नील-पीताद्याकाररूपा, प्रियदर्शनादि-जनितोल्लासरूपा च—येऽन्तःकरणवृत्ती, तयोरेव तौ प्रवर्त्तेते, न तु ब्रह्मस्वरूपे; तथा च ताभ्यां शब्दाभ्यां स्वतस्तत्र प्रवेशासामर्थ्ये सति, ब्रह्म-शब्दस्य बृहत्त्व-निरुक्तिबलात् (तै० २।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादावनन्तत्वेन च श्रुतत्वाज्जहल्लक्षणया तेऽतितुच्छे परित्याज्ये; तयोस्त्रिगुणमयत्वेन च जड़दुःखैकरूपयोरपि स्व-सान्निध्येन तत्ता-स्फोरकमनिर्द्देश्यमेकरूपमेव वस्तूपस्थाप्यते। (भा० ८।१।९) 'येन चेतयते विश्वं' इति, (तै० २।७।१) 'एष ह्येवानन्दयति' इति शब्दश्च;—

अनुवाद—

जन्मायुर्भोग रूप विपाक पुण्यकर्म हेतुक होने से सुखरूप शुभफल प्रदान करता है। अपुण्य हेतुक होने से दुःखरूप अशुभ फल प्रदान करता है।

तद्रूप पाप-पुण्य की सम्भावना ब्रह्म में नहीं है। जीव के पक्ष में उक्त नियम है, अविद्या स्पर्श से जीव में क्षोभ, भय, शोक आते रहते हैं। उस से जीव का नित्य-सुख आच्छादित हो जाता है, शुद्धता का तिरोधान होता है, एवं जीव कर्मविषय हो जाता है। अविद्या इस का मूल कारण है, "अनित्या अशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या" ब्रह्म की सुख रूपता—जीव के समान नहीं है, तज्जन्य विशेषण—"शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थः।" अर्थात् बहु कारक साध्य यज्ञादि द्वारा उत्पाद्य, आप्य, विकार्य्य, संस्कार्य्यादि क्रिया फल का प्रवर्त्तक शब्द प्रयोजित उन में नहीं होता है। शब्द,—आकाश का गुण है, उस में माया का सम्बन्ध है, माया स्वयं सम्मुख में आ नहीं सकती, तब शब्द कैसे आ सकता। मायातीत श्रीभगवान् ध्यान का विषय होते हैं, वह 'औपनिषदः पुरुषः' होने के कारण है। वह अप्राकृत नित्य अपौरुषेय शब्द का आश्रय हैं। अपार करुणामय श्रीहरि भक्ति प्लावित हृदय से निर्गत भक्त मुखोच्चारित शब्द को स्वयं ग्रहण करते हैं, एवं शब्द वेद्य होते हैं। अतएव भगवत् स्वरूप का शब्द वेद्यत्व उन की कृपाशक्ति से सुसिद्ध होता है। अद्वैत वादी गुरु के द्वारा कल्पित ब्रह्म—उभयविध शब्द का अविषय हैं। और 'औपनिषद पुरुष' समाख्या बाधित होती है।

"शुद्धं समम्" कथन से ब्रह्म इन्द्रिय सापेक्ष सुख स्वरूप नहीं है, शुद्ध,—दोष रहित, सम,—उच्चावचता परिशून्य, सद् असद् से पर, कार्यकारण अवस्थातीत। माया सम्पर्क रहित ही ब्रह्म है। श्रीनारद के प्रति श्रीब्रह्मा की उक्ति है।

ब्रह्म पृथक् तत्त्व नहीं है, भगवत्तत्त्व का ही एक निर्विकल्पक अवस्था विशेष है, जो कि अहंग्रह उपासना में रुचिशील साधकों के अनुभव में प्रकाश होता है। अतः भगवत्तत्त्व का प्रकाश होने से ही ब्रह्म-तत्त्व का प्रकाश स्वयं ही होगा। सुतरां ब्रह्म-सन्दर्भ लिखने का कुछ भी औचित्य नहीं है। भगवत् सन्दर्भ का अवान्तर सन्दर्भ रूप में ब्रह्म-सन्दर्भ को जानना होगा, ग्रन्थकार ने ब्रह्म को भगवत्तत्त्व में ही अन्तर्भाव किया है, यह मत महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास का सम्मत है॥७॥

८। अथ श्रीभगवदाविर्भावे योग्यतामाह (भा० १।७।४) "भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले। अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" इति। व्याख्यातमेव ॥ श्रीसूतः ॥

९। तदित्थं ब्रह्मणा चोक्तम्, (भा० ३।९।११) "त्वं भक्तियोगपरिभावित-हृत्सरोज, आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्" इति ॥ श्रीसूतः ॥

सर्वसम्वादिनी

तथा तस्मात्तत्तदुपाधि-परित्यागायैव शब्दद्वयोपन्यासः, न तु द्विधर्मता-विवक्षया। तथा तत्तदुपाधावेव तत्तद्भेदव्यवहारः, न तूपहिते। तत्रेत्येतदपि परिहृतं भवति। यदि च तत्र तत्रासम्भूतापि तत्ता तत्-सान्निध्ये स्फुरतीति मतम्, तर्हि तस्मिन्नपि तत्तद्धर्म्मास्तितैव स्वीकृता। दर्पण-प्राङ्गणादिषु सञ्चारित-स्वदीप्रता-शुभ्रतादिक-चन्द्रिका-सन्दोहवत्तत्र दीप्तिः शुभ्रत्वमप्यस्तीत्येव सञ्चारितं तत्तद्धर्म्मत्वमुपलभ्यते-ऽन्यत्र दीपप्रभादौ, न तु शुभ्रत्वमिति। दार्ष्टान्तिकेऽपि नीलाद्याकारायामुल्लासरूपायाञ्चान्तर्वृत्तौ जड़-प्रतियोग-गम्यतया दुःखप्रतियोग-गम्यतया चान्योन्यं भेदवृत्ति भजन् यो यो भावविशेष उपलभ्यते, स स उपाधिभूतयोस्तयोस्त्रिगुणमयत्वेनातद्धर्म्मत्वादतदपोहे तस्य तस्यावशिष्यमाणत्वेन स्वप्रकाशत्वेन च शुद्धत्वादुपहितरूपमेवेत्यवसीयते। ततश्च तत्र तत्र पार्थक्येनोदयादस्त्येव स्वरूपधर्म्म-भेदस्तत्रापि नीलाद्याकारवृत्तौ पार्थक्यमतिस्फुटमेव। यदि तत्र जड़प्रतियोगिता-दुःखप्रतियोगितयोर्भेदो न स्यात्, तदा तस्यामपि वृत्तौ सुखमुपलभ्येतैव,स्वगतैकदेशानङ्गीकृतेरेकदेशोदय-विरोधात्। अतएव (ब्र०सू०३।३।१२) "आनन्दादयः प्रधानस्य" इति भेदेनाप्युपक्रान्तवन्तः सूत्राकाराः।

अनुवाद—

भगवत्तत्त्वाविर्भाव की योग्यता। किस प्रकार अवस्था, एवं योग्यता में साधक के निकट भगवत्तत्त्व का विषय प्रकट होता है,उसका वर्णन करते हैं। महर्षि वेदव्यास,देवर्षि श्रीनारदके उपदेश से समाहित चित्त होकर भगवत्तत्त्व का दर्शन किये थे। भक्तियोगके द्वारा चित्त सम्यक् रूपसे प्रणिहित होने से उस निर्म्मल अन्तःकरण में श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पूर्णपुरुष श्रीभगवान् का दर्शन किए थे। इस की व्याख्या तत्त्व-सन्दर्भ में हो चुकी है ॥८॥ श्रीसूत का कथन ॥

श्रीभगवदाविर्भाव के सम्बन्ध में श्रीब्रह्मा की उक्ति इस प्रकार है—"हे नाथ! श्रुति प्रभृति में आपके साक्षात्कार का एकमात्र उपाय श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षण साधन का जो पथ निर्दिष्ट है, उस को जानकर जो भक्त शास्त्र-परिज्ञात आप की मूर्त्ति का सन्दर्शनाभिलाषी होकर आराधना में प्रवृत्त होता है, उस आराधना के फलस्वरूप प्रेम की उज्जलच्छटा से उद्भासित भक्त हृदय कमल में हे अनन्तमहिम! आप तदीय ईप्सित मूर्त्ति में आविर्भुत होते हैं।"

श्रीभगवान् के आविर्भाव में भक्त वश्यता ही एकमात्र कारण है। भक्तियोग शब्द से प्रेम को जानना होगा। अर्थात् साधन भक्ति के द्वारा चित्त निर्म्मल होने से उस की पराकाष्ठा रूप प्रेम का उदय होता है, अथवा साधक उस अवस्था में उपनीत होता है, तब श्रीमूर्त्तिदर्शन लाभ की योग्यता होती है। श्रुति-स्मृति पुराण पञ्चरात्रादि शास्त्रानुशीलन लब्ध पूर्व पूर्व महाजनानुभव आचार्य्य बुद्धि परिभावित जिस मूर्त्ति की भावना साधक हृदय में होती है, आप उन के प्रति कृपा करने के निमित्त उस मूर्त्ति में प्रकट होते हैं। यदि कहो कि—श्रवण मात्र से ही कैसे मेरी मूर्त्ति का ज्ञान हो सकता है? कहते हैं,—आप उरुगाय हैं। अर्थात् अनन्त जनहितकारी मूर्त्ति का वर्णन वेद में है। अथवा हे श्रीकृष्ण! उपासक जिस किसी रूप में आप की भावना क्यों न करे, आप भक्तवत्सल हेतु उन की आकाङ्क्षित मूर्त्ति में आप प्रकट होते हैं। श्रुति कहती है—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां" यहाँ स्पष्टतः ही भगवत् साक्षात्कारके प्रति श्रीभगवत कृपासम्वलित मूर्त्ति प्रकट ही कारण है।

१० । तदाविर्भावमाह सार्द्धदशभिः (भा० २।९।९-१८)—

"तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः, सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेत-संक्लेशविमोहसाध्वसं, स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम् ॥२३॥
प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः, सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे,-रनुव्रता यत्र सुरासुरार्च्चिताः ॥२४॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः, पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्व्वे चतुर्बाहव उन्मिषण्मणि,-प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्च्चसः ।
प्रवालवैदुर्य्यमृणालवर्च्चसः, परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥२५॥
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते, लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः, सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥२६॥

सर्वसम्वादिनी

यदि चैवमुच्यते,—न तज्ज्ञानानन्दरूपं न च जड़दुःख-प्रतियोगि यथा च जड़दुःख-विलक्षणं तदिति ? तदा (तु) न किञ्चिदपि स्यादिति शून्यवाद-प्रसक्तिः । किं बहुना ? परमप्रमाणभूतस्य वेदस्य स्वारस्यमेव केवलैकत्ये नास्ति, सर्वस्यैव वाक्यस्य लक्षणयान्यार्थीक्रियमाणत्वात्, ततश्च परमाप्तता-विरहात् । अतस्तत्रापि स्वरूपलक्षणत्वमेव । ततो (बृ० ३।९।२८) 'विज्ञानम्' इतीदं वाक्यं न किञ्चिदपि व्यवधानं सहत इति साक्षादेव तत्तदभिधाने पर्य्यवसिते कथमिवान्या गतिक्रियोपपद्यताम् ? न च 'जाति-गुणादि-हीनतया तत्र शब्दः साक्षान्न प्रवर्त्तते इति युक्तिमद्वाक्यम्;—स्वरूपशब्दवत्तस्य स्वरूपालम्बन-सङ्केतेन च प्रवर्त्तयितुं शक्यत्वात् । यत्तु (तै० २।४।१) 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिकं श्रूयते, तदिदमीदृशमियत्-परिमाणं वेति निर्द्देशासामर्थ्यपरमेव,—अलौकिकत्वादनन्तत्वात् ।

अग्रेऽपि सयुक्तिक-विचारणात् स्वयमेव भवता तत्ता-शब्देन परामृष्टायाः सुखतायाः स्फोरकमनिर्द्देश्यम-

अनुवाद—

श्रुति कहती है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुंस्वाम् ॥ (कठ० २।२३)

यहाँ श्रवण मननादि साधन की अकिञ्चित् करता हेतु भक्ति एवं तत्सम्बलित श्रीभगवान् की कृपा ही तदीय मूर्त्ति साक्षात्कार का उपाय निर्दिष्ट हुआ है ॥९॥

भक्ति-परिभावित चित्त में श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है । सार्द्धदश श्लोक के द्वारा उस का विवरण कहते हैं ।

भगवान् श्रीब्रह्मा के भजन से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा को निज सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठ लोक का दर्शन कराये । जहाँ से महाक्लेश, विमोह, भय सम्पूर्ण रूप से अपसृत हुये हैं, विबुधगण के द्वारा जो नित्य सेवित अभिनन्दित है । रजः, तमोगुण, रजोतमोगुण मिश्रित सत्त्वगुण जहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं । काल का पराक्रम वहाँ नहीं है, माया का भी अधिकार वहाँ नहीं है । सुतरां मायिक कुछ भी विकार वहाँ नहीं है । सुर, असुरगण—समर्च्चित श्रीहरि के पार्षदगण वहाँ पर निराजित हैं । समस्त पार्षदगण, समुज्जल श्यामवर्ण, शतदल-लोचन, पीत वसन परिहित, एकान्त कमनीय, परम सुकुमार, निरतिशय तेजस्वी, चाकचिक्यमय अत्युत्कृष्ट मणिरत्न से विजड़ित पदकालङ्कार से समलङ्कृत, समुद्भासित कुण्डल किरीट, माला से विभूषित, चतुर्भुज होते हैं ।

पार्षदों के मध्य में कोई कोई प्रवाल, वैदुर्य्य मृणाल के समान कान्तियुक्त हैं । विद्युद्दाम विजड़ित

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः, करोति मानं बहुधा विभुतिभिः।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै,-र्विगीयमाना प्रियकर्म्म गायती ॥२७॥
ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं, श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः, स्वपार्षदाग्र्यैः परिषेवितं विभुम् ॥२८॥
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं, प्रसन्नहासारुणलोचनाननम्।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं, पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥२९॥
अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं, वृतं चतुःषोड़शपञ्चशक्तिभिः।
युतं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः, स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥३०॥

सर्वसम्वादिनी

व्यवहार्य्यं वस्त्वेकमित्युक्तम्,—तत्तच्छब्द-प्रवर्त्तनात्, (वृ० ।४।३।३२) 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति' इत्यादिषु श्रुतिष्वपि तत्रैव मुख्यवृत्त्यानन्द-शब्द-प्रवृत्ति-दर्शनात्, (ब्र०सू० ३।२।३३ माध्वभाष्य-धृता कौण्डिन्य श्रुतिः) 'अदृष्टमव्यवहार्य्यमव्यपदेश्यं सुखम्' इत्यादिष्वपि तथाभूतत्वेऽपि सुख-शब्द-प्रयोगात्, (ब्र०सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादिन्याय-प्रसिद्धत्वाच्च।

किञ्चेदं पृच्छामः।—तदानन्दरूपं भवति, न वा ? भवति चेत्, आयाता तस्य तत्संज्ञा, दुःख-प्रति-योगिता च। नेति चेत्, अपुरुषार्थत्वम्। तस्मात्तदानन्दरूपं भवति। किन्तु न लोक-प्रसिद्धानन्दरूपं तदित्येव वाच्यमिति स्थिते त्वस्माकमेव समीचीनः पन्थाः। एवं (तै० २।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यत्रापि सत्यानन्तत्वादि-धर्मभेदस्तत्र विवेचनीयः ;—अत्राप्यसत्य-जड़-परिच्छिन्नत्व-व्यावर्त्तनमपि धर्मविशेष एव।

यद्येवमुच्यते।—यथा, शौक्लादिकस्य कार्ष्णादि-व्यावर्त्तनमपि तत्पदार्थस्वरूपमेव, न धर्मान्तरं तथेति; तदा तत्तद्व्यावृत्ति-योग्यतास्तीत्यवश्यं मन्तव्यम्। योग्यता च शक्तिरेवेति 'घट्टकुट्यामेव प्रभातम्'। एव-मेवोक्तं श्रीरामानुज-शारीरकभाष्ये,—(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ४९तम-अनु०) "सविशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः

अनुवाद—

जलदजाल से शोभित गगनतल के समान वैकुण्ठधाम शोभित है, उसके चतुर्दिक में महात्मागण की विमान पङ्क्ति है, वराङ्गनाकुल के परमोज्ज्वल कान्ति पुञ्ज से विद्योतित होकर वह विराजित है। स्वयं लक्ष्मी वहाँ मूर्त्तिमती होकर विविध विभूति के सहयोग से विपुल कीर्त्ति श्रीहरि चरणयुगल को विविध प्रकार सम्मान प्रदान करती रहती है। कुसुमाकर वसन्त के अनुगामी मधुकरनिकर विचित्र स्वर से श्रीहरि की महिमा गान करते रहते हैं। श्रीहरि भी विलास के आतिशय्य से दोदुल्यमान होकर निज प्रणयभाजन जन के कीर्त्ति गान में निरत हैं।

इस वैकुण्ठ लोक में ब्रह्मा, सुनन्द, नन्द, प्रबल, अर्हण प्रभृति पार्षदगणों के द्वारा परिसेवित निखिल भक्तकुलपति, यादवगण के पति, लक्ष्मीपति, यज्ञपति, जगत्पति विभु को दर्शन किए। श्रीहरि की दृष्टि, आसब रस के समान दर्शक वृन्द को परमानन्दित करती रहती है, श्रीहरि भृत्यवर्ग के प्रति प्रसाद प्रदान में अभिमुखीन होकर हैं।

श्रीहरि के प्रसन्न वदन, हास्य एवं अरुणनयन से परम रमणीय शोभित है। आप चतुर्भुज हैं, आप के परिधेय—पीत वसन है, मस्तक में उज्ज्वल किरीट है, कर्ण में कुण्डल, वक्षःस्थल में लक्ष्मी रेखा से भूषित आप हैं। वरिष्ठ सिंहासन में आप अधिष्ठित हैं। पञ्चविंशति शक्ति वेष्टित आप हैं, योगिगण के जो दुर्ल्लभ हैं, योगिगण जिन की कृपा से आभास मात्र प्राप्त करते हैं, श्रीहरि निज असाधारण स्वाभाविक परमैश्वर्य्य परिपूर्ण होकर स्वरूप में ही रममाण होकर अवस्थित हैं।

तद्दर्शनाह्लाद-परिप्लुतान्तरो, हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्,-यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥३१॥
तं प्रीयमाणं समुपस्थितं कविं, प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा, प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्" ॥३२॥

तस्मै श्रीभगवदाज्ञापुरस्कारेण श्रीनारायणाह्वयपुरुषनाभि-पङ्कजे स्थित्वैव तत्तोषणैस्तपोभिर्भजते ब्रह्मणे सभाजितस्तेन भजनेन वशीकृतः सन् स्वलोकं वैकुण्ठं भुवनोत्तमं भगवान् सम्यक् दर्शयामास। यद्यतो वैकुण्ठात् परमन्यद्वैकुण्ठं परं श्रेष्ठं न विद्यते, परमभगवद्वैकुण्ठत्वात्। यद्वा, यद्यतो वैकुण्ठात् परं ब्रह्माख्यं तत्त्वं परं भिन्नं न भवति। स्वरूपशक्तिविशेषाविष्कारेण माययानावृतं तदेव तद्रूपमित्यर्थः। अग्रे त्विदं व्यक्तीकरिष्यते।

सर्वसम्वादिनी

केनचिद्युक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैर्निष्क्रष्टव्य इति निष्कर्षहेतुभूतैः (सत्तातिरेकिभिः) स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एवावतिष्ठते; अतः कैश्चिद्विशेषैर्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यन्त इति न क्वचिन्निर्विशेषवस्तुसिद्धिः" इति। तत्रैवान्यत्रोक्तम्, (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ७८तम-अनु०) —"(तै० २।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेकविशेषण-विशिष्टैकार्थाभिधान-व्युत्पत्त्या न निर्विशेषवस्तु-सिद्धिः। प्रवृत्तिनिमित्त-भेदेनैकार्थवृत्तित्वं हि सामानाधिकरण्यम्; तत्र सत्यज्ञानादि-पद-मुख्यार्थैर्गुणैस्तत्तद्गुणविरोध्याकार-प्रत्यनीकाकारैर्वैकस्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्याश्रयणीयः। इयांस्तु विशेषः।—एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता; अपरस्मिंश्च तेषां लक्षणा। न चाज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव, एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तरप्रयोग-वैयर्थ्यात्; तथा सति सामानाधिकरण्यासिद्धिश्च,—एकस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमानानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात्। न चैकस्यैवार्थस्य विशेषण-भेदेन विशिष्टता-भेदादनेकार्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्य-विरोधि,एकस्यैव वस्तुनोऽनेकविशेषण-विशिष्टता-प्रतिपादनपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य; (पाणिनि-महाभाष्य-व्याख्यायां 'कैयटः') 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् इति हि शाब्दिकाः' इति।

अनुवाद—

इस प्रकार निजलोक में निजैश्वर्य्य में विराजित श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त कर विश्वस्रष्टा विरिञ्चि का हृदय आनन्द से परिप्लुत हो उठा, प्रेमातिशय्य से शरीर में हर्षोद्गम हुआ, नयनों से अविरल अश्रुधारा विगलित होने लगी, परमहंस पदवी प्राप्त ज्ञानीगण के ज्ञान मार्ग के आश्रय से जो तत्त्व बहु आयास से अधिगत होता है, ब्रह्मा—उन भगवान् के चरणाम्बुजों में प्रणाम किए। भक्तानुकम्पी भगवान् ने देखा,—ब्रह्मा, विनय नम्र कन्दर से कृताञ्जलि होकर उन के निकट उपस्थित होकर उन के प्रीति विधान कर रहे हैं, तब भगवान् के हृदय भी प्रीति रस से उच्छलित हो उठा, आप सप्रेम नयन से निरीक्षण करते करते सम्बर्द्धना के सहित विरिञ्चि का कर स्पर्श किये, एवं प्रजासर्ग के विषय में नियोगार्ह ज्ञान करके ईषत् स्मित विकाश से जिस की दीप्ति तथा सौन्दर्य्य समधिक प्रस्फुरित हो रहे हैं, इस प्रकार वचन विन्यास पुरःसर कहने लगे।

अर्थात् श्रीभगवान् के "तप तप" इत्याकार आज्ञानुसार श्रीनारायण के नाभि पङ्कज में अवस्थित होकर ही उन की तुष्टि विधायक तपस्या रूप उपासना करने से, भगवान् तपोरूप उपासना से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा को निज भुवनोत्तम वैकुण्ठ लोक का दर्शन सम्यक् प्रकार से कराये थे।

जिस से अपर कोई वैकुण्ठ नहीं है, अर्थात् परम वैकुण्ठ, जो श्रीभगवान् के निज धाम है। अथवा जिस वैकुण्ठ से "परं" ब्रह्माख्य तत्त्व भिन्न नहीं है। उस का कारण—जिस स्वरूपशक्ति विशेष से

तादृशत्वे हेतुः—व्यपेतेति स्वदृष्टेति च। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, विमोहस्तैर्वैचित्त्यम्, साध्वसं भयम्, व्यपेतानि संक्लेशादीनि यत्र तम्। स्वस्य दृष्टं दर्शनं तद्विद्यते येषां तैरात्मविद्भिरपि अभितः सर्वांशेनैव स्तुतं श्लाघितम्। (भा० ३।१६।२७-२८)—

"अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम्। वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठञ्च स्वयंप्रभम्॥३३॥

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च। प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्"॥३४

इति तृतीयात्।

सर्वसम्वादिनी

तस्मादेवमेवात्र वक्तव्यम्।—भिन्नत्वेनोपलभ्यमानाभ्यामपि विज्ञानानन्द-शब्दाभ्यां न तस्य द्वयात्मकता; किन्त्वेकमेव वस्तु [तत्त्वं] स्वरूप-प्रकाश-वैशिष्ट्येन भिन्नतया निरूप्यते;—केनापि ज्ञानमिति, केनापि त्वानन्दमिति; यथा चन्द्रचन्द्रिका-सन्दोहः—शुक्लोऽयमिति, ज्योतिरिदमिति च। न च सत्यत्वानन्दत्वाभ्यां तद्भेदं भजते,—तयोस्तद्धर्मरूपत्वात्;—यथा, प्रचुरोऽयं प्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रचुरत्वेन चन्द्रमा इति। तथा सविशेष-ब्रह्मज्ञानं विद्यानिवृत्तये उपदिश्यते; यथा (श्वे० ३।८)—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-, मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"॥६॥ (महा०ना० १।८—)

"सर्वे निमिषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि, न तस्येशो कश्चन यस्य नाम महद्यशः।

य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति"॥७॥ इत्यादि।

एवं सूत्रकारमत एव तस्यानन्दैकरूपतया प्रकाशेऽप्युदयभेदो दृश्यते; यथा हि (ब्र०सू०१।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादि-प्रकरणम्। तैत्तिरीयके चान्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयञ्च शिरःपक्षादिरूपकेणानुक्रम्याम्नायते; (तै० २।५।१) "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तस्य

अनुवाद—

आविष्कृत है, एवं बहिरङ्ग मायाशक्ति से अनावृत है।

मायाद्वारा अनावृत होने के दो हेतु हैं—"व्यपेत एवं स्वदृष्ट इत्यादि"। व्यपेत—अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश पञ्च क्लेश, इस से विमोह उपस्थित होता है, पातञ्जल दर्शनस्थ उक्त सूत्र के भाष्य में लिखित है—"ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढ़यन्ति परिणाममवस्थापयन्ति, कार्य्यकारण स्रोतमुन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा, कर्म्मविपाकमभिनिर्हरन्ति"। अनित्य वस्तु में नित्यबुद्धि, अशुचि में शुचि बुद्धि, दुःख में सुख बुद्धि, अनात्मा में आत्म बुद्धि रूपा अविद्या। पुरुष दृक्शक्ति एवं दर्शनशक्ति—एतदुभय की एकात्मता के अस्मिता। सुखानुसरण के प्रति जो कामना—आसक्ति वह राग है, दुःख योग से अपर के प्रति अथवा तत्साधन के प्रति जो जिघांसा, मन्यु-क्रोध वह द्वेष है। सद्योजात कृमि से आरम्भ कर जीव तत्त्वाभिज्ञ ज्ञानीगण के मध्य में जो मरण भीति, तज्जन्य जो जीवन वासना,—वह अभिनिवेश है। एवम्बिध एवम्बिध क्लेश से ही गुणों का अधिकार दृढ़ होता है, और जीव का कर्मविपाक बर्द्धित होता है, एवं उत्तरोत्तर मोह उपस्थित होता है। अतएव उक्त विमोह जन्य चित्त विभ्रान्ति—भयादि जिस से विदूरित हुये हैं। अर्थात् जहाँ पर इस के अधिकार ही नहीं है। आत्मदर्शी अथवा श्रीभगवद्दर्शन प्राप्त विबुधगण द्वारा अभिसंस्तुत है। तृतीय स्कन्धस्थ श्रीब्रह्मा की उक्ति से ज्ञात होता है—

"अनन्तर मुनिगण श्रीहरि के स्वयम्प्रभ अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमय तदीय वैकुण्ठलोक को देखकर निरतिशय आनन्दानुभव किए थे। श्रीभगवान् एवं उन का वैकुण्ठलोक—उभय ही नयनानन्द वर्द्धक हैं, उस समय प्रहृष्ट चित्त मुनिगण श्रीभगवान् को प्रदक्षिण एवं प्रणाम करके तदीय अनुज्ञा ग्रहण पूर्वक श्रीभगवान् की अचिन्त्य ऐश्वर्य्य महिमा का कीर्त्तन करते करते स्व स्व स्थान में प्रतिगमन किये थे।"

पुनस्तादृशत्वमेव व्यनक्ति,—'प्रवर्त्तते' इति; यत्र वैकुण्ठे रजस्तमश्च न प्रवर्त्तते, तयोर्मिश्रं सहचरं जड़ं यत् सत्त्वम् तदपि न, किन्तु अन्यदेव, तच्च या सुष्ठु स्थापयिष्यमाणा मायातः परा भगवत्स्वरूपशक्तिस्तस्या वृत्तित्वेन चिद्रूपं शुद्धसत्त्वाख्यं सत्त्वमिति तदीयप्रकरण एव स्थापयिष्यते। तदेव च यत्र प्रवर्त्तत इत्यर्थः। तथा च नारदपञ्चरात्रे जितन्ते-स्तोत्रे,—

"लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यषड्‌गुणसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्" ॥३५॥ **इति।**

पाद्मोत्तरखण्डे (६१।५६-५८) **तु वैकुण्ठनिरूपणे तस्य सत्त्वस्याप्राकृतत्वं स्फुटमेव दर्शितम्। यत उक्तं प्रकृतिविभूति-वर्णनानन्तरम्,—**

"एवं प्राकृतरूपाया विभूते रूपमुत्तमम्। त्रिपादद्विभूतिरूपन्तु शृणु भूधरनन्दिनि ॥३६॥
प्रधान-परमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा ॥३७॥
तस्याः पारे परव्योम्नि त्रिपाद्भूतं सनातनम्। अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम्।
शुद्धसत्त्वमयं दिव्यमनन्तं ब्रह्मणः पदम्" ॥३८॥ **इत्यादि।**

सर्वसम्वादिनी

प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति।

(शा०भा० १।१।१२) "तत्र संशयः;—किमिहानन्दमय-शब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते? किंवान्नमयादिवद्-ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति।" तत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ब्रह्म-शब्द-संयोगबलेन पुच्छ-शब्द-व्यपदिष्टस्यैव ब्रह्मत्वे लब्ध इति? उच्यते;—(ब्र०सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्"; ब्रह्म-शब्दोऽत्राधिकारलब्धः; स चानन्दमय इति प्रथमान्तपाठात् प्रथमान्त एवानुस्मर्य्यते,—(ब्र०सू० १।१।१२) "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यादिवत्।

ततश्चायमर्थः।—आनन्दमय-सन्निधाने—(तै० २।६।२) "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति; तथा तदपेक्षत्वादुत्तरग्रन्थेऽपि—(तै० २।७।१) "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" इति, तत्प्रभृत्यन्ते चैतमानन्दमयमुपसंक्रामतीति। तथा चतुर्वेदशिखायामपि—"स शिरः, स दक्षिणः पक्षः, स उत्तरः पक्षः, स आत्मा स पुच्छः" इति चाभ्यास-श्रवणादानन्दमय आत्मैव परब्रह्म; (तै० २।६।१) "असन्नेव स भवति" इत्यादिकं त्वर्थवादः प्रशंसा-वाक्यमेव, नाभ्यास-वाक्यम्,—श्लोक-शब्देनोक्तत्वात् प्रशंसा-गर्भत्वाच्च। पुच्छ

अनुवाद—

"प्रवर्त्तते यत्र" इत्यादि श्लोक में वैकुण्ठ धाम का स्वरूप विशेष रूप से उक्त है। जिस वैकुण्ठ में रजः तमोगुण प्रवर्त्तित नहीं होते हैं, रजः, तमो के सहचर-सत्त्व भी जहाँ नहीं है, किन्तु तदितरविशुद्ध सत्त्व नामक-मायातीत श्रीभगवान् स्वरूप शक्ति के वृत्तिभूत चित् स्वरूप का ही स्थान है। इस को आलोचना उस प्रकरण में होगी। श्रीमद्‌भागवत के सहित एकमत,—नारदपञ्चरात्रीय जितन्ते स्त्रोत्र में उक्त है,— "प्राकृत गुणत्रयातीत दिव्य षड्‌गुण सम्पन्न वैकुण्ठ नामक श्रीभगवान् के जो लोक हैं, वहाँ वैष्णवेतर का प्रवेश अधिकार नहीं है।"

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में प्राकृतिक ऐश्वर्य्य वर्णनानन्तर वैकुण्ठलोक निरुपण प्रसङ्ग में उक्त सत्त्व गुण का अप्राकृतत्व कथित है। यथा—"हे भूधरनन्दिनि! तुम्हें मैंने प्राकृत विभूति का विवरण कहा, इस से उत्कृष्ट श्रीनारायण को अप्राकृत विभूति का वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण करो। प्रधान एवं परव्योम के मध्य में विरजा नाम्नी पवित्रा नदी प्रवाहिता है। जिस में सर्वदा वेदाङ्ग स्वेद से उद्‌भूत जल प्रवाहित होता रहता है। उस नदी के अपर पार में परव्योम नामक पुरी वर्त्तमान है, उक्त पुरी,—श्रीनारायण के स्वरूप, नित्य, अक्षय, सर्वदा शोभमान, असीम, परममहिम स्वरूप, शुद्ध सत्त्वमय दिव्य, अक्षर एवं श्रीभगवान् के पद स्वरूप है।"

प्राकृतगुणानां परस्पराव्यभिचारित्वं तूक्तं सांख्यकौमुद्याम्,—"अन्योन्यमिथुन-वृत्तय" इति। तट्टीकायाञ्च—'अन्योन्यसहचरा अविनिर्भाग-वर्त्तिन इति यावत्। भवति चात्रागमः—'अन्योन्यमिथुनाः सर्व्वे सर्व्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वम्' इत्याद्युपक्रम्य 'नैषामादिश्च संयोगो वियोगो वोपलभ्यते" इतीति। तस्मादत्र रजसोऽसद्भावादसृज्यत्वम्, तमसोऽसद्भावादनाश्यत्वं प्राकृत-सत्त्वाभावाच्च सच्चिदानन्दरूपत्वं तस्य दर्शितम्। तत्र हेतुः—'न च कालविक्रमः' इति। कालविक्रमेण हि प्रकृतिक्षोभात् सत्त्वादयः पृथक् क्रियन्ते। तस्माद्यत्रासौ षड्भावविकार-हेतुः कालविक्रम एव न प्रवर्त्तते, तत्र तेषामभावः सुतरामेवेति भावः। किञ्च, तेषां मूलत एव कुठार इत्याह,—'न यत्र माया' इति। मायात्र जगत्सृष्ट्यादिहेतुर्भगवच्छक्तिर्न तु कापट्यमात्रम्, रजआदि-

सर्वसम्वादिनी

एव ब्रह्म-शब्द-संयोगस्तु तत्रानन्दस्य सम्यगुदयोत्कर्षव्यञ्जकः। अतः प्रतिष्ठात्वञ्चातः पुच्छत्वमपि सर्वोत्तरोदयित्वादेव रूप्यते। ततश्च यदेव पुच्छम्, स एव प्रियादीनां निजोदयविशेषाणामवयवी सन्नानन्दमय इत्यायातम्; किन्तु पुच्छ-संज्ञे तस्मिन्निर्विशेषतयाविर्भावादवयवत्व-निरूपणम्। आनन्दमये तु प्रियादिभिः सविशेषतयैव प्रकटोपलम्भादवयवित्व-निरूपणमित्येव विशेषः। तस्मादनेनानन्दमयाधिकरणेन परब्रह्मण एव शुद्धोदय-विशेषत्वं साध्यं प्रियादिषु, तद्व्यतिरिक्तत्वं त्वन्नमयादिषु। न च प्रियादीनामिष्टपुत्र-दर्शनजादि-लक्षण-लौकिकानन्दत्वमुचितम्, पारमार्थिक-पथारोहानुक्रम-प्रक्रियाया एव पूर्वपूर्वात्मसूपक्रान्तत्वात्; यथा—(तै० २।३।२) 'तस्य यजुरेव शिरः' इत्यादि।

अतएवालौकिक-विशेषवत्त्वे सति तस्य (तै० २।४।१) 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिमहिमा च सङ्गतः स्यात्। अत्रानन्दस्यैकस्यैवोदयापचयोपचयमात्र-विवक्षितत्वेन प्रियादि-भेदान्न विज्ञानमयादिवत् पृथग्-गुणत्वम्। अतएव तृतीयेऽध्याये तृतीयपादे सूत्रकारैरपि (ब्र०सू० ३।३।१२) "आनन्दादयः प्रधानस्य"

अनुवाद—

अतएव उक्त धाम में प्राकृत गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह प्रकाशित हुआ।

उक्त प्राकृतिक गुणों का परस्पर अव्यभिचारि का वर्णन साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी में है—"अन्योन्यमिथुन-वृत्तयः" इस की टीका—"अन्योन्य सहचराविनाभाववर्त्तिन इति यावत् समुच्चये भवति चात्रागमः॥ अन्योन्यमिथुना सर्वे, सर्वत्र गामिनः, रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः। तमश्चापि मिथुने ते सत्त्व रजसी उभे, उभयोः सत्त्वरजसो मिथुनं तम उच्यते। नैषामादिश्च संयोगो वोपलभ्यते॥"

अर्थात् परस्पर सहचर जो गुण—उस की अविनाभाववर्त्तिता है, एक गुण के सहित गुणान्तर का अवस्थान है। अतएव सहचर शब्द से—एकत्र विचरण बोध होता है। एक गुण के सहित अन्य गुण का भी गमन होता है। जैसे रजोगुण का सहचर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण का सहचर—रजोगुण, एवं सत्त्व-रजोगुण उभय ही तमोगुण के सहचर है। इसके परस्पर के मध्य में कौन आदि में था, अथवा उस के संयोग-वियोग की उपलब्धि नहीं होती है, कारण वे सव प्रवाह क्रम से अनादि हैं।

सुतरां उक्त वैकुण्ठ लोक में रजोगुण का असद्भाव से उस का सृजन राहित्य है, तमोगुण का अभाव से अविनश्वरत्व है, एवं प्राकृत सत्त्वगुण के अभाव से सच्चिदानन्दरूपता है। उस में हेतुगर्भ विशेषण है—"न च कालविक्रमः"। जहाँ काल का विक्रम नहीं है। काल से प्रकृति क्षुब्धा होती है, क्षुभिता प्रकृति से सत्त्वादि गुण परस्पर पृथक् होते हैं। अतएव षड्भाव विकार के निदानभूत काल का प्रभाव जहाँ नहीं है, वहाँ विकारादि की सम्भावना ही कहाँ है? मूले कुठाराघात के अभिप्राय से कहते हैं—"न यत्र माया" जहाँ माया ही नहीं है। यहाँ माया शब्द से जगत् सृष्ट्यादि कार्य्य की हेतुभूत भगवदिच्छा शक्ति को

निषेधेनैव तद्व्युदासात् । अथवा यत्र तयोः सम्बन्धि सत्त्वं प्राकृतं सत्त्वं यत्तदपि न प्रवर्त्तते । मिश्रं अपृथग्भूतं गुणत्रयं प्रधानञ्च । अतएवेशितव्याभावात् कालमाये अपि नस्त इति । अग्रे मायाप्रधानयोर्भेदो विवेचनीयः । कैमुत्येनोक्तमेवार्थं द्रढ़यति—किमुतापर इति । तयोर्विमिश्रं किञ्चिद्रजस्तमोमिश्रं सत्त्वञ्च नेति व्याख्या तु पिष्टपेषणमेव, सामान्यतो रजस्तमोनिषेधेनैव तत्प्रतिपत्तेः । वक्ष्यते च तस्य सत्त्वस्य प्राकृतादन्यतमत्वं द्वादशे श्रीनारायणर्षि प्रति श्रीमार्कण्डेयेन (भा० १२।८।४५-४६)

"सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो, मायामयाः स्थितिलयोद्भवहेतवोऽस्य ।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै, नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥३९॥
तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां, शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति ।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं, लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत्" ॥४०॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

इत्यनेनानन्दादीनामेकत्रोक्तानामपि सर्वत्रोपासनायां समाहृतिश्चिन्तिता; प्रियादीनां तु सा परिहृता । (ब्र०सू० ३।३।१३) "प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे" इत्यनेन तत्रैकस्यैवान्नमयादि-क्रमोपासकस्योपासना-भूमिकारोह-स्थानाभेदे हि प्रियादि-शब्दस्तस्यैवानन्दमयस्य ब्रह्मण उदयोपचयापचयौ विवक्षितौ । ततो नान्यत्रोपासनायां तेषां (ब्र०सू० ३।३।१२) "आनन्दादयः प्रधानस्य" इति न्यायेन प्राप्तिरित्यर्थः ।

ननु (तै० २।८।५) 'एतमानन्दमयमुपसंक्रामति' इत्यस्याः श्रुतेः परब्रह्मविषयत्वं नास्ति,—(शा०भा० १।१।१९) "विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात् ?" मैवम्; तत्प्रवाह-पतितत्वेऽपि सर्वान्तरत्वात् 'अरुन्धतीदर्शन' वत् प्रतिपाद्यरूपत्वमेव प्रसज्जेत। न चोपसंक्रमकार्थत्वेन तस्य परत्वं प्रतिहन्यते,—तदाविर्भाषमात्रार्थत्वात्; यथा—(तै० २।१।२) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति । किञ्च, उपसंक्रमवचन एव विदुषा ब्रह्मत्व-प्राप्ति-फलनिर्द्देशात्तस्यान्यथात्वं न युज्यते । आनन्दमयोपसंक्रम-निर्द्देशेनैव पुच्छ-प्रतिष्ठाभूत-ब्रह्मप्राप्तिर्निर्दिष्टेति चेत्, श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । पुच्छवादिनामपि पुच्छ-प्रवाहपतितत्वेन

अनुवाद—

जानना होगा । कापट्य अर्थ का प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है ।

"स ऐक्षत बहुस्याम् प्रजायेय" (छा० उ०, ६।८।३) श्रुति में ईक्षण एवं बहु भवनेच्छा की जो उक्ति है, यह वह शक्ति अथवा माया है, माया—दम्भ, कृपा, शक्ति प्रभृति अर्थ का बोधक है । यहाँ कापट्य अर्थ में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है. उस का कारण—रजोगुणादि का निषेध हेतु प्राकृतिक माया—कापट्य का निरास हुआ है । "प्रवर्त्तते यत्र" श्लोक की व्याख्या पक्षान्तर से करने से भी उक्तार्थ ही प्रतिपन्न होता है। जहाँ रज-तमोगुण का सम्बन्धि सत्त्व नहीं है, एवं "मिश्र" शब्द से अपृथक्भूत गुणत्रय रूप प्रधान भी नहीं है, ईशितव्य वस्तु के अभाव से काल एवं माया भी नहीं है, (प्रधान एवं माया का विभेद, पश्चात् विवेचित होगा) सुतरां जब माया ही नहीं है, तब मायिक वस्तु जो नहीं है, उसका निर्णय कैमुतिक न्याय से हुआ । रजः तमोगुण के निषेध तन्मिश्रित सत्त्व नहीं है. यह कहना केवल पिष्टपेषण ही है ।

वैकुण्ठ लोक को गुणातीत करने से निर्विशेषत्व की आशङ्का नहीं, इसलिए "हरेः" शब्द के द्वारा स्वरूपभूत वस्त्वनतिरिक्त है, तदीय शुद्ध सत्त्वात्मिका शक्ति का विलास है—वह प्रकटित हुआ ।

पाद्मोत्तर खण्ड की कारिका में उक्त है—

"न तद् भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं हरेः ॥ यहाँ सूर्य्य-चन्द्रादि प्रकाशित नहीं होते हैं । ऐसा कहने से उक्त धाम, स्वयं प्रकाशस्वरूप है, उसका स्पष्टीकरण हुआ ।

अनयोरर्थः— हे ईश ! यद्यपि सत्त्वं रजस्तम इति तवैव मायाकृता लीलाः; कथम्भूताः ? अस्य विश्वस्य स्थित्यादिहेतवः, तथापि या सत्त्वमयी सैव प्रशान्त्यै प्रकृष्टसुखाय भवति, नान्ये रजस्तमोमय्यौ । न केवलं प्रशान्त्यभावमात्रमन्ययोः, किन्तु अनिष्टञ्चेत्याह—व्यसनेति । हे भगवन् तस्मात्तव शुक्लां सत्त्वमयलीलाधिष्ठात्रीं तनुं श्रीविष्णुरूपां कुशला निपुणा भजन्ति सेवन्ते, न त्वन्यां ब्रह्मरुद्रादिरूपां तथा तावकानां जीवानाञ्च मध्ये शुक्लां सत्त्वैक-निष्ठां तनुं तद्भक्तलक्षणस्वायम्भुवमन्वादिरूपां ते भजन्ति अनुसरन्ति, न तु दक्ष-भैरवादिरूपाम् । कथम्भूताम् ? स्वस्य तवापि दयिताम्, लोकशान्तिकरत्वात् । ननु मम रूपमपि सत्त्वात्मकमिति प्रसिद्धम्, तर्हि कथं तस्यापि मायामयत्वमेव ? न हि न हीत्याह—सात्वताः श्रीभागवता

सर्वसम्वादिनी

ब्रह्मणोऽपि पूर्ववत् पुच्छत्वमेवापतेत । तत्र यदि वचनान्तर-स्वारस्येनावयवता स्यात्, तर्हीहापि पूर्वदर्शितत्वेन भविष्यति । तथा, (तै० ३।५।१) "तस्यैव एष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यनेनात्मत्वेनोपक्रान्तस्यानन्दमयस्यैव सर्वत्र शारीरत्वं प्रतिपद्यते;—श्रुति-निर्दिष्टपृथिव्यादि-लक्षण-शरीरान्तर्यामित्वापेक्षयेति शरीरत्व-श्रवणमपि न दोषाय । यद्वा, आनन्दमयत्वेपि 'तस्यैव एष एव शारीर आत्मा' इत्यनेन यत्तस्याप्यात्मान्यः श्रूयते, तत्तु तस्यात्मान्तरं नास्तीति-विवक्षया;—'शिलापुत्रस्य तु शिलापुत्र एव शरीरम्' इतिवत्, यथान्येषामन्नमयस्य प्रसिद्धशारीरत्व-निषेधस्तु (ब्र० सू० १।१।१६) "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादौ स्वयमेव सूत्राकारैः करिष्यते ।

तस्मादानन्दमय-शब्देन परब्रह्म वोच्यते; तथा, (तै० २।६।२) 'सोऽकामयत' इति, (तै० २।७।१) 'रसो वै सः' इति पुंलिङ्गेनैव निर्द्देशादपि स एव; न तु पुच्छम् । ततः (तै० ३।१०।५) 'एतमानन्दमयम्' इत्यत्रान्तिम-वाक्ये च तन्निर्द्देशः संवदते; (तै० २।१।३) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यस्मादात्म-शब्दा-कर्षेण तन्निर्द्देशगतिश्च; विप्रकर्षातिशय एव पराहतः ।

अनुवाद—

इस प्रकार धाम का वर्णन कर धामस्थ भक्तवृन्द का वर्णन करते हैं—"अनुवृत्ति अर्थात् श्रीभगवान् की सेवा ही जिन का एकमात्र व्रत है, ऐसे पार्षदगण के द्वारा परिवृत हैं । जो लोक सत्त्व प्रभव देवगण, एवं रजः तमः प्रभव असुरगण द्वारा अर्चित हैं, अर्थात् उन सब की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । इस से पहले जिस प्रकार श्रीभगवान् का नित्य सच्चिदानन्दमयत्व प्रदर्शित हुआ है । उस प्रकार उन के धाम एवं धामस्थ पार्षद भक्तगण भी सच्चिदानन्दमय हैं, यह स्पष्टीकृत हुआ । कारण उक्त धाम गमन के समय नित्य पार्षद अथवा लब्ध सालोक्य पार्षदगणों के भजनानुरूप गुणातीत मुक्ति लाभ होता है ।

"श्यामावदाता" श्लोक में उस का वर्णन हुआ है । जो लोक श्यामकान्ति, एवं उज्ज्वल, इत्यादि, पद्मपत्र के समान नेत्र, पीत वस्त्र, अति कमनीय, अतिसुकुमार, उत्तम प्रभाविशिष्ट मणि समूह जिन के पदकादि आभरण में खचित हैं । इसके मध्य में कोई कोई व्यक्ति श्रीभगवान् के सारूप्य को प्राप्त किये हैं । कुछ व्यक्ति प्रवालादि की समवर्णता प्राप्त किए हैं, एवं रक्तवर्ण पीतवर्ण से शोभित हैं । श्याम, हरित, अरुण, शुभ्रादि श्रीभगवान् की मूर्त्ति की उपासना करके उन उन मूर्त्ति के सारूप्य लाभ किए हैं ।

यहाँ "श्री" स्वरूपशक्ति है । रूपिणी—उन की प्रेयसीरूपा । मान—पूजा, विभूति—निज सखीरूप, प्रणयभाजन का—श्रीहरि का । पूर्वोक्त यत् शब्दसमूह के विशेष्यभूत उक्त वैकुण्ठ लोक को जानना होगा ।

यहाँ "सात्वत पति" शब्द से समस्त यादवगणों के पति – अर्थ जानना होगा । द्वितीय स्कन्धोक्त श्रीशुकदेव की उक्ति के साथ एक वाक्यता करने से उक्त अर्थ लाभ होता है । लक्ष्मीपति, यज्ञपति, प्रजापति

यत् सत्त्वं पुरुषस्य तव रूपं प्रकाशमुशन्ति मन्यन्ते, यतश्च सत्त्वात् लोको वैकुण्ठाख्यः प्रकाशते, तत् अभयमात्मसुखं परब्रह्मानन्दस्वरूपमेव, न त्वन्यत् प्रकृतिजं सत्त्वं तदिति। अत्र सत्त्व-शब्देन स्वप्रकाशता-लक्षण-स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेष उच्यते; (भा० ४।३।२३) **"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं, यदीयते तत्र पुमानपावृतः" इत्याद्युदाहरिष्यमाणानुसारात्। अगोचरस्य (प्राकृताप्रत्यक्षवस्तुनः प्रत्यक्षत्वे कारणं प्राकृतं सत्त्वं) गोचरत्वे हेतुः प्रकृतिगुणः, सत्वमित्य-शुद्धसत्त्व—लक्षणप्रसिद्ध्यनुसारेण तथाभूतचिच्छक्तिवृत्तिविशेषः (अप्राकृताप्रत्यक्षवस्तुनः प्रत्यक्षत्वे कारणं चिच्छक्तिवृत्तिविशेषः) सत्त्वमिति सङ्गतिलाभाच्च। ततश्च तस्य स्वरूप-शक्तिवृत्तित्वेन स्वरूपात्मतैवेत्युक्तम्, तदभयमात्मसुखमिति। शक्तित्वप्राधान्यविवक्षयोक्तम् लोको यत इति। अर्थान्तरे भगवद्विग्रहं प्रति** (भा० ३।९।२) **'रूपं यदेतत्' इत्यादौ शुद्धसत्त्व-**

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, (तै०२।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति यल्लक्षितम्, तदेव (तै० २।१।३) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यनेन निर्द्दिश्यते। तस्य च सर्वान्तरत्वेनात्मत्वं व्यञ्जयद्वाक्यं तं तमतिक्रम्य (तै० २।५।१) 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इत्यानन्दमय एवात्मत्वं समापयति। तत आत्म-शब्द-कर्षणेनापि स एवाद्यतः स्यात्; न चात्मत्वेनानिर्द्दिष्टं पुच्छमिति। एवं श्रुतिभिरपि (भा० १०।८७।१७) **"पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्न-मयादिषु यः, सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्"** इत्यत्रान्नमयादि-साहोदर्याच्चरमो य इति पुंलिङ्ग-निर्द्देशाच्चानन्दमय एव परं ब्रह्मेत्यङ्गीक्रियते। चतुर्वेदशिखा तु स्पष्टमेव व्याचष्टे—'स शिरः' इत्यादिना। तस्मादानन्दमय आत्मा परब्रह्मैवेति स्थितम्।

अथ तत्राप्याशङ्क्य सूत्रयति—(ब्र०सू० १।१।१३) **"विकारशब्दान्नेति चेन्न, प्राचुर्यात्"**; अत्र प्राचुर्य एव मयड्विहितः, न विकार इत्यर्थः। तदेकवस्तुन्यपि प्राचुर्यं युज्यते,—'प्रचुरप्रकाशो रविः' इतिवत्; प्राचुर्यं ह्यत्र प्रकाशस्य चन्द्राद्यपेक्षया; ततश्च प्रकाशः प्राचुर्येण प्रस्तुतोऽत्रेति विवक्षया 'प्रकाशोमयो रविः' इत्यपि स्यात्;—(**पाणिनि-सू० ५।४।२१**) **'तत्प्रकृतवचने मयट्'** इति स्मृतेर्विषयत्वं दृश्यत इति। अत्रेति भेदविवक्षा च 'प्रतिमायाः शरीरम्' इतिवत्। प्रयुज्यते च—**'ब्रह्मतेजोमयं दिव्यम्'** इति श्रीहरिवंशे (**विष्णु-प० ११४।९**); (**भा० १०।४७।३१**) **"आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः"** इति दशमेऽपि। अतएव 'तत्प्रकृतः-' इति कर्मधारय-त्वेनापि व्याख्यायते। तदेतद्विवृतं श्रीरामानुजश्रीपादैः—(ब्र०सू० १।१।१४—श्रीभाष्ये) "तत्प्रचुरत्वं हि

अनुवाद—

विविध बुद्धि के पति, लोकपति, धरापति, अन्धक, वृष्णि, सात्वत कुल के पालक, नित्यआश्रय, एवं जो उन के अनुभविगणों के आश्रय हैं, उन भगवान् हमारे प्रति प्रसन्न होवे। यहाँ 'यदुपति' अर्थ स्पष्टत ही उक्त है।

भृत्यप्रसाद—दर्शक वृन्द के प्रति इस प्रकार कृपादृष्टि निक्षेप करते हैं, जो उनसव के सम्बन्ध में आसव रस के समान आनन्ददायक एवं वाह्य वृत्ति तिरोहित कारक है।

वक्ष के वाम भाग में अवस्थिता स्वर्णरेखाकारा श्री—लक्ष्मी परिशोभिता है। यहाँ शक्ति शब्द से पाद्मोत्तर खण्डोक्त योगपीठ में वर्णित—"धर्मज्ञान ऐश्वर्य्यादि चतुर्विधा शक्ति को बहिरङ्गा शक्ति नहीं जानना चाहिये। वहाँ षोड़श शक्ति का भी वर्णन है। चण्डादि द्वारपाल एवं कुमुदादि के द्वारा सुरक्षित है। तन्मध्ये चण्ड, प्रचण्ड–पूर्व द्वार में, भद्र, सुभद्र–पश्चिम द्वार में, जय, विजय–उत्तर द्वार में, धाता, विधाता–दक्षिण द्वार में हैं। हे शुभानने ! कुमुद, कुमुदाख्य, पुण्डरीक, वामन, शङ्कु कर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख, सुप्रतिष्ठित–पूर्व दिक्पति हैं, उनके मध्य में–कुमुदादि अष्टशक्ति—दो दो कर क्रमान्वय से अग्नयादि

स्वरूपमात्रत्वप्रतिज्ञाभङ्गः। अभयमित्यादौ प्राञ्जलताहानिश्च भवति। अन्यत्-पदस्यैकस्यैव रजस्तमश्चेति द्विरावृत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं चोत्पद्यते। पूर्वमपि 'नान्ये' इति द्विवचनेनैव द्वे परामृष्टे। तस्मादस्ति प्रसिद्धादन्यत् स्वरूपभूतं सत्त्वम्। यदेवैकादशे (भा० ११।४।४)— 'यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशः' इत्यादौ 'ज्ञानं स्वतः' इत्यत्र टीकाकृन्मतम्—'यस्य स्वरूपभूतात् सत्त्वात् तनुभृतां ज्ञानम्' इत्यनेन, तथा—(भा० ५।७।१४) 'परोरजः सवितुर्जातवेदो, देवस्य भर्गः' इत्यादौ श्रीभरतजाप्ये तन्मतं परोरजो रजसः प्रकृतेः परं शुद्धसत्त्वात्मकमित्यादिना। अतएव प्राकृताः सत्त्वादयो गुणा जीवस्यैव, न तु ईशस्येति श्रूयते। यथैकादशे (भा०११।२५।१२) 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे' इति; श्रीभगवदुपनिषत्सु च (७।१२-१४)—

"ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसश्च ये। मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥४१॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥४२॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" ॥४३॥ इति।

यथा श्रीदशमे (भा० १०।८८।५)—

"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्" ॥४४॥ इति;

श्रीविष्णुपुराणे च (१।९।४३)—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु" ॥४५॥ इति।

अत्र प्राकृता इति विशिष्याप्रकृतास्त्वन्ये गुणास्तस्मिन् सन्त्वेवेति व्यञ्जितं तत्रैव (वि०पु०१।१२।६९)
"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते" ॥४६॥ इति।

तथा च दशमे देवेन्द्रेणोक्तम् (भा० १०।२७।४)—

"विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं, तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो, न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः" ॥४७॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

तत्प्रभूतत्वम्; तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति; अपि तु तस्याल्पत्वं निवर्त्तयति। इतरसद्भावासद्भावौ तु प्रमाणान्तरावसेयौ। इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते;—(छा० ८।१।५) 'अपहतपाप्मा' इत्यादिना, (माण्डूक्य०५) 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इत्यादिना च। तत्रैतावदेव वक्तव्यम्;—ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति। उच्यते च तत्—(तै० २।८।२) 'स एको मानुष आनन्दः' इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया, ब्रह्मानन्दो निरतिशय-दशापन्नः प्रस्तुत इति" इति।

अतएवानन्दमयं प्रस्तुत्य, (तै० २।७।१) 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'; 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ?—यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्; एष ह्येवानन्दयाति'; (तै०२।८।१) 'सैषानन्दस्य मीमांसा

अनुवाद—

दिक्पति हैं। कुर्म, नागराज, त्रयीश्वर, वैनतेय, छन्दः समूह एवं समूह मन्त्र भगवान् के पीठरूप हैं। त्रयीश्वर शब्द—वैनतेय का विशेषण है। इस प्रकार उक्त पाद्मोत्तर खण्ड वचन का परव्योम प्रकाशक अर्थ हुआ है, उस को एवं आगमादि सिद्ध श्रीकृष्ण योगपीठ को एक प्रकार जानना होगा। एवं वहाँ जो षोड़श शक्ति का वृत्तान्त है, वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही है। श्रीकृष्ण सन्दर्भ में उदाहरण स्वरूप उद्धृत प्रभास खण्ड के वचन से वह सुस्पष्ट होगा।

अयमर्थः—धाम स्वरूपभूतप्रकाशशक्तिः। विशुद्धसत्वमाह विशेषणद्वयेन—ध्वस्तरजस्तमस्कं तपोमयमिति च; तपोऽत्र ज्ञानं (तै० ३।२।१) "स तपोऽतप्यत" इति श्रुतेः, तपोमयं प्रचुरज्ञान-स्वरूपं जाड्यांशेनापि रहितमित्यर्थः (भा० १०।४७।३१) "आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः" इतिवत्। अतः प्राकृतसत्त्वमपि व्यावृत्तम्। अतएव मायामयोऽयं सत्त्वादिगुणप्रवाहस्ते तव न विद्यते यतोऽसावज्ञानेनैवानुबन्ध इति। अतएव श्रीभगवन्तं प्रति ब्रह्मादीनां सयुक्तिकं वाक्यम् (भा० १०।२।३४-३५)—

"सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ, शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि,-स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥४८॥
सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्,-विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्, प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः" ॥४९॥ इति।

अयमर्थः—सत्त्वं तेन (सत्त्वेन) प्रकाशमानत्वात्तदभिन्नतया रूपितं वपुर्भवान् श्रयते प्रकटयति। कथम्भूतम्? सत्त्वं विशुद्धम्, अन्यस्य रजस्तमोभ्याममिश्रस्यापि प्राकृतत्वेन जाड्यांशसम्बलितत्वान्न विशेषेण शुद्धत्वम्। एतत्तु स्वरूपशक्त्यात्मत्वेन तदंशस्याप्यस्पर्शादतीव शुद्धमित्यर्थः। किमर्थं श्रये? शरीरिणां स्थितौ निजचरणारविन्दे मनःस्थैर्य्याय सर्वत्र भक्ति-सुखदानस्यैव त्वदीयमुख्यप्रयोजनत्वादिति भावः, (भा० १।८।२०) 'भक्तियोगविधानार्थम्' इति श्रीकुन्तीवाक्यात्। कथम्भूतं वपुः? श्रेयसां सर्वेषां पुरुषार्थानामुपायनमाश्रयं नित्यानन्त-परमानन्दरूपमित्यर्थः। अतो वपुषस्तव च भेदनिर्देशोऽयमौपचारिक एवेति भावः। अतएव

सर्वसम्वादिनी

भवति'; (तै० २।८।५) 'एतमानन्दमयमुपसंक्रामयति'; (तै० २।६।१) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' इत्यानन्दानन्दमययोरेकार्थता-विन्यासेनाभ्यासो दृश्यते। (तै०३।६।१) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति (तै० ३।२।१) 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिवत् तमानन्दमयमेव स्फुटमभ्यस्यति। तदेकस्वरूपे-ऽप्यानन्दमये प्रियादि-भेदश्च प्रातस्त्य-साङ्गवीय-माध्याह्निक-भेदवद्भानु-प्रकाशे। अतएवैतस्मिन्नानन्दमये वस्त्वन्तराभाव-विवक्षयैवोक्तम्—(तै० २।७।२) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' इति; किंवा (तै० २।७।२) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति' इति पूर्वोक्तेः सर्वदा तन्निष्ठैव कर्त्तव्या;—तत्र व्यवधानकर्त्तुर्भयं भवतीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीपराशरेण,—(गारुड़े पू०ख० २३४।२३)

"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः। यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते" ॥८॥ इति।

अनुवाद—

"स्वैः" अर्थात् स्वरूपभूत ऐश्वर्य्यादि युक्त, योगिगण के ऐश्वर्य, अनित्य, आगन्तुक एवं नश्वर है। श्रीभगवान् की कृपा से कदाचित् आभास रूप से प्रकटित होता है।

"स्व स्वरूप में रममाण—नित्य धाम वैकुण्ठ में रममाण है। तज्जन्य ईश्वर—अर्थात् जिनमें किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है।

परमहंस पदवी—अथवा ज्ञानमार्ग के आश्रय में उक्त पादपद्म का प्रकाश हुआ है, अतः सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, कारण—तज्जातीय ज्ञान के उत्तर काल में जिस की स्फूर्त्ति होती है, वह कभी भी सच्चिदानन्द भिन्न अपर वस्तु नहीं हो सकती है।

येन वपुषा यद्वपुरालम्बनेनैव जनस्तवार्हणं पूजां करोति। कैः साधनैः? वेदादिभिस्त्वदालम्बकैरित्यर्थः। साधनैस्त्वदर्पितैरेव त्वदर्हणप्रायतासिद्धावपि वपुषोऽनपेक्षत्वात्। तादृशवपुःप्रकाशहेतुत्वेन तस्य विशुद्धसत्त्वस्य स्वरूपात्मकत्वं स्पष्टयन्ति—हे धातश्चेद् यदि इदं सत्त्वं यत्तव निजं विज्ञानमनुभवस्तदात्मिका स्वप्रकाशताशक्तिरित्यर्थः, तन्न भवेत्तर्हि तु अज्ञानभिदा स्वप्रकाशस्य तवानुभवप्रकार एव मार्जनं शुद्धिमवाप। सैव जगति पर्य्यवसीयते, न तु तवानुभवलेशोऽपीत्यर्थः। ननु प्राकृतसत्त्वगुणेनैव ममानुभवो भवतु, किं निजेनेत्याह—प्राकृतगुणप्रकाशैर्भवान् केवलमनुमीयते, न तु साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। अथवा तव विज्ञानरूपमज्ञानभिदाया अपमार्जनञ्च यन्निजं सत्त्वं तद्यदि न भवेत् नाविर्भवति, तदैव प्राकृतसत्त्वादिगुणप्रकाशैर्भवाननुमीयते त्वन्निजसत्त्वाविर्भावेन तु साक्षात्क्रियत एवेत्यर्थः। तदेव स्पष्टयितुं तत्रानुमाने द्वैविध्यमाहुः—यस्य गुणः प्रकाशते, येन वा गुणः प्रकाशत इति। अस्वरूपभूतस्यैव प्राकृतसत्त्वादिगुणस्य त्वदव्यभिचारिसम्बन्धित्वमात्रेण वा त्वदेक-प्रकाश्यमानतामात्रेण वा त्वल्लिङ्गत्वमित्यर्थः। यथारुणोदयस्य सूर्य्योदयसान्निध्य-लिङ्गत्वं यथा वा धूमस्याग्निलिङ्गत्वमिति तत उभयथापि तव साक्षात्कारे तस्य (प्राकृतगुणस्य) साधकतमत्वाभावो युक्त इति भावः। तदेवमप्राकृतसत्त्वस्य त्वदीयस्वप्रकाशतारूपत्वम्, येन स्वप्रकाशस्य तव साक्षात्कारो भवतीति स्थापितम्। अत्र ये विशुद्धसत्त्वं नाम प्राकृतमेव रजस्तमःशून्यं सत्त्वं तत्कार्य्यं भगवद्विग्रहादिकं मन्यन्ते ते तु न केनाप्यनुगृहीताः। रजःसम्बन्धाभावेन स्वतःप्रशान्तस्वभावस्य सर्वत्रोदासीनताकृतिहेतोस्तस्य क्षोभासम्भवात्, विद्यामयत्वेन यथावस्थितवस्तु-

सर्वसम्वादिनी

तस्मात् प्रभूतानन्द एवानन्दमयः; अथवा, अत्रानन्द-शब्देन प्रियादिषु य आत्मा प्रोच्यते, स एव गृह्यते। ततश्च तस्य प्रियादिभ्यो भेद-विवक्षया चात्मतया च तत्प्राचुर्यमन्नमयो यज्ञ इतिवदेव सङ्गच्छते अभेदविवक्षया त्वानन्दत्वेन चाभ्यासोऽपीति।

ननु विकारार्थक-मयट् प्रवाहान्तःपतितत्वादकस्मात् 'अर्द्धजरती'वत् प्राचुर्यार्थो न युज्यते? मैवम्; पूर्वोदाहृताभ्यासबलाद्युज्यत एव। प्रवाह-प्रवेशे तु ब्रह्म पुच्छमित्यत्र पुच्छ-शब्दोऽपि दूष्येदित्यवोचाम; किंवा, अन्नमयादिष्वपि न सर्वत्र विकारार्थताधिगम्यते,—तन्मतेऽपि प्राणमय एव त्यक्तत्वात्; तत्र हि प्राणापानादिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्यादेव मयट्। (तै० २।२।३) 'पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र च पृथिव्यभिमानिदेवतायां प्राणविकारत्वाभावः।

अनुवाद—

प्रजासृष्टि के निमित्त ब्रह्मा को निज अर्थात् निज अंशभूत पुरुष का शासन योग्य है, यह निश्चय आपने किया।

यहाँ पर ऐसी आशङ्का नहीं हो सकती है—"भगवान् के अंशभूत पुरुष ही ब्रह्मा को स्वीकार करेंगे, कारण,—भगवान् परावस्था में अवस्थित हैं, प्राकृत सृष्टि कर्त्ता के सहित जिस का सम्बन्ध है, उस के साथ श्रीभगवान् के सम्बन्ध का प्रयोजन ही क्या है? समाधान।

तज्जन्य ही मूल में "प्रियः प्रियं" शब्द का प्रयोग हुआ है, अर्थात् जो श्रीभगवान् के प्रति प्रेमवान् है, उसके प्रति श्रीभगवान् भी प्रेमवश अथवा भक्तानुकम्पी होते हैं, ऐसा होने पर ही "प्रीयमाणं" "प्रीतमनाः" विशेषण द्वय श्रीभगवान् के सकृपा प्रेमोल्लासातिशय्य का प्रकाशक है। आपने जो सहास्य वचन विन्यास

प्रकाशितामात्रधर्मत्वात्, तस्य कल्पनान्तरायोग्यत्वाच्च। तदुक्तमपि अगोचरस्य गोचरत्वे हेतुः—प्रकृतिगुणः सत्त्वम्, गोचरस्य बहुरूपत्वे रजः, बहुरूपस्य तिरोहितत्वे तमः, तथा परस्परोदासीनत्वे सत्त्वम्, उपकारित्वे रजः, अपकारित्वे तमः, गोचरत्वादीनि स्थितिसृष्टि-संहारा (गोचरत्व-बहुरूपत्व-तिरोहितत्वानि) उदासीनत्वादीनि चेति।

अथ रजोलेशे तत्र मन्तव्ये विशुद्धपदवैयर्थ्यमित्यलं तन्मतरजोघट-प्रघट्टनयेति। पाद्मोत्तर-खण्डे तु (६१।५६-५८) वैकुण्ठनिरूपणे तस्य सत्त्वस्याप्राकृतत्वं स्फुटमेव दर्शितम्, यत उक्तं प्रकृतिविभूतिवर्णनानन्तरम्—

"एवं प्राकृतरूपाया विभूते रूपमुत्तमम्। त्रिपाद्विभूतिरूपन्तु श्रृणु भूधरनन्दिनि ॥५०॥
प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा ॥५१॥
तस्याः पारे परव्योम त्रिपाद्भूतं सनातनम्। अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम्।
शुद्धसत्त्वमयं दिव्यमक्षरं ब्रह्मणः पदम्" ॥५२॥ इत्यादि।

तदेतत् समाप्तं प्रासङ्गिकं शुद्धसत्त्वविवेचनम्। अथ 'प्रवर्तते' इत्यादिकं प्रकृतमेव पद्यं व्याख्यायते। ननु गुणाद्यभावान्निर्विशेष एवासौ लोक इत्याशङ्क्य तत्र विशेषस्तस्याः शुद्ध-सत्त्वात्मिकायाः स्वरूपानतिरिक्तशक्तेरेव विलासरूप इति द्योतयंस्तमेव विशेषं दर्शयति—हरेरिति। सुराः सत्त्वप्रभवाः, असुरा रजस्तमःप्रभवास्तैरर्च्चिताः, तेभ्योऽर्हत्तमा इत्यर्थः, गुणातीतत्वादेवेति भावः। तानेव वर्णयति (भा० २।९।११) 'श्यामावदाताः' इति; श्यामाश्च अवदाता उज्ज्वलाश्च इति, पद्मनेत्राः, पीतवस्त्राः, सुरुचोऽतिकमनीयाः, सुपेशसोऽतिसुकुमाराः। उन्मिषन्त इव प्रभावन्तो मणिप्रवेका मण्युत्तमा येषु तानि निष्काणि पदकान्याभरणानि येषां

सर्वसम्वादिनी

स्वमते त्वन्नरसमयस्यापि प्राचुर्यार्थता। अन्नरसो ह्यन्नविकारस्तदुपलक्षितत्वेनान्योऽपि तद्विकारो लभ्यते। स च—जलादि-प्रचुर इति,—(पाणिनि सू० ४।३।१५०) 'न द्वचचश्छन्दसि' इति छन्दसि विकारार्थे मयट्-निषेधात्। किञ्च, आनन्द-शब्देन तत्र शुद्धं ब्रह्मैव मतम्; तस्य च विकारो न सम्भवति। तस्मान्न विकारार्थता-प्राप्तिः। हेत्वन्तरेण सूत्रयति—(ब्र०सू० १।१।१४) "तद्धेतुव्यपदेशाच्च" इति; इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्, न तु विकारार्थे; यस्मादानन्दहेतुत्वं तस्यैवोपदिशति श्रुतिः—(तै० २।७।१) 'एष ह्येवानन्दयाति' इति; आनन्दयतीत्यर्थः। यथा लोके प्रचुरप्रकाश-लक्षणः सूर्य्यादिरेव सर्वं प्रकाशयति, न तुच्छप्रकाशलक्षणः क्षुद्र-तारकादिः; न च प्रकाशविकार-प्रचुरोऽपि जलादिस्तथा सर्वतोऽपि प्रचुरानन्दलक्षणं ब्रह्मैव सर्वमानन्दयेत्; अनेन हेतु-व्यपदेशेन प्राचुर्य्यस्य स्वरूपातिशयपरत्वमेव व्यज्यते। प्रकाशयुक्तेन च रत्नादिना यत् प्रकाशनम्, तदपि तत्र स्थितेन प्रकाशेनैव भवति, न तु पार्थिवांशेन। तस्मादानन्द एवानन्दयति; तदेतद्व्यञ्जितम्—एव-कारेण श्रुत्या (तै० २।७।१) 'एष ह्येव' इति।

अनुवाद—

किया है—उस से प्रीति लक्षण एवं सकृपा करग्रहण के द्वारा प्रीत्यातिशय्य ही स्थिरीकृत हुआ है।

ब्रह्मा श्रीकृष्ण के उपासक थे। तापनी वाक्य से उसका वर्णन हुआ है, ब्रह्मसंहिता ५।२९-३३ में उक्त है—श्रीभगवान् के नाभिकमल में चतुर्वेदस्वरूप चतुर्मुखविशिष्ट ब्रह्मा उत्पन्न हुये थे। जन्मग्रहण के पश्चात् भगवत् शक्ति के द्वारा प्रेरित होकर पूर्व में जिस प्रकार सृष्टि कार्य्य किये थे, उस संस्कार से संस्कृत, अर्थात्

ते; सुवर्च्चसस्तेजस्विनः; प्रबालेति—केऽपि तेभ्यः श्रीभगवत्सारूप्यं लब्धवद्भ्योऽन्ये प्रबालादिसमवर्णाः। पुनरपि लोकं वर्णयति, (भा० २।६।१२) 'भ्राजिष्णुभिः' इति, (भा० २।६।१३)—'श्रीर्यत्र' इति श्रीः स्वरूपशक्तिः, रूपिणी तत्प्रेयसीरूपा; मानं पूजाम्; विभूतिभिः स्वसखीरूपाभिः; प्रेङ्खमान्दोलनं विलासेन श्रिता; कुसुमाकरो वसन्तस्तदनुगा भ्रमरास्तैर्विविधं गीयमाना स्वयं प्रियस्य हरेः कर्म्म गायन्ती भवति; (भा० २।६।१४) ददर्शेति, तत्र लोक इति प्राक्तनानां यच्छब्दानां विशेष्यम्। अखिलसात्वतां सर्वेषां सात्वतानां यादववीराणां पतिः; (भा० २।४।२०)—

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति,-र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धक-वृष्णिसात्वतां, प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः" ॥५३॥

इत्येतद्वाक्यसम्वादित्वात् श्रीभागवतमते श्रीकृष्णस्यैव स्वयं भगवत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यच्चैतदनन्तरं ब्रह्मणे चतुःश्लोकीरूपं श्रीभागवतं श्रीभगवतोपदिष्टम्, तत्र च (भा० ३।४।१३)—

"पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये, पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं, यत् सूरयो भागवतं वदन्ति" ॥५४॥

इति तृतीये श्रीमदुद्धवं प्रति श्रीकृष्णवाक्यानुसारेण; (पू० ता० २६)—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्" ॥५५॥

इति श्रीगोपालतापन्यनुसारेण च तस्मै वोपदेष्टृत्वश्रुतेः। (पू० त० २६) "तदु होवाच—ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्बभूव" इति श्रीगोपालतापन्यनुसारेणैव क्वचित् कल्पे श्रीगोपालरूपेण च सृष्ट्यादावितथमेव ब्रह्मणे दर्शितनिजरूपत्वात् तद्धाम्नो महावैकुण्ठत्वेन श्रीकृष्णसन्दर्भे साधयिष्यमाणत्वाच्च द्वारकायां प्राकट्यावसरे श्रीसुनन्द-नन्दादिसाहचर्य्येण श्रीप्रबलादयोऽपि ज्ञेयाः। यथोक्तं प्रथमे (भा०१।१४।३२) "सुनन्द-नन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः" इति। (भा० २।६।१५) भृत्य-

सर्वसम्वादिनी

ननु पुच्छे 'ब्रह्म'शब्द-संयोगात्तस्य ब्रह्मेति संज्ञा युक्ता; कथं नामानन्दमयस्य तत्संज्ञा? तत्रापि सूत्रयति (ब्र०सू० १।१।१५) "मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" इति; (तै०२।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्दमयादित्वेन गीयते,—तदधिकार-पतितत्वात्। तथा हि (तै० २।१।२) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्मनिर्द्दिष्टम्। (तै० २।१।२) 'तदेषाभ्युक्ता' इति तद्ब्रह्माभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया

अनुवाद—

पूर्वाभ्यास प्राप्त सृष्टि करने का अभिलाषी हुये। किन्तु उस समय केवल अन्धकारमय जगत् व्यतीत और कुछ भी आपके दृष्टि गोचर नहीं हुये। ब्रह्मा को चिन्तित देखकर परमपुरुष श्रीभगवान् देववाणी से ब्रह्मा को पूर्वोपास्य के उपासनीय मन्त्रराज का उपदेश प्रदान किए। उन्होंने कहा—भो ब्रह्मन्! मैं सन्तुष्ट होकर पूर्वाराधित मन्त्र का स्मरण करा रहा हूँ। काम वीज पूर्वक—कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय वह्निजायान्त (स्वाहान्त) अर्थात् "क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा" इस अष्टादशाक्षर मन्त्र

प्रसादेति दृगेवासव इव द्रष्टॄणां मदकरी यस्य तम्; श्रिया—वक्षोवामभागे स्वर्णरेखाकारया; (भा० २।९।१६) अध्यर्हणीयेति चतस्रः शक्तयो धर्म्माद्याः, पाद्मोत्तरखण्डे योगपीठे त एव कथिताः; न बहिरङ्गा अधर्म्माद्या इति। तथाहि (पाद्मे, उ० ९१।१००)—

"धर्म्म-ज्ञान-तथैश्वर्य्य-वैराग्यैः पादविग्रहैः। ऋग्यजुःसामाथर्व्वाणरूपैर्नित्यं वृतं क्रमात्" ।।५६।। इति।

समस्तान्तस्तथाशब्द-प्रयोगस्त्वार्षः। षोड़शशक्तयश्चण्डाद्याः। तथा च तत्रैव (९१।९०)—

"चण्डादिद्वारपालैस्तु कुमुदाद्यैः सुरक्षिता" इति। नगरीति पूर्वेणान्वयः। ते च (पाद्मे उ० ९१।९१-९२)—

"चण्डप्रचण्डौ प्राग्द्वारे याम्ये भद्र-सुभद्रकौ। वारुण्यां जयविजयौ सोम्ये धातृविधातरौ ।।५७।।

कुमुदः कुमुदाक्षश्च पुण्डरीकोऽथ वामनः। शङ्कुकर्णः सर्वनेत्रः सुमुखः सुप्रतिष्ठितः।

एते दिक्पतयः प्रोक्ताः पुर्य्यामत्र शुभानने" ।।५८।। इति।

कुमुदादयस्तु द्वौ द्वौ आग्नेयादिदिक्पतय इति शेषः। पञ्चशक्तयः कूर्माद्याः; यथा च तत्रैव (पाद्मे० उ० ९१।१०२)—

"कूर्म्मश्च नागराजश्च वैनतेयस्त्रयीश्वरः। छन्दांसि सर्वमन्त्राश्च पीठरूपत्वमास्थिताः" ।५९।। इति।

त्रयीश्वर इति वैनतेयविशेषणम्, तस्य छन्दोमयत्वात्। तथा च तत्रैव यद्यप्युत्तरखण्ड-वचनं तत् परव्योमपरम्, तथापि तत्साद‍ृश्यादागमादि-प्रसिद्धेश्च श्रीकृष्णयोगपीठमपि तद्वज् ज्ञेयम्। अत्र षोड़शशक्तयः साक्षात्-श्रीकृष्ण एव श्रीकृष्णसन्दर्भे पुरस्तादुदाहरिष्यमाण-प्रभास-खण्डवचनात् श्रुता लम्बिन्यादय एव वा विज्ञेया इति। स्वैः स्वरूपभूतैरैश्वर्य्यादिभिर्युक्तम्। इतरत्र योगिषु अध्रुवैरागन्तुकनश्वरैस्तत्प्रसादादेव कदाचित्तदाभासरूपतयैव प्राप्तैरित्यर्थः। स्वे स्व-स्वरूप एव धामनि श्रीवैकुण्ठे रममाणम्, अतएव ईश्वरम्, कथमपि पराधीनसिद्धित्वा-भावात्। तद्दर्शनेति यत् पदाम्बुजं पारमहंस्येन पथाधिगम्यत इति सच्चिदानन्दघनत्वं तस्य व्यनक्ति। तं प्रीयमाणमिति तं ब्रह्माणं भगवान् बभाषे। प्रजाविसर्गे कार्य्ये निजस्य स्वांशभूतस्य पुरुषस्य शासनेऽर्हणं योग्यम्। नन्वसौ पुरुष एव तमनुगृह्णातु, श्रीभगवतस्तु परावस्थत्वात्तेन प्राकृतसृष्टिकर्त्रा सम्बन्धोऽपि न सम्बन्ध इत्याशङ्क्य तस्य भक्तवात्सल्यातिशय एवायमित्याह—प्रियं तस्मिन् प्रेमवन्तम्; यतः सोऽपि प्रियः प्रेमवशः; तत्रापि प्रीयमाणमिति प्रीतमना इति च विशेषणं तदानीं प्रेमोल्लासातिशयद्योतकम्। तं प्रति भगवत्प्रीतिचिह्न-दर्शनेन तस्यापि तत्र प्रीत्यतिशयं व्यञ्जयति—ईषत्स्मितरोचिषा गिरेति करे स्पृशन्निति च।

सर्वसम्वादिनी

परिगृह्य ऋगेषा अध्येतृभिरुक्तेत्यर्थः। तस्य च (तै०२।१।३) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्रात्म-शब्देनापि निर्दिष्टस्य ब्रह्मण आत्मतया पर्य्यवसानमानन्दमय एव दर्शितम्,—तत्रैवान्तरतमत्व-समाप्तेः। तस्मात्तत्रैव तात्पर्य्यवसानात् तत्तदानन्दविशेषोपलब्धि-युतोदयस्यानन्दमयस्य परब्रह्मत्वं तेन मन्त्रेण सिध्यति। आनन्दस्यापि ज्ञानाकारत्वात्तस्य चानन्तत्वादिभिर्मिश्रत्वेऽपि तद्रूपत्वान्नार्थभेदश्च;—श्रुतिश्च (माण्डूक्य० ५)

अनुवाद—

की उपासना करो, इस से तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि होगी।

भगवान् आकाशवाणी से उपदेश प्रदान किये। "तुम तपस्या करो, अभिलषित फल की सिद्धि होगी। आकाश-वाणी श्रवणानन्तर जगद्विधाता सृष्टि कार्य सम्पन्न करने के निमित्त स्वीय आसन पद्मोपरि उपविष्ट

अस्य श्रीकृष्णोपासकत्वं श्रीगोपालतापनीवाक्येन दर्शितम्, तथा च श्रीब्रह्मसंहितायाम्(५।२९-३३)-

"तत्र ब्रह्मा भवद्भूयश्चतुर्वेदी चतुर्म्मुखः ।।६०।।
स जातो भगवच्छक्त्या तत्कालं किल चोदितः । सिसृक्षायां मतिं चक्रे पूर्वसंस्कारसंस्कृतम् ।
ददर्श केवलं ध्वान्तं नान्यत् किमपि सर्वतः ।।६१।।
उवाच पुरतस्तस्मै तस्य दिव्या सरस्वती । कामः कृष्णाय गोविन्द ङे गोपीजन इत्यपि ।
वल्लभाय प्रिया वह्नेर्मन्त्रं ते दास्यति प्रियम् ।।६२।।
तपस्त्वं तप एतेन तव सिद्धिर्भविष्यति ।।६३।।
अथ तेपे स सुचिरं प्रीणन् गोविन्दमव्ययम्" ।।६४।। **इत्यादि ।। श्रीशुकः ।।**

११ । अथ सा भगवत्ता च नारोपिता, किन्तु स्वरूपभूतैवेत्येतमर्थं पुनर्विशेषतः स्थापयितुं प्रकरणान्तरमारभ्यते । तत्र वस्तुनस्तस्य सशक्तित्वमाह (भा० १।१।२)—**'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु' इत्यस्य विशेषणाभ्यामेव 'शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्' इति; शिवं परमानन्दस्तद्दानं च स्वरूपशक्त्या; तापत्रयं मायाशक्तिकार्य्यम्, तदुन्मूलनञ्च तयैवेति ।। श्रीव्यासः ।।**

१२ । ते च स्वरूपशक्ति-मायाशक्ती परस्परविरुद्धे, तथा तयोर्वृत्तयश्च स्वस्वगण एव परस्परविरुद्धा अपि बह्व्यः; तथापि तासामेकं-निधानं तदेवेत्याह (भा० ६।४।३१)—

सर्वसम्वादिनी

'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इति । तदेव च ब्रह्मत्वं तत्तद्विशेषोपलब्धि-रहितोदये पुच्छेऽपि प्रियादिभ्योऽधिकत्व-विवक्षया, (तै० २।५।१) 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन पुनर्व्यपदिश्यते; न तु तस्यैव प्रधानत्वेन । अतएव (तै० २।६।१) — "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" ।।९।।
इत्येष श्लोकोऽप्यानन्दमयपर एव,—सविशेषस्यैव मुख्यत्वात्, मुख्य एव संप्रत्ययाच्च । न चास्मिन् वाक्येऽपि

अनुवाद—

होकर एकान्त भाव से बहु काल तपस्या करने लगे । यह कथन श्रीशुकदेव का है ।।१०।।

श्रीभगवान् में धर्म आरोपित नहीं हैं ।

श्रीभगवान् की भगवत्ता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह आरोपित नहीं है, वह स्वरूपभूत है, स्वतः सिद्ध है, विशेष रूप से उस के स्थापन हेतु प्रकरणान्तर का आरम्भ कर रहे हैं ।

तन्मध्य में प्रथमतः वस्तु स्वरूप श्रीभगवान् की शक्तिमत्त्वा के सम्बन्ध में "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तुशिवदं तापोत्रयोन्मूलनम्" अर्थात् श्रीमद् भागवत में वास्तव वस्तु ही वेद्य है, इस श्लोक में "शिवदं" "तापत्रयोन्मूलनम्" विशेषण द्वय से शक्तिमत्त्वा का प्रदर्शन हुआ है । शिव—परमानन्द, जो निज स्वरूपशक्ति के द्वारा परमानन्द प्रदान करते हैं । तापत्रय—माया शक्ति का कार्य्य है । स्वरूपशक्ति के द्वारा उस का उन्मूलन होता है । स्वामिपाद ने इस श्लोक की टीका में—"वास्तव शब्देन वस्तुनोऽशोजीवः, वस्तुनः शक्ति माया, च, वस्तुनः कार्य्यं जगच्च, तत् सर्वं वस्त्वेव, न ततः पृथगिति" । यहाँ वस्तु की शक्ति प्रभृति वस्तु से पृथक् नहीं है, उक्त वस्तु में निजशक्ति है, स्वामिपाद स्वयं ही स्वीकार किये हैं । यह उक्ति महर्षि श्रीव्यासदेव की है ।।११।।

श्रीभगवान् में विरुद्ध शक्ति है ।

स्वरूपशक्ति एवं मायाशक्ति परस्पर विरुद्ध शक्ति है । उस के वृत्ति समूह भी परस्पर विरुद्ध हैं, वे सब अनन्त होने पर भी श्रीभगवान् ही सब के आश्रय हैं ।

"यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै, विवादसम्वादभुवो भवन्ति ।
कुर्व्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं, तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने" ।।६५।।

यत् यस्य शक्तयो विवादस्य संवादस्य च भुवः स्थानानि भवन्ति । स्पष्टम्।।दक्षः श्रीपुरुषोत्तमम्।।

१३ । तथा (भा० ४।९।१६)—

"यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति, विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्या ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य,-मानन्द-मात्रमविकारमहं प्रपद्ये" ।।६६।।

आनुपूर्व्या स्वस्ववर्गे उत्तम-मध्यम-कनिष्ठभावेन वर्त्तमाना विविधशक्तयः प्रायः परस्परं विरुद्धगतयोऽपि यस्मिन् यदाश्रित्यं अनिशं पतन्ति प्रवर्त्तन्ते, स्वस्वव्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थः ।। श्रीध्रुवः श्रीध्रुवप्रियम् ।।

१४ । तथा (भा० ४।१७।३३)—

"सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि,-र्द्रव्य-क्रिया-कारक-चेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये, नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे" ।।६७।।

टीका च—"अनुरुणद्धि अनुवर्त्तते करोति; द्रव्याणि महाभूतानि, क्रिया इन्द्रियाणि, कारका देवाः, चेतना बुद्धिः, आत्मा अहङ्कारः, तैः शक्तिरूपैः समुन्नद्धाः समुत्कटा विरुद्धाः शक्तयो यस्य" इत्येषा ।। श्रीमैत्रेयो विदुरम् ।।

सर्वसम्वादिनी

निर्विशेषं प्रतिपाद्यते,—अस्तीति सत्ता-समवायितया निर्द्देशात् । यद्येवं मन्यते,—प्रकाशमात्रत्वमेव हि चिद्रात्मनः सत्ता, नान्येति, तथापि सविशेषत्व एव पर्य्यवस्यति । किञ्च, 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादिकमुक्त्वा तत्र तत्रोदाहृताः (तै० २।२।१) 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादयः श्लोका यथा न पुच्छमात्र-पराः, अपि त्वन्नमयादि-पराः; एवमयमप्यानन्दमयपरत्वेनैव श्लिष्यते । एवं (ब्र०सू० १।१।१६) "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादि सूत्राण्यप्यानन्दमयस्य जीवत्व-निषेध-पराणीति । तस्य परब्रह्मत्वमेव तैः साध्यत इत्यलमतिविस्तरेण ।

अनुवाद—

श्रीभगवान् के शक्तिसमूह परस्पर विवादकारी नैयायिक मीमांसक, स्वभाववादी नास्तिक प्रभृति विभिन्न मतावलम्बियों का विवाद का विषय वनते हैं, कभी तो सम्पद् का आस्पद होते हैं, एवं उक्त शक्ति समूह विवादकारियों की आत्मविस्मृति कराते रहते हैं । अनन्त गुणाधार परम-महिमामय उन श्रीभगवान् को प्रणाम करता हूँ । श्रीपुरुषोत्तम के प्रति दक्ष प्रजापति की उक्ति है ।।१२।।

श्रीध्रुव की स्तुति में भी "उक्त विरुद्ध शक्तिसमूह का समावेश भगवान् में है" वर्णित है । "अहो ! स्व स्व वर्ग में आनुपूर्विक पर्य्याय के क्रम से उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, भाव से परस्पर विरुद्ध गति विद्यादि शक्ति समूह श्रीभगवान् को आश्रय कर निज निज कार्य सम्पन्न करते रहते हैं, मैं उन विश्वस्रष्टा, एक, अनन्त, आद्य, आनन्दमात्र, निर्विकारस्वरूप ब्रह्म की शरण ग्रहण करता हूँ ।।१३।।

विदुर मैत्रेय संवाद में वर्णित है—जो भगवान् स्वीय द्रव्य-क्रियादि कारिका चेतना शक्ति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, स्थिति-लय विधान करते हैं, उन समुन्नद्ध विरुद्ध शक्तिशाली निग्रहानुग्रह के विधाता परमपुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ "अनुरुणद्धि" का अर्थ सृष्ट्यादि कार्य करते हैं । श्रीविदुर के प्रति श्रीमैत्रेय की उक्ति है ।।१४।।

१५। तासामचिन्त्यत्वमाह (भा० ३।३३।३)—**'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः' इति स्पष्टम्। उक्तश्चाचिन्त्यत्वम्** (ब्र०सू० २।१।२७) **'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इत्यादौ,**(ब्र०सू० २।१।२८) **'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इत्यादौ ॥ श्रीदेवहूतिः श्रीकपिलदेवम् ॥**

१६। शक्तेस्तत्स्वाभाविकरूपत्वमाह (भा० ११।३।३७)—

सर्वसम्वादिनी

यदि च सूत्रकारस्य वेदान्तार्थानभिज्ञानां निगूढमभिप्रयता तत्प्रमाद-मार्जन-स्वचातुरी-व्यङ्ग-भङ्गचा, तदानन्दमय (ब्र०सू० १।१।१२)-सूत्रमेवं व्याख्येयम्। "आनन्दमयः" इत्यत्र (तै० २।५।१) 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यत इति, तथा ब्र०सू० १।१।१३) विकार-सूत्रे च **'विकार'**-शब्देनावयवः, **'प्राचुर्य'** शब्देन सादृश्यं व्याख्येयमिति, तदा सूत्रकारस्याशाब्दिकतैव च प्रसज्जेत,— तत्तच्छब्दादिभिस्तत्तदर्थानभि-

अनुवाद—

शक्ति का अचिन्त्यत्व।

पूर्वोक्त शक्तियों का अचिन्त्यत्व प्रतिपादन हेतु कहते हैं—"आप आत्मेश्वर अचिन्त्य अनन्त शक्तिशाली हैं" "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि"। वेदान्त के सूत्रद्वय में भी युगपत् विरुद्ध शक्तिमत्त्व एवं शक्ति का अचिन्त्यत्व उक्त है।

श्रुतेस्तु इति शङ्कर भाष्ये—"शब्दमूलश्च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादि प्रमाणकं, तद् यथा शब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्न प्रसक्ति निरवयताञ्च लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधी प्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेक कार्य्य विषया दृश्यन्ते ॥"

रत्नप्रभा—"यदा लौकिकानां प्रत्यक्ष दृष्टानामपि शक्तिरचिन्त्या तदा शब्दैक समधिगम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम् ?" "अर्थात् शब्द वेद्य ब्रह्म में अपर इन्द्रियादि प्रमाण नहीं है। शब्दानुसार ही ब्रह्म को जाने। लौकिक मणिमन्त्रादि की जब विचित्र शक्ति है, तब ब्रह्म अथवा तदीय शक्ति के सम्बन्धमें वक्तव्य ही क्या है ?

मध्व भाष्य में—"नचेश्वरपक्षेऽयं विरोधः।—शब्दमूलत्वाच्च न युक्ति विरोधः।" अर्थात् ईश्वर के कर्तृत्व के सम्बन्ध में युक्ति विरोध स्वीकृत नहीं है, कारण—इसमें शब्द ही एकमात्र प्रमाण है।

गोविन्द भाष्य—"ब्रह्म कर्तृत्व पक्षे लोकदृष्ट्या दोषा न स्युः, कुत ? श्रुतेः—वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपमिति मुण्डके।" अर्थात् ब्रह्म कर्तृत्व पक्ष में लौकिक दोष सम्भव नहीं होगा। कारण—श्रुतिसिद्ध अचिन्त्य विषय में शब्द ही एकमात्र प्रमाण है, मुण्डकोपनिषद् में उक्त है—"ब्रह्म वृहत् होकर भी दिव्य अचिन्त्य रूप है"।

"आत्मनि चैवं" सूत्र का मध्व भाष्य—"परमात्मनो विचित्राः शक्तयः सन्ति न चान्येषाम्। "विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः"। एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा सर्वान् देवानेक एवानुविष्टः"। (श्वेताश्वतर) अर्थात् परमात्मा की विचित्र शक्ति है, वैसी शक्ति अपर की नहीं है। उसमें लौकिक विरोध नहीं आ सकता है।

गोविन्दभाष्य में—"यथा कल्पद्रुमचिन्तामण्यादेरीश्वरविभूतिभूतस्याचिन्त्यशक्तिमात्रसिद्धा हस्त्यश्वादयो विचित्राः सृष्टयो भवन्ति, इति शब्दात् प्रतीत्यश्रद्धीयते एवमात्मनश्च सर्वेश्वरस्य विष्णोर्देवनरतिर्य्यगादयस्तास्तथाभूता भवेयुरिति तस्मादेव श्रद्धेयम्।"

अर्थात् ईश्वर की विभूति, कल्पवृक्ष चिन्तामणि प्रभृति से अचिन्त्य शक्ति के कारण प्रार्थित हस्ति अश्वादि विचित्र वस्तु की सृष्टि होती है, एवं वह शब्दप्रमाण से ही ज्ञात एवं विश्वसनीय है। तद्रूप श्रुति मात्र वेद्य सर्वेश्वर विष्णु की अचिन्त्य शक्ति से देव, नर, तिर्य्यगादि की सृष्टि होती है, श्रुति प्रमाण से यह अवश्य स्वीकार्य्य है ॥१५॥

"सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ, सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति, ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्" ॥६८॥

ब्रह्मैव उरुशक्ति अनेकात्मकशक्तिमद्भाति, एव-कारेण ब्रह्मण एव सा शक्तिर्न तु कल्पितेति स्वाभाविकरूपत्वं शक्तेर्बोधयति । तत्र हेतुः—यद् ब्रह्म सत् स्थूलं कार्य्यं पृथिव्यादिरूपम्, असत् सूक्ष्मं कारणं प्रकृत्यादिरूपम्, तयोर्वहिरङ्गवैभवयोः परं स्वरूपवैभवं श्रीवैकुण्ठादिरूपम्, तटस्थवैभवं शुद्धजीवरूपञ्च, अन्यथा तत्तद्भावासिद्धिः, किंरूपतया तत्तद्रूपम् ? तत्राह— ज्ञानक्रियार्थफलरूपतया महदादिलक्षणज्ञानशक्तिरूपत्वेन, सूत्रादिलक्षणक्रियाशक्तिरूपत्वेन, तन्मात्रादिलक्षणार्थरूपत्वेन प्रकृतिलक्षणतत्तत्सर्वैकचरूपत्वेन सदसद्रूपम्, फलरूपत्वेन तयोः परम् । तत्र फलं पुरुषार्थस्वरूपं सवैभवं भगवदाख्यं चिद्वस्तु तदनुगतत्वाच्छुद्धजीवाख्यं चिद्वस्तु च । एतेन ज्ञानक्रियादिरूपेणोरुशक्तित्वं व्यञ्जितम् । शक्तेः स्वाभाविकरूपत्वं सप्रमाणं स्पष्टयति—आदौ यदेकं ब्रह्म, तदेव सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृत् प्रधानम्, ततः क्रियाशक्त्या

सर्वसम्वादिनी

धानात् । मयट्-प्रत्यय-विकार-प्राचुर्य-शब्दानामनन्तर-निर्दिष्टानामन्यार्थत्वं न वा बालकस्यापि हृदयमारोहति । उक्तं तु विष्णुधर्मोत्तरे, पराशरोपपुराणे तथा स्कान्दे वायव्ये च—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" ॥१०॥ इति ।

किञ्च, प्रथमसूत्रार्थे प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति च व्यर्थमेव स्यात्,—पुरैवैषां लौकिकत्वेनैव निर्द्धारणात्,

अनुवाद—

शक्ति की स्वाभाविकता,—उक्त भगवच्छक्ति की स्वाभाविकरूपता प्रदर्शित हो रही है । सृष्टि के पहले वेदसमूह ब्रह्म को ही सत्त्व रजः तमः गुणत्रय के आश्रय से प्रधान, ज्ञानशक्ति के आश्रय से महत्तत्त्व, क्रिया शक्ति के द्वारा सूत्र, अहङ्कार जीवात्मा, शुद्ध जीव एवं तदुपलक्षित वैकुण्ठादि वैभवरूप में कहते हैं । अनेकात्मक शक्तिमत् ब्रह्म ही कारण एवं कार्य्य रूपमें एवं जो कारण का अतीत परतत्त्व है, उस रूपमें भी प्रतिभात होते हैं । अर्थात् ब्रह्म ही उरु—अनेकात्मक शक्तिमत् रूप में प्रकाशित होते हैं । मूल श्लोकोक्त "ब्रह्मैव" इस एवकार के द्वारा शक्ति का अस्वाभाविकत्व, कल्पितत्व का प्रतिषेध करके स्वाभाविकत्व प्रतिपादित हुआ है । शक्तिसमूह को स्वाभाविक कहने के पक्ष में हेतु भी है । अनन्त शक्तिसम्पन्न ब्रह्म ही सत् है, अर्थात् नित्य विद्यमान है । पृथिव्यादि स्थूल कार्य्य—असत् है, उक्त पृथिव्यादि के सूक्ष्म कारण प्रकृत्यादि है । स्थूल सूक्ष्म, उभय ही वहिरङ्गा शक्ति का वैभव है । वहिरङ्गा वैभव के अतीत श्रीवैकुण्ठादि लोक—उन का स्वरूप वैभव है । इस विलक्षण शुद्ध जीव रूप तटस्थ वैभव है । अन्यथा असद् भाव से उक्त सत्ता की असिद्धि ही होगी ।

कैसे उक्त रूपसमूह प्रकाशित हुये हैं, उक्त श्लोक से उसका विशदीकरण करते हैं । अर्थात् ज्ञान रूपमें महत्तत्त्व, क्रिया शक्ति रूपमें, सूत्रादि, अर्थशक्ति रूपमें, भूततन्मात्र, ज्ञान क्रिया, अर्थ के ऐक्य रूप समुदय शक्ति के द्वारा कार्य-कारण रूपा प्रकृति, एवं फल रूपमें कार्य-कारण से अतीत विलक्षण वस्तु । अर्थात् फल शब्द से जैव सुख-दुःख को जानना नहीं चाहिये, किन्तु परम पुरुषार्थ स्वरूप सवैभव श्रीभगवदाख्य चिद्वस्तु ही फल है, एवं तदीय आनुगत्य निबन्धन शुद्ध जीवाख्य चिद्वस्तु भी फलरूप से अभिहित है ।

ज्ञान क्रियादि के द्वारा ब्रह्म का उरुशक्तित्व प्रख्यापित होने से, उक्त शक्तिसमूह स्वतः ही उन में विद्यमान् है, एवं सत्य अनारोपित स्वाभाविक शक्ति हैं, उसका विशदीकरण सप्रमाण कर रहें हैं ।

सूत्रम् ज्ञानशक्त्या महानिति, ततोऽहमहङ्कार इति। तदेव च जीवं शुद्धस्वरूपं जीवात्मानं तदुपलक्षणकं वैकुण्ठादिवैभवञ्च प्रवदन्ति वेदाः। ते च (छा० ६।२।१) "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" **इत्याद्याः। आदावेकं ततस्तत्तद्रूपत्वमिति शक्तेः स्वाभाविकत्वमायातम्, अन्यस्यासद्भावेनौपाधिकत्वायोगात्। स्वरूपवैभवस्याङ्गप्रत्यङ्गवन्नित्यसिद्धत्वेऽपि, सूर्य्यसत्तया तद्रश्मिपरमाणुवृन्दस्येव, तत्सत्तया लब्धसत्ताकत्वात्तदुपादानकत्वं तदादिकत्वञ्च स्यात्** (कठ०२।२।१५, मु० २।२।११, श्वे० ६।१४) **"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतेः, शक्तेरचिन्त्यत्वं स्वाभाविकत्वञ्चोक्तं श्रीविष्णुपुराणे** (१।३।१)—

"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः। कथं सर्गादि-कर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते"॥६९॥

इति मैत्रेयप्रश्नानन्तरं यथा श्रीपराशर उवाच (वि० पु० १।३।२)—

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" ॥७०॥ **इति।**

अत्र श्रीधरस्वामिटीका च—"तदेवं ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वमुक्तम्। तत्र शङ्कते, निर्गुणस्येति सत्त्वादिगुणरहितस्य अप्रमेयस्य देशकालाद्यपरिच्छिन्नस्य शुद्धस्य अदेहस्य सहकारिशून्यस्येति वा, अमलात्मनः पुण्यपापसंस्कार-शून्यस्य, रागादिशून्यस्येति वा।

सर्वसम्वादिनी

न तु विज्ञानादिवद्ब्रह्मत्वेन।

तस्मादानन्दमयस्यैव परब्रह्मत्वे सति प्रियादयस्तद्विशेषा इत्यस्यैव स्वरूप-प्रकाश वैशिष्ट्यम्। ततश्च पूर्ववत् स्वगतैकदेशानङ्गीकृतेरेकदेशोदयविरोधादस्त्येव स्वांशवैशिष्ट्यम्;—(छा० ४।३।३२) 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतिश्च तथैवाह; 'निरवयव'-शब्द-व्याकोपश्च प्राकृतावयव-

अनुवाद—

आदि में जो एक ब्रह्म थे, आप ही सत्त्व, रजः, तमः गुणत्रय से प्रधान, क्रिया शक्ति द्वारा सूत्र, ज्ञान शक्ति के द्वारा महान्, अनन्तर अहङ्कार होते हैं। वह ही शुद्ध जीव अथवा जीवात्मा है, एवं तदुपलक्षित वैकुण्ठादि वैभव का वर्णन वेदसमूह करते रहते हैं। यथा—"स देव सौम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६।६।२) अर्थात् हे सौम्य! अग्रे परिदृश्यमान जगत् सद्रूप में ही वर्त्तमान् था। इस श्रुति में सुस्पष्ट उल्लेख है,—आदि में एक ब्रह्म, अनन्तर प्रधानादि रूप होते हैं। सुतरां शक्ति जो स्वाभाविक है, उस का स्थापन स्वतः ही हुआ है। कारण, एक ब्रह्म भिन्न वस्त्वन्तर का अभाव निबन्धन औपाधिक सम्बन्ध का भी असम्भव है। अङ्ग प्रत्यङ्ग के समान स्वरूपवैभव की नित्यसिद्धता होने से भी, जिस प्रकार सूर्य्य की सत्ता से तदीय रश्मि किरण कणादि की सत्ता की उपलब्धि होती है, तद्रूप उक्त ब्रह्म सत्ता से ही वैभवादि सत्ता की उपलब्धि होती है, अतः वैभवादि वस्तु समूह की उपादानता एवं प्राथमिकता का पर्य्यवसान ब्रह्म में ही होता है। एवं "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" अर्थात् जिन की प्रभा से समस्त विभावित हो रहे हैं।

विष्णुपुराण में शक्ति की अचिन्त्यता एवं स्वाभाविकता वर्णित है। निर्गुण अपरिच्छिन्न शुद्ध अमलात्मा ब्रह्म का सृष्ट्यादि कर्तृत्व कैसे सम्भव होगा? मैत्रेय के प्रश्न के उत्तर में पराशर महाशय कहे थे—"हे ज्ञानि श्रेष्ठ! मणिमन्त्रादि भाव पदार्थों की शक्ति समुदय जब अचिन्त्य ज्ञान गोचर हैं, तब अग्नि की दाहिका शक्ति के समान ब्रह्म की सृष्ट्यादि भाव शक्ति समुदय को भी अचिन्त्य ज्ञान गोचर ही जानना।"

उक्त श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—"ब्रह्म का सृष्ट्यादि कर्तृत्व उक्त है, उस विषय में "निर्गुणस्य" श्लोक के द्वारा संशय उपस्थापित करते हैं। जो सत्त्वादि गुण रहित, देश कालादि द्वारा

एवम्भूतस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्त्तृत्वमिष्यते; एतद्विलक्षणस्यैव लोके घटादिषु कर्त्तृत्वादि-दर्शनादित्यर्थः। परिहरति—शक्तयः इति सार्द्धेन। लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्य-ज्ञानगोचराः, अचिन्त्यं तर्कासहं यत् ज्ञानं कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकम्, तस्य गोचराः सन्ति। यद्वा,अचिन्त्या भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञान-गोचराः सन्ति। यत एवमतो ब्रह्मणोऽपि तास्तथाविधाः शक्तयः सर्गादिहेतुभूता भावशक्तयः स्वभावसिद्धाः शक्तयः सन्त्येव, पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्। अतो गुणादि-हीनस्याप्यचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद्ब्रह्मणः सर्गादिकर्त्तृत्वं घटत इत्यर्थः। श्रुतिश्च (श्वे० ६।८)—

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ।।७१।।

(श्वे० ४।१०) **"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" इत्यादि। यद्येवं योजना—सर्वेषां भावानां पावकस्योष्णताशक्तिवदचिन्त्य-ज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव, ब्रह्मणः पुनस्ताः**

सर्वसम्वादिनी

राहित्यादिना परिहृतः। इत्थमेव तस्य निरुपाधेरेव स्वत आनन्द-प्रकाशानन्त्यं व्यञ्जयन् **'सन्दोह'**-शब्द-माहैकादशे (**भा० ११।६।१८**) श्रीदत्तात्रेयः,—**"केवलानुभवानन्द-सन्दोहो निरुपाधिकः"** इति। अतएवा-प्राकृतावयवत्वेन तस्यानश्वरत्वञ्च युक्तम्।

तथा, (**ब्र०सू०१।१।२**) **'जन्माद्यस्य'** इत्यादेः (**ब्र०सू०१।१।११**) **'श्रुतत्वाच्च'** इत्यन्तस्य च सूत्रस्य तात्पर्य्यं

अनुवाद—

अपरिच्छिन्न हैं, जिन का शरीर नहीं है, जो सहकारी शून्य हैं, अमलात्मा हैं, अर्थात् पुण्य-पापोत्थ संस्कार अथवा रागादि शून्य हैं, उन ब्रह्म का सर्गादि कर्तृत्व कैसे सम्भव होगा? जगत् में उक्त धर्म समूह से विलक्षण पुरुष में ही घटादि कर्तृत्व दृष्ट होता है। "शक्तयः" इस सार्द्ध श्लोक के द्वारा उक्त आशङ्का का परिहार करते हैं।

इस जगत् में मणिमन्त्रादि भाव पदार्थसमूह की शक्ति है, वह अचिन्त्य ज्ञान गोचर है, अचिन्त्य का अर्थ—जो लौकिक तर्क युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। उसका विशेष अर्थ यह है—जिस के विना जो कार्य निष्पन्न नहीं होता, वह ही अचिन्त्य ज्ञान है। ब्रह्म की निखिल शक्ति ही उक्त अचिन्त्य ज्ञान गोचर है।

अथवा, जो सव शक्ति मूल वस्तु से भिन्न अथवा अभिन्न रूप विकल्प चिन्ता का विषय न होकर केवल मात्र अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ज्ञान गोचर होती है, उक्त समुदय शक्ति ही 'अचिन्त्य' नाम से अभिहित हैं। अर्थापत्ति—अर्थात् जहाँ साक्षात् कारण दृष्ट न होने पर भी, कारण भिन्न कार्य्य नहीं हो सकता है, इस प्रकार कार्य को देखकर कारण को कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। जैसे दिवस में अभोजनकारी व्यक्ति का स्थूलत्व को देखकर रात्रि भोजन की कल्पना।

जागतिक मणिमन्त्रादि की जव एतादृशी शक्ति है, तव अग्नि की दाहिका शक्ति के समान ब्रह्म की स्वाभाविकी सृष्ट्यादि सम्पादिका तादृशी शक्ति समुदय निश्चय ही है। अतएव गुणादि हीन होने से भी अचिन्त्य शक्तिमत्त्वा निबन्धन ब्रह्म में सृष्ट्यादि कर्तृत्व सङ्गटित है, "उनका कार्य्य नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, उन के समान, उन के अधिक शक्तिसम्पन्न कोई नहीं है, उन पर ब्रह्म को ज्ञान, बल, क्रियारूप विविध स्वाभाविक शक्ति की कथा सुनने में आती है। माया को प्रकृति, माया गुणयुक्त को महेश्वर कहते हैं।" इत्यादि बहुतर श्रौत प्रमाण है।

श्रीधरस्वामिपादकृत व्याख्या की योजना इस प्रकार हो सकती है,—समस्त भाव पदार्थ में ही अग्नि की

स्वभावभूताः स्वरूपादभिन्नाः शक्तयः (श्वे० ६।८) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्रुतेः। अतो मणिमन्त्रादिभिरग्नचौष्ण्यवन्न केनचिद्विहन्तुं शक्यन्ते। अतएव तस्य निरङ्कुशमैश्वर्य्यम्; तथा च श्रुतिः (बृ० ४।४।२२) "स वा अयमस्य सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" इत्यादि। यत एवमतो ब्रह्मणो हेतोः सर्गाद्या भवन्ति। नात्र काचिदनुपपत्तिः।" इत्येषा।

अत्र प्रश्नः—सोऽयं ब्रह्म खलु निर्विशेषमेवेति पक्षमाश्रित्य, परिहारस्तु सविशेषमेवेति पक्षमाश्रित्य कृत इति ज्ञेयम्। अतएव प्रश्ने शुद्धस्येत्यत्रादेहस्येत्यपि व्याख्यातम्। शुद्धत्वं ह्यत्र केवलत्वं मतम्, तन्न युक्तम्, परिहारे ब्रह्मणि शक्तिस्थापनात्, पूर्वपक्षमते ब्रह्मणि शक्तिरपि नास्तीति गम्यते। ततः प्रश्नवाक्येऽप्येवमर्थान्तरं ज्ञेयम्। निर्गुणस्य प्राकृताप्राकृतगुणरहितस्य, अतएव प्रमाणागोचरस्य तत एवामलात्मनोऽपि शुद्धस्य, न तु स्फटिकादेरिव परच्छायया-ऽन्यथा-दृष्टस्य। तदेवं निर्विशेषतामवलम्ब्य प्रश्ने सिद्धे, परिहारे नु प्रथमयोजनायां निर्विशेषपक्षमनादृत्य ब्रह्मणि कर्तृत्वप्रतिपत्त्यर्थं शक्तयः साधिताः। द्वितीययोजनायां तत्र च विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, यथा जलादिषु कदाचिदुष्णतादिकमागन्तुकं स्यात्तथा ब्रह्मणि न स्यादिति

सर्वसम्वादिनी

तथैवं व्याख्यातं (ब्र०सू० १।१।११) श्रीरामानुज-शारीरक-भाष्ये; यथा—"अतएव निर्विशेष-चिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेणाभिः श्रुतिभिर्निरस्तो वेदितव्यः। पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञास्यं ब्रह्मेति (ब्र०सू० १।१।६) 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इत्यादौ स्थापनान्निर्विशेष-वादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकम्। वेदान्त-वेद्यं ब्रह्म च जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातम्; तच्च चैतन्यमिति (ब्र०सू० १।१।५) 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम चैतन्य-

अनुवाद—

उष्णता के समान अचिन्त्य ज्ञान गोचर शक्तिसमूह विद्यमान है, उक्त शक्तिसमूह स्वाभाविक होने से भी स्वरूप से अभिन्ना नहीं है। कारण मणिमन्त्रादि के प्रभाव उक्त शक्ति व्याहत होती है। किन्तु ब्रह्म की उक्त शक्ति स्वाभाविकी एवं स्वरूप से अभिन्ना है। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" श्रुति ही उसका प्रकृष्ट प्रमाण है। अतएव परब्रह्म की शक्ति,—मणिमन्त्रादि के द्वारा व्याहत नहीं होती है, उनका ऐश्वर्य्य—शक्ति निरङ्कुश है। अर्थात् किसी से भी निरस्त होने के योग्य नहीं है।

वृहदारण्यक में उक्त है,—"आप सब के प्रभु, सब के ईश्वर, सब के अधिपति हैं"। अतएव श्रुतिसमूह जब ब्रह्म को सर्वाधिपति रूपमें वर्णन करती हैं, तब ब्रह्म से जगदादि सृष्ट हुये हैं, यह कथन अनुपपन्न नहीं हो सकता है।

श्रीपराशर महाशय श्रीमैत्रेय को "तपतां श्रेष्ठ" कहकर सम्बोधन किये थे, उससे उन्होंने सूचित किया है कि—"आप की जो कुछ तपः शक्ति है, वह भी ब्रह्म की ही शक्ति है, सुतरां ब्रह्म की शक्तिमत्ता के विषय में और क्या कहेंगे ?"

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि—उक्त सृष्टिविषयक प्रश्न हुआ था—निर्विशेष ब्रह्म को विषय कर, एवं उत्तर हुआ—सविशेष ब्रह्म को लेकर। प्रागुक्त- मैत्रेय के प्रश्न में "शुद्धस्य" पद का "अदेहस्य" इस प्रकार व्याख्या किए हैं। किन्तु उत्तर श्लोक में जब ब्रह्म शक्ति स्थापित हुई है तब "शुद्धत्वं" पद का "केवलत्व" अर्थ होना ही सङ्गत है। अन्यथा ब्रह्म में शक्ति नहीं है, ऐसा ही बोध होगा।

किन्तु मैत्रेय कृत पूर्वपक्षस्थ श्लोक का अर्थ इस प्रकार होने से सङ्गति होगी। निर्गुण—प्राकृत गुण रहित है, अतएव प्रमाण का अगोचर है। सुतरां अमलात्मा होकर भी जो शुद्ध अर्थात् स्फटिकादि में जिस प्रकार अपर वस्तु की छाया पात होने से अन्यरूप दिखाई देता है—जो उस प्रकार अवस्था शुन्य है।

निर्द्धारितम्;(श्वे० ६ ८)'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतेः। तथा मणिमन्त्रादिभिरिति व्यतिरेकदृष्टान्त इत्यतो ब्रह्मशक्तयस्तु नान्येन पराभूता इत्येतच्च-दर्शितम्। उभयत्र च स्वरूप-शक्तिप्रभावमात्रेण प्राकृतसत्त्वादिगुणपरिणामरूपसर्गादिसाधकत्वादावावेशाभावेन तद्दोषस्या-लेपश्च दर्शितः। किञ्च, ब्रह्मपदेन (छा० ३।१४।१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति प्रसिद्धिं व्यज्य सत्त्वादिगुणमयमायायास्तदनन्यत्वेऽपि निर्गुणस्येति प्राकृतगुणैरस्पृष्टत्वमङ्गीकृत्य तेषां वहिरङ्गत्वं स्वीकृतम्। तदेतदेव (श्वे० ४।१०) 'मायाञ्च प्रकृतिं विद्यात्' इत्येषा श्रुतिः स्वीचकार। (भा० ११७।४) "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इतिवन्महेश्वरत्वात् मायाया वहिरङ्गया आश्रय इति तां पराभूय स्थितमिति च लभ्यते। तस्मात् पूर्ववदत्रापि शक्तिमात्रस्य स्वाभाविकत्वं मायादोषास्पृष्टत्वञ्च साधितम्। अतएव प्रयोगश्चायम्—ब्रह्म स्वाभाविकशक्ति-

सर्वसम्वादिनी

गुणयोगोऽत ईक्षण-गुण-विरहिणः प्रधानतुल्यत्वमेव" इति तद्वादे दोष एव प्रत्यावर्त्तत इति।

किं बहुना ? (ब्र०सू० २।३।११) "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इत्यत्राधिकरणे सर्वेषामेव वाक्यानां सविशेष-परत्वमेव दर्शितमस्ति। तथा हि तदर्थः।—(छा० ३।१४।२) 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्येवमादिकं परस्य ब्रह्मणः सविशेषत्व-चिह्नम्, (बृ० ३।८।८) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्येव-

अनुवाद—

यद्यपि निर्विशेष स्वीकार करके भी प्रश्न सिद्ध होता है, तथापि परिहार में पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार निर्विशेष पक्ष का अनादर करके ब्रह्म में कर्त्तृत्व स्थापन हेतु शक्तिसमूह साधित हुई हैं।

स्वामिपाद अचिन्त्य पद का अर्थ द्वितीय पक्ष में इस प्रकार व्याख्या किए हैं, अर्थात् "भिन्न अथवा अभिन्न रूपमें जिस की चिन्ता नहीं हो सकती है, वह ही "अचिन्त्य" है। इस से जलादि में जिस प्रकार कदाचित् अग्नि के संस्पर्श से आगन्तुक उष्णता आरोपित होती है, उस प्रकार ब्रह्म में कभी भी किसी शक्त्याधि का आरोप नहीं हो सकता है। यह ही निर्द्धारित हुआ है। "न तद् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत" श्वेताश्वतरीय श्रुति ही यहाँ पर प्रकृष्ट प्रमाण है, एवं मणिमन्त्रादि ही उस का व्यतिरेक दृष्टान्त है, यथा—जहाँ मणिमन्त्रादि भिन्न वह्नि है वहाँ ही दाह है।

पूर्वदर्शित उभय प्रकार से ही देखा जाता है कि—स्वरूपशक्ति की सामर्थ्य से प्राकृत सत्त्वादि गुण परिणाम रूप सृष्ट्यादि साधन में ब्रह्म का आवेश न होने से गुण क्षोभक मायिक दोष का अलेप—अर्थात् अस्पृष्ट अथवा अनावृता ही प्रदर्शित हुई है। विशेषतः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् परिदृश्यमान जागतिक समस्त वस्तु ही ब्रह्म है, इस श्रुत्युक्त प्रसिद्धि को मान लेने से सत्त्व, रजः तमोगुण परिणामिनी उक्त माया भी ब्रह्म से अनन्या है, यह सिद्ध होता है, एवं 'निर्गुणस्य' अर्थात् प्राकृत गुण द्वारा अस्पृष्ट को मानकर, सत्त्वादि गुण को वहिरङ्ग स्वीकार किया है। एवं वह ही "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनञ्च महेश्वरम्" श्रुति में अभिहित हुआ है। अर्थात् माया शब्द का अर्थ स्वभाव तथा प्रकृति है, एवं वह भी एक शक्ति है, वह शक्ति जिनमें नित्य वर्त्तमान है, वह महेश्वर है, कारण—नित्ययोगे मतुप् प्रत्यय से "मायी" पद निष्पन्न हुआ है। इससे महेश्वर में माया नित्य वर्त्तमान् है, एवं "महेश्वर" शब्दसे आप मायातीत हैं, बोध होता है। "स ईशो यद्वशे माया" वह माया का अधीश्वर है, श्रुति इस को मानती है।

श्रीमद् भागवत के "मायाञ्च तदपाश्रयां" श्लोक में जिस प्रकार माया को निकृष्टाश्रया तथा वहिरङ्गा कहा गया है। उस प्रकार यहाँ पर महेश्वर पद से माया का वहिरङ्गात्व एवं तद्वशीभूतत्व एतदुभय ही सुसिद्ध हुये हैं। अतएव यहाँ भी पूर्व की भाँति ब्रह्म की समस्त शक्ति ही जो स्वाभाविक है, एवं आप

मद्वस्तुत्वात् अग्निवद्व्यतिरेके शशविषाणादिवदिति। श्रुतौ च (श्वे० ४।१०)—"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" इति ; श्रीगीतोपनिषत्सु (१३।१३-१४) च—

"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥७२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्" इत्यादि।

अत्रेयं प्रक्रिया—एकमेव तत् परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूप-वैभवजीव-प्रधानरूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते, सूर्य्यान्तर्मण्डलस्थतेज इव मण्डलतद्बहिर्गतरश्मि-तत्-प्रतिच्छविरूपेण। एवमेव श्रीविष्णुपुराणे (१।२२।५४)—

"एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्"॥७३॥ इति।

(कठ० २।२।१५, श्वे० ६।१४) "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतेः। अत्र व्यापकत्वादिना तत्तत्समावेशाद्यनुपपत्तिश्च शक्तेरचिन्त्यत्वेनैव पराहता। दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्। शक्तिश्च सा त्रिधा—अन्तरङ्गा, तटस्था, वहिरङ्गा च। तत्रान्तरङ्गया स्वरूपशक्त्याख्यया सूर्य्यतन्मण्डलस्थानीयपूर्णेनैव स्वरूपेण वैकुण्ठादिस्वरूपवैभवरूपेण च

सर्वसम्वादिनी

मादिकं निर्विशेषत्व-चिह्नम्; तदेतदुभयं चिह्नं परस्य न सम्भवति,—विरोधात्। नापि स्थानमुपाधि-मङ्गीकृत्य तत् सम्भावनीयमुपाधि-योगेन सविशेषत्वं स्वतो निर्विशेषत्वमेवेति; हि यस्मात् सर्वत्रैवोपाधि-सम्बन्धे तदसम्बन्धे च तस्य सविशेषत्वमेवोपलभ्यते। तत्रोपाधिसम्बन्धे तावदुभयथापि सविशेषत्वम्; तेनोपाधिना तत्रैव स्वरूप-शक्ति-प्रकाशनेन च यदि तत्र स्वरूपशक्तिर्न स्यात्तदा जड़स्य तस्योपाधेः

अनुवाद—

मायादोषास्पृष्ट हैं, इसका निर्णय हुआ है।

सम्प्रति परब्रह्म की चतुर्धा अवस्थिति का विवरण कहते हैं—ज्ञेय ब्रह्म को कहता हूँ। जिस को जानकर जीव अनायास मुक्ति प्राप्त करता है, अनादिमत् निरतिशय स्वरूप परब्रह्म ही ज्ञेय है, आप सद्-असत् के अतीत हैं। सर्वत्र जिन के करचरणादि विराजित हैं। इस श्लोक की व्याख्या में स्वामिपाद का कथन इस प्रकार है—"अनादि-इत्येतावतैव बहुव्रीहिणा अनादिमत्त्वे सिद्धेऽपि पुनर्मतुप प्रत्ययश्छान्दसः। यद्वा अनादीति मत् परञ्चेति पदद्वयं मम विष्णोः परं निर्विशेषरूपं ब्रह्मेत्यर्थः॥" इस से बोध होता है कि—विष्णुनिर्विशेष नहीं हैं, उन में अनादि-सत्त्वादि धर्म तथा शक्ति विद्यमान है।

एक सूर्य्य जिस प्रकार मण्डल, मण्डलान्तर्गत तेज, मण्डल के वाहर की रश्मि, एवं उस का प्रतिबिम्ब रश्मि रूप में अवस्थित हैं, उस प्रकार परतत्त्व की अवस्थिति चार प्रकार से होती है। वह भी सर्वदा निज अचिन्त्य स्वाभाविक शक्ति के द्वारा ही होती है। अर्थात् स्वस्वरूप, स्वरूपवैभव, जीवरूप में एवं प्रधान रूप में अवस्थित हैं।

विष्णुपुराणमें उक्त है—"एकदेशस्थित वह्नि की ज्योतिअनेक देश व्यापिनी होती है, उस प्रकार परब्रह्म की शक्ति भी अखिल ब्रह्माण्ड व्यापिनी है, श्रुति कहती है—"जिन की प्रभा से समस्त उद्भासित हो रहें हैं।" यहाँ शक्ति की अचिन्त्यता निबन्धन उस में व्यापकताधर्म विद्यमान होने पर भी, अर्थात् ब्रह्म जब व्यापक है, उस की शक्ति तदनुरूप होने से भी समावेश की अनुपपत्ति नहीं होती है। कारण अचिन्त्य शक्ति का अर्थ है—जो जीव की चिन्ता का भी अविषय है, और दुर्घट विषय की संगठन कारिणी है, वह अचिन्त्ता शक्ति है। दुर्घट घटकत्व ही अचिन्त्य है। अन्तरङ्गा, तटस्था, बहिरङ्गा भेद से वह शक्ति त्रिविधा है।

तदवतिष्ठते, तटस्थया रश्मिस्थानीयचिदेकात्मशुद्धजीवरूपेण, वहिरङ्गया मायाख्यया प्रतिच्छविगतवर्णशावल्यस्थानीय-तदीयवहिरङ्ग-वैभवजड़ात्मप्रधानरूपेण चेति चतुर्द्धात्वम्। अतएव तदात्मकत्वेन जीवस्यैव तटस्थशक्तित्वम्, प्रधानस्य च मायान्तर्भूतत्वमभिप्रेत्य शक्तित्रयं श्रीविष्णुपुराणे (६।७।६१, ६३) **गणितम्—**

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥७४॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञ-संज्ञिता। सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्त्तते" ॥७५॥ **इति।**

अविद्या कर्म्म कार्य्यं यस्याः सा, तत्संज्ञा मायेत्यर्थः। यद्यपीयं वहिरङ्गा, तथाप्यस्यास्तटस्थशक्तिमयमपि जीवमावरितुं सामर्थ्यमस्तीत्याह—तयेति। तारतम्येन **तत्कृतावरणस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु देहेषु लघुगुरुभावेन वर्त्तत इत्यर्थः। तदुक्तं** (भा० १।७।५)—**"यया सम्मोहितो जीवः" इति। अतएव जीवस्य रश्मिस्थानीयत्वान्मण्डलविलक्षण-मायाव्यवधान-तिरोधापनीय-वैभवत्वं युक्तम्। तदनन्तरश्लोक्तं यया (मायया)** क्षेत्रज्ञशक्तिः **सा** तारतम्येन वर्त्तत

सर्वसम्वादिनी

प्रवृत्त्यादिकमपि न स्यात्। न च स उपाधिरागन्तुकः;—(छा० ६।२।१) 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्रेदं-शब्देन तस्यापि सत्-तादात्म्येनाग्रेऽपि स्थितेराम्नातत्वात्। न च तदुपाधिदोषेण तल्लिप्तम्,—तस्मिन् सतापि तेन तदस्पर्शात्,—(छा० ८।१।५) 'अपहतपाप्मा' इत्यादि-श्रुतेः। तदनन्तरमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञा च सविशेषत्वमेव बोधयति।

अनुवाद—

तन्मध्ये स्वरूप शक्ति नामक अन्तरङ्गा-शक्ति द्वारा पूर्णस्वरूप तथा—वैकुण्ठादि स्वरूप वैभव में, तटस्था शक्ति द्वारा रश्मिस्थानीय चिदेकात्मशुद्ध जीव रूप में, मायाख्या बहिरङ्ग-शक्ति द्वारा प्रतिच्छविगत वर्णशावल्य स्थानीय बहिरङ्ग वैभव जड़ादि कार्यरूप में, एवं केवल प्रधान अर्थात् कारण रूप में शक्ति विलसित है, इस प्रकार शक्ति का चतुर्विधत्व है।

अतएव परम शक्ति व्याप्त—चिदेकात्मता वशतः ही जीव को तटस्थशक्ति कही गई है, एवं प्रधान को माया के अन्तर्भूत मानकर ही विष्णुपुराण में शक्तित्रय का उल्लेख है। यथा—"विष्णुशक्ति—परा, अपरा क्षेत्रज्ञा, तृतीया शक्ति—अविद्या अथवा कर्म संज्ञा से अभिहिता है"। उक्त अंश की टीका में— "व्याप्य व्यापक भेद हेतुभूतं विष्णोः शक्त्यन्तरमाह—अविद्येति, कर्मेति च संज्ञा यस्या सा, तथा च मायोपलक्ष्यते हेतु हेतुमतोरविद्या कर्मणोरेकीकृत्योक्तिः संसारलक्षणकार्य्यैक्यात् ॥" अर्थात् व्याप्य-व्यापक भाव केहेतुभूत विष्णु की शक्ति का विवरण कहते हैं, अविद्या अथवा कर्म संज्ञा है जिस की उसे माया कहते हैं। अतएव हेतु हेतुमत् रूप अविद्या एवं कर्म को एक मानकर माया शब्द का प्रयोग हुआ है। कारण उभय का ही संसारादि कार्य्यकारित्व में ऐक्य है ॥"

सुतरां एक अविद्या में प्रधान एवं उस का कार्य स्थावरादि विहित है। "हे भूपाल! उक्त अविद्या शक्ति के द्वारा तिरोहिसस्वरूपा क्षेत्रज्ञा शक्ति, समस्त भूतों में तारतम्य रूप में वर्त्तमान है"। अविद्या कार्य है जिसका, इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर अविद्या शब्द से माया का बोध ही होता है। यद्यपि यह वहिरङ्गा है, तथापि—तटस्थ शक्तिमय जीव को आवृत करने की शक्ति इसमें है। इसका कथन "तया तिरोहितत्वाच्च श्लोक में हुआ है। सम्प्रति तारतम्य कहने का तात्पर्य्य यह है कि—ब्रह्मा से आरम्भ कर जागतिक स्थावरादि शरीर में स्वल्प विस्तर भाव से माया की विद्यमानता है। उक्त श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामिपाद कहे हैं कि—"जीवानां न्यूनाधिकभावेऽपि सैव हेतुरित्याह ययेति ॥" इस के पूर्व श्लोक में

इति। ययैवाचिन्त्यया मायया चिद्रूपतानिर्विकारतादिगुणरहितस्य प्रधानस्य जड़त्वं विकारित्वञ्चेति ज्ञेयम्। प्रधानस्य मायाव्यङ्गत्वञ्चाग्रे दर्शयिष्यते। अत्रान्तरङ्गत्व-तटस्थत्व-वहिरङ्गत्वादिनैव तेषामेकात्मकानां तत्तत्साम्यम्, न तु सर्वात्मनेति तत्तत्स्थानीयत्वमेवोक्तम्, न तु तत्तद्रूपत्वम्। ततस्तत्तद्दोषा अपि नावकाशं लभन्त इति॥ श्रीपिप्पलायनो निमिम्॥

१७। तदेवं सर्वाभिर्मिलित्वा चिदचिच्छक्तिर्भगवान्। एवमेव परमेश्वरत्वेन स्तूयमानं ब्रह्माणं प्रति हिरण्यकशिपुनाप्युक्तम् (भा० ७।३।३४) 'चिदचिच्छक्तियुक्ताय' इति। चिद्वस्तुनश्चिद्वस्त्वन्तराश्रयत्वं रश्म्याभासादिज्योतिषो ज्योतिर्मण्डलाश्रयत्वमिव। अत्र तटस्थाख्या जीवशक्तिर्यथावसरं परमात्मसन्दर्भे विवरणीया। अथान्तरङ्गाख्याविवरणाय वहिरङ्गाप्युपदिश्यते, यतः परा अपरा चेति। श्रीविष्णुपुराणे (१।१९।७६-७७) श्रूयते—

सर्वसम्वादिनी

एवं जगदुपादानत्वादि-वाक्यं जगज्जीव-तादात्म्य-वाक्यञ्च। अत्र निर्विशेषत्वे 'सदेव सौम्येदम्' इत्युपक्रम-विरोधः। तदविरोधस्तु सदिदमोरिव तयोस्तादात्म्येनैव सामानाधिकरण्याद्भवति। तथा च सविशेषत्व एव सामानाधिकरण्यम्; तथाग्रे श्रीपरमात्मसन्दर्भाख्ये तृतीयसन्दर्भे [अनुव्याख्यायां] वक्ष्यामः। 'सदेवेदम्' इत्युपक्रमविरोधादेव च निरुपाधिवत् प्रतीयमाने (छा० ६।२।२) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यत्रापि

अनुवाद—

कथित है कि—सर्वगता यह क्षेत्रज्ञा शक्ति अविद्या कर्त्तृक आश्लिष्टा होकर कर्म द्वारा विभेद प्राप्त कर दुःखी होती है। उक्त तारतम्य के सम्बन्ध में उक्त है—

"प्राणवस्तु स्वल्पाल्पा स्थावरेषु ततोऽधिका। सरीसृपेषु तेभ्योऽन्याप्यतिशक्त्या पतत्रिषु॥
पतत्रिभ्यो मृगास्तेभ्यः स्वशक्त्या पशवोऽधिकाः। पशुभ्यो मनुजाश्चाति शक्त्या पुंस प्रभाविताः॥
तेभ्योऽपि नागगन्धर्वयक्षाद्या देवतानृप। शक्रः समस्तदेवेभ्य स्तश्चाति प्रजापतिः॥ (वि० पु० ६४-६५)

अनभिव्यक्त प्राण जीव से उत्तरोत्तर प्राण की अभिव्यक्ति के आधिक्य से शक्ति एवं सामर्थ्याधिक्य का विवरण प्रस्तुत किया है।

"यया सम्मोहितः" जिस अचिन्त्य माया के द्वारा, चिद्रूपता तथा निर्विकारतादि गुण रहित प्रधान का जाड्य एवं विकारित्व प्रतिपन्न हो रहा है, उसका विवरण आगे दिखायेंगे। यहाँ अन्तरङ्गत्व, वहिरङ्गत्व तटस्थत्वादि के द्वारा पूर्वोक्त गुणादि का एकात्मक समूह की—'स्वरूप, वैभव, जीव, प्रधान की' तत्तत् विषय में समता है, किन्तु सर्वांश में समता नहीं है। तत्तत् स्थानीयत्व ही कहा गया है, तत्तद्रूपत्व का कथन नहीं हैं। अतएव तत्तद्विषयक दोष प्रवेश का अवकाश इस दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में नहीं है।

यह प्रसङ्ग—श्रीपिप्पलायन-निमि का है॥१६॥

चिदचिच्छक्तिमान् श्रीभगवान्। अतएव उक्त अन्तरङ्ग, तटस्थ, वहिरङ्गादि समूह शक्ति के मिलन से चिदचिद्—उभय शक्त्यात्मक श्रीभगवान् हैं। श्रीहिरण्यकशिपु—श्रीब्रह्मा को परमेश्वर मानकर उस प्रकार स्तव किए थे। "चिदचिद्शक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः"। टीका—"चिच्छक्तिर्विद्या, अचिच्छक्तिर्माया, ताभ्यां युक्तायेति"। अर्थात् विद्यारूपा चित्शक्ति, मायारूपा अचित्शक्ति युक्त श्रीभगवान्—आप को मैं प्रणाम करता हूँ।

चिद् वस्तु का ही चिद् वस्त्वन्तर का आश्रयत्व दिखाया गया है। सूर्य्य रश्मि, तदाभासादि ज्योतिः, जिस प्रकार ज्योतिर्मण्डल को आश्रय कर रहती हैं, उस प्रकार परम चित्स्वरूप श्रीभगवान् को आश्रय करके ही चेतन विद्यमान रहता है। परमात्म सन्दर्भ में तटस्थाशक्ति का विशेष वर्णन होगा। यहाँ

"सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव। गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर।७६॥
यातीतगोचरा वाचां मनसाञ्चाविशेषणा। ज्ञानविज्ञानपरिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरीं पराम्"॥७७॥इति।

सैषा बहुवृत्तिकैव ज्ञेया; (श्वे० ६।८) 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति श्रुतेः।

१८। तत्र बहिरङ्गामाह (भा० २।६।३३)—

"ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः" ॥७८॥

अर्थं परमार्थभूतं मां विना यत् प्रतीयेत, मत्प्रतीतौ तत्प्रतीत्यभावात् मत्तो बहिरेव यस्य प्रतीतिरित्यर्थः। यच्चात्मनि न प्रतीयेत, यस्य च मदाश्रयत्वं विना स्वतः प्रतीतिर्नास्तीत्यर्थः। तथालक्षणं वस्तु आत्मनो मम परमेश्वरस्य मायां जीवमाया गुणमायेति द्व्यात्मिकां मायाख्य-शक्तिं विद्यात्। अत्र शुद्धजीवस्यापि चिद्रूपत्वाविशेषेण तदीय-रश्मिस्थानीयत्वेन च

सर्वसम्वादिनी

नेदं-शब्दवाच्यस्याभावं बोधयति। किं तर्हि ? इदं-शब्दवाच्यस्यापि तच्छक्तित्वमेव बोधयति;—तत्र 'एकम्' इत्यनेन जगदुपादानस्य ब्रह्मण एकत्वमेव, न तु परमाणुवद्बाहुल्यम्; 'अद्वितीयम्' इत्यनेन तस्य स्वशक्त्येक-सहायत्वम्, न तु कुलालादिवन्मृत्तिकादि-लक्षण-वस्त्वन्तर-साहाय्यमिति गम्यते; 'एव'-कारोऽत्रासम्भावना-निवृत्त्यर्थः;—तस्याव्यक्तस्य तच्छक्तित्वेऽप्युपाधित्व-प्रत्ययो बहिरङ्गत्वादेवेति ज्ञेयम्।

अनुवाद—

अन्तरङ्गा शक्ति का वर्णन करने के अभिप्राय से बहिरङ्गा शक्ति का वर्णन करते हैं।

परा-अपरा नामक शक्ति का वर्णन विष्णुपुराण में है, "हे सर्वात्मन् ! सर्व भूत में आप की जो अपरा जड़ा शक्ति है, जो नित्या एवं गुणाश्रया है। हे सुरेश्वर ! मैं उन को नमस्कार करता हूँ। और आप की जो परा शक्ति है, जो वाक्य एवं मन का अगोचर है। जाति-गुणादि विशेषण शून्या है, जो ज्ञानी क्षेत्रज्ञ जीव, उस के ज्ञान प्रकाशकर्त्री, अथवा ज्ञानी जीव, उस के ज्ञान—बुद्धि। एतदुभय को जो प्रकाशित करती है, उन ईश्वरी अर्थात् आप की स्वरूपभूता परा चिच्छक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।" इस परा ईश्वरी शक्ति की अनेक वृत्ति है, इन को बहुवृत्तिका जानना होगा। श्रुति कहती है—"भगवान् की परा शक्ति बहुविध है ॥१७॥

बहिरङ्गा शक्ति का वर्णन करते हैं।

अर्थभूत मुझ को परित्याग करने से ही जिस की प्रतीति होती है, एवं मुझ को छोड़कर निज स्वरूप में जिस की प्रतीति नहीं होती है। जिस प्रकार ज्योतिः पदार्थ का आभास, छाया, अन्धकार, ज्योति पदार्थ को छोड़कर हो नहीं सकते हैं। तद्रूप वह आत्मभूत मेरी ही माया है।"

यहाँ "अर्थ" शब्द से परमार्थभूत मुझको छोड़कर ही जिस की प्रतीति होती है। अर्थात् मेरी प्रतीति से माया की प्रतीति नहीं होती है। किन्तु मेरे बाहर जिस की प्रतीति होती है। जिसकी प्रतीति उस के निज स्वरूप में नहीं होती है। अर्थात् मेरा आश्रय को छोड़कर जिस की स्वतः प्रतीति नहीं है। उक्त लक्षण जो वस्तु—वह अनन्त ब्रह्माण्ड के आत्मभूत परमेश्वर मेरी ही माया है, जीव माया, गुणमायाख्या उभयात्मिका मदीया शक्ति है।

यहाँ शुद्ध जीव को परमेश्वर के अन्तर्भुक्त माना गया है। उस में कारण द्वय का प्रदर्शन हुआ है। चिद्रूपता—धर्म में-चिदांश में परस्पर साम्य है, एवं जीव ईश्वर से पृथक् होने पर भी उनके रश्मि स्थानीय रूपमें अपृथक् है। उक्त शक्ति को उभयात्मिका कहने का अभिप्राय का लाभ द्विविध दृष्टान्त से हुआ है।

स्वान्तःपात एव विवक्षितः। तत्रास्या द्व्यात्मिकत्वेनाभिधानं दृष्टान्तद्वैविध्येन लभ्यते। तत्र जीवमायाख्यस्य प्रथमांशस्य तादृशत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयन् असम्भावनां निरस्यति—यथाभास इति। आभासो ज्योतिर्विम्वस्य स्वीयप्रकाशाद्व्यवहितप्रदेशे कथञ्चिदुच्छलित-प्रतिच्छवि-विशेषः। स यथा तस्माद्वहिरेव प्रतीयते, न च तं विना तस्य प्रतीतिस्तथा सापीत्यर्थः। अनेन प्रतिच्छविपर्य्यायाभासधर्म्मत्वेन तस्यामाभासाख्यत्वमपि ध्वनितम्। अतस्तत्कार्य्यस्याभासाख्यत्वं क्वचित्; (भा० २।१०।७) 'आभासश्च निरोधश्च' इत्यादौ। अत्र स यथा क्वचिदत्यन्तोद्भटात्मा स्वचाक्चिक्यच्छटा-पतितनेत्राणां जनानां नेत्रप्रकाशमावृणोति, तमावृत्य च स्वेनात्यन्तोद्भटतेजस्त्वेनैव द्रष्टृनेत्रं व्याकुलयन् स्वोपकण्ठे वर्णशावल्यमुद्गिरति, कदाचित्तदेव पृथग्भावेन नानाकारतया परिणमयति, तथेयमपि जीवज्ञानमावृणोति, सत्त्वादि-गुणसाम्यरूपां गुणमायाख्यां जड़ां प्रकृतिमुद्गिरति, कदाचित् पृथग्भूतान् सत्त्वादिगुणान् नानाकारतया परिणमयति चेति ज्ञेयम्। तदुक्तं (वि०पु० १।२२।५४) "एकदेशस्थितस्याग्नेः" इत्यादि। तथा चायुर्वेदविदः—

"जगद्योनेरचिन्त्यस्य चिदानन्दैकरूपिणः। पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः ॥७६॥

सर्वसम्वादिनी

तथोपाधि-प्रतिषेध-वाक्ये—(मु१० १।५,६) 'अथ परा—यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्' इत्यादौ, प्राकृत-हेयगुणान् प्रतिषिध्य नित्यत्व-विभुत्वादि-कल्याण-गुणयोगो ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते,-(मु०१।१।६) 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' इत्यादिना। एवं 'निर्गुणं निरञ्जनं' इत्यादीनामपि प्राकृत-हेयगुणविषय-निषेधपरत्वमेव। सर्वतोनिषेधे स्वाभ्युपगताः सिसाधयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्युः। ज्ञानमात्रस्वरूपवादिन्योऽपि

अनुवाद—

उस के मध्य में प्रथमांश जो जीवमाया है, उस में असम्भावना नहीं है, कारण वह रश्मि स्थानीय तथा चिद्रूप भी नहीं है। "यथा भास" दृष्टान्त से उक्त असम्भावना का निरास हुआ है। आभास उसे कहते हैं,—जो ज्योतिर्विम्व के प्रकाश से किञ्चित् व्यवहित प्रदेश में उच्छलित प्रभा रूपमें प्रतीत होता है। यह जिस प्रकार—मूल ज्योति के बाहर प्रतिफलित होकर प्रतीत होता है। किन्तु मूल वस्तु न होने से प्रतिच्छवि की प्रतीति ही नहीं होती है। तद्रूप उक्त शक्ति को भी जानना होगा। अर्थात् जीवशक्ति, परमात्मा से पृथक् है, किन्तु परमात्मा से पृथक् होने पर भी परमात्मा को छोड़कर जीव शक्ति की कोई सत्ता नहीं है। इस प्रतिच्छवि पर्य्याय आभासता धर्म के द्वारा उक्त माया का आभास नाम भी ध्वनित हुआ है। एतज्जन्य "आभासश्च निरोधश्च" इत्यादि श्लोक में कभी कभी माया का कार्य्य भी आभास आख्या से अभिहित होता है।

यहाँ पर सदृष्टान्त उक्त आभास धर्म को दर्शाते हैं। स्थानविशेष में पतित ज्योतिः पदार्थ का आभास, स्वीय प्रदीप्त चाक्चिक्यमयच्छटा को विस्तार कर, उस के उपर पतित नेत्र पुरुष की नेत्र दृष्टि को आवृत करता है, एवं निज प्रदीप्तच्छटा से द्रष्टा के नेत्र को व्याकुलित करके, निज समीप में विभिन्न वर्णसमूह को उद्गीरण करता है। एवं कभी तो पृथक्-पृथक् नाना आकार में परिणामित करता है।

उस प्रकार यह वहिरङ्गा माया भी जीव के ज्ञान को आवृत कर देती है, एवं उस के स्वरूप ज्ञान के परिवर्त्त में सत्तादि गुण की साम्यावस्था रूपा गुणमाया नाम्नी जड़ा प्रकृति की उद्गीरण करती है। कभी तो पृथग्भूत सत्त्वादि गुण को नानाविध आकार में परिणामित करती है, यह समस्त ही वहिरङ्गा माया का कार्य है। पूर्वोक्त "एकदेशस्थितस्याग्नेः" श्लोक में इस का विवरण है।

अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मनः। अकरोद्विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृतिः" ॥८०॥ इति।

तदेवं निमित्तांशो जीवमाया, उपादानांशो गुणमायेत्यग्रेऽपि विवेचनीयम्। अथैवं सिद्धम्—जीवमायाख्यं गुणमायाख्यं द्वितीयमप्यंशं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथा तम इति। तमःशब्देनात्र पूर्वोक्तं तमःप्रायं वर्णशावल्यमुच्यते। तद्यथा तन्मूलज्योतिष्यसदपि तदाश्रयत्वं विना न सम्भवति, तद्वदियमपीति। अथवा मायामात्रनिरूपण एव पृथग्दृष्टान्तद्वयम्। तत्राभास-दृष्टान्तो व्याख्यातः। तमोदृष्टान्तश्च, यथान्धकारो ज्योतिषोऽन्यत्रैव प्रतीयते, ज्योतिर्विना च न प्रतीयते। ज्योतिरात्मना चक्षुषैव तत्प्रतीतेर्न पृष्ठादिनेति तथेयमपीत्येवं ज्ञेयम्। ततश्चांशद्वयन्तु प्रवृत्तिभेदेनैवोह्यम्, न तु दृष्टान्तभेदेन। प्राक्तनदृष्टान्तद्वैधाभिप्रायेण तु पूर्वस्या आभासपर्य्यायच्छायाशब्देन क्वचित् प्रयोगः। उत्तरस्यास्तमःशब्देनैव चेति। यथा (भा० ३।२०।१८)—

"ससर्ज छाययाऽविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः।
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रं ह्यन्धसंज्ञितः" ॥८१॥

सर्वसम्वादिनी

ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति। तथापि तत्स्वरूपत्व एव तस्य ज्ञातृत्वमस्तीति न निर्विशेषत्वम्; तत्तु प्रतिपादितम्। एवम्, (तै० ३।६।१) 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यत्रापि ज्ञेयम्।

किञ्च, तत्र तत्र 'ब्रह्म'-शब्देनैव सविशेषत्वं स्पष्टीकृतम्,—वृंहणार्थत्वात्। अतएव, (तै० २।४।१) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादौ भेदनिर्द्देशश्च। (तै० २।४।१) 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिवाक्यश्चा-

अनुवाद—

आयुर्वेदवेत्तागण भी कहते हैं—"जगत् के निदानभूत, अचिन्त्य चिदानन्दरूपी पुरुष की दीप्तिशील वस्तु की प्रतिच्छाया सदृशी नित्या प्रकृति है, नाटकाकृति प्रकृति अचेतना होकर भी परमात्मा के चैतन्य योग से अनित्य अखिल विश्व की सृष्टि करती है।"

अतएव सृष्टि की कारणरूपा माया तथा प्रकृति के निमित्त उपाधान रूप अंशद्वय को स्वीकार करना पड़ता है। तन्मध्ये जीव माया को निमित्तांश में एवं गुणमाया को उपादानांश में कारण जानना होगा। इस विषय की आलोचना पश्चात् होगी।

पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध गुणमायाख्य द्वितीयांश का विस्तार दृष्टान्त द्वारा करते हैं। यथा मूल श्लोकमें "यथातमः" पद को 'तम' शब्द के द्वारा तमः प्राय उद्भूत विचित्र वर्णशावल्य को कहा गया है। मूल ज्योतिः पदार्थ में उक्त विचित्र वर्ण न होने पर भी ज्योतिः पदार्थ का आश्रय व्यतीत जैसे उस की वर्ण सृजन शक्ति असम्भव होती है, उस प्रकार यह माया परमेश्वर में अवस्थित न होने पर भी उन के आश्रय व्यतीत स्व सृष्ट्यादि करने में सक्षम नहीं होती है।

अथवा "ऋतेऽर्थं" श्लोकोक्त "यथा भासो यथा तमः" पृथक् दृष्टान्तद्वय का उल्लेख माया मात्र निरूपण के निमित्त हुआ है, ऐसा कहने से भी पूर्वोक्त आभास दृष्टान्त तत् पक्ष में समीचीन हो रहा है। तमः शब्द के दृष्टान्त से भी जैसे ज्योतिः पदार्थ के अन्यत्र अन्धकार की प्रतीति होती है, किन्तु उक्त प्रतीति ज्योतिः पदार्थ के साहाय्य सापेक्ष है। कारण ज्योतिरात्मा चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ही उस की प्रतीति होती है, पृष्ठादि के द्वारा नहीं। तद्रूप परमेश्वर से दूर में अवस्थिता गुणमयी माया को तत् प्रेरिता चित्शक्ति की सहायता व्यतीत जाना नहीं जाता है। सुतरां प्रवृत्ति के भेद से ही माया का उभयांश उक्त हुआ है। उस का दृष्टान्त भेद से नहीं है, दृष्टान्त भेद के द्वारा पूर्वोक्त जीव माया का आभास पर्य्याय छाया शब्द द्वारा, उत्तरोत्तर गुणमाया का प्रयोग तमः शब्द के द्वारा क्वचित् हुआ है। तृतीय स्कन्ध के सृष्टि प्रकरण

इत्यत्र। यथा च (भा० १०।१४।११) 'क्वाहं तमोमहदहम्' इत्यादौ। पूर्वत्राविद्याविद्याख्य-निमित्तशक्तिवृत्तिकत्वाज्जीवविषयकत्वेन जीवमायात्वम्, उत्तरत्र स्वीयतत्तद्गुणमयमहदाद्यु-पादानशक्तिवृत्तिकत्वाद्गुणमायात्वम्। तथा 'ससर्ज' इत्यादौ छायाशक्तिं मायामवलम्ब्य सृष्ट्यारम्भे ब्रह्मा स्वयमविद्यामाविर्भावितवानित्यर्थः। (भा० ११।११।३)—

"विद्याविद्ये मम तनु विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्म्मिते" ॥८२॥

इत्युक्तत्वात्। अनयोराविर्भावभेदश्च श्रूयते। तत्र पूर्वस्याः पाद्मे (उ० ७३।२३०-२३१) श्रीकृष्णसत्यभामासंवादीयकार्त्तिकमाहात्म्ये देवगणकृतमायास्तुतौ—

सर्वसम्वादिनी

लौकिकत्वादानन्त्याच्च सङ्कुच्छते। अतएव (बृ०आ० २।१।१) 'ब्रह्म ते ब्रुवाणि' इति, (तै० २।१।२) 'ब्रह्म-विदाप्नोति परम्' इति च न विरुध्यते।

(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये, ८३तम-अनु०—बृ०आ० ४।५।१५) "यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति; यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्?' इत्यादौ, (कठ० २।१।११) 'नेह नानास्ति किञ्चन,'

अनुवाद—

में उक्त है—"ब्रह्मा छायारूपा अविद्या के द्वारा तामिस्रादि महातमः को सृजन किए। एवं दशम स्कन्ध के ब्रह्म मोहन में ब्रह्मा कहते हैं—तमः, अर्थात् प्रकृति, महत्, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेजः, जल, पृथिवी समूह से परिवेष्टित जो अण्ड घटाहै, उस से पातालादि, सत्यलोक, एवं उस तीन लोक में निज परिमाण में सप्त वितस्ति मात्र परिमित शरीरधारी मैं कहाँ हूँ? और इदृश अविगणित ब्रह्माण्ड, जो कि गवाक्ष पथ के पार्थिव परमाणु के समान आप के रोम विवर के मध्य में गमनागमन करते रहते हैं। इस प्रकार आप की महिमा है।

यहाँ प्रथम श्लोकमें अविद्या-विद्याख्या निमित्त कारणभूता शक्ति की वृत्तिता के द्वारा वह जीव विषयक होने से, उसे जीव माया कही गई है।

द्वितीय श्लोकोक्त "तमः" पद के द्वारा स्वीय सत्त्व, रजः, तमो गुणात्मिका महदादि की उपादान शक्ति वृत्तिता का बोध होने से उसे गुण माया कहा गया है। इस के पहले "ससर्ज्ज" श्लोक के द्वारा उक्त है कि—ब्रह्मा छाया शक्ति रूपा माया के अवलम्बन से सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं ही पञ्चपर्वा अविद्या का आविर्भाव कराये थे।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—हे उद्धव! जीव सम्बन्धीया विद्या एवं अविद्या दोनों को ही मेरे तनु जानना। मेरी मायाख्या शक्ति निर्मिता जीव को बन्ध एवं मोक्षकरी अवस्था है। अर्थात् इस माया को अनादि कहने से जीव नित्य मुक्त होकर भी अनादि बद्ध रूप में प्रतीति होता है। यहाँ उभय शक्ति की युगपत् प्रेरणा से उभयावस्था की सङ्गति होती है, जव स्वरूप ज्ञान प्रदान जीव को करता हूँ। तव स्व-स्वरूप में अवस्थित होकर मोक्ष की स्फूर्त्ति होती है। जव द्वितीया शक्ति—अविद्या में जीव अभिनिविष्ट होता है। तव वह बद्ध होता है। अविद्या ही भवरोग का मूल निदान है। "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" इत्यादि श्लोक में उस का स्पष्टीकरण हुआ है। सुतरां माया ने जीव को बद्ध किया है, यह सुस्पष्ट है। इससे भगवत् वहिर्मुख जीव बद्ध है एवं भगवत् उन्मुख जीव मुक्त हैं, एवं इस का विधानकर्त्ता श्रीभगवान् हैं। देवतान्तर की मुक्ति विधायिका कोई शक्ति नहीं है, इससे सूचित हुआ है।"

पद्मपुराण के कार्तिक माहात्म्य में उभयात्मिका माया का आविर्भावभेद वर्णित है। श्रीकृष्ण सत्यभामा संवाद में देवगण की स्तुति इस प्रकार है,—"देवगण इस प्रकार स्तव करते करते आकाश में,

"इति स्तुबन्तस्ते देवास्तेजोमण्डलसंस्थितम्। ददृशुर्गगने तत्र तेजोव्याप्तदिगन्तरम् ॥८३॥
तन्मध्याद्भारतीं सर्वे शुश्रुवुर्व्योमचारिणीम्। अहमेव त्रिधा भिन्ना तिष्ठामि त्रिविधैर्गुणैः" ॥८४॥ इत्यादि।
उत्तरस्याः पाद्मोत्तरखण्डे (६१।५१) "असंख्यं प्रकृतिस्थानं निविड़ध्वान्तमव्ययम्" **इति ॥श्रीभगवान् ब्रह्माणम् ॥**

१८। अथ स्वरूपभूताख्यामन्तरङ्गां शक्तिं सर्वस्यापि प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या तावदाह द्वाभ्याम् (भा० ६।१६।२३-२४)—

"यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्वहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥८५॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी, यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं, स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति" ॥८६॥

सर्वसम्वादिनी

(कठ० २।१०) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' **इत्यादौ च जीवमाययोस्तच्छक्तितया कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्य्यतया सर्वेषां तदन्तर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात्तत्प्रत्यनीक-नानात्वं प्रतिषिध्यते, न तु सर्वथास्य सर्वमिति, स्वरूपगतभेदाङ्गीकारात्, (तै० २।६।२)** 'बहु स्यां प्रजायेय' **इति निर्विकारस्यैव सतोऽचिन्त्यशक्त्या कार्य्यभावभेदाङ्गीकाराच्च। प्रत्यक्षादिसकलप्रमाणानवगतं ब्रह्मणो नानात्वं प्रतिपाद्य तदेव प्रतिषेधवाक्येन बाध्यत इत्युपहास्यमिदम्।"**

अनुवाद—

तेजो मण्डल के मध्य में अवस्थित तेज प्रभाव से व्याप्त दिगन्त किसी वस्तु का दर्शन किये, अनन्तर तन्मध्य से उद्भूत "मैं त्रिविध गुण के द्वारा त्रिविध प्रकार से भिन्न होकर अवस्थित हूँ। इस प्रकार आकाशवाणी **को सुने थे।"** यह ही जीवमाया रूपा पूर्वमाया। एवं उत्तर विभाग अथवा गुणमाया के सम्बन्ध में भी उक्त पुराण के उत्तर खण्ड में वर्णित है,—"घोर तमसाछन्न संख्यक प्रकृति स्थान" इत्यादि।

वैशेषिक दर्शन की भारद्वाज वृत्ति में उक्त भगवत् शक्ति के सम्बन्ध में तृतीयाध्याय के द्वितीयाह्निक में उक्त है—"सा च परमा परा विद्या, शान्ति विद्या, प्रतिष्ठा निवृत्तिरिति चतस्रः शक्त्यो मूर्तकीभूय तत् परम सूक्ष्म-धन्याश्रयं परमव्योम खलु व्योमकेशं परम पुरुषं परममेवात्मानं तच्छान्त्यादिशक्तिचतुर्व्यूहमकुरुत। अस्यानन्तशक्तिमतो उत्तमपुरुषस्य ज्ञानशक्तिरिच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्निष्पादयति ॥"

उस के परवर्त्ति "अविद्या" (३।२।५) सूत्र में अविद्या का स्वरूपोल्लेख है—

"परमविद्याविरोधिनी खल्वविद्या जातिविशेषः। तयैव क्रियाशक्त्या पुनस्तास्त्रीवृद्भूता, विकृतत्रिगुण वैषम्योपहितोऽभिमन्ताऽहङ्कारो नामेश्वरो महतो प्रादुर्भूतः। यो वै लोके सोऽहङ्कारः स वा अस्मिन् देव नरादि पुरुषेऽविद्योद्रेकादहन्मतिरविद्या बुद्धिरज्ञानमुच्यते ॥" इस प्रकार अनेक स्थल में शक्ति स्वीकृत है।

अर्थात्—"प्रथम विद्या को परा रूप में स्वीकार कर शान्ति प्रभृति चार विभाग किए हैं। उससे उक्त शक्ति की चतुर्व्यूह की कल्पना हुई है। अनन्तर नित्या पराविद्या की प्रतिषेध रूप अविद्या एवं विकृत त्रिगुण वैषम्य के द्वारा उपहित अहङ्कारादि का प्रादुर्भाव होता है, जिससे देव-नरादि में अविद्या का उद्रेक होता है, तज्जन्य अहमिका बुद्धि—अज्ञान होता है।

अतएव ग्रन्थकार कृत "परा, अपरा" उभयात्मिका अविद्या का प्रतिपादन श्रुत्यादि प्रमाण से किए हैं, वैशेषिक दर्शन की भारद्वाज वृत्तिमें उसका स्पष्ट उल्लेख है। यह ब्रह्मा के प्रति श्रीभगवान् की उक्ति है ॥१८॥

अनन्त स्वरूपभूता अन्तरङ्गा शक्ति का वर्णन करते हैं।

अन्तरङ्गा शक्ति, समस्त प्रवृत्ति के प्रति कारण है, जिस अन्तरङ्गा शक्ति के विना समस्त प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होती है। सुतरां उस को जानना आवश्यक है। यथा—"आकाश के सदृश सब के अन्तर-बाहर

टीका च—यद्ब्रह्म व्योमवद् विततमेपि असवः प्राणाः क्रियाशक्त्या न स्पृशन्ति, मनआदिनि च ज्ञानशक्त्या न विदुः, तद्ब्रह्म नतोऽस्मि। तेषां तदज्ञाने हेतुमाह— देहेन्द्रियादयोऽमी यदंशविद्धा यच्चैतन्यांशेनाविष्टाः सन्तः कर्मसु स्व-स्वविषयेषु प्रचरन्ति, जाग्रत्स्वप्नयोः अन्यदा सुषुप्तिमूर्च्छादौ नैव प्रचरन्ति। यथा अप्रतप्तं लोहं न दहति, अतो यथा लोहमग्निशक्त्यैव दाहकं सदग्निं न दहति, एवं ब्रह्मगतज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां प्रवर्त्तमाना देहादयस्तन्न स्पृशन्ति, न विदुश्चेति भावः" इत्येषा। अत्राद्वैतशारीरकेऽपि सांख्यमाक्षिप्योक्तं यथा—"अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्पेयत। यथाग्निनिमित्तमयः-पिण्डादेर्दग्धृत्वम्, तथा सति यन्निमित्त-मीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं जगतः कारणम्" **इति। श्रुतिश्चात्र** (क०ठ० २।२।१५)—**"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"**; (तै० २।७।१) **"को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्,"** (वृ० ४।४।१८) **"चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्याद्या। अथ प्रकृतस्यावशिष्टा**

सर्वसम्वादिनी

'नेह' इत्यादौ इह ब्रह्मणि यत्किञ्चनास्ति, तन्नाना नास्ति; किन्तु तत्स्वरूपात्मकमेवेत्यर्थः,— नाना-शब्द-वैयर्थ्यात्।

(छा० ७।२४।१) "यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति, तदल्पम्; यो वै भूमा, तदमृतम्; अथ यदल्पम्, तन्मर्त्त्यम्" इत्यादौ

अनुवाद—

में विस्तृत होने से भी मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राणप्रभृति जिन को स्पर्श करने में सक्षम नहीं है, उन को नमस्कार करता हूँ। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि जिन के अंश में आविष्ट होकर जाग्रदादि अवस्था में कार्य्यक्षम होते हैं। किन्तु तदावेश के भिन्न काल में अप्रतप्त लौह जिस प्रकार दाह कार्य में अक्षम है, तद्रूप उक्त देहादि कार्य करने में अक्षम होते हैं। अतएव जाग्रदादि अवस्था में ही जीव, द्रष्टा, अनुमन्ता इत्यादि संज्ञा लाभ करता है।"

स्वामिपाद की टीका में उक्त है—'व्योमवत्' वितत होने से भी उन ब्रह्म को प्राण समूह क्रियाशक्ति के द्वारा स्पर्श करने में असमर्थ हैं। मन आदि ज्ञानशक्ति के द्वारा जान नहीं सकते हैं। उन ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ। न जानने का कारण कहते हैं। "उक्त देह, इन्द्रिय समूह, जिन के चैतन्यांश के द्वारा आविष्ट होकर ही जाग्रत्-स्वप्न काल में निज निज विषयक कर्म में वे सब प्रवृत्त होते हैं, किन्तु सुषुप्ति मूर्च्छादि में प्रवर्त्तित नहीं होते हैं, जिस प्रकार—अप्रतप्तलौह दग्ध नहीं करता है। उस प्रकार देहादि भी निज कार्य करने समर्थ नहीं होते हैं। उस लौह दृष्टान्त से विस्पष्टीकृत होता है कि—जिस प्रकार लौह,— अग्नि की शक्ति से दाहकारी होने से भी अग्नि को दग्ध नहीं करता है। तद्रूप ब्रह्मगत ज्ञान, शक्ति, क्रियाशक्ति के द्वारा प्रवर्त्तमान होकर भी देहादि उन को स्पर्श करने में अथवा जानने में असमर्थ हैं।

सांख्य मत खण्डन के अवसर पर अद्वैत शारीरक भाष्य में लिखित है। "साक्षिजन्य ईक्षण कर्त्तृत्व प्रधान में आरोपित है, जिस प्रकार—अग्नि निमित्त उत्तप्त लौहखण्ड में दाह कर्त्तृत्व आरोपित है। वास्तविक लौह में दाहिका शक्ति नहीं हैं, अग्नि के सम्बन्ध से आगन्तक है। तद्रूप जिन के सम्पर्क से ही प्रधान में ईक्षण कर्त्तृत्व आता है। उन सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का मुख्य कारण हैं।" श्रुति कहती है— "उन की दीप्ति से ही सूर्य्यादि अनुभासित होते हैं।" यथा सर्वं सूर्य्यादि तेजोभान्तं प्रकाशयन्तं तमेव भगवन्तं अनुभाति प्रकाशते। सूर्य्यादि प्रकाशोऽपि भगवदधीन इति भावः॥ तथा हि स्मृतिः—"यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयत इत्यादिका। तर्हि कस्य प्रकाशेन इदं सर्वं जगत् प्रकाशते इत्यत आह तस्येति।"

अर्थात्— सूर्य्यादि 'तेज' पदार्थ को जो प्रकाशित करते हैं, एवं उस के प्रकाश समूह–उन को प्रकाशित

टीका—"जीवस्तर्हि द्रष्टृत्वाज्जानातु, नेत्याह—स्थानेषु जाग्रदादिषुद्रष्ट्रपदेशं द्रष्टृसंज्ञां तदेवैति प्राप्नोति। नान्यो जीवो नामास्ति, (वृ० ३।७।२३) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतेः। यद्वा, द्रष्ट्रपदेशं द्रष्टृसंज्ञं जीवमपि तदेवैति जानाति, न तु जीवस्तज्जानातीत्यर्थः" इत्येषा। तदुक्तं (भा० २।१०।९)—"त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः" इति श्रुतौ च जीवो नामातोऽन्यः स्वयंसिद्धो नास्ति, परन्तु तदात्मक एवेत्यर्थः। तथातोऽन्यो द्रष्टा नास्ति, सर्व-द्रष्टुस्तस्यापरो द्रष्टा नास्तीत्यर्थं इति व्याख्येम्॥ श्रीनारदश्चित्रकेतुम्॥

सर्वसम्वादिनी

चायमर्थः।—'नान्यत् पश्यति' इति तन्मात्रदर्शनादवगम्यते रूपवत्त्वम्; तथा 'नान्यच्छृणोति' इति शब्द-वत्त्वञ्च तस्य दर्शितम्; एतदप्युपलक्षणम्; स्पर्शादिमत्त्वञ्च ज्ञेयम्—(छा० ३।१४।२) 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादि-श्रुतेः। एवं बहिरिन्द्रियेषु स्फूर्त्तिर्दर्शिता। 'नान्यद्विजानाति' इति तथैवान्तःकरणेषु स्फुरतीत्याह। तत्रान्यदर्शनादि-निषेध-स्तस्यानन्त्य-विवक्षया, कृत्स्नस्य जगतोऽपि तद्विभूत्यन्तर्गतत्वविवक्षया च;—शुद्धे

अनुवाद—

नहीं करते हैं। सुतरां सूर्य्यादि का प्रकाश भगवत् प्रकाश का अधीन है। श्रीभगवान् स्वयं कहे हैं—"आदित्य का जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है, वह तेज मेरा ही है।" श्रुति कहती है,—"तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति" (कठ० ५।१५, मुण्डक० २।२।१०) उन की दीप्ति से समस्त विभासित हो रहे हैं। "कौन चेष्टाशील होते, कौन प्राण धारण करते, यदि यह आकाश आनन्द न होता" अर्थात् श्रुतिस्थ आकाश पद का लक्ष्य है प्राण एवं भूत समूह। आनन्दमय पुरुष का आनन्द ही समस्त प्राणि को सुखी बनाकर जीवित रखा है। शङ्कर भाष्य—"अयमपिहि पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणिति यद्यपि एष आकाशे परमेव्योम्नि गुहायां निहित आनन्दो न स्यान्न भवेत् को ह्येव लोकेऽन्याद् प्रानचेष्टां कुर्य्यादित्यर्थः। कः प्राण्यात् प्राणनं कुर्य्यात् तस्मादस्ति तद ब्रह्म, यदर्थाः कार्य्य कारण प्राणनादि चेष्टाः, तत्कृत एवानन्दो लोकस्य कुतः? एष ह्येव पर आत्मानम् दयति आनन्दयति सुखयति लोकं धर्म्मानुरूपं।"

वृहदारण्यक में उक्त है—"जो चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र है, शङ्कर भाष्य—तथा चक्षुषोऽपि चक्षुः, तथा श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम्, ब्रह्म—शक्त्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादि सामर्थ्यम्। स्वतः काष्ठलोष्ट्रादि समानि हि तानिचैतन्यात्म-ज्योतिः शून्यानि।" भाष्यकार के मत में ब्रह्मशक्त्यधिष्ठित होकर ही चक्षुरादि इन्द्रिय निज निज दर्शनादि कार्य करने में सक्षम हैं, अन्यथा काष्ठ पाषाणादिवत् अवस्था होती है। सुतरां "देहेन्द्रिय प्राण" इस श्लोक में चैतन्यांश के आवेश से जीव की शक्ति के सम्बन्ध में जो विवरण है, उसे प्रस्तुतकर श्रुति प्रमाण को दिखाकर स्वामिपादोक्त अवशिष्ट टीका की आलोचना करते हैं—"जीव स्वयं द्रष्टा होकर समस्त विषय को जानने में सक्षम हो जाय? ऐसा नहीं कह सकते। कारण जाग्रदादि अवस्था में ही जीव द्रष्टा होता है, अन्यथा द्रष्टृ रूप में अवस्थित होने पर भी द्रष्टा कहा नहीं जाता। परमात्मशक्ति से जीव नामक अपर कोई वस्तु नहीं है। श्रुति कहती है– उन के अतिरिक्त अन्य द्रष्टा नहीं है।" अथवा मूल श्लोकोक्त—"द्रष्ट्रपदेशं" शब्द का भिन्न अर्थ करने से भी "द्रष्टा संज्ञा से अभिहित जीव को परमात्मा जानते हैं, किन्तु जीव उन को नहीं जानते हैं।" इत्यादि अर्थ से भी पूर्वोक्त परमात्मा का ही द्रष्टृत्व एवं जीव, प्रेरकत्व सुसिद्ध होता। द्वितीय स्कन्ध में भी उक्त है, ये तीन को जो जानते हैं, वह ही आत्मा एवं आश्रय का आश्रय हैं।"

पहले सांख्य मत के प्रति आक्षेप वचन को दर्शाया गया है, यह आक्षेप आचार्य्य शङ्कर का है। सम्प्रति उक्त शास्त्र का संक्षिप्त तात्पर्य्य प्रदर्शित हो रहा है। "आमानात्मविवेक साक्षात्कारात् कर्त्तृत्वाद्यखिला भिमान निवृत्त्या तत् कार्य्य रागद्वेष धर्माधर्माद्यनुत्पादात् पूर्वोत्पन्नकर्म्मणां चाविद्यारूपादि सहकार्य्योच्छेद-

अनुवाद—

रूपदाहेन विपाकानारम्भकत्वात् प्रारब्ध समाप्त्यनन्तरं पुनर्ज्जन्माभावेन त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपो मोक्ष भवति । इति"। "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ ।।"

आत्मा तावत् सुखदुःखाद्यनुभविता, अनात्मा च—प्रकृत्यादिजड़वर्गः। तयोरन्योऽन्यवैधर्म्म्येण परिणामित्वापरिणामित्वादिरूपेण दोषगुणात्मकेन हेयोपादेयतया पृथक्त्वेन ज्ञानं विवेकः ।।

महर्षि कपिल ही सांख्य दर्शन प्रणेता हैं, किन्तु तन्नामक व्यक्तिद्वय की प्रसिद्धि है, एक कर्दम पुत्र भगवदवतार। आप सत्य युग में आविर्भूत हुये थे। तत् परवर्त्ती अग्नि वंशज सगरपुत्र ध्वंसकर्त्ता कपिल ही प्रचलित सांख्य शास्त्र प्रणेता है, कर्दमपुत्र कपिल वर्णित श्रीभागवतीय सांख्य मत के सहित परवर्त्ती कपिल मत में अनैक्य विद्यमान है। "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्" कथन से सांख्य शास्त्र की श्रेष्ठता व्यक्त होने से भी श्रुति विरुद्ध ईश्वर प्रतिषेधांशरूप अपरिहार्य्य दोषयुक्त होने से वह वेदान्तादिवत् आद्दत नहीं है। केवल परमात्म तत्त्व विवेकांश में ही दर्शनान्तर से उस की श्रेष्ठता है।

पराशरीय उपपुराण में उक्त है—"अक्षपाद प्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धांशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ।।"

अर्थात् श्रुत्येक शरण साधुगण,—श्रुतिविरुद्धांश को परित्याग कर श्रुत्यनुकूल शास्त्र का आदर करते हैं। वेदान्त शास्त्र सम्पूर्ण श्रुतिमूलक होने से उसमें श्रुति विरुद्ध हेयांश नहीं है। अतः वह सविशेष समादृत है।

सांख्य शास्त्र के तत्त्व संख्यान को लेकर ही सांख्य नाम हुआ है। सुतरां "सांख्य" शब्द रूढ़ है। सम्यक् विवेक सहकृत आत्म तत्त्व कथन ही सांख्य है।

आत्म अनात्म विवेक साक्षात्कार निबन्ध कर्त्तृत्वादि अखिल अभिमान निवृत्त होने से, तत्कार्य्य राग द्वेष, धर्म, अधर्मादि की अनुत्पत्ति हेतु पूर्वोत्पन्न कर्मसमूह का एवं तत्सहकारि अविद्या का उच्छेद रूप दाह के द्वारा, विपाक का अनारम्भ से प्रारब्ध-अप्रारब्ध उभय विध कर्म विनष्ट होते हैं, सुतरां पुनर्जन्म नहीं होता है, यह ही त्रिविध दुःख्यात्यन्त निवृत्ति रूप मोक्ष है।

सांख्य शास्त्र में मूल प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन, पञ्चमहाभूत, पुरुष,—ये पञ्चविंशति तत्त्व स्वीकृत है। तन्मध्ये—मूल प्रकृति से पञ्च महाभूत पर्य्यन्त चतुर्विंशति तत्त्व—प्रकृति, विकृति भावापन्न हैं। किन्तु पुरुष—प्रकृति-विकृति से पृथक् है, नित्य है, अपरिणामी है, अतएव अनुभय है।

मूल प्रकृति—सत्त्वरजस्तमो गुणात्मिका जड़ा एवं परिणामिनी है, निखिल जगत् उक्त गुण का ही परिणाम है। सत्त्वगुण—प्रकाश स्वभाव है, उस की वृत्ति—शान्ता है। रजोगुण—रागात्मक एवं दुःख रूप अर्थात् प्रवर्त्तक है। सुतरां उस की वृत्ति—घोररूपा है। तमोगुण,—मोहस्वरूप एवं आवरक है, उस की वृत्ति मूढ़ा है। यह सब परस्पर विरुद्ध भावापन्न होने पर भी कार्य्यकाल में परस्पर की सहायता करते रहते हैं।

गुण परिणाम से जगत् की उत्पत्ति होने से जगत्,—सुख-दुःख-मोहात्मक है। स्वच्छ स्फटिक के निकट जवाकुसुमादि स्थापित होने से उस की आभा से स्फटिक में जिस प्रकार रक्तिमादि च्छटा पतित होती है। तद्रूप प्रकृति के सान्निध्य से प्रकृति के विकृतिरूप बुद्धि धर्म सुख-दुःखादि की प्रतीति पुरुष में होती है। यह ही पुरुष का संवाद है।

अहं बुद्धि, इदं बुद्धि, कर्त्तव्य बुद्धि, बुद्धि का त्रिविध विकार है। पुरुष में जब प्रकृति का उपराग होता है तब अहं बुद्धि होती है। प्रकृति में पुरुष का उपराग होने से 'इदं' बुद्धि होती है, उभय के उपराग से कर्त्तव्य बुद्धि का उदय होता है। त्रिविध बुद्धि ही भ्रमात्मिका है।

"साक्षीचेता केवलोनिर्गुणश्च" (श्वेताश्वतर) श्रुति संवाद से पुरुष—नित्य निर्गुण, चेतन, केवल साक्षीमात्र, अतएव उदासीन एवं अनेक है। प्रकृति—नित्या अचेतना, परिणामिनी, पुरुष के सान्निध्य से जगत् कर्त्री। इत्याकार ज्ञान ही विवेक है। विवेक के उदय से दृष्ट दोषा प्रकृति पुरुष को परित्याग

२० । किञ्च (भा० ६।४।२५)—

"देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा, नात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो, न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे" ॥८७॥

देहश्चासवश्च प्राणा अक्षाणीन्द्रियाणि च, मनवोऽन्तकरणानि भूतानि च मात्राश्च तन्मात्राणि । आत्मानं स्वस्वरूपम्, अन्यं स्वस्वविषयवर्गं तयोः परं देवतावर्गं च न विदुः । पुमान् जीवन्तु सर्वमात्मानं स्वस्वरूपं तदन्यं प्रमातारं तयोः परं देहाद्यर्थजातं तदधिष्ठातृदेवता-वर्गंश्च वेद । तथा देहादि-मूलभूतान् गुणांश्च सत्त्वादीन् वेद, तत्तज्ज्ञोऽप्यसौ यं सर्वज्ञं देहादि-

सर्वसम्वादिनी

चित्ते जगतोऽपि तद्विभूतिरूपत्वेन यथार्थायां स्फूर्त्तौ न दुःखदत्वम् ; तदुक्तम्—(भा० ११।१४।१३) "मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः" इति । तथैव वाक्यशेषः—(छा० ७।२५।२) 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः; स स्वराड़् भवति, सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति । तस्मादत्रापि सविशेषमेव प्रतिपद्यते । एवमन्यत्राप्युन्नेयम् । तस्मात् साध्वेव व्याख्यातम्—

अनुवाद—

करती है, उस से पुरुष की मुक्ति होती है ।

स्रक, चन्दन, वनितादि के द्वारा सामयिक दुःख निवृत्ति होने से भी आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति नहीं कही जाती है । कारण—वासना विद्यमान होने से उत्तर काल में पुनर्बार स्पृहा होती है । पिप्पलादि वृक्ष मूलतः उत्पाटित न होने से पुनः पुनः प्ररोह उस का होता है, तद्रूप—विवेक व्यतीत सुख-दुःखादि का मूल कारण अविद्या का उच्छेद नहीं होता है । विवेक द्वारा दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होने से, भारवाही पुरुष के मस्तक से भारापनयन के समकाल में पृथक् सुखोदय न होने पर भी वह अपने को सुखी मानता है । मुक्त पुरुष भी तद्रूप दुःखापगम से अपने को सुखी मानता है ।

यह ही सांख्य शास्त्र का तात्पर्य है । प्रकृति को कर्त्री रूप से स्वीकार करना ही सांख्य दर्शन का हेयांश है । उक्त दोष परिहार के निमित्त "ईक्षते र्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५) सूत्र की अवतारणा है । "स ऐक्षत" (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र में ईक्षण कर्त्तृत्व पुरुष में स्वीकृत होने से पुरुष ही मूल कर्त्ता है । ग्रन्थकर्त्ता का यह अभिमत है ।

स्थूल, सूक्ष्म भूत एवं जीव भी परमेश्वर की शक्ति से परिचालित होते रहते हैं । श्रुति में उक्त है—परमात्मा से पृथक् स्वयंसिद्ध जीव नामक तत्त्व नहीं है । किन्तु तदात्मक अर्थात् परमात्मा जिनके आत्मा रूप में अवस्थित है, इस प्रकार जीव है । सुतरां उस का कोई द्रष्टा नहीं है, आप ही सब के द्रष्टा हैं । श्रीगीता में उक्त है—"क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं" (१३।२) "हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु माञ्च क्षेत्रज्ञं विद्धि । जीवाः स्वं स्वं क्षेत्रं स्वभोगसाधनं जानन्तः क्षेत्रज्ञाः प्रजावत् । अहन्तु सर्वेश्वर एक एव सर्वाणि तानि नियम्यानि भर्त्तव्यानि च जानन् । क्षेत्रं क्षेत्रज्ञञ्च मामेव विद्धि । मदधीन स्थिति प्रवृत्तिकत्वान्मद्व्याप्यत्वाच्च मदात्मकं जानीहीति ।" (इति गोविन्दभाष्य) सर्वत्र श्रीभगवान् ही द्रष्टा हैं । जीवादि समस्त उन के नियम्य हैं ।

यह उक्ति चित्रकेतु के प्रति श्रीनारद महाशय की है ॥१९॥

इस विषय में और भी श्रीमद्भागवत ६।४।२५ में उक्त है—"देह, पञ्चप्राण, इन्द्रियसमूह, अन्तःकरण, भूतसमूह, निज विषय को एवं एतदुभयातिरिक्त इन्द्रियाधिष्ठित देवतावर्ग को जान नहीं सकते । किन्तु पुरुष अर्थात् जीव निज स्वरूप प्रमाता को, इन्द्रियनिकर को, इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता समूह को, एवं देहादि के मूलभूत सत्त्वरजः तमोगुण को जानते हैं । किन्तु उक्त समुदय को जानने पर भी देहादि जीव पर्य्यन्त अशेष तत्त्व के ज्ञाता सर्वज्ञ भगवान् को नहीं जानते हैं । उन सर्वज्ञ अनन्त देव को (प्रथम

जीवान्ताशेषज्ञातारं न वेद, तमनन्तं (भा० ११२८।१९) "महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः" इति प्रथमोक्तदिशा स्वरूपभूतानन्तशक्तिमीड़े। अतएव, (बृ० ४।५।१५) "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" इत्यारभ्य जीवस्येतरद्रष्टृत्वमुक्त्वा, "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्" इत्यादिना तस्य परमात्मद्रष्टृत्वं निषिध्य परमात्मनस्तु तत्तत् सर्वद्रष्टृत्वं स्वद्रष्टृत्वमप्यस्तीति (बृ० ४।५।१५) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यनेनाह। अस्य जीवस्य तदधिष्ठानभूतस्य य आत्मा परमात्मा स एव यत्र स्वस्मिन् स्वरूपे तच्छक्त्यादिकं सर्वमभूत्, न तु वस्त्वन्तरप्रवेशेनेत्यर्थः। अयमर्थः—यत्र मायावैभवे द्वैतमिव भवति। तन्मूलकत्वात्तदनन्यदपि मायाख्याचिन्त्यशक्तिहेतुकतया जड़मलिन-नश्वरत्वेन तद्विलक्षणतया सम्पादितम्। ततः स्वतन्त्रसत्ताकमिव मुहुर्जायत इत्यर्थः। तत्तु तत्र इतरो जीव इतरं पदार्थं पश्यति। तस्य करणदृश्ययोर्मिथो योग्यत्वादिति भावः। यत्र तु स्वरूप-वैभवे अस्य जीवस्य रश्मिस्थानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा परमात्मा स एव स्वरूपशक्त्या सर्वमभूत्,

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० ३।२।११) "न स्थानतोऽपि" इति।

न च सविशेषं ब्रह्म निर्विशेषब्रह्मणो भिन्न-मिति वक्तव्यम्:—प्रतिशाखमेकमेव ब्रह्म सर्वत्र गीयत इति; (कठ० १।२।१५) "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतेः। तदेतदप्याह,—(ब्र०सू० ३।२।१२) "न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" इति। अतएव (छा० २।६।१) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्येके पठन्ति; तदेतदप्याह.

अनुवाद—

व्यूहाधिपति सङ्कर्षण को) स्तव करता हूँ।"

प्रथम स्कन्ध की उक्ति के अनुसार—"महद् गुणशालित्व निबन्धन जो अनन्त आख्या से अभिहित हैं" अर्थात् जो स्वरूपभूत अनन्त गुणसम्पन्न हैं, वह ही यहाँ स्तव्य तत्त्व हैं। एतज्जन्य श्रुति में भी उक्त है—"यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कमभिवदेत्, तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारं अरे! केन कं विजानीयात्।" इति (बृ० उ० ४।५।१५)

स्वरूपशक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् सर्वद्रष्टा हैं। उक्त श्रुति के अनुसार जहाँ द्वैतवत् होता है, वहाँ जीव इतर वस्तु का द्रष्टा होता है। जहाँ समस्त में आत्मत्व मनन से सब आत्मरूप हो जाते हैं—वहाँ "केन कं पश्येत्" इस प्रकार जीव की परमात्म दृष्टि का निरास कर "विज्ञातारं केन विजानीयात्" इस प्रकार परमात्मा में उक्त समुदय वस्तु एवं निज स्वरूप को देखने की शक्ति है।

सारार्थ यह है कि—जहाँ माया वैभव में द्वैतवत् प्रतीति होती है, वहाँ परमात्म, भूत—जीव समूह मूलतः परमात्मा से पृथक् न होने से भी अचिन्त्य मायाख्या शक्ति के प्रभाव से जड़, मलिन एवं नश्वरत्व से परमात्मा विलक्षण स्वरूप सम्पन्नावस्था में, परमात्मा से स्वयं बारम्बार स्वतन्त्र सत्तावत् होता है, एवं उस समय ही पृथक् भावापन्न जीव विषयादि, इतर पदार्थ को देखता है। कारण उस समय जीव की इन्द्रियादि के सहित दृश्य पदार्थ को परस्पर योग्यता सङ्घटित होने से, उक्त दर्शनादि सुसिद्ध होता है। तब जीव स्वयं स्वतन्त्र द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, इत्यादि विविध आख्या प्राप्त होता है।

स्वरूप वैभव में रश्मि स्थानीय जीव के सम्बन्ध में मण्डल स्थानीय परमात्मा—निज अचिन्त्य स्वरूप शक्ति के द्वारा स्वयं द्रष्टा, श्रोतादि संज्ञा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार रीति अनादि काल से ही होती रहती है।

अनादित एव भवन्नास्ते, न तु तत्प्रवेशेन तत् तत्र इतरः स जीवः केन इतरेण करणभूतेन कं पदार्थं पश्येत्, न केनापि कमपि पश्येदित्यर्थः। न हि रश्मयः स्वशक्त्या सूर्य्यमण्डलान्तर्गत-वैभवं प्रकाशयेयुर्न चार्च्चिषो वह्निं निर्दहेयुरिति भावः। तदेवं सति यस्य खल्वेवमनन्तं स्वरूप-वैभवं तं विज्ञातारं सर्वज्ञं परमात्मानं केन इतरेण करणेन विजानीयात्, न केनापीत्यर्थः। तदेवं ज्ञानशक्तौ तत्र सिद्धायां क्रियेच्छाशक्ती च लक्ष्येते ॥ दक्षः श्रीपुरुषोत्तमम् ॥

२१। वशीकृतमायत्वेनापि तामाह, (भा० ७।६।२२) "स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना, कालो वशीकृतविसृज्य-विसर्गशक्तिः" इति; "स्वधाम्ना चिच्छक्त्या, यतः कालो मायाप्रेरकः" इति टीका च। आत्मा त्वत्र जीवः, तस्य गुणाः सत्त्वादयः, (भा० ११।२५।१२) "सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे" इत्युक्तत्वात् ॥ श्रीप्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० ३।२।१३) "अपि चैवमेके" इति। न च (भा० ११।१६।१७)

"श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्। प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते" ॥११॥

इत्यत्र श्रीभागवत एव भेदमात्रं श्रुत्यसम्मतमित्युच्यत इति वाच्यम्;—विकल्प-शब्दस्य संशयार्थत्वात्। तत्र विरागश्च वस्तुनिष्ठापेक्षयेति मूल एव वक्ष्यते। तदेवं स्वगत-भेदे त्वपरिहार्य्ये स्वर्णरत्नादि-घटितैक-कुण्डलवद्वस्त्वन्तर-प्रवेशेनैव स प्रतिषेध्य इति स्थितम्। तत्स्वरूपवस्त्वन्तराणाञ्च तच्छक्तिरूपत्वान्न तैः

अनुवाद—

किन्तु परमात्मा, उस समय उस में प्रविष्ट होकर दर्शनशक्ति को प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं है। तब जीव, निज इन्द्रियादि करण के द्वारा किस पदार्थ को देखता? उत्तर, नहीं। किसी इन्द्रिय के द्वारा किसी भी पदार्थ को जानने में सक्षम जीव नहीं है। कारण—सूर्य्य किरण कभी भी निज शक्ति के द्वारा सूर्य्य-मण्डलान्तर्गत वैभव को प्रकाशित नहीं कर सकता है। वह्निशिखा भी वह्नि को दग्ध कर नहीं सकती है। जीव के सम्बन्ध में भी वही कथा है। अतएव जिन के एतादृश स्वरूपवैभव विद्यमान है, उन सर्वविज्ञाता परमात्मा को कोई भी जीव, निज इन्द्रियादि के द्वारा जान सकता है? कभी भी नहीं। अर्थात् परमात्मा जिस को निज शक्ति से निज को जानाते हैं, वह जीव उन परमात्मा को जान सकता है, अन्यथा नहीं।

सुतरां मूल ज्ञानशक्ति सम्बन्ध में जब इस प्रकार स्थिति है, तब क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में उक्त रीति को ही अपनाना होगा।

यह उक्ति श्रीपुरुषोत्तम के प्रति श्रीदक्ष की है ॥२०॥

माया,—स्वरूप शक्ति का नियम्य है,—माया को वशीभूत कर जो स्वरूप सृष्ट्यादि कार्य करते हैं। उन स्वरूप का वर्णन करते हैं, (भा० ५।१८।३८) हे भगवन्! आप निज शक्ति चिच्छक्ति के द्वारा नियतः आत्म गुण समूह को स्वायत्त में रखकर कालरूप से मायामय जगत् कार्य एवं उस के कारणादि समुदय को सृजन कर उस से पृथक् रूप में अवस्थान करते हैं।

यहाँ काल शब्द से माया का प्रेरक, 'धाम' शब्द से चिच्छक्ति है, स्वामिपाद की भी व्याख्या वही है। आत्मा शब्द से—जीव, जीव के गुण—सत्त्वादि को जानना होगा।

एकादश स्कन्धोक्त—"सत्त्व, रजः, तमोगुण—जीव के हैं, मेरे लिए नहीं है।" "ज्ञः—कालकालः" इस श्रुति में स्पष्टतः ही श्रीभगवान् काल शब्द से अभिहित हैं। अर्थात् आप शक्तिभूतो जो काल है, उस काल का क्षोभक-नियन्ता आप हैं। वैशेषिक दर्शन के मत में—काल जन्य वस्तु का जनक एवं जगत् का आश्रय है। अतएव निजशक्ति द्वारा कार्य्य-कारण उभयात्मिका मायाशक्ति को निज वश में रखने से

२२। तथा च (भा० ५।१८।३८)—

"करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं, यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं, ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्म-साक्षिणे" ॥८८॥

टीका च—"यस्येक्षितुर्जीवार्थमीप्सितम्; अत्यन्तानिच्छायामीक्षणायोगात् । स्वार्थन्तु नेप्सितम्, विश्वस्थित्यादि स्वगुणैर्माया करोति । तस्या जड़त्वेऽपीश्वरसन्निधानात् प्रवृत्ति दृष्टान्तेनाह—यथा अयो लोहं ग्राव्णोऽयस्कान्तान्निमित्ताद्भ्रमति, तदाश्रयं तदभिमुखं सत् । गुणानां कर्मणाञ्च जीवादृष्टानां साक्षिणे तस्मै नमः" इत्येषा ॥ भूः श्रीवराहदेवम् ॥

२३। अथ मायाशक्तिशावल्ये कैवल्यानुपपत्तेः कैवल्येऽप्यनुभवाभावे तदानन्दस्यार्थतानुपपत्तेश्चान्यथानुपपत्तिप्रमाणतस्तामेवाह (भा० १।७।२७)—

"त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि" ॥८९॥

त्वं साक्षात् स्वयमेवाद्यः पुरुषो भगवान् । तथा य ईश्वरः, अन्तर्य्याम्याख्यः पुरुषः, सोऽपि

सर्वसम्वादिनी

सजातीयोऽपि-भेदः। न चाव्यक्तगत-जाड्य-दुःखादिभिर्विजातीयो भेदः,—अव्यक्तस्यापि तच्छक्तिरूपत्वात्। अथवा, नैयायिकानां ज्योतिरभाव एव यथा तमस्तथाङ्गीकृत्य तादृशाचिन्त्यानुभाव-मायाकृत-चिदानन्द-शक्ति-तिरोभाव-लक्षणाभावमात्र-शरीरत्वेन निर्णतव्यत्वादिति। न चाभावेनैव तर्हि विजातीयोऽसौ भेद आपतित इति वक्तव्यम्,—केवलाद्वैतवादिनामपि तदपरिहार्य्यत्वात्।

अनुवाद—

पूर्वोक्त अन्तरङ्गाशक्ति का कार्य्य एवं उन की विद्यमानता प्रदर्शित हुई है ।

यह उक्ति श्रीनृसिंहदेव के प्रति प्रह्लाद महाशय की है ॥२१॥

पञ्चम स्कन्ध के ५।१८।३८ में उक्त है—"लौह जिस प्रकार अयस्कान्त मणि के सान्निध्य में निज अनीप्सित होने से भी उसके सम्मुख में भ्रमण करता रहता है, तद्रूप माया ईक्षण कर्त्ता के गुण द्वारा निज अनभीप्सित होने से भी जीव के ईप्सित विश्व सृष्टि, स्थिति, लय करते रहते हैं, उन—गुण-कर्म, जीवादृष्ट के साक्षिस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार करता हूँ ।

अतएव यहाँ माया के उपर भगवत् शक्ति का ही प्रभाव प्रकट रूप में दृष्ट होता है । यह उक्ति—पृथ्वीदेवी के प्रति श्रीवराह देव की है ॥२२॥

मायाशक्ति मिश्रण से कैवल्याभाव, मुक्ति में ज्ञानाभाव हेतु मोक्षानन्द का अभाव निश्चित है । अतएव कैवल्य में चिच्छक्ति का ही प्रभाव है—

जागतिक समस्त विषयों में सर्वविध कार्य्यावस्था में अन्तरङ्गाशक्ति का प्रभाव तो विद्यमान है ही, कैवल्यावस्था में भी अन्तरङ्गाशक्ति का प्रभाव अक्षुण्ण है—उस का वर्णन करते हैं । माया शक्ति शावल्य से मोक्ष होना असम्भव है, कारण कैवल्य में अनुभव अर्थात् ज्ञानाभाव हेतु मोक्षानन्द भी विषय नहीं होगा । सुतरां "अन्यथा अनुपपत्ति लक्षण" अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा कैवल्य में भी चिच्छक्ति की विद्यमानता सिद्ध है ।

यथा—"आप, निज अव्यभिचारिणी स्वरूपशक्ति के द्वारा मायाख्या आभास अथवा वहिरङ्गा शक्ति को दूरीभूत करके केवलानुभवानन्द— निज स्वरूप में अर्थात् अनुभूत स्वरूप सुख में अवस्थित हो, कारण आप प्रकृति पर—प्रकृत्यसङ्गी, साक्षात् आदि पुरुष श्रीभगवान् हैं, जो अन्तर्य्यामी पुरुष हैं, वह भी आप ही हो ।"

त्वमेव; तदेवमुभयस्मिन्नपि प्रकाशे प्रकृतेः परस्तदसङ्गी। ननु कथं केवलानुभवानन्दस्यापि तदनुभवित्वम्, यतो भगवत्त्वमपि लक्ष्येत; कथं वेश्वरत्वात् प्रकृत्यधिष्ठातृत्वेऽपि तदसङ्गित्वम् ? तत्राह,—'मायां व्युदस्य' इति। अव्यभिचारिण्या स्वरूपशक्त्या तामाभासशक्तिं दूरे विधाय, तयैव स्वरूपशक्त्या कैवल्ये (भा० ११।९।१८)—

"परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः" ॥६०॥

इत्येकादशोक्तरीत्या कैवल्याख्ये केवलानुभवानन्दे आत्मनि स्वस्वरूपे स्थितः, अनुभूतस्वरूप-सुख इत्यर्थः। तदुक्तं षष्ठे देवैरपि, (भा० ६।९।३२) "स्वयमुपलब्ध-निजसुखानुभवो भवान्" इति, सन्दोहशब्देन चैकादशे वैचित्री दर्शिता, सा च शक्ति-वैचित्र्यादेव भवतीति। अत एवमस्त्येव स्वरूपशक्तिः। प्रकृतिर्नामात्र मायायास्त्रैगुण्यम्। एवमेव शक्तित्रयविवृतिः स्वामिभिरेव दर्शिता। तथाहि श्रीदेवहूतिवाक्ये (भा० ३।२४।३३)—

सर्वसम्वादिनी

एवञ्च निषेध-श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च ब्रह्मणि यो द्वैताभावः साध्यते, स चावृत्त्याप्यपरिहार्य्य इति, पुनस्तदापात-भियाभावेनैवाद्वैतं मन्यामह इति वदतां भावद्वैतमप्यवसीयते। तेनाभावेन भावरूपब्रह्मणो यद्द्वैतमस्ति, तस्य भावरूपस्यैव साक्षादवशिष्टत्वान्मिथ्या-प्रपञ्चस्याभावोऽपि मिथ्येत्यत्रापि तद्वत्; तत्रापि मिथ्यैवावशिष्येत। अभावस्तु न वस्त्वतिरिक्त इति पक्षेऽपि न सम्यगवगम्यते। यदा च भूतले एव घटाभावः

अनुवाद—

अर्थात् आप स्वयं साक्षात् आदि पुरुष श्रीभगवान् हैं, एवं परमेश्वराख्य अन्तर्य्यामी पुरुष भी आप ही हैं। अतएव उभयविध प्रकाश से अर्थात् आदि पुरुष श्रीभगवान् रूपमें, अन्तर्यामी परमेश्वर रूपमें, आप जो प्रकृत्यसङ्गी है, वह परिस्फुट है।

यहाँ संशय हो सकता कि—केवलानुभवानन्द स्वरूप में उन का तदानन्दानुभविता कैसे सम्भव हो, कारण आप तो भगवान् हैं, और कैसे ईश्वर होकर भी प्रकृति के अधिष्ठाता होकर भी प्रकृत्यसङ्गित्वसिद्ध होता है ? बादद्वय का निराकरण करने के लिए उत्तर में कहते हैं—"निज अचिन्त्य अव्यभिचारिणी स्वरूपशक्ति के प्रभाव से आभास रूपा माया को विदूरित करके उक्त स्वरूपशक्ति के सहित कैवल्य में स्थित होते हैं।"

यहाँ "कैवल्य" शब्द का अर्थ एकादश स्कन्धोक्त श्लोक के अर्थावलम्बन से हुआ है। यथा—"परावर-रूपस्वीयांश, विभिन्नांश का परमाश्रय स्वरूप निरुपाधिक विशुद्ध स्वरूप भूतानुभवानन्द सन्दोहरूप कैवल्य संज्ञा से अभिहित होकर आप अवस्थित हो।"

इस के तात्पर्य्य से बोध होता है कि—कैवल्य स्वरूप में स्वगत भेद विद्यमान है। "केवलानां शुद्धानां स्वरूपभूतानां अनुभवानां यः सन्दोह स्तद्रूपः" कारण—अनुभवानन्द स्वरूप में अवस्थित कहने से ही निज स्वरूपसुखानुभव कर रहे हैं, यह सिद्ध होता है।

षष्ठ स्कन्धोक्त देवगण की स्तुति में उक्त है—"स्वयं उपलब्ध" अर्थात् स्वतः अभिव्यक्त जो निज सुख, तदनुभव स्वरूप" चक्रवर्त्ती के मत में—"भगवान् उपलब्ध" निजसुखानुभव एव भवति।" एकादश स्कन्ध में "सन्दोह" पद का अर्थ—"शक्तिवैचित्री" किया गया है। शक्ति की विचित्रता के कारण वैसा होता है। अतएव भगवत् स्वरूप में स्वरूपशक्ति नित्य विद्यमान है, वह निष्पन्न हुआ। "त्वमाद्य" इस मूल श्लोक में जो "प्रकृति" शब्द का उल्लेख है, इस 'प्रकृति' त्रिगुणात्मिका माया है।

"परं प्रधानं पुरुषं महान्तं, कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं, स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये" ॥६१॥

इत्यत्र परं परमेश्वरम्। तत्र हेतुः–स्वच्छन्दाः शक्तयो यस्य तमेवाह,–प्रधानं प्रकृतिरूपम्; पुरुषं तदधिष्ठातारम्; महान्तं महत्तत्त्वरूपम्; कालं तेषां क्षोभकम्; त्रिवृतमहङ्कारभूतं लोकात्मकं तत्पालकात्मकञ्च; तदेवं मायया प्रधानादिरूपतामुक्त्वा चिच्छक्त्या निष्प्रपञ्चतामाह,—आत्मानुभूत्या चिच्छक्त्यानुगतः स्वस्मिन् लीनः प्रपञ्चो यस्य तम्; कविं सर्वज्ञम्; प्रधानाद्याविर्भावसाक्षिणमित्यर्थ इति। अत्र पुरुषस्यापि मायान्तःपातित्वं तदधिष्ठातृतयोपचर्य्यत एव; वस्तुतस्तस्य तु तस्याः परत्वम्। तथा च श्रीकपिलदेववाक्ये (भा० ३.२६।३)—

"अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्" ॥६२॥ इति।

नामस्वरूपयोर्निरूपणेन महासंहितायामपि विविक्तं तत्त्रिशक्ति—

"श्रीर्भूर्दुर्गेति या भिन्ना जीवमाया महात्मनः। आत्ममाया तदिच्छा स्याद्गुणमाया जड़ात्मिका" ॥६३॥ इति

सर्वसम्वादिनी

स्यात्तदा तत्र पुनर्घटस्य संसर्गो न स्यादेव। तदेवं पूर्वयुक्तिभिरित्थं चापरिहार्यायां भेदवृत्तौ स्वगत-भेदवृत्तिस्तस्मिन्नस्त्येव।

ननु निर्भेदेऽपि तस्मिन्नित्यं स्वगत-भेद-प्रतीतिरपि मिथ्यैवास्तु,—शुक्तिरजतवदनिर्वचनीयत्वात्? मैवम्; प्राक्तनयुक्तिभिर्विज्ञानादि-भेदानां स्वरूपादपरिहरणीयत्वात्, अविद्या-तत्कार्यापोहावशिष्ट-तादृशस्वरूपे-

अनुवाद—

"आप परमेश्वर, प्रधान, पुरुष, महत्तत्त्व, काल, कवि, त्रिवत्, लोकपाल, निजानुभूति के द्वारा अनुगत प्रपञ्च, अर्थात् आप की चिच्छक्ति के द्वारा प्रपञ्च आप में लीन होता है। अतएव स्वाधीन शक्ति कपिल रूपी आप की मैं शरणागत हूँ।"

श्रीकपिलदेव के प्रति देवहूति के वाक्य की टीका में स्वामिपाद ने शक्तित्रय का वर्णन किया है। यथा—"आप पर, अर्थात् परमेश्वर, कारण—आप की शक्तिसमूह स्वच्छन्दशालिनी है, उक्त शक्ति शब्द वाच्या कौन है? कहते हैं—"प्रधान अर्थात् प्रकृति, उस के अधिष्ठाता पुरुष, महत्तत्व, महत्तत्त्व का क्षोभक काल, त्रिविदहङ्कार से उद्भूत लोक, एवं उक्त लोकपालक भी आप हो, आप ही एक होकर भी विभिन्न शक्ति से विलसित होते हैं।"

इस प्रकार माया शक्ति के द्वारा प्रधानादि रूप को कहकर चित्शक्ति के प्रभाव से निष्प्रपञ्चता को कहते हैं,—"आत्मानुभूति, अर्थात् चित्शक्ति द्वारा प्रपञ्च समूह जिन के मध्य में लीन होते हैं, वह आप 'कवि, सर्वज्ञ—अर्थात् प्रधानादि का आविर्भाव, लय, साक्षीस्वरूप" हैं।

यहाँ मायाधिष्ठाता रूप में पुरुष का मायान्तःपातित्व उपचरित होने पर भी, वस्तुतः—प्रकृति से पुरुष पृथक् एवं निर्गुण है। श्रीकपिलदेव की उक्ति भी उस प्रकार है—"आदि रहित, प्रकृति से पृथक्, निर्गुण, स्वयं प्रकाश, पुरुष, जो आत्मा, जिन का प्रकाश सर्वत्र अभिव्याप्त है, एवं जिन के द्वारा विश्व समन्वित है, अर्थात् जो विश्व का एकमात्र कारण हैं।" इसमें स्पष्टतः ही अनन्त शक्तिमत्तत्त्व उक्त है।

महासंहिता के नाम स्वरूप निरूपण में पृथक् शक्तित्रय का उल्लेख है। "उन महात्मा की अर्थात् परमेश्वर की जो जीवमाया है—वह श्री, भू, दुर्गा नाम से अभिहिता है। आत्ममाया—उन की इच्छा। गुणमाया—जड़ात्मिका।" यहाँ एक ही जैवीमाया विभिन्न कार्य्यावस्था में विभिन्न आख्या प्राप्त करती है।

अस्यार्थः—श्रीरत्र जगत्पालनशक्तिः; भूस्तत्सृष्टिशक्तिः, दुर्गा तत्प्रलयशक्तिः; तत्तद्रूपेण या भेदं प्राप्ता, सा जीवविषया तच्छक्तिर्जीवमायेत्युच्यते। पाद्मे श्रीकृष्ण-सत्यभामासंवादीय-कार्त्तिकमाहात्म्ये (७३।२३१) 'अहमेव त्रिधा भिन्ना तिष्ठामि त्रिविधैर्गुणैः' इत्येतद्वाक्यानन्तरम् (७३।२३३) "ततः सर्वेऽपि ते देवाः श्रुत्वा तद्वाक्यचोदिताः। गौरीं लक्ष्मीं धराञ्चैव प्रणेमुर्भक्तितत्पराः" ॥६४॥ इति।

एकादशे च (भा० ११।३।१६)—

"एषा माया भगवतः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि" ॥६५॥ इति।

आत्ममाया, मीयतेऽनयेति मायाशब्देन शक्तिमात्रमपि भण्यते (भा० १०।१३।४५)—

"तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्च्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः" ॥६६॥

इति ब्रह्मवाक्यं तथैव सङ्गच्छते। शक्तिमात्रस्य तारतम्यं हि तत्र विवक्षितम्। स्वल्पा शक्तिः खल्वनृतस्य सत्यस्य वा व्यञ्जिका भवतु नाम, पराभवाय कल्पत एवेति हि तत्र गम्यते, दृष्टान्ताभ्याञ्च तथैव प्रकटितम्। 'तम्यां तमोवत्' इत्यादिभ्याम्। तथा युद्धेषु मायामय-

सर्वसम्वादिनी

ऽप्यनिर्वचनीयत्वे सर्वमूल-नाशापत्तेः। न च यत्र यत्र निर्वक्तुमशक्यत्वम्, तत्र तत्र मिथ्यात्वमिति व्याप्तिरस्ति,—ब्रह्मण्यव्याप्तेः,—(तै० २।७।१) 'अनिरुक्तेऽनिलयने' इत्यादि-श्रुतेः। लोकेऽपि मिथो-विरोधि-गुणधारित्वेनैव युक्त्यसिद्धत्वादनिर्वचनीय-त्रिदोषघ्नैक-व्यक्तौषधिद्रव्यादि-दर्शनेन व्यभिचारः। अतएवाचिन्त्यो हि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभाव इति (महाभा० भीष्म-प० ५।१२, स्कान्दे च) 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण

अनुवाद—

श्री—जगत् पालनी शक्ति। भू—सृष्टि शक्ति, दुर्गा—प्रलयशक्ति, सृष्टि, स्थिति, लय रूप विभेद भी जीव के निमित्त है, सुतरां यह शक्ति जीवमाया नाम से अभिहित है।

पद्मपुराणीय श्रीकृष्ण-सत्यभामा संवाद में उक्त है—"मैं ही त्रिविध गुण के द्वारा त्रिविधाकार में अवस्थित हूँ" इसके अनन्तर—"उनके वाक्य से परिचालित होकर देवतासमूह भक्ति के साथ व्यस्त-समस्त होकर गौरी, लक्ष्मी, धरा को प्रणाम किए थे।"

एकादश स्कन्ध में उक्त है—"हमने आप के निकट श्रीभगवान् की सृष्टि-स्थिति, अन्त कारिणी त्रिवर्णा नामिका माया का वर्णन किया, सम्प्रति अपर किस विषय श्रवण करना चाहते हैं?"

पूर्वोक्त—आत्म माया अथवा इच्छा, भगवान् की स्वरूपशक्ति है।

अथवा माया शब्द की साधारण व्युत्पत्ति—"मीयते अनया" अर्थात् जिससे उन को जाना जाता है। इस प्रकार अर्थ करने से 'माया' शब्द से केवल शक्तिमात्र का ही बोध होता है। दशम स्कन्धोक्त ब्रह्माके वाक्य इसमें प्रकृष्ट प्रमाण है। "गाढ़ान्धकार रजनी में नैहारिक तम जिस प्रकार निज स्वतन्त्र क्षमता प्रकाश करने में सक्षम नहीं होता है। सूर्य्य किरणोद्भासित दिवालोक में खद्योत जिस प्रकार निज ज्योति प्रकाश में सक्षम नहीं होता है। तद्रूप महाशक्ति के निकट, क्षुद्र शक्ति निज सामर्थ्य परिचालन करने में सक्षम नहीं होती।"

ब्रह्मा के इस वाक्य से शक्ति का तारतम्य होने पर भी 'माया' शब्दसे केवल शक्ति का ही बोध हुआ है।

स्वल्प शक्ति काल्पनिक सत्य का प्रकाशक होने से भी परक्षण में वह पराभव का कारण हो जाता है, यहाँ का तात्पर्य्य "तम्यां तमो" इस श्लोकोक्त खद्योतादि दृष्टान्त द्वय के द्वारा प्रकटित हुआ है।

शस्त्रादिना बहवश्छिन्नभिन्ना जाता इति पुराणादिषु श्रूयते । ततः सा च माया मिथ्याकल्पिका न भवतीति गम्यते । न हि मरुमरीचिकाजलेन केचिदार्द्रा भवन्तीति ।

"स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः । अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्" ॥६७॥

इति चतुर्वेदशिखाख्या श्रुतिश्च तथैव प्रवर्त्तते । ततश्च "आत्ममाया तदिच्छा स्यात्" **इत्यत्र ज्ञान-क्रिये अपि लक्ष्येते । ज्ञानक्रियावृत्त्योरपीच्छोपलक्षितत्वात्तेऽपि गृह्येते । अतएव** "माया वयुनं ज्ञानम्" **इति निघण्टौ च पर्य्यायशब्दाः,—**

"गुणात्मिकाथ ज्ञानञ्च विष्णुशक्तिस्तथैव च । मायाशब्देन भण्यन्ते शब्दतत्त्वार्थवेदिभिः" ॥६८॥

इति शब्दमहोदधौ । त्रिगुणात्मिकात्र **जगत्सृष्ट्यादिशक्तिः । सा च द्विधेत्युक्तमेव ;** "माया स्याच्छाम्बरीबुद्ध्योः" **इति त्रिकाण्डशेषे;** "माया दम्भे कृपायाञ्च" **इति विश्वप्रकाशे, व्याख्यातञ्च टीकाकृद्भिरेकादशे** (भा० १२।१४।२७)**'कालो मायामये जीवे' इत्यत्र,** "मायाप्रवर्त्तके ज्ञानमये वा" **इति; नवमे** (भा० ९।२०।२७) **"दौष्मन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ" इत्यत्र टीका च—** "देवानामपि मायां वंभवम्" **इति; तृतीयेऽपि** (भा० ३।१५।२६)**—"आपुः परां मुदम्" इत्यादौ योगमायाशब्देन सनकादावष्टाङ्गयोगप्रभावं व्याख्याय परमेश्वरे तु चिच्छक्तिविलासो व्याख्यातः । ततस्त्रिभेदैवात्ममायेति सिद्धम् । यत्तु—**

सर्वसम्वादिनी

योजयेत्' इत्युक्तम् । तस्मात्तद्वदचिन्त्यस्वभावतया मिथो-विरोधि-धर्मवदेव तत्तत्त्वमित्युच्यताम् । तत्र तस्य तादृशत्वाज्ञाने वैद्यकविद्यैकानुगत-तन्निषेधकानुभवः प्रमाणम् । प्रस्तुतस्यापि वेदैकानुगत-विद्वदनुभव एव प्रमाणम् । तथा च पैङ्गी श्रुतिः—"यो विरुद्धोऽविरुद्धो मनुरमनुर्वागवागिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स

अनुवाद—

युद्धादि स्थल में मायिक शस्त्र का प्रयोग होता है । उक्त माया कार्य वस्तुत—मिथ्या कल्पित नहीं है । कारण माया होने से उससे विनाश कार्य्य नहीं होता । मरु मरीचिका के जल में कोई भी कभी आर्द्र नहीं होता है । सुतरां वह केवल कल्पना ही है ।

सुतरां माया मात्र ही श्रीभगवान् की स्वरूपभूता मायाख्या नित्य शक्ति है, शक्तियुक्त श्रीभगवान् हैं । कारण—"श्रीविष्णु को मायामय सनातन कहते हैं।" चतुर्वेद शिखादि श्रुति का संवाद भी उक्तरूप है । "आत्ममाया श्रीभगवान् की इच्छा" इस श्लोक में माया शब्द का उल्लेख है । उससे ईश्वर के ज्ञान-क्रियादि समूह का बोध होता है । निर्घण्टुकार—"माया, वपुन, ज्ञान" माया शब्द का पर्य्याय कहते हैं । शब्द महोदधि में उक्त है—"शब्द तत्त्वार्थवेदिगण त्रिगुणात्मिकाशक्ति, ज्ञान, विष्णुशक्ति को माया शब्द से कहते हैं ।" यहाँ त्रिगुणात्मिका शक्ति, पूर्वोक्त श्री, भू इत्यादि शब्दाभिहिता जगत् सृष्ट्यादि शक्ति है । त्रिगुणात्मिका शक्ति भी द्विविधा है—"माया एवं शाम्बरी बुद्धि" अर्थात् ऐन्द्रजालिकी विद्या, यह त्रिकाण्ड शेष का मत है । विश्व प्रकाश के मत में माया शब्द "माया दम्भ एवं कृपा" अर्थ में प्रयुक्त होता है । एकादश स्कन्धोक्त—"कालोमायामये जीवे" इस की टीका में "मायामय" शब्द का अर्थ—'माया प्रवर्त्तक ज्ञानमय जीव है ।' नवम स्कन्ध में—"दौष्मन्ति देवगण के वैभव को अतिक्रम किये थे । यहाँ माया का अर्थ 'वैभव' है । तृतीय स्कन्ध में—"मुनिगण उत्कृष्ट परमानन्द प्राप्त किये थे" यहाँ "योगमाया" शब्द से "सनकादि का अष्टाङ्ग योग प्रभाव" अर्थ कर परमेश्वर के सम्बन्ध में चित्शक्ति का विलास अर्थ किया है । यथा—"योगमाया बलेनेति अष्टाङ्गयोगप्रभावेनोपेत्य, परमेश्वरे योगमायेति चिच्छक्ति विलास इति द्रष्टव्यम् ।"

"महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च । प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छानन्त कथ्यते" ॥९९॥

इति जीवमायाया अपीच्छात्वं दृश्यते, तदिच्छाभासत्वेनैवेति ज्ञेयम् । जगत्कार्यहेतौ तस्यां साक्षात्तदिच्छात्वानभ्युपगमाद्गुणमाया त्रिगुणसाम्यं प्रधानमिति । अथवा (भा० १।७।२३)— 'त्वमाद्यः पुरुषः' इत्यादि-मूलपद्यमेवमवतार्य्यम्; श्रीवैकुण्ठे मायां निषेधन्नपि साक्षात्तामेवाह— 'त्वमाद्यः' इति । कैवल्ये मोक्षाख्ये श्रीवैकुण्ठलक्षणे आत्मनि स्वांश एव स्थितः । किं कृत्वा ? तत्रातिविराजमानया चिच्छक्त्या मायां दूरस्थितामपि तिरस्कृत्यैव । मतश्च तन्मायादिकं निषेधता श्रीशुकदेवेन (भा० २।९।१०)—

"प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः, सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे,-रनुव्रता यत्र सुरासुरार्च्चिताः" ॥१००॥ इति ।

"मोक्षं परं पदं लिङ्गममृतं विष्णुमन्दिरम्" इति पाद्मोत्तरखण्डे वैकुण्ठपर्य्यायशब्दाः ॥ अर्ज्जुनः श्रीभगवन्तम् ॥

२४ । अत ऊर्द्ध्वं गुणादीनां स्वरूपात्मतानिगमनात् स्वरूपशक्तिरेव पुनरपि विव्रियते यावत्सन्दर्भसमाप्ति । तत्र गुणानां स्वरूपात्मतामाहुः, (भा० १०।८७।३८)—

"स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः" ॥१०१॥

सर्वसम्वादिनी

परमात्मा" इति । अतएव श्रुत्यन्तरम्,—(कठ० १।२।९) "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति । एवं श्रीविष्णुपुराणे (६।८।५७) "यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वशक्ति-निलये मानानि नो मानिनां, निष्ठायै प्रभवन्ति" इति नारदपञ्चरात्रे च—

"विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकञ्चानेकभेदगम् । दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान्" ॥ इति ।

तदेवमतकर्यत्वात्तर्कमूला खण्डनविद्या नास्मिन् प्रयोक्तव्येत्यभिहितम् । अतएवोक्तं हंसगुह्यस्तवे,(भा०६।४।३१

अनुवाद—

अतएव पूर्वोक्त आत्ममाया त्रिविधा है । अथवा "त्वमाद्य पुरुषः" इस श्लोक की अवतारणा इस प्रकार हो सकती है । प्रथमतः श्रीवैकुण्ठ लोक में प्राकृतिक गुणमाया निषिद्ध होने पर भी साक्षात् सम्बन्ध में माया अर्थात् स्वरूपशक्ति वर्णित है । "आप निज अतिविराजमाना चित्शक्ति के प्रभाव में, दूरस्थिता जीव सम्मोहिनी-माया को तिरस्कार कर कैवल्य अथवा मोक्षाख्य निज श्रीवैकुण्ठ लोक में निज स्वरूप में विराजमान हैं ।"

श्रीमद्भागवत वक्ता श्रीशुकदेव स्वयं ही कहे हैं—"वैकुण्ठ में माया नहीं है, वैकुण्ठ धाम में रजस्तम, तन्मिश्रसत्त्वगुण भी नहीं है, वहाँ माया की अनवस्थिति निबन्धन उस के कार्य्य—रागद्वेषादि नहीं है, कालविक्रम, उत्पत्ति, विनाश प्रभृति नहीं है । वहाँ सुरासुरादिगण द्वारा सेवित श्रीहरि के नित्य पार्षदगण अवस्थान करते हैं ।"

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में मोक्ष शब्द का वैकुण्ठार्थ है । "मोक्ष, परपदाभिध, अमृत, विष्णुमन्दिर है ।" श्रीभगवान् के प्रति अर्जुन महाशय की यह उक्ति है ॥२३॥

इसके अनन्तर गुणसमूह की स्वरूपात्मता प्रकाश हेतु ग्रन्थ समाप्ति पर्य्यन्त पुनर्बार स्वरूपशक्ति का विवेचन होगा । सम्प्रति गुणसमूह की स्वरूपात्मता उक्त हो रही है ।

"जीव जब माया द्वारा अभिभूत होकर माया को आलिङ्गन कर रहता है, उससे वह देहेन्द्रिय की सेवा

टीका च—"स तु जीवो यद्यस्मादजया मायया अजामविद्यामनुशयीत आलिङ्गेत्, ततो गुणांश्च देहेन्द्रियादीन् जुषन् सेवमान आत्मया अध्यस्यन् तदनु तदनन्तरं सरूपतां तद्धर्मयोगञ्च जुषन्नपेतभगः पिहितानन्दादिगुणः सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति। त्वमुत त्वन्तु जहासि तामजां मायाम्। ननु सा मय्येवास्ति, कथं त्यागः? तत्राह—अहिरिव त्वचमिति। अयं भावः—यथा भुजङ्गः स्वगतमपि कञ्चुकं गुणबुद्धया नाभिमन्यते, तथा त्वमजां मायाम्। न हि निरन्तराह्लादि-सम्वित्कामधेनुवृन्द-पतेरजया कृत्यमिति तामुपेक्षसे, कुत एतत्? तदाह—आत्तभगो नित्य-प्राप्तैश्वर्य्यः। महसि परमैश्वर्य्ये अष्टगुणिते अणिमाद्यष्टविभूतिमति महीयसे पूज्यसे विराजसे। कथम्भूतः? अपरिमेयभगोऽपरिमेयैश्वर्य्यः। न त्वन्येषामिव देशकालपरिच्छिन्नं तवाष्टगुणितमैश्वर्य्यम्,अपि तु परिपूर्ण-स्वरूपानुबन्धित्वादपरिमितमित्यर्थः" इत्येषा। तथा च तत्रैव पूर्वमुक्तम् (भा० १०।८७।१४) "त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः" इति। यद्वा, अहिरिव त्वचमित्यत्र त्वक्शब्देन परित्यक्ता जीर्णत्वगेवोच्यते। स यथा तां

सर्वसम्वादिनी

"यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै, विवादसम्वादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं, तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने" ॥१३॥ इति।

युक्तञ्च परस्परविरोधि-शक्तिगणाश्रयत्वम्,—जगति दृष्ट-श्रुतानां परस्परविरोधिनां सर्वेषामेव धर्माणां युगपदेकाश्रयत्वात्। विद्वदनुभवश्चाग्रे बहुशो दर्शनीयः। अतस्तस्मिन् तादृश-शक्तयः सन्त्येव, किन्तु

अनुवाद—

कर आत्म विस्मृत होता है। तद्धर्मापन्न होकर जन्म-मृत्युरूप संसार प्राप्त वह करता है, नित्य प्राप्तैश्वर्य्य परमात्मा, अणिमादि अष्ट विभूतिमत् निज ऐश्वर्य्य में विराजित होकर सर्प जिस प्रकार निज कञ्चुक को त्याग करता है, तद्रूप आप भी माया को त्याग करते हैं।"

टीका—उक्त जीव, जिस समय माया द्वारा अभिभूत होकर अविद्या को आलिङ्गन कर देह-इन्द्रियादि के गुणसमूह की सेवा करता है, तब वह देहेन्द्रियादि स्वरूपत्व स्वभावविशिष्ट होकर निज आनन्दगुणपिहित होकर संसार को प्राप्त करता है।

किन्तु आप, उक्त माया को परित्याग करते हैं। यदि कहो कि माया मुझमें रहती है, उसको छोड़ना कैसे सम्भव हो? उसका दृष्टान्त सर्प की भाँति। अर्थात् सर्प जिस प्रकार निजाङ्गभूत कञ्चुक को निज मान कर परित्याग करता है, तद्रूप आप भी निज अङ्गभूता माया को निज मानकर उस को परित्याग करते हैं। कारण आप सच्चिदानन्द कामधेनुवृन्द पति हैं, अजा से कोई प्रयोजन नहीं है, इस बुद्धि से परित्याग करते हैं।

कैसे सम्भव है? आप आत्तभग हैं, निज प्राप्त ऐश्वर्य्य, निज अणिमादि अष्टविभूतिमति ऐश्वर्य्य में विराजित हैं। उक्त ऐश्वर्य्य किस प्रकार? "अपरिमेय है, वह देश-कालादि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु परिपूर्ण स्वरूपानुबन्धित्व वशतः नित्य ही अपरिमित है।"

श्रुति स्तुति में उक्त है—"आप निज स्वरूप से ही समस्त ऐश्वर्य्य को अवरुद्ध करके विद्यमान हैं।"

अथवा "अहिरिव त्वचं" यहाँ त्वक् शब्द से परित्यक्ता जीर्णा त्वक् को जानना होगा। सर्प जिस प्रकार निज त्वक् को त्याग कर अन्यत्र गमन करता है, कभी भी पुनर्वार उस के निकट नहीं जाता है, तद्रूप आप भी माया के निकट गमन नहीं करते हैं।

जहातीति तत्समीपमपि न व्रजति, तथा त्वमपि मायासमीपं न यासीत्यर्थः। अन्यत्र च (भा० १०।३७।२२) "विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया, समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम्" इति। तथोद्धवं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् (भा० ११।१५।३)—

"सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः" ॥१०२॥ इति।

अग्रे च (भा० ११।१५।५) "एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः" इति। अतएव दैत्यबालकान् प्रति श्रीप्रह्लाद-वाक्यम् (भा० ७।६।२३)—

"केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः। माययान्तर्हितैश्वर्य्य ईयते गुणसर्गया" ॥१०३॥ इति।

टीका च—"ननु स एव चेत् सर्वत्र, तर्हि सर्वत्र सर्वज्ञत्वाद्युपलभ्येत? तत्राह—गुणात्मकः सर्गो यस्यास्तया मायया अन्तर्हितमैश्वर्य्यं येन सः" इत्येषा। अत्र भगवदैश्वर्य्यस्य माययान्तर्हितत्वेन गुणसर्गयेति मायाया विशेषणविन्यासेन च तदतीतत्वं बोधयति, स्वरूपवत्। अतः परमेश्वर इति विशेषणमपि तत्सहयोगेन पूर्वमेव दत्तमिति ज्ञेयम्। श्रुतयश्च (श्वे० ४।५)—

"अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ॥१०४॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

तस्मिंस्तासामभिव्यक्त्युपलब्धौ प्राचुर्येण 'भगवत्'-संज्ञा; तदनुपलब्धौ प्राचुर्येण ब्रह्म-संज्ञेति विशेषः। अतएव श्रीविष्णुपुराणे (६।७।५३)—

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्। वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म-संज्ञितम्" ॥१४॥

इत्यत्र प्रत्यस्तमितेत्येवोक्तम्,—'अस्तम्'-शब्दस्यादर्शन-मात्रार्थत्वात्।

अनुवाद—

अन्यत्र उक्त है—"निज स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा आप निज समस्त कार्य्य सम्पन्न करते हैं। अतएव आप अप्रतिहतेच्छ विशुद्ध विज्ञानघनमूर्त्ति हैं।"

उद्धव के श्रीभगवद्वाक्य इस प्रकार है—"त्रिकालज्ञ योगप्रवीणगण, सिद्धि के धारणाविषय अष्टादश प्रकार कहते हैं। तन्मध्य में अष्ट प्रकार धारणा—मदीय शक्ति प्रधाना है, अपर दश—सत्त्वादि गुण प्रधान है।"

अतएव दैत्य बालकगण को प्रह्लाद महाशय कहे थे—"केवल शुद्धानन्दस्वरूप परमेश्वर, गुणमयी माया द्वारा निज ऐश्वर्य्य को आवृत करते हैं। अर्थात् उन की गुणमयी माया संसारी जीव के प्रति मोह विस्तार करती रहती है, अतः जीव के निकट श्रीहरि की महिमा अप्रकाशित रहती है।"

स्वामिपाद की टीका—"यदि श्रीभगवान् सर्वत्र ही विराजमान हैं,—तब सर्वत्र उन की सर्वज्ञतादि की उपलब्धि होनी चाहिये? उत्तर में कहते हैं—'गुणात्मक सृष्टि है, उक्त गुणात्मिका माया द्वारा जिन का ऐश्वर्य्य अन्तर्हित हुआ है, वह ही—"माययान्तर्हितैश्वर्य्यः माया कर्त्तृक अन्तर्हितैश्वर्य्यः"।

यहाँ श्रीभगवान् का ऐश्वर्य्य माया के द्वारा अन्तर्हित है, एवं माया को 'गुणसर्गा' विशेषणयुक्त करने से श्रीभगवत् स्वरूप जिस प्रकार मायातीत है उन का ऐश्वर्य्य भी तद्रूप मायातीत है जानना होगा। अतएव यहाँ परमेश्वर शब्द का विन्यास होने से उन का ऐश्वर्य्य नितरां मायातीत है।

श्रुति कहती है—"अजा, एका, लोहित, शुक्ल, कृष्ण, बहुप्रजा सृजमाना, स्व स्वरूप से अभिन्नाकारा है। एक अज है, जो प्रकृति अर्थात् उक्त माया की सेवा कर उसमें आसक्त हो जाता है। अपर अज,—

यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः ; किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मक ऐश्वर्य्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च; (श्वे० १।३) "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्" **इत्याद्याः । अत्र स्वगुणैरिति** (वि०पु० १।१६।७६) "यातीतगोचरा वाचाम्" **इत्युक्तैः स्वीयस्वभावैरित्यर्थः । अत्र श्रीविष्णुपुराणे षष्ठांशे** (६।५।५६) 'निरस्तातिशयाह्लाद-' **इत्यादि-प्रकरणं तदीय-श्रीधरस्वामि टीका चानुसन्धेया॥श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥**

२५ । तथा (भा० ११।१३।४०)—

"मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः" ॥१०५॥

टीका च—"कथम्भूताः ? अगुणा गुणपरिणामरूपा न भवन्ति, किन्तु नित्या इत्यर्थः" इत्येषा । तथा च नारदपञ्चरात्रे जितन्ते-स्तोत्रे—"नमः सर्वगुणातीतषड् गुणायादिवेधसे" **इति ; तदुक्तं ब्रह्मतर्के—**

"गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः । न विष्णोर्न च मुक्तानां क्वापि भिन्नो गुणो मतः"॥१०६॥ **इति।**

कालिकापुराणे देवीकृतविष्णुस्तवे—

"यस्य ब्रह्मादयो देवा मुनयश्च तपोधनाः । न विवृण्वन्ति रूपाणि वर्णनीयः कथं स मे ॥१०७॥

सर्वसम्वादिनी

तस्माद्द्वैताद्वैतादि-श्रुतीनां तस्मिंस्तत्तत्प्राधान्येन प्रवृत्तिरिति । तथा स च शक्तिरूपो धर्मोधर्मातिरिक्ते तस्मिन् वर्त्तत इत्यनेन किं निर्द्धर्मे धर्मो वर्त्तते ? किंवा, सधर्मे वर्त्तते ? इति विकल्प-कल्पना-प्रकारा अपि निरसनीयाः । तथा भवन्मतेऽपि किं साविद्ये ब्रह्मण्यविद्ये ? निरविद्ये वा ?—इत्यादिकं प्रष्टव्यञ्चेति कृतमतिविस्तरेण ।

अनुवाद—

अर्थात् नित्य बुद्ध परमात्मा, भुक्तभोगा माया को त्याग करते हैं, अर्थात् मायातीत अवस्था में अवस्थित होते हैं ।"

अतएव भगवान् यदात्मक हैं, उन का प्रकाश भी तदात्मिका है, अर्थात् उन की मूर्त्ति-धामादि भी तदात्मक है, यहाँ जिज्ञासा है कि—भगवान् किमात्मक हैं ? उत्तर,—श्रीभगवान् ज्ञानात्मक, ऐश्वर्य्यात्मक, शक्त्यात्मक हैं । "देवात्मशक्ति" इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी स्वकीय अचिन्त्यशक्तिमत्ता एवं ऐश्वर्य्य की उक्ति है, एवं 'स्वगुण' अर्थ में विष्णुपुराणोक्त "जो वाक्य का अतीत" है, उस के साथ एक-वाक्यता से स्वीय अचिन्त्य स्वभाव अर्थ विशेष ही सङ्गत है ।

श्रीभगवान् के प्रति श्रुतिगणों की यह उक्ति है ॥२४॥

"गुणपरिणामशून्य, साम्यासङ्गादि गुणनिकर, निर्गुण, निरपेक्ष, सुहृद्, प्रिय, आत्मास्वरूप मेरा भजन करते हैं ।" स्वामीपाद कहते हैं—उक्त गुणसमूह किस प्रकार है ? जो प्राकृत सत्त्वादि गुण परिणामरूप नहीं है, किन्तु नित्य एवं स्वाभाविक हैं । नारद पञ्चरात्र में उक्त है—"आदि विधाता सर्वगुणातीत होकर भी ऐश्वर्यादि षड् गुणसम्पन्न हैं, उन को नमस्कार करता हूँ ।" भगवद् गुणसमूह नित्य हैं । ब्रह्मतर्क में उक्त है—"सर्व नियन्ता ईश्वर, संसारादि दुःख हर्त्ता हरि, स्वरूपभूत निज गुण के द्वारा ही गुणनामधारण करते हैं । श्रीभगवान् श्रीविष्णु एवं मुक्तपुरुषगुण के गुणसमूह उनसे पृथक् नहीं है ।"

कालिका पुराणमें देवीकृत श्रीविष्णु स्तवमें उक्त है—"ब्रह्मादि देवगण तपोधन मुनिगण जिनके रूपादि का वर्णन करने में सक्षम नहीं हैं, उसका वर्णन मैं किस प्रकार कर सकती हूँ । इन्द्रादि सुरासुरगण जिनके

स्त्रिया मया ते किं ज्ञेया निर्गुणस्य गुणाः प्रभो। नैव जानन्ति यद्रूपं सेन्द्रा अपि सुरासुराः" ॥१०८॥इति।
श्रीहंसदेवः सनकादीन् ॥

२६। अन्यत्र च श्रीहंसवाक्यस्थितादिग्रहणक्रोड़ीकृतान् तान् बहूनेव (भा० १।१६।२७) **"सत्यं शौचम्" इत्यादिभिर्गणयित्वाह** (भा० १।१६।३०)—

"एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्" ॥१०९॥ इति।

टीका च—"एते एकोनचत्वारिंशत्; अन्ये च ब्रह्मण्यत्व-शरण्यत्यादयो महान्तो गुणा यस्मिन् नित्याः सहजा न वियन्ति न क्षीयन्ते स्म" इत्येषा। अत्र श्रीविष्णुपुराणम् (४।१।२७)

सर्वसम्वादिनी

तदेवं घट्टपालेष्विव निरस्तेषु निर्द्धर्मवादेषु सधर्मवादानां श्रीवैष्णवानां श्रीश्रीपुरुषोत्तम-पादपीठपरिसरं प्रति राजपथेनैव गतिः। तथा हि श्रीविष्णुपुराणे (१।३।१)—'श्रीमैत्रेय उवाच,

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः। कथं सर्गादि-कर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ? ॥१५॥

इत्यनन्तरं (२य-श्लो०) 'श्रीपराशर उवाच,

अनुवाद—

रूपसमूह परिज्ञात नहीं हैं, उन निर्गुण श्रीभगवान् के रूपगुणादि को स्त्री-रूपा मैं कैसे जानूँगी।"

उपनिषद् के "प्रज्ञानघन आनन्दमय" (मण्डुक ५) "आत्मा आनन्दमय" (तैत्ति, २।५।१) इत्यादि अनेक श्रुतियों में स्वरूपार्थ मयट् प्रत्यय निष्पन्न आनन्दमयादि शब्द से उन के गुणादि का अभेद प्रतिपादन ही हुआ है। "सर्वशक्तिनिलयः" (विष्णु पु० ६।८।७) सर्वशक्तिनिलय, इत्यादि विष्णुपुराण की उक्ति से उनके गुणों का नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है।

"सर्वैर्युक्ता शक्तिभिर्देवता सा परेति मां प्राहुरजस्रशक्ति।" (इति चतुर्वेदशिखायाम्) अतएव श्रीभगवान् गुणसमूह सर्वशास्त्र सम्मत नित्य है।

सनकादि के प्रति श्रीहंसदेव की उक्ति है ॥२५॥

अन्यत्र, प्रथम स्कन्धमें श्रीहंस वाक्यस्थित गुणादि को क्रोड़ीकृत करके "सत्यं शौचं" इत्यादि श्लोकोक्त गुणादि की गणना से "एते चान्ये च" श्लोक कथित है।

श्रीहंस वाक्यस्थित 'आदि' पद ग्रहण को क्रोड़ीकृत करके उक्त गुणादि का बहुत्व उक्त हुआ है। "हे भगवन्! महत्त्वकामिगण के एकान्त प्रार्थनीय गुणसमूह एवं अन्यान्य श्रेष्ठ गुणावली अक्षय रूपमें आप में वर्त्तमान है।"

स्वामिपाद की टीका—"ऊनचल्लिश प्रकार एवं ब्रह्मण्यत्व शरण्यत्व प्रभृति महागुण समूह नित्य रूपमें अर्थात् सहज, स्वाभाविक अक्षय रूपमें अवस्थित है। कभी भी अपसृत नहीं होते हैं।"

श्रीमद् भागवत में वर्णित गुणसमूह—

"सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्ज्जवम्। शमोदमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्य्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः। स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्य्यं मार्दवमेव च ॥
प्रागल्भ्यं प्रशयः शीलं सह ओजबलं भगः। गाम्भीर्य्यं स्थैर्य्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्म्मानोऽनहंकृतिः ॥"
(भा० १।१६।२६-२७)

सत्य, शौच, दया, क्षान्ति, त्याग, सन्तोष, सारल्य, शम, दम, तपः, समता, तितिक्षा, उपरति, श्रुत, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य्य, शौर्य्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, कान्ति, धैर्य्य, कोमलता, प्रतिभातिशय, विनय, शील, मनः पाटवता, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय पटुता, भोगास्पदता, गाम्भीर्य्य, स्थैर्य्य,

"कलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो, न यद्विभूतेः परिणामहेतुः" इति ।। श्रीपृथिवी श्रीधर्मम् ।।

सर्वसम्वादिनी

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।।१६।। इति;

व्याख्यातश्च श्रीधरस्वामिभिः।—"लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयोऽचिन्त्यं—तर्कासहं कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं यज्ज्ञानं तस्य गोचराः सन्ति; यद्वा, अचिन्त्याः—भिन्नाभिन्नत्वादि-विकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्ति-ज्ञान-गोचराः सन्ति। यत एवमतो ब्रह्मणोऽपि तास्तथाविधाः सर्गाद्याः

अनुवाद—

श्रद्धा, कीर्त्ति, पूज्यत्व, अनहङ्कार ये एकोनचत्वारिंशत् ३९ गुणों का उल्लेख है। ग्रन्थकार उक्त गुणों का अर्थ इस प्रकार किये हैं—

सत्य—यथार्थ भाषण, शौच—शुद्धता, दया—परदुःखासहन, शरणागत पालकत्व—भक्तसुहृदत्व उसमें अन्तर्निहित है। क्षान्ति—क्रोधोद्रेक में चित्त संयम, त्याग—वदान्यता। सन्तोष स्वतस्तृप्ति, आर्जव—अकौटिल्य, इसमें सर्वजीव शुभङ्करत्व निहित है। दम—वाह्येन्द्रिय संयम, तप—क्षत्रियत्वादि लीलावतारानुरूप धर्म प्रतिपालन, समता—शत्रु-मित्रादि बुद्धि का अभाव, तितिक्षा—स्व सम्बन्धीय परापराध सहन, उपरति—औदासीन्य, श्रुत—शास्त्र विचार। ज्ञान—पञ्चबिध,—बुद्धिमत्त्व, कृतज्ञत्व, देश-काल-पात्रज्ञत्व, आत्मज्ञत्व। विरक्ति—असद्विषयमें वितृष्णा, ऐश्वर्य्य—नियन्तृत्व, शौर्य्य—संग्रामोत्साह, तेज, प्रभाव अर्थात् प्रताप, ख्याति, बल—दक्षता अर्थात् अन्य दुष्कर क्षिप्रकारिता। स्मृति—कर्त्तव्यार्थ की अनुसन्धित्सा, स्मृति के पाठान्तर—धृति पद का अर्थ-क्षोभ का कारण विद्यमान होने से भी अव्याकुलता। स्वातन्त्र्य—अपराधीनता, कौशल—विविध क्रिया नैपुण्य, युगपत् भूरिकार्य्य समाधान चातुरी, कलाविलासज्ञ। कान्ति—कमनीयता, वह चार प्रकार है—अवयव, अङ्गादि, वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द एवं वयस की कान्ति होती है। उन के मध्य में रसगत अधर एवं चरण स्पृष्ट वस्तुनिष्ठ है। इससे नारीगण मनोहारित्व को भी जानना होगा। यह असाधारण धर्म है। धैर्य्य—अव्याकुलता, कोमलता—प्रेमार्द्र चित्तता, प्रेम वश्यता भी धैर्य्य में अन्तर्भूत है। प्रतिभातिशय—प्रागल्भ्य बावदूकता भी प्रतिभातिशय में अन्तर्भूत है। प्रश्रय—ह्रीमत्त्व, यथोचित सर्व सम्मान दातृत्व, प्रियम्बदत्व भी प्रश्रय में अन्तर्निहित है। शील—स्वभाव, इसमें साधुसमाश्रयत्व अन्तर्निहित है, "सह ओजो बलं भगः" अर्थात् मनः पाटव, ज्ञानेन्द्रिय पाटव, कर्मेन्द्रिय पटुता। भग—त्रिबिध, भोगास्पदत्व, सुखित्व, सर्वसमृद्धिमत्त्व। गाम्भीर्य्य—दुर्बोधाभिप्रायत्व, स्थैर्य्य—अचाञ्चल्य, आस्तिक्य—श्रद्धा, शास्त्र—चक्षु, कीर्त्ति—सादगुण्य ख्याति, इसमें सर्वरञ्जनत्व तन्तर्निहित है। पूज्यत्व—मानवत्व, अनहङ्कार, गर्वराहित्व इत्यादि तेषट् गुणों का उल्लेख है। एवं "एते चान्ये च" श्लोकस्थ 'चकार' से ब्रह्मण्यत्व, सर्वसिद्धि निषेवितत्व, सच्चिदानन्द विग्रहत्वादि का संग्रह हुआ है।

उस के मध्य में सन्तोषादि कतिपय गुण—भगवद्भक्त में भी विद्यमान है, एवं "महत्त्वकामिगण के प्रार्थनीय" उक्ति से वरीयस्त्व अर्थात् श्रेष्ठत्व भी एक गुण उनमें है। उक्त गुणसमूह श्रीभगवान् में पूर्ण एवं अविनश्वर रूपमें अवस्थित है। भक्तादि में अल्पत्व, अस्थिरत्व रूप में विद्यमान होते हैं।

अशेष 'श्री' का आस्पद अच्युत श्रीकृष्ण को नित्य निरीक्षण करके भी द्वारकावासिगण के नेत्र अतृप्त थे। यहाँ 'नित्य' 'न वियन्ति' उभय शब्द से सर्वदा स्वरूप में अवस्थित है। "स्व स्वरूपावस्थिति" रूप गुण का उल्लेख हुआ।

एतद्भिन्न जीवों के अलभ्य कतिपय नित्य गुण श्रीभगवान् में नियत विद्यमान है। यथा—सत्य सङ्कल्पत्व, वशीकृत अचिन्त्यमायत्व, आविर्भाव का विशेषत्व होने पर भी अखण्ड शुद्ध सत्त्वगुणों का एकमात्र आश्रयत्व, जगत् पालकत्व, हतारिगतिदायकत्व, आत्मारामगणार्कषित्व, ब्रह्मरुद्रादिनिषेवित्व,

२७। अतएवाह (भा० १०।२८।७)—

"नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने। न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना" ॥११०॥

यत्र भगवदादित्वेन त्रिधैव स्फुरति स्वरूपे माया न श्रूयते, तस्य तथा तथा स्फूर्त्तिर्मायया न भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—लोकसृष्टावेव विकल्पितुं सृष्टि-स्थिति-संहारैर्विविधमीशितुं शीलं यस्याः सा। अतएव भूगोलप्रश्ने हेतुत्वेन राज्ञाप्युक्तम् (भा० ५।१६।३)—"भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुम्" इति ॥ वरुणः श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

सर्गादि-हेतुभूता भावशक्तयः—स्वभावसिद्धाः शक्तयः सन्त्येव,—पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्। अतो गुणादिहीनस्याप्यचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद् ब्रह्मणः सर्गादि-कर्त्तृत्वं घटत इत्यर्थः। श्रुतिश्च (श्वे०।६।८)—'न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते' इत्यादिः; (श्वे० ४।१०) 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनञ्च महेश्वरम्' इत्यादिश्च। यद्वा, एवं योजना,—सर्वेषां भावानां (मणि-मन्त्रादीनां) पावकस्योष्णता-शक्तिवदचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः

अनुवाद—

परम अचिन्त्यस्वरूपशक्तिमत्त्व, नित्यनूतन अनन्त सौन्दर्य्यादि का आविर्भावकत्व, पुरुषावतार होकर भी मायानियन्तृत्व, जगत् सृष्ट्यादिकर्त्तृत्व, गुणावतारादि बीजत्व, अनन्त ब्रह्माण्डाश्रय रोमविवरत्व, वासुदेव, नारायणादि भगवत्त्वाविर्भाव में भी स्वरूपभूत परम अचिन्त्य अखिल महाशक्तिमत्त्व, स्वयं भगवल्लक्षण श्रीकृष्ण रूप में हतारिमुक्तिदातृत्व, निज विस्मापक रूपादि माधुर्य्यवत्त्व, अनिन्द्रिय अचेतन पर्य्यन्त अशेष सुखदातृत्व, स्व सान्निध्यत्व, यह सब एवं अन्य अशेष गुणसमूह श्रीभगवान् में नित्य विद्यमान हैं।

गुणों का अन्त न पाकर ब्रह्मा मुग्ध होकर कहे थे—

"गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्। हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ॥"

जगत् के मङ्गलविधान हेतु अवतीर्ण गुणात्मा आप की गुणावली वर्णन करने में कौन सक्षम है ? अर्थात् कोई भी नहीं। सुतरां वर्णित गुणसमूह के द्वारा जिनके गुणों का दिग्दर्शन मात्र हुआ है।

विष्णुपुराण में लिखित है—"कला मुहूर्त्तादि परिणामात्मक काल जिन की विभूति के परिणाम के हेतु नहीं हो सकता है।"

यह उक्ति धर्म के प्रति पृथिवी की है ॥२६॥

अतएव कथित है—"जहाँ लोक सृष्टि विकल्पना माया की कथा भी सुनने में नहीं आती है, उन परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ।

मूल श्लोक के आदि में "भगवते ब्रह्मणे परमात्मने" प्रथम भगवान् का उल्लेख होने से उक्त भगवत्तत्त्व परमात्म, तत्त्व, ब्रह्मतत्त्व—जीव की दृष्टि से स्फुरित होते है, किन्तु उक्त तत्त्व में माया का संस्पर्श उल्लिखित नहीं है। वह तत्त्व माया से नहीं हो सकता है। कारण माया का कार्य्य केवल लोकसृष्ट्यादि, सर्वदा सृष्टि-स्थिति-लयादि विविध कार्य्य में माया नियुक्ता है, उक्त कार्य्य सम्पादन स्वभाव,-ही माया का है। अतः भूगोल प्रश्न में परीक्षित् की उक्ति इस प्रकार है—"सत्त्वादि गुण के परिणामभूत श्रीभगवान् के स्थूल रूपमें आवेशित मन, अर्थात् जो स्थूल रूप की धारणा में अभ्यस्त है। उक्त मन अगुण, अप्राकृत सूक्ष्मतम, शुद्धसत्त्वमय, स्वयं प्रकाश वासुदेवादि आख्या से अभिहित षड़ैश्वर्य्य परिपूर्ण परब्रह्म श्रीभगवान् की धारणा में आविष्ट नहीं हो सकता है।" अर्थात् तत्रत्य ऋषियों के मध्यमें भक्तिमिश्र योगमार्गावलम्बि गण के चित्त में परिवर्त्तन लाने के लिए राजा परीक्षित् ने उस प्रकार प्रश्न की अवतारणा की।

"भगवतो गुणमये स्थूलरूपे" यहाँ भेद बोधिका षष्ठी विभक्ति है। "अगुणे भवति" यहाँ अभेद बोधक

२८। तथा (भा० २।५।१२-१३)—

"तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि। यन्मायया दुर्ज्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम् ॥१११॥
विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया। विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः"॥११२

तम-आदिमयत्वेन स्वस्य सदोषत्वात्, सच्चिदानन्दघनत्वेन यस्य निर्दोषस्य नेत्रगोचरे विलज्जमानया अमुया मायया विमोहिता अस्मदादयो दुर्धियः ॥ श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ॥

२९। तदेवमैश्वर्य्यादिषट्कस्य स्वरूपभूतत्वमुक्त्वा, श्रीविग्रहस्य पूर्णस्वरूपभूतत्वं वक्तुं प्रकरणमारभ्यते। तत्र तस्य तादृशत्वसचिवं (स्वरूपभूतत्वस्य सचिवम्) नित्यत्वं तावत् पूर्वदर्शित-तादृशवैकुण्ठाधिष्ठातृत्वेन सिद्धमेव। प्रपञ्चावतीर्णत्वेऽप्याह त्रिभिः (भा० १०।३।२५)—

"नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने, महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते, भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः" ॥११३॥

अतः शेषसंज्ञः। तत्र युक्तिः (भा० १०।३।२६)—

सर्वसम्वादिनी

सन्त्येव। ब्रह्मणः पुनस्ताः स्वभावभूताः स्वरूपादभिन्ना शक्तयः (श्वे० ६।८) 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यादि-श्रुतेः; अतो मणिमन्त्रादिभिरग्नचौष्णचवन्न केनचिद्विहन्तुं शकचन्ते। अतएव तस्य निरङ्कुशमैश्वर्य्यम्;—(बृ० ४।४।२२) 'स वा अयमस्य सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्यादि-श्रुतेः। 'तपतां श्रेष्ठ' इति सम्बोधयन् या काचिदपि तपः-शक्तिः, सा तस्यैवेति

अनुवाद—

सामानाधिकरण के द्वारा गुणातीत श्रीभगवान् का बोध होता है।

यह उक्ति श्रीभगवान् के प्रति वरुणदेव (भा० ५।११।३) की है ॥२७॥

भा० २।५।१२-१३ ब्रह्मा की उक्ति इस प्रकार है—"मैं उन भगवान् वासुदेव को प्रणाम करता हूँ। जिन की दुर्जय माया के प्रभाव से मुझको भी लोक जगत्गुरु कहते हैं। जो माया लज्जिता होकर मेरे दृष्टि पथ में नहीं रहती है, उससे विमोहित होकर अज्ञ जनगण 'मैं' 'मेरा' अभिमान करते रहते हैं।"

माया—तमोमयता निबन्धन निज को सदोष जानकर एवं सच्चिदानन्दमयता निबन्धन श्रीभगवान् को निर्दोष जानकर सम्मुख में आ नहीं सकती है। उक्त विलज्जमाना माया कर्त्तृक विमोहित होकर अस्मदादि अज्ञ जनगण अहं ममाभिमान से वशीभूत हो जाते हैं।

नारद के प्रति श्रीब्रह्मा की यह उक्ति है ॥२८॥

श्रीभगवद्विग्रह की पूर्ण स्वरूपभूतता।

श्रीभगवद् गुणसमूह की स्वरूपभूतता प्रतिपादन करके सम्प्रति श्रीविग्रह की स्वरूपभूतता प्रतिपादन करते हैं। पहले श्रीवैकुण्ठाधिष्ठाता रूपमें श्रीभगवान् को कहने से ही उनके श्रीविग्रह भी नित्य स्वरूपभूत ही है, यह प्रतिपादन हुआ। तथापि—श्रीभगवान् जब प्रकटलीला में एक पाद विभूति में अवतीर्ण होते हैं, उस समय भी श्रीभगवान् के श्रीविग्रह नित्य एवं स्वरूपभूत है। निम्नोद्धृत श्लोकत्रय के द्वारा उस को कहते हैं।

प्रभो! द्विपरार्द्ध काल समाप्त होने से (महाप्रलय में) चराचर लोक—महाभूत में, महाभूत—सूक्ष्मभूत में, सूक्ष्मभूत—अव्यक्त प्रधान में, एवं अशेषात्मक प्रधान—आप में लीन होने से एकमात्र आप ही शेष संज्ञा से अभिहित होकर अवस्थित होते हैं।

अथवा "अशेष जो वैकुण्ठादि लोक है, उन नित्य लोकादि संज्ञासे अभिहित होते हैं। अर्थात् आप स्वयं

"योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो, चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां,-स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये" ॥११४॥

हे अव्यक्तबन्धो सान्निध्यमात्रेण प्रकृतिप्रवर्त्तक ! चेष्टां निमेषोन्मेषरूपाम् । श्रुतिश्च (महा०ना० १।८)—"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इति । सर्वे निमेषादयः कालावयवा विशेषेण द्योतते विद्युत्, पुरुषः परमात्मेति श्रुतिपदार्थः । सर्वत्र सृष्टि-संहारयोर्निमित्तं काल एव, तस्य तु त्वदङ्गचेष्टारूपत्वात्तौ तत्र न संभवत एवेति भावः । तत्र हेत्वन्तरम्—क्षेमधामेति । त्वा त्वाम् । अत्र स्वाभीष्टात्तस्मादाविर्भावादेव कंसभयं कैमुत्येन वारितवती । तथैव स्पष्टं पुनराह (भा० १०।३।२७)—

"मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्, लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत् पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य, स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति" ॥११५॥

सर्वसम्वादिनी

सूचयति । यत एवमतो ब्रह्मणो हेतोः सर्गाद्या भवन्ति, नात्र काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः इति ।

अत्र (श्वे० ४।१०) 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यत्र मायाया अपि स्वभावत्वमुक्तम्, प्रकृतेस्तत्पर्य्यायत्वात् । अतएव 'मायिनम्' इति नित्ययोग एव मत्वर्थीयः । महेश्वरे मायास्तीति महेश्वरत्वं तु तस्य मायातः परमिति

अनुवाद—

ही नित्य लोकादि समस्त रूपमें अवस्थित रहते हैं । आप को जानने से सब कुछ जान सकते हैं । उस समय ब्रह्मादि स्थावरान्त गुणमय पदार्थसमूह नहीं रहते हैं । एकमात्र आप रहते हैं ।" अतः आप को "शेष" नाम से बुधगण कहते हैं । उक्त पक्ष में युक्ति भी है ।

"हे अव्यक्त बन्धो ! निमेषादि वत्सरान्त काल है, जिसकी वत्सरादि की आवृत्ति से क्रमश—द्विपरार्द्ध आख्या होती है, जिस काल के अन्त में अखिल प्रपञ्च का लय होता है । पुनश्च जिस काल से ब्रह्मादि स्थावरान्त विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है, वह काल आप की चेष्टा है । अतएव हे सर्वेश्वर—अशेष सुख मङ्गलैक निलय ! मैं आप की शरण में आता हूँ । कारण आप प्रपन्न को अक्लेश से भयमुक्त करते हैं ।"

स्वामिपाद चेष्टा शब्द का "चेष्टां लीलां चेष्टते" अर्थ किए हैं । इससे प्रापञ्चिक जगत् सृष्ट्यादि कार्य्य भी श्रीभगवान् की लीला विशेष है, सूचित हुआ है ।

"अव्यक्त बन्धो ! सम्बोधन शब्द से जो सान्निध्य मात्र से ही प्रकृति प्रवर्त्तक हैं, एवं "चेष्टां" अर्थ से निमेष-उन्मेष कार्य्य रूप अर्थ भी सूचित है ।

श्रुति—निमेष प्रभृति पुरुष से होते हैं । अर्थात् निमेषादि समस्त ही काल के अवयव हैं । जो विशेष रूप से द्योतित होता है वह विद्युत है । पुरुष का अर्थ—परमात्मा, सुतरां सर्वत्र ही सृष्टि संहारादि कार्य्य के निमित्त एकमात्र काल ही उपलक्ष है, वह काल भगवान् की अङ्ग चेष्टा है । उससे उक्त सृष्टि संहार कार्य्य होना सम्भव नहीं है, यहाँ का यह ही तात्पर्य्य है । इस पक्ष में हेत्वन्तर—"क्षेमधाम" अर्थात् मङ्गलैक निलय ! इस शब्द से कैमुतिक न्याय से "स्वीय अभीप्सित आविर्भाव से ही कंस भय विदूरित हुआ है ।" सूचित होता है ।

परवर्त्ती श्लोक से उक्त विषय सुप्रकाशित हुआ है—"हे आदि पुरुष ! हे सर्वश्रेष्ठ ! मृत्यु के कराल ग्रास से भीत मर्त्यवासिगण उस के कवल से आत्मत्राण हेतु पलायन करते करते ब्रह्मादि लोक को जाकर भी निर्भय नहीं हुये । किसी अनिर्वचनीय भाग्योदय से आप के चरण पद्म की छाया को प्राप्तकर वे सब निर्भय से शयन करते हैं, अर्थात् स्वाच्छन्द्य सुखानुभव करते हैं । कारण, मृत्यु वहाँ से दूरमें अपसृत हो गई है ।"

लोकान् प्राप्य निर्भयं भयाभावम्; त्वत् पादाब्जन्तु प्राप्येत्युभयत्राप्यन्वयः। अत्र त्वत्-पादाब्जमिति श्रीविग्रहमेव तथा विस्पष्टं साधितवती। अतएव 'अमृतवपुः' इति सहस्रनाम-स्तोत्रे; 'मृतं मरणं तद्रहितं वपुरस्येत्यमृतवपुः' इति शाङ्करभाष्येऽपि। आद्येति जन्माभावोऽपि दर्शितः। सजन्मनि सर्वत्र सादित्वस्यैव सिद्धेः। तदुक्तम् (भा० १०।३।८) "प्रादुरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" इति। श्रुतिश्चात्र—"स ब्रह्मणा सृजति, स रुद्रेण विलापयति, सोऽनुत्पत्तिरलय एव हरिः परः परमानन्दः" इति महोपनिषदि॥ श्रीदेवकीदेवी श्रीभगवन्तम्॥

३०। तथा (भा० ५।२५।९) "उत्पत्तिस्थितिलय-" इत्यादिपद्ये "यद्रूपं ध्रुवमकृतम्" इति;

सर्वसम्वादिनी

व्यक्तम्। उत्तरस्यां योजनायां मायायाः स्वरूपादभिन्नत्वम्,—वहिरङ्गत्वेऽपि तदेकाश्रयत्वात्। ततः सुनरामेव सा महेश्वरत्व-व्यञ्जिकान्या शक्तिः स्वरूपभूतेति। तथा प्रथमायां योजनायां 'सर्गाद्याः' इत्यत्र 'आद्याः'-ग्रहणेन स्थिति-प्रलयमय्यो जगत्कार्य्याः शक्तयो गृह्यन्ते। स्वरूपैश्वर्य्यादि-प्रकाश-वृत्तिक-शक्तयोऽपि शक्तित्वेनैकचेऽपि बहुत्व-निर्द्देशस्तत्तद्वृत्तिभेद-विवक्षया।

अनुवाद—

यहाँ मृत्यु—जन्म-मरणादि संसरण है। वह ही व्याल (सर्प) स्वरूप है, उस के ग्रास से आत्मरक्षा के निमित्त पलायन। सुतरां "मर्त्यों" शब्द से मरणधर्मी का बोध होता है। "लोकान्" शब्द से क्रममुक्ति क्रमानुसार भिन्न भिन्न लोक का बोध होता है, लोक शब्द का उपाय अर्थ भी है। (लोकयन्ते उपायत्वेन अध्यवस्यन्ते इति लोकाः उपायाः) अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगादि उपाय समूह को अवलम्बन कर स्वाच्छन्द्य सुख लाभ न होने से किसी अनिर्दिष्ट सुकृति के परिपाक से भगवद्भक्ति पथ की स्वादुस्निग्ध छाया को प्राप्त कर अनायास से त्वदीय पादपद्म के मकरन्दास्वाद से मृत्युशून्य होकर स्वाच्छन्द्य सुखलाभ लोक करते हैं।"

कारण भक्ति पथावलम्बन कर गमन करने से पतन—पद स्खलन की आशङ्का नहीं रहती है। "धाव-न्निमिल्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह" (भा० ११।२।३५) अनायास संसार भय से लोक उत्तीर्ण हो जाते हैं। सुतरां त्वदीय लोक प्राप्ति अथवा पादपद्म की प्राप्ति ही एकमात्र निर्भयत्व का कारण है।

यहाँ "अब्ज" शब्द प्रयोग से उस की स्वतः पुरुषार्थता ध्वनित हुई है। एवं प्रकरण की एकार्थता निबन्धन यह श्लोक ब्रह्म पर नहीं है, उस का लाभ स्वतः ही होता है। कारण—"त्वत् पादाब्जं" शब्द का प्रयोग श्रीभगवान् को लक्ष्य कर ही हुआ है।

अतएव सहस्रनामस्तोत्र में "अमृतवपुः" नाम से श्रीभगवान् को कहा गया है। श्रीपाद आचार्य्य श्रीशङ्कर कहते हैं—"मृतं मरणं तद्रहितं वपुः" अर्थात् "मरण रहित नित्य विग्रह है जिनका" "आद्य" शब्द प्रयोग से "जन्म रहित" बोध होता है। कारण सजन्मा का ही सादित्व है, वहाँ अनादि आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

श्रीदेवकी देवी से श्रीभगवान् का जन्म में आशङ्का की सम्भावना नहीं है। इसमें "प्रादुरासीत्" शब्द का प्रयोग हुआ है। पूर्वदिक् में पूर्ण चन्द्र के समान आविर्भूत हुये थे। महोपनिषद् में वर्णित है—"सर्वश्रेष्ठ परमानन्द स्वरूप हरि स्वयं उत्पत्ति लय परिशून्य होकर भी ब्रह्मा से सृष्टि एवं रुद्र के द्वारा लय कार्य्य कराते हैं।"

अतएव प्रपञ्चमें प्रकटित श्रीभगवान् श्रीविग्रह भी नित्य परिपूर्ण षड़ैश्वर्य्य है, उसका स्पष्टीकरण हुआ। श्रीभगवान् के प्रति श्रीदेवकी देवी की उक्ति है।।२९।।

श्रीभगवद् विग्रह की नित्यता के सम्बन्ध में भा० ५।२५।९ "उत्पत्तिस्थितिलय" इत्यादि श्लोक में "जिनके रूप 'नित्य' एवं 'अकृत' कहा गया है। अर्थात् सङ्कर्षण के रूप अनन्त एवं अनादि है। अतएव

यस्य श्रीसङ्कर्षणस्य रूपं ध्रुवमनन्तं अकृतश्चानादि । अतएव वर्षाधिपोपासना-वर्णने भवेनापि तद्रूपमधिकृत्योक्तम् (भा० ५।१७।१९)—"न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि,-र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते" इति । यत्तु तत्र तदेव रूपमधिकृत्य श्रीशुकेन (भा० ५।२५।१)—"या वै कला भगवतस्तामसी" इति; तथा (भा० ५।१७।१६) "भवानीनाथैः" इत्यादि-गद्ये "तामसीं मूर्त्ति" इत्युक्तम्, तन्निजांश-शिवद्वारा तमोगुणोपकारकत्वेन ज्ञेयम् । 'उत्पत्तिस्थितिलय-" इत्यादि-पद्यानन्तरं श्रीशुकेनैव श्रीनारदवाक्यमनूक्तम् (भा० ५।२५।१०)—"मूर्त्ति नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं, संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र" इति । तस्मान्नित्यमेव सर्वं भगवद्रूपम् । तथा च पाद्मोत्तरखण्डे तत्स्तुतिः—"अनादिनिधनानन्तवपुषे विश्वरूपिणे" इति । यदत्र स्कान्दादौ क्वचिद्भ्रामकमस्ति, तत्तु तत्तत्पुराणानां तामसकल्पकथामयत्वात्तत्तत्कल्पेषु च श्रीभगवता स्वमहिमावरणाद्युक्तमेव तदिति न भगवत्तत्त्वप्रतिपादनपरम्, शुष्क-वैराग्य-शिवमहिमादि-तात्पर्य्यकत्वात् । ततस्तत्परत्वाभावान्न तत्र याथार्थ्यञ्च । तथाविधं शिवादिप्रतिपादकं शास्त्रञ्च वैष्णवै र्न ग्राह्यमिति स्कान्द एव षण्मुखं प्रति श्रीशिवेनोक्तम् "शिवशास्त्रेऽपि तद्ग्राह्यं विष्णुशास्त्रोपयोगि यत्" इति । अतएव पाद्मोत्तरखण्डादौ (९३ अ०) तथाविधपुराणानामपि तामसत्वमेवोक्तम् । न चैवं तेषां पुराणानामप्रामाण्यमापतितम्, परमात्म-सन्दर्भे दर्शयिष्य-

सर्वसम्वादिनी

अत्र श्रीरामानुज-शारीरकेऽपीत्थं लिखितम्—(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये दशम अनु०) "यदि निर्विशेष-ज्ञानरूप-ब्रह्माधिष्ठान-भ्रम-प्रतिपादन-परं शास्त्रम्, तर्हि 'निर्गुणस्य' इत्यादि चोद्यम्, 'शक्तयः' इत्यादि-परिहारश्च न घटते । तथा हि सति निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादि-कर्त्तृत्वम् ? न ब्रह्मणः पारमार्थिकः सर्गः; अपि तु भ्रम-कल्पित इति चोद्यपरिहारौ स्याताम् । उत्पत्त्यादि-कार्य्यं सत्त्वादि-गुणयुक्तापरिपूर्ण कर्मवश्येषु दृष्टमिति तत्तद्भाव-रहितस्य कथं

अनुवाद—

वर्षाधिप वर्णन प्रसङ्ग में महादेव कर्त्तृक भगवद्रूप उक्त है । "मायागुण युक्त चित्तवृत्ति द्वारा निरीक्षणकारी की दृष्टि जिन को दर्शन करने में अणुपरिमाण भी सक्षम नहीं होती है ।"

श्रीशुकदेव भी उक्त भगवद्रूप के सम्बन्ध में कहते हैं—"जो भगवान् की तामसी कला है ।" अनन्तर "भवानीनाथ" इत्यादि पद्य के अवलम्बन से "तामसी मूर्त्ति" इत्यादि का कथन हुआ है। वह तदीय निजांश शिव के द्वारा तमोगुणोपकारकत्वरूप प्रकटित है ।

उत्पत्त्यादि का विषय को वर्णन कर श्रीशुकदेव द्वारा श्रीनारद महाशय के वाक्य के बाद कथित हुआ है। "हमारे प्रति अत्यन्त कृपालु होकर जो शुद्ध सत्त्वमय मूर्त्ति धारण करते हैं। जिसमें सत्-असत् विभावित है ।" सुतरां श्रीभगवान् के रूप समूह नित्य हैं, प्रतिपादित हुआ है ।

पाद्मोत्तर खण्ड में स्तुति भी निम्नोक्तरूप है—"जो अनादि, अर्थात् समस्त आदि तत्त्वों के आदि, निधन, अर्थात् प्रपञ्चादि समस्त पदार्थों का आश्रयस्वरूप, जो स्वयं अनिहत अवस्था में अवस्थित हैं, उन अनन्तमूर्त्ति विश्वरूपी श्रीभगवान् को प्रणाम करता हूँ ।"

स्कन्द पुराणादि में श्रीविग्रह के सम्बन्धमें जो भ्रामक उक्ति है, वह पुराणादि में तामस कल्प की कथा है। कारण उस उस कल्प में श्रीभगवान् निज महिमा को गोपन करते हैं। अतएव तामसादि कल्प में तादृश उक्ति असङ्गत नहीं है ।

श्रीमद्भागवत में भी "एवं वदन्ति राजर्षे" इस श्लोक में "तामस कल्पोक्त भगवद् महिमा की न्यूनता

माणेन मत्स्यपुराणवचनानुसारेण तामस-राजस-कल्पकथामयत्वं तेषाम्, सात्त्विककल्पकथामयत्वन्तु विष्णुप्रतिपादकानां तत्तद्गुणमयत्वमिति तत्तत्कल्पं प्राप्य श्रीविष्णुरेव तथात्मानं प्रत्यायत इति। तथा तथैव च तत्तत् पुराणं प्रस्तौति। तस्माद् यथादृष्टमेव तत्तद्वचनं नान्यथात्वं वहति। किन्तु (गी० १४।१७) "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्" इति ब्रह्मकाण्डस्येव सात्त्विकपुराणानां सर्वोर्द्ध्वज्ञानमित्येव लभ्यते; तच्च सात्त्विकपुराण एव दृश्यते च; तदपि परमात्मसन्दर्भे लेख्यम्। पाद्म-पातालखण्ड-वैशाखमाहात्म्ये च (५६।२६) "व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमाः" इत्युक्तम्। श्रीभागवतेनापि (भा० १०।७७।३०)—'एवं वदन्ति राजर्षे' इत्यादिना तादृशं मतं न मतम्, तदिदन्तु श्रीकृष्णसन्दर्भे विशिष्य स्थापयिष्यामः। स्वमतन्तु (भा०१।१६।२७ "सत्यं शौचं दया क्षान्तिः" इत्यादिना श्रीपृथिवीवाक्येन कान्ति-सह-ओजोबलानामपि स्वाभाविकत्वमव्यभिचारित्वञ्च दर्शयता दर्शितम्, (भा० १०।३।२५) "नष्टे लोके" इत्यादिना श्रीदेवकीदेवीवाक्येन च। तस्मात् साधूक्तम् (भा० ५।२५।६)—"यद्रूपं ध्रुवमकृतम्" इति॥ श्रीशुकः॥

३१। विभुत्वमाह (भा० १०।६।१३-१४)—

"न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं वहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥११६॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा"॥११७॥

टीका च—"बन्धनं हि वहिः परिवृतेन दाम्नाऽन्तरावृतस्य भवति, तथात्र पूर्वापर-

सर्वसम्वादिनी

सम्भवतीति चोद्यम्। दृष्ट-सकल-विसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदित स्वभावस्यैव जलादि-विजातीयस्याग्न्यादेरौष्ण्यादिशक्तियोगवत् सर्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः" इति।

श्रीभगवदुपनिषत्सु (१३।१३—१८) च स्वभावशक्तिमत्त्वेनैवोपदिष्टम्,—

अनुवाद—

को स्वीकार करना उचित नहीं है" कहा है। श्रीकृष्ण सन्दर्भ में इस विषय में कहेंगे।

श्रीभगवान् की मूर्त्ति एवं महिमा के सम्बन्ध में निजाभिमत "सत्य-शौच-दया-क्षान्ति इत्यादि का—" श्रीशुकदेव पृथिवी देवी के कथन द्वारा प्रकट किए हैं, अर्थात् श्रीभगवान् की कान्ति के सहभाव से ओजो बलादि की स्वतः सिद्धता, नित्यता, अव्यभिचारिता का वर्णन किए हैं, एवं "नष्टे लोके" अर्थात् "द्विपरार्द्ध काल गत होने से" इत्यादि देवकी देवी का कथन भी उद्धृत हुआ है।

अतएव "जिनके रूप ध्रुव एवं अकृत हैं" उक्ति सुसङ्गत है। यह श्रीशुकदेव की उक्ति है॥३०॥

पूर्वोक्त श्रीभगवद्विग्रह ही विभु है। श्रीभगवद् विग्रह के विभुत्व के सम्बन्ध में कहते हैं—"जिनके अन्दर-बाहर नहीं है, पूर्वापर नहीं है, जो जगत् के पूर्वापर-बहिरन्तरस्वरूप हैं, यहाँतक जो स्वयं ही जगत् हैं, उन अव्यक्त मनुष्य मूर्त्तिधारी अधोक्षज को 'यशोदा' आत्मज मानकर सामान्य बालक के समान रज्जु के द्वारा उलूखल में बाँधी थी।"

स्वामिपाद की टीका—"मध्यमें अवस्थित वस्तु का बन्धन बाहर से रज्जु वेष्टन द्वारा होता है। अर्थात्

विभागवतो वस्तुनः पूर्वतो दाम धृत्वा परितः परिवेष्टनेन भवति, न त्वेतदस्तीत्याह—न चान्तरिति। किञ्च, व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति, तच्चात्र विपरीतमित्याह, पूर्वापरमिति। किञ्च, तद्व्यतिरिक्तस्य चाभावान्न बन्ध इत्याह,—जगच्च य इति। तं मर्त्त्यलिङ्गमधोक्षज-मात्मजं मत्वा बबन्धेति" इत्येषा। जगच्च य इत्यत्र यस्य कारणस्य व्यतिरेकेण कार्य्यस्य जगतो व्यतिरेकः स्यादिति तदनन्यस्य जगतस्तच्छक्त्यैव शक्तेस्तदंशांशरूपया रज्ज्वा कथं तस्य बन्धः स्यात्? न हि बह्निमर्चिषो दहेयुरिति भावः। "तं मर्त्यलिङ्गम्" इत्यादौ टीकाकृतामयमभिप्रायः—ननु सर्वव्यापकं कथं बबन्ध, न हि ब्रह्माण्डगोलकादिकमपि कश्चिद्-बध्नाति? तत्राह–मर्त्यलिङ्गं मनुष्य-विग्रहम्। तर्हि कथं व्यापकत्वम्? तत्राह–अधोक्षजम्, अधःकृतमिन्द्रियजं ज्ञानं येन तम्,सर्वेन्द्रियज्ञानागोचरं प्रत्यक्षादि-प्रमाणैरचिन्त्यस्वरूपमित्यर्थः। तस्मात्तदाकारत्वेऽपि तस्मिन् विभुत्वमस्त्येवेति भावः। अधोक्षजत्वादेवाव्यक्तत्वमपि व्याख्या-

सर्वसम्वादिनी

"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१७॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१८॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१९॥
वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थञ्चान्तिके च तत् ॥२०॥

अनुवाद—

पूर्वापर विभाग विशिष्ट वस्तु के एक देश से रज्जु ग्रहण पूर्वक, अपर भाग के बेष्टन से बन्धन कार्य्य सम्पन्न होता है। श्रीभगवान् के सम्बन्ध में ईदृश बन्धन नहीं हो सकता है। "जो जगत् के पूर्वापर-बहिरन्तर स्वरूप है," इत्यादि पद से उस का वैपरीत्य उक्त है। सुतरां पूर्वापरादि का विपरीत भाव के अभाव से बन्धन की सम्भावना ही कहाँ है?

उसके अनुकूल में कथन—"जो जगत्स्वरूप हैं, उन अधोक्षज मनुष्यमूर्त्तिधारी आपको आत्मज मानकर बन्धन किए।"

स्वामिपाद के अभिप्रायानुसार यहाँ श्रीभगवान् की विभुत्वावस्था होने पर भी आप स्वीय नित्य विग्रह में यशोदा देवी की रज्जु का व्याप्य हो गये। यह दर्शाया गया।

"जगच्च यः" यहाँ कारण स्वरूप जिनके व्यतिरेक से कार्य्यभूत जगत् का व्यतिरेक होता है। उस कारण से अनन्य जगत् है। उनकी शक्ति से अभिव्यक्त होकर जगदाख्या से उपलब्धि का विषय होता है, उस जगच्छक्ति के अंशांशभूत रज्जु के द्वारा कैसे उन का बन्धन हो सकता है? कारण अग्नि का स्फुलिंग कभी भी प्रसूत अग्नि को जला नहीं सकता।

"तथापि मनुष्याकार" इत्यादि शब्द के अभिप्राय से सर्वव्यापक का बन्धन कैसे हुआ? ब्रह्माण्ड गोलक को बाँधा नहीं जा सकता। तब ब्रह्माण्ड के अधिपति अथवा आश्रय की बन्धनसम्भावना कहाँ है? उत्तर में कहते हैं—मनुष्य विग्रह, मनुष्य विग्रह होने से व्यापकत्व की सम्भावना कहाँ? सयौक्तिक उत्तर —"अधोक्षजं" अर्थात् जो इन्द्रियजन्य ज्ञान को अधःकृत किए हैं। सुतरां सर्वप्रकार से सर्वेन्द्रिय ज्ञानागोचर स्वरूप भगवान् को प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जाना नहीं जाता है, अतएव प्रमाण के द्वारा जिस स्वरूप की चिन्ता भी नहीं की जा सकती है, इस प्रकार श्रीभगवान् की मूर्त्ति, श्रीविग्रह,—मनुष्याकार होने से भी उसमें विभुत्व नित्य ही वर्त्तमान है।

विशेषतः अधोक्षजत्व धर्म के द्वारा उन का अव्यक्तत्व की भी व्याख्या हुई है। यह ही टीकाकार का अभिमत है।

तमिति तत्रोद्धृतम्। ननु मनुष्यविग्रहत्वेऽप्यपरित्यक्तविभुत्वं कथं मातुर्नास्फुरत्? तत्राह,—आत्मजं मत्वेति। वत्सलाद्यभिध-प्रेमरसविशेषस्य स्वभावोऽयम्, यदसौ स्वानन्दपूरेण तस्य तादृशत्वं प्रत्यनुभवपद्धतिमावृणोतीत्यर्थः। इत्थञ्चातद्वीर्य्यकोविदत्वं तस्या माहात्म्यमेव, तं रज्जुभिर्बद्धमपि कर्त्तुस्तस्य प्रेमरसस्यानुभावरूपत्वात्। तदुक्तम् (भा० १०।९।२०) "नेमं विरिञ्चो न भवः" इत्यादि। प्राकृतं यथेत्यनेन अधोक्षजमित्यनेन च वस्तुतो व्यापकत्वं मायया तु मर्त्यलिङ्गत्वमित्यपि परिहृतम्। यद्धि तर्कगोचरो भवति, तत्रैव कदाचिदसम्भवरीतिदर्शनेन साभ्युपगम्यते, यत्तु स्वत एव तदतीतं तत्र तत्स्वीकृतिरतीवमूर्खता; यथा बाड़वनाम्नो वह्नेर्जलनिधिमध्य एव देदीप्यमानतायामैन्द्रजालिकतास्वीकरणम्। श्रुतिश्च "अर्वागदेवा

सर्वसम्वादिनी

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥२१॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्"॥२२॥ इति।

एवं ब्रह्मसूत्रे च (२।१।२७)—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति। अतः शक्तेः स्वाभाविकाचिन्त्यत्वे सति तस्य शक्तित्वमप्यज्ञानकल्पितमिति नाङ्गीकुर्वन्ति। यत्रासम्भव-सम्भावयित्री-दुस्तर्का स्वाभाविकी शक्ति-

अनुवाद—

किन्तु आश्चर्य्य यह है कि—आपने मनुष्य विग्रह में भी विभुत्व का परित्याग नहीं किया है। माता यशोदा की विभुत्व स्फूर्त्ति क्यों नहीं हुई? उत्तर में कथित है—"आत्मजं मत्वा" अपरित्यक्त विभुत्व धर्म होने से भी मा उन को आत्मज ही जानती थी। वात्सल्यादि प्रेम का यह ही स्वभाव है। उक्त प्रेम रस के कारण आनन्दपूर्त्ति के द्वारा भगवत्त्व, विभुत्वादि अनुभव पद्धति आवृत हो जाती है। "सखा, पुत्र" इत्यादि भाव का प्रावल्य ही रहता है। ऐश्वर्य्य विशेष को देखकर भी उक्त बुद्धि बदलती नहीं, किन्तु वहाँ एतादृश ऐश्वर्य्यादि की अज्ञता दोषावह नहीं होकर गुण ही है।

दाम बन्धन के समय वारम्बार रज्जु ग्रहण एवं न्यूनता से भी माता के हृदय में पुत्र विषयक ऐश्वर्य्य की स्फूर्त्ति नहीं हुई। अधिकन्तु मेरा यह शिशुपुत्र है, इसे मैं बाँध नहीं सकूँगी? इस प्रकार आग्रहातिशय्य से ही रज्जु से श्रीकृष्ण को बाँधना सम्भव हुआ। उस समय वात्सल्य प्रेमरस के माधुर्य्यमय अनुभव से बन्धन कारिणी श्रीयशोदा के हृदय उच्छलित हो उठा था एवं यह उच्छसित वात्सल्य प्रेम के द्वारा उन की अधिक महिमा प्रख्यापित हुई थी। यथा—"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।

प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्रापविमुक्तिदात्॥ (भा० १०।९।२०)

अर्थात् "विमुक्ति दाता श्रीभगवान् के निकट से गोपी यशोदा ने जो कृपाप्राप्त की, उस कृपाप्राप्त करने के अधिकारी ब्रह्म, शिव, अङ्ग-संश्रया लक्ष्मी देवी भी प्राप्त करने में अक्षम रही।" इससे विशुद्ध वात्सल्य-रसमयी जननी की सर्वापेक्षा महिमाधिक्य का ही प्रदर्शन हुआ है।

मूल श्लोक में "प्राकृतं यथा" "अधोक्षजं" एतदुभय शब्द द्वारा स्वरूपतः व्यापकता का प्रदर्शन हुआ है, एवं भगवान् मायिक मनुष्यमूर्त्ति धारण कर अवतीर्ण हुये थे,—इस कथन का भी परिहार हुआ। अर्थात् भगवान् में युगपत् यह सब विरुद्ध धर्म नित्य ही वर्त्तमान हैं।

जो मायिक इन्द्रिय गोचर है, उसमें कभी असम्भव रीति को देखकर माया की कल्पना होती है, किन्तु जो वस्तु स्वतः ही तर्कातीत है, वहाँ माया अथवा मायिक कल्पना अतीव अज्ञता का परिचायक है, जिस प्रकार समुद्र के जलमें बाड़वानल की देदीप्यमान शिखा को देखकर कोई व्यक्ति ऐन्द्रजालिकता की कल्पना करता है, तो वह उस की मूर्खता का परिचायक है, तद्रूप परमेश्वर में माया की कल्पना भी अतीव मूर्खता ही है।

अस्य विसर्ज्जनेनाथ को वेद यत आबभूव" इत्याद्या। किञ्च, यद्गत्तं बन्धनम्, तस्य श्रीविग्रहस्यैव व्यापकत्वं विवक्षितम्, यत्तदोः सामानाधिकरण्यात्, तस्यास्तत्राकोविदत्वोपपादमत्वाच्च। तत्र विग्रहत्वं परिच्छिन्नतायामेव सम्भवति, करचरणाद्याकारसन्निवेशात्। तस्मादस्त्येव तस्मिन् परिच्छिन्नत्वं विभुत्वञ्च युगपदेव। मूलसिद्धान्त एव परस्पर-विरोधि-शक्तिशतनिधानत्वं तस्य दर्शितम्। दृश्यतेऽपि लोके त्रिदोषघ्न-महौषधीनां तादृशत्वम्। तथैव विभुत्वमुक्तं ब्रह्मसंहितायाम् (५।४५)—

"पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो, वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्नचर्यविचिन्त्यतत्त्वे, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" ॥११८॥ इति।

श्रुतिश्च माध्वभाष्य-प्रमाणिता—"अस्थूलोऽनणुरमध्यमो मध्यमोऽव्यापको व्यापको हरिरादि-

सर्वसम्वादिनी

नास्ति, तत्रैव तदङ्गीकारोपपत्तेः, गौरवापत्तेश्च।

अत्र चेदं विचार्य्यते।—द्वैतमात्रान्यथानुपपत्त्या केवले ब्रह्मणि मणिमन्त्र-महौषधादिवत्तर्कागोचराः शक्तयः सन्तीत्येके; तदन्यथानुपपत्त्या तथाभूत एव तस्मिन्नज्ञानेनैव तदुपपद्यत इत्यन्ये। तत्र ब्रह्मणि ज्ञानमात्रे त्वज्ञानं न सम्भवतीति; अज्ञानञ्च साश्रयमेव, न तु स्वतन्त्रमिति। जीवत्वञ्चाज्ञानकृतमेवेति

अनुवाद—

"अर्वाग् देवता अस्य" यह श्रुति एवं वेदान्त सूत्र के उभयलिङ्गाधिकरण में "अरूपवदेव हि तत् प्रधानत्वात्" "दर्शयति चाथोऽपिस्मर्य्यते" (वेदान्त सू० ३।२।१४-१७) इत्यादि सूत्र में श्रीभगवद् विग्रह की परिच्छिन्नापरिच्छिन्नता प्रतिपादित हुई है। एवं दहराधिकरण में भी इसका विशेष उल्लेख दृष्ट होता है। व्यापक ब्रह्म कैसे व्याप्य होते हैं, उस का विशेष प्रदर्शन हुआ है। "दहर उत्तरेभ्यः" (वे० सू० १।३।१३) श्रीरामानुजाचार्य्य लिखते हैं—"दहराकाशः परं ब्रह्म, कुतः उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः, तथासति हृदयावच्छिन्नस्य द्युद्यावा पृथिव्यादि सर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते·· ···"ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादौ परिच्छिन्नज्यायत्व श्रवणात्······इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहित परब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं निर्दिश्य तन्मध्यवर्त्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेश्मतयाभिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रितवात्सल्यैक जलधिमुपासकानुग्रहाय तस्मिन् वेश्मनि सन्निहितम्।"

अर्थात् दहराकाश शब्द द्वारा ब्रह्म कथित हुये हैं, परवर्त्ति हेतु से वह सप्रमाणित हुआ है। हृदय में अवस्थित ब्रह्म, परिच्छिन्न होकर किस प्रकार पृथिव्यादि निखिल जगत् के आश्रय होते हैं? इस प्रकार असम्भावना ब्रह्म में नहीं हो सकती है। "ब्रह्म पृथिवी से बृहत्, अन्तरिक्ष से भी बृहत्" इस प्रकार श्रुति उस की सर्वबृहत्तमता का प्रतिपादक है। सन्निहित परब्रह्म के पुर रूपमें उपासक के शरीर को निर्द्देश कर शरीर मध्य में पुण्डरीकाकार हृदय को ग्रह रूपमें निर्देश किया गया है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त वात्सल्यैकजलधि भगवान् उपासक को करुणा करने के निमित्त हृदय में सन्निहित होते हैं। सुतरां सर्वशक्तिमत्त्व के द्वारा श्रीभगवान् में विग्रहवत्व-बृहत्व निर्बाध से अवस्थित हैं।

"प्रकाशवच्चाविशेषात्" (वे० सू० ३।२।२५) सूत्र के गोविन्द भाष्य में उक्त हैं—यथा "नेत्यनुवर्त्तते प्रकाशो वह्निः, स यथा सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तः स्थूलरूपेण तु दृश्यते एवमीश्वर इति चेन्न। कुतः अग्निवत् सौक्ष्म्य स्थौल्यविशेषाभावात्। "अस्थूलमनण्वह्रस्वमिति श्रुतेः" अर्थात् वह्नि के सूक्ष्म-स्थूल अप्रकाश प्रकाशवत्त्व के समान ईश्वर नहीं है, उन में स्थूल-सूक्ष्मादि विशेष भाव नहीं है। अस्थूल-अनणु इत्यादि श्रुति ही उन का नित्य तदवस्थावत्त्व प्रतिपादन करती है। "सर्वत्रैव प्रकाशोऽसौ सर्वरूपेष्वजो मतः" सुतरां जो सर्वत्र सर्व रूपमें प्रकाशित हैं। वह विग्रहवान् होने से व्यापकत्व का बोध नहीं हो सकता है।

रनादिरविश्वो विश्वः सगुणो निर्गुणः" इति। तथा नृसिंहतापनी च (उ० ६।१)—"तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्" इत्यादिका।

ब्रह्मपुराणे च—

"अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च। विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्य्यात् पुरुषोत्तमः" ॥११६॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

शुक्ति-रजतादि-दृष्टान्तमूलम्; तदुपेक्षणीयम्। अत्र जीवः स्वाज्ञानेनैव जीवत्वं कल्पयतीति स्वाश्रयः परस्पराश्रयश्च प्रसज्येत। यो जीवो येनाज्ञानेन यज्जीवत्वं कल्पयति, स तयोरज्ञान-तत्कार्य्ययोरतिरिक्त एव भवेदिति। तस्य शुद्धत्वे तदेव ज्ञानमात्रत्वमागतम्। ततश्च कथं नाम तस्याज्ञानं स्याद्येन स्वजीवत्वं कल्पयेदित्यसम्भवश्च कल्पयेत।

अनुवाद—

एवं यत्-तत् शब्द के सामानाधिकरण्य से उनके जिस शरीर में बन्धन है, उस शरीर का ही व्यापकत्व कहा गया है। परिच्छिन्नावस्था में ही विग्रहवत्त्व की सम्भावना होती है। कर-चरणादि अवयव सन्निवेश ही शरीर अथवा विग्रह है। सुतरां तदीय शरीर में अर्थात् मा यशोदा जिस शरीर को रज्जु के द्वारा बाँधी थी, उस शरीर में परिच्छिन्नत्व-विभुत्व की युगपद् विद्यमानता निश्चित रूप से है।

भगवत्त्वा के मूल सिद्धान्त में परस्पर विरोधिनी शक्तिसमूह के निधानत्व ही भगवत्त्व है, अर्थात् जो विरुद्ध शक्तिसमूह के आश्रय हैं, वह ही भगवान् हैं। इसका प्रदर्शन पहले हुआ है। एवं वेदान्त के अनेक स्थलों में ही सूत्रानुगत श्रौत प्रमाण से भाष्यकारगण उसका प्रतिपादन भी किए हैं।

"सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति" (वे० सू० १।२।३२) सूत्र भाष्यमें श्रीबलदेवविद्याभूषण महाशय लिखे हैं—"विभोरपि तस्य प्रादेशमात्रत्वं तत् किल सम्पत्तेरविचिन्त्यशक्तिरूपादैश्वर्य्यादेव नत्वौपाधिकमिति जैमिनिर्मन्यत एव, कुत स्तत्राह तथेति हि सतः, तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं, एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभातीत्याद्या श्रुतिस्तथाविचिन्त्यशक्तिकत्वेनेशे विरुद्धधर्मसमावेशं बोधयतीत्यर्थः। ते च धर्मा ज्ञानत्वेऽपि मूर्त्तत्वमेकत्वेऽपि बहुत्वमित्यादयः।" "आमनन्ति चैनमस्मिन्" (वे० सू० १।२।३३) भाष्य—"एनमचिन्त्यशक्तियोगं धर्मं आथर्वणिका अस्मिन् परमात्मनि आमनन्ति" "अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिरिति। आत्मेश्वरोऽतर्क्य सहस्रशक्तिरिति"।

भाष्यकार जैमिनि मत को उत्थापन किए हैं—आपने विभु परमात्मा के प्रादेशमात्रत्व की कथा कही है। उसे ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव भी माना है। वह औपाधिक नहीं है, विभुत्व होने पर भी परिच्छिन्नत्व प्रभृति विरुद्ध धर्म का समावेश ईश्वर में है। "एक सच्चिदानन्द विग्रह गोविन्द" "जो एक होकर भी बहु रूपमें बहु भाव में प्रतिभात होते हैं" इत्यादि बहुश्रुति ईश्वर में युगपत् विरुद्ध धर्म का समावेश, अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव हेतु, प्रतिपादन करती हैं।

ब्रह्म संहिता में उक्त है—"सर्वापेक्षा द्रुतगामी वायु एवं तदपेक्षा भी अधिक द्रुतगामी मन है, मुनिश्रेष्ठ गण के मन कोटि संवत्सर में भी जिस पथ का अतिक्रम नहीं कर सकता। अर्थात् जिनकी अचिन्त्यतत्त्व की सीमा में उपनीत नहीं हो सकता है। किन्तु जो पथ उनके चरणारविन्द के अति सन्निहित है, उन अविचिन्त्य तत्त्व आदि पुरुष भगवान् श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।"

मध्व भाष्योक्त श्रुति—"जो अस्थूल, अनणु, अमध्यम, अव्यापक, अनादि, आदि, विश्वातीत होकर भी विश्व, सगुण होकर भी निर्गुण" इत्यादि।

नृसिंह तापनी श्रुति में उक्त है—"जो तुरीय, अतुरीय, आत्मा, अनात्मा, उग्र, अनुग्र, वीर, अवीर महान्, अमहान्, विष्णु, अविष्णु, ज्वलन्त, अज्वलन्त, सर्वतोमुख, असर्वतोमुख," इत्यादि। ब्रह्मपुराण में उक्त है—"श्रीहरि स्थूल नहीं सूक्ष्म नहीं, रूप स्वरूप, अविश्व होकर भी विश्वस्वरूप है। वह पुरुषोत्तम

तथैव दृष्टं श्रीविष्णुधर्मे—

"परमाण्वन्तपर्य्यन्तसहस्रांशाणुमूर्त्तये। जठरान्तायुतांशान्तस्थितब्रह्माण्डधारिणे" ॥१२०॥ इति।

अतः श्रीगीतोपनिषदश्च (९।४-५)—

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥१२१॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" ॥१२२॥ इति।

अव्यक्तमूर्त्तिना एतादृश-रूपत्वाद्बुद्धिवैभवागोचरस्वभावविग्रहेणेत्यर्थः ॥ श्रीशुकः ॥

३२। तदेवं परिच्छिन्नस्यैव तदाकारस्य विभुत्वं पुनर्विद्वदनुभवेनोक्तपोषन्यायेन दर्शयितुं प्रकरणमारभ्यते। तत्रैकादशपद्यान्याह (भा० १०।१४।११)—

"क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू,-संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या,-वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्" ॥१२३॥

सर्वसम्वादिनी

अत्र प्रयोगश्च दर्शितः,—(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये १०२तम अनु०) "विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्र-ब्रह्म-श्रयम्, अज्ञानत्वाच्छुक्तिकाद्यज्ञानवत्; ज्ञात्राश्रयं हि तत्" इति; "ब्रह्म नाज्ञानाश्रयः, ज्ञातृत्व-विरहाद् घटादिवत्" इति च। ततश्च पारिशेष्य-प्रमाणेन तर्कागोचराः शक्तय एव ब्रह्माणि पर्य्यवस्यन्तीत्येव साधुसम्मतम्। सम्भवति चालौकिक-वस्तुत्वात्तस्य तादृशशक्तित्वम्। प्रसिद्धश्च श्रुति-पुराणादौ तत्। ततोऽतकर्यशक्ति-

अनुवाद—

हरि निज अचिन्त्य ऐश्वर्य्य से विरुद्धधर्म रूप हैं। अर्थात् उनमें समकाल में विरुद्ध धर्मसमूह विद्यमान हैं।

विष्णुधर्म में भी ईदृशी उक्ति है—"परमाणु से आरम्भ कर सहस्रांशाणु मूर्त्ति होकर भी जो निज जठर में अयुत संख्यक ब्रह्माण्ड को धारण कर हैं।" अतएव श्रीगीतोपनिषत् में भी एतादृशी उक्ति है—"मैं अव्यक्त मूर्त्ति इस जगत् में व्याप्त होकर हूँ। पृथिव्यादि भूत समूह मुझ में अवस्थित हैं, किन्तु मैं कुत्रापि अवस्थित नहीं हूँ। एवं मुझ में वे सब भूत अवस्थान करते हैं, वैसा भी नहीं है। हे अर्ज्जुन! मेरा अचिन्त्य ऐश्वरिक योग का अवलोकन करो"।

यहाँ अव्यक्त मूर्त्ति से अर्थात् "तादृश विभिन्नरूपता निबन्धन बुद्धि वैभव की अगोचरस्वभावश्रीमूर्त्ति में अवस्थित हूँ" इस प्रकार अर्थ जानना होगा।

सुतरां पूर्वोक्त श्रौतादि प्रमाण निचय के द्वारा सुस्पष्ट रूपसे प्रतिपादित हुआ कि श्रीभगवद्विग्रह विभिन्न जातीय विरुद्ध धर्म का आश्रय है। आप स्वीय अचिन्त्य वैभव हेतु समस्त अवस्था में अवस्थित हो सकते हैं। उनमें युगपत् व्याप्यत्व व्यापकत्व की असम्भावना नहीं हो सकती है। "एतदीशनमीशस्य" यह ही श्रीभगवान् के ईशित्व है। यह श्रीशुकदेव की उक्ति है ॥३१॥

भगवद् विग्रह के विभुत्व में विद्वदनुभव।

पूर्वोक्त परिच्छिन्न विग्रह का ही विभुत्व है। इस विषय में "उक्त पोष न्याय के द्वारा विद्वदनुभव को दर्शाने के निमित्त प्रकरणान्तर की अवतारणा करते हैं।

ब्रह्मा श्रीभगवान् की महिमा अवलोकन के अभिप्राय से श्रीभगवान् के प्रति स्वीय माया प्रदर्शन पूर्वक वत्स बालकगण को अपहरण करके जब स्वयं माया मोहित हो गये तब उनका स्तव आपने किया। उस स्तव के मध्य में एकादश श्लोक है, जिसमें श्रीभगवान् के स्वरूप एवं तदीय श्रीमूर्त्ति का अनुभव वर्णित है। उसका प्रदर्शन करते हैं।

(भा० १०।१४।११) "महदहङ्कार, आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, पञ्चभूत संवेष्टित ब्रह्माण्ड अन्तर्गत निज परिमाण में सप्त वितस्ति मात्र परिमाण शरीरधारी अज्ञ मैं कहाँ? और ईदृश अगणित

स्पष्टम् । (भा० १०।१४।१२)—

"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः, किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्ति-नास्ति-व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः" ॥१२४॥

अतः सर्वस्य तव कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वान्मातृवदपराधः सोढ़व्य इति भावः । किञ्च, विशेषतस्तु त्वत्तो मज्जन्म प्रसिद्धमित्याह (भा० १०।१४।१३)—

"जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे, नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा, किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि" ॥१२५॥

तथापि त्वत्, त्वत्तः किं तु नोत्पन्नोऽस्मि ? अपि तु त्वत्त एवोत्पन्नोऽस्मीत्यर्थः । ननु यद्यहं प्रलयोदधिशायी नारायणः स्याम्, तर्हि मत्तस्त्वमुत्पन्नोऽसीत्यपि घटते, तत्त्वन्यथैवेत्याशङ्क्याह (भा० १०।१४।१४)—

"नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना,-मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना,-त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया" ॥१२६॥

सर्वसम्वादिनी

विलासेऽद्वैत-खण्डन-विद्यापि नात्रावतार्य्येत्युक्तमिति ।

तदेवं सिद्धायां भावशक्तौ, सा च त्रिविधा—अन्तरङ्गा, तटस्था, वहिरङ्गा चेति मूल एव दर्शयिष्यते। अत्रोत्तरयोरनन्तरङ्गत्वम्;—ताभ्यां परमेश्वरस्यालिप्ततया, शक्तित्वञ्च नित्य-तदाश्रिततया तद्व्यतिरेकेण स्वतोऽसिद्धतया तत्कार्य्योपयोगितया च । तत्र तटस्थाख्या शक्तिः श्रीपरमात्मसन्दर्भाख्ये तृतीय-सन्दर्भे

अनुवाद—

ब्रह्माण्ड के अधिपति,—आप कहाँ ? वातायन में अगणित परमाणु पुञ्ज की गति के समान आप के लोम विवर में अगणित ब्रह्माण्ड समूह गमनागमन कर रहें हैं । उस प्रकार आप की महिमा कहाँ ?"

ब्रह्मा, स्वयं भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को उस प्रकार कहने से प्रतीत होता है, आपने श्रीकृष्ण के देह को विभु रूपमें अनुभव किया था । जिस से आपने श्रीकृष्ण के देहस्थ रोमविवर में अगणित ब्रह्माण्ड के गमनागमन को व्यक्त किया ।

(भा० १०।१४।१२) "हे अधोक्षज ! गर्भगत बालक जब तदीय जननी की कुक्षि के मध्य में पदक्षेपण करता है, तब क्या जननी बालक के पादप्रक्षेप को अपराध मानती है ? सुतरां अस्ति नास्ति, उभय व्यपदेश भूषित आप की कुक्षि की इयत्ता है ?"

अनन्त ब्रह्माण्ड ही जब आपकी कुक्षि में अवस्थित है, तन्मध्यस्थित इस ब्रह्माण्डाधिपति मैं भी तो उस गर्भ में अवस्थित हूँ । तब माता के समान मेरा अपराध आपको क्षमा करना ही होगा ।

विशेषतः मैं आप के नाभिपद्म से जन्मग्रहण किया, इसे सब लोक जानते हैं । यथा—"जब जगत्रय प्रलयार्णव में मग्न था, उस समय श्रीनारायण के नाभिनाल से 'अज' विनिर्गत हुआ था । यह कथन मिथ्या नहीं है । अतएव हे ईश्वर ! मैं क्या आपके नाभिपद्म से विनिर्गत नहीं हुआ ? किन्तु मैं तो आपके नाभिकमल से ही उत्पन्न हुआ हूँ ।

यदि कहो कि—"मैं यदि प्रलयोदधिशायी होता, तब मेरी नाभि से तुम्हारा जन्म होना सम्भव होता, तुम तो नारायण से उत्पन्न हुये हो, मैं नारायण नहीं हूँ ।" इस प्रकार आशङ्का नहीं हो सकती है । कारण आप क्या नारायण नहीं हो ? कारण आप ही तो सर्वत्र आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं । हे अधीश ! आप ही अखिल ब्रह्माण्ड के अन्तर्य्यामी, साक्षी हैं । नर, भू, जल के आश्रय रूपमें प्रसिद्ध जो नारायण हैं, वह भी आपके अङ्गरूप, अंश रूप है, यह अतीव सत्य है, यह कभी भी माया नहीं है । (भा० १०।१४।१३)

हे अधीश ! ईशस्य सर्वान्तर्यामिनो नारायणस्याप्युपरि वर्त्तमान ! हे भगवन्नित्यर्थः। हि निश्चितम्, स नारायणस्त्वं नासि, किन्तु नारायणोऽसौ तथैवाङ्गमंशः ; यद्यप्येवमथापि मम तदङ्गोत्पन्नत्वादङ्गिनस्त्वत्त एवोत्पत्तिरिति भावः। कथमसौ नारायण उच्यते, कथं वा मम तस्माद्वैलक्षण्यम् ? तत्राह—योऽसौ देहिनामात्मा अन्तर्यामिपुरुषः, अतएव नारस्य जीवसमूहस्य अयनमाश्रयो यत्रेति तस्य नारायणत्वम् ; साक्षाद्भगवतस्तव तु तदन्तर्यामितायामप्यौदासीन्यमिति भावः। किञ्च, अखिललोकसाक्षी, यस्मादखिलं लोकं साक्षात् पश्यति, तस्मात् नारमयते जानातीति नारायणोऽसौ, त्वं पुनस्तेनांशेनैव तद्द्रष्टा, न तु साक्षादिति तस्माद्विलक्षण इत्यर्थः। तर्हि स नारायणस्त्वं न भवसीति ममाप्यन्यथा नारायणत्वमस्तीति भवताभिप्रेतम्, तत् कथम् ? इत्यस्योत्तरं तेनैव सम्बोधनेन व्यञ्जयति—अधीशेति; ईशः प्रवर्त्तकः, ततश्च नारस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः; ततोऽप्यधिकैश्वर्य्यादधीशस्त्वमपि नारायणः। यथा मण्डलेश्वरोऽपि नृपतिस्तेषामधिपोऽपि नृपतिरिति। श्रीकृष्णस्यैव

सर्वसम्वादिनी

(मूले १९श अनु० — ४७श अनु०) [अनुव्याख्यायाम्] एव दर्शयिष्यते।

अन्ये तु विवियेते,—ये परापरा-शब्दाभ्यां भण्येते ; यथा श्रीविष्णुपुराणे एव (१।१९।७६।७७)—

"सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव। गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर ।।२३।

यातीतगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा। ज्ञानि-ज्ञान-परिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरीं पराम्" ।।२४।। इति।

अनुवाद—

(भा० १०।१४।१४) यहाँ "अधीश !" सम्बोधन से—ईश नामक सर्वान्तर्यामी नारायण के ऊपर में अवस्थित भगवान्। अतएव हे अधीश ! हे भगवन् ! यह ही उक्त सम्बोधन का तात्पर्य्य है। "नारायणस्तं न हि" यहाँ 'हि' निश्चयार्थ में है। (हि—हेताववधारणे इति अमर०) अतएव आप ही वह नारायण क्या नहीं हो ? कारण वह नारायण तो आप का अंश है। सुतरां नारायण यदि आप का अङ्ग, अंश ही हुआ, तो मैं आप से उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा कहने की सम्भावना हो कहाँ है ? अङ्ग का कार्य्य जिस प्रकार अङ्गी के कार्य्य में परिणत होता है, तद्रूप आपके अङ्ग, अंश से उत्पन्न मैं आप से हो तो हुआ हूँ। कारण, सब के अंशी आप ही हो।

यदि कहो कि—कार्य के अनुसार ही नाम होता है, किस कारण से मेरा नाम नारायण होगा ? और नारायण से मेरा वैलक्षण्य ही क्या है ? उत्तर में कहते हैं—"नारं"—जीवसमूह, व्यष्टि जीव, उक्त व्यष्टि जीव का आश्रय होने से नारायण नाम हुआ है, अतएव देहियों के आत्मा—अन्तर्य्यामी, एवं देहियों का आश्रय होने से ही नारायणत्व सिद्ध होता है। स्वयं भगवान् आप में उक्त आश्रयत्व पर्य्यवसित होने से भी अन्तर्य्यामित्व में आपका औदासीन्य वर्त्तमान है। कारण—आपका अंश, पुरुषावतार से वह कार्य्य सम्पन्न होता है। आप अखिल लोक साक्षी हैं, अर्थात् अखिल ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ती समस्त जीव के साक्षी रूपमें आप अवस्थित हैं। कारण—आप सब को देखते हैं, तज्जन्य उसके कार्य्य में आपका अभिनिवेश नहीं है। "साक्षीचेताः केवलो निर्गुणश्च" श्रुति ही उक्त साक्षित्व धर्म को कहती है।

अथवा—"नारं-जीवं अयते जानाति" जीव समूह को जो जानते हैं, वह नारायण हैं। उक्त दर्शनादि कार्य्य भी आप अपने अंश पुरुष के द्वारा करते हैं। स्वयं देखिये ! तज्जन्य ही आप विलक्षण स्वभावसम्पन्न हैं। अतएव आप नारायण नहीं हैं, यह बात हो ही नहीं सकती। तदतिरिक्त अपर कोई नारायण है, वह ही जीवान्तर्य्यामी है, ऐसा ही यदि आपका अभिप्राय हो तो, वह भी नहीं हो सकता है। कारण

साक्षात् स्वयंभगवत्त्वे तस्मादपि परत्वं श्रीकृष्णसन्दर्भे प्रबन्धेन दर्शयिष्यते। ननु—

"नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः"॥१२७॥ **इति। तथा** (वि० पु० १।४।६)—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥१२८॥ **इति।**

तस्यापि नारायणत्वमन्यथाप्रसिद्धमित्याशङ्क्याह—नरभूजलायनात्तच्चापीति। नरादुद्भूता येऽर्थास्तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यत् तच्चापि नारायणत्वं भवति। तर्हि कथं प्रसिद्धिपरित्यागेनान्यथा निर्वक्षीत्यत आह—सत्यं नेति। तत् प्रलयोदधिजलाद्याश्रयत्वं सत्यं न, किन्तु तथाज्ञानं तवैव माययेत्यर्थः। मायात्र प्रतारणशक्तिः; "माया दम्भे कृपायाञ्च"

सर्वसम्वादिनी

अनयोरर्थः।—हे सुरेश्वर! सुरादि-पालन-शक्ति-प्रकाशक! हे सर्वात्मन्! सर्वादि-कारणत्वेन सज्जननादि-शक्ति-निधान! तवापरा—परस्वरूपायाश्चिच्छक्तेरितरा बहिरङ्गा—जीवमाया गुणमायेत्याद्याख्या या शक्तिः सर्वभूतेषु सर्वेषु जीवेष्वधिकृत्य वर्त्तते, तस्यै नमः;—तस्याः सकाशादात्मानं विदायं कर्तुमिति भावः। कथम्भूता? गुणाश्रया—गुणाः स्वयं गुणसाम्यरूपाया जड़ायाः प्रकृतेर्वृत्तिविशेषाः

अनुवाद—

पूर्वोक्त "अधीश" सम्बोधन से ही उस की निष्पत्ति हो गई है। "ईशः" प्रवर्त्तक, आपके अंश पुरुष "नारायण" कोई होने से भी आप उनका प्रवर्त्तक होने से साक्षात् नारायणत्व का पर्य्यवसान आप में ही होता है। विशेषतः "नारस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात्" जीव की प्रवृत्ति जिस से हो, इस प्रकार समास करने से प्रवर्त्तकत्व धर्म जिसमें विद्यमान है वह ही नारायण हैं। आप तदपेक्षा अधिक ऐश्वर्य्य सम्पन्न हैं। कारण,—उस सब के अधीश आप हैं, सुतरां आप साक्षात् नारायण हैं। लोक जिस प्रकार मण्डलेश्वर को राजा, एवं तदधिपति को भी राजा कहते हैं, तद्रूप आप ही साक्षात् अथवा मुख्य नारायण।

स्वयं भगवत्ता के द्वारा नारायण की अपेक्षा श्रीकृष्ण का जो श्रेष्ठत्व है, उसका प्रदर्शन श्रीकृष्णसन्दर्भ में होगा।

श्रीनारायण, श्रीभगवान् के अवतार अथवा अंशविशेष हैं, तद्विषय में लघुभागवत की उक्ति—

"पूर्वोक्त विश्वकार्य्यार्थमपूर्वा इव चेत् स्वयम्।
द्वारान्तरेण वाविः स्युरवतारास्तदास्मृताः। तच्च द्वारं तदेकात्मरूपस्तद्भक्त एव च॥
शेषशय्यादि को यद्वद्वसुदेवादि कोऽपि च। पुरुषाख्या गुणात्मानो लीलात्मानश्च ते त्रिधा।" (लघु भा० १-३)

अर्थात् पूर्वोक्त स्वयं रूप भगवान् विश्व कार्य्य के निमित्त स्वयं अथवा अपर के द्वारा अपूर्ववत् आविर्भूत, अर्थात् अप्रापञ्चिक नित्य धाम से प्रपञ्च में अवतीर्ण होने से अवतार संज्ञा होती है। मत्स्य, हंस प्रभृति अद्वारक अर्थात् स्वयं अवतीर्ण होते हैं। द्वारान्तर अवतार,—तदेकात्म रूप तथा भक्त रूप हैं। जिस प्रकार कारणार्णवशायी से गर्भोदकशायी, यह तदेकात्म रूप द्वारान्तर है, वसुदेव से श्रीकृष्ण,—दशरथ से श्रीराम,—इत्यादि भक्तरूप द्वारान्तर हैं। विश्व कार्य्य के निमित्त—जैसे विश्व कार्य्य में प्रकृति का क्षोभ, महत्तत्त्वादि का उत्पादन। अथवा विश्व के मध्य में कार्य्य,—असुर संहारादि, देवादिका आनन्द वर्द्धन, समुत्कण्ठित साधक भक्तगण को दर्शन प्रदान कर उत्कण्ठा विदूरित करके प्रेमानन्द वर्द्धन, विशुद्ध भक्ति प्रचार प्रभृति अवतार का प्रयोजन है। उक्त पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार भेद से त्रिविध है। नारायण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही पुरुषावतार विशेष हैं।

"परमेशांश रूपो यः प्रधानगुणभागिव। तदीक्षादि कृति र्नानावतारा पुरुषः स्मृतः॥" (लघु०भा०कृ० ४)

अर्थात् परमेश्वर के जो अंश प्रधान के गुण सम्बन्धवत् होकर प्रकृति एवं तदुद्भूत जगदीक्षणादि कार्य्य करते हैं। जिन से अन्यान्य अवतार समूह का अवतार है, वह ही पुरुषावतार है। भगवान् के आदि

इति विश्वप्रकाशात्। दुर्व्वितर्कचस्वरूपशक्त्यैव परिछिन्नापरिच्छिन्नायास्त्वन्मूर्त्तेर्जलादिभिर-परिच्छेदादिति भावः। श्लोकचतुष्टयेऽस्मिन् यस्य नारायणस्यान्तर्भूतं महदादिकं सर्वमेव जगत्, सोऽपि तवान्तर्भूत इति तात्पर्य्यम्। नारायणस्य तादृशत्वे मन्त्रवर्णः (महाना० ६।५)— "यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"॥१२६॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

संस्वादयस्त एवाश्रयो यस्याः सा; मायाशक्तिस्तूर्णनाभिरिव हि गुणासाम्यावस्थात् स्वैकदेशस्थ-कोश-विशेषाद्गुणजालं प्रकाश्य तदाश्रित्य च तच्चाकचिक्य-मुग्ध-बद्धान् कीटानिव जीवानधिकरोति। शाश्वताया इति स्वाभाविकत्वं व्यक्तम्। अस्याः प्राक्कथनमेतद्द्वारैव प्रथमत सानुमेयेत्यभिप्रायेण। अथ वाचां मनसां चातीतोऽतिक्रान्तो गोचरो विषयो यया, सा यस्मादविशेषणा दृष्ट-जातिगुणादिभिर्विशेषयितुमशक्या।

अनुवाद—

अवतार ही पुरुषावतार है, "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" (भा० २।६।४०)॥ उक्त पुरुषावतार के विभेद इस प्रकार है—"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्ड संस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥"(लघु०भा०कृ०५)

स्वयं रूप श्रीविष्णु की विलासमूर्त्ति—श्रीनारायण से महत्तत्त्व स्रष्टा कारणार्णवशायी प्रकृति के अन्तर्य्यामी सङ्कर्षण, द्वितीय,—चतुर्म्मुख ब्रह्मा के अन्तर्य्यामी गर्भोदकशायी प्रद्युम्न, तृतीय,—सर्व जीव के अन्तर्य्यामी क्षीरोदशायी अनिरुद्ध हैं।

स्वरूपतः एक होकर भी जो अन्याकार से प्रतिभात होता है, वह विलास है, तदपेक्षा न्यूनशक्ति अंश है।

टीकाकार के मत में—"यद्यपि नारायण वासुदेवयोरुभयोरपि चातुर्भुज्यात् श्यामत्वाच्चाकृत्योरैक्यमिव प्रतीतं, तथापि सेव्यसेवक भावतः श्रीरामभरतयोरिव तद्वैलक्षण्यमस्तीति।" अतएव परव्योमाधिपति वासुदेव—नारायण के अंश—किञ्चिन्न्यून शक्ति सम्पन्न है। स्वयं भगवान् के चतुर्व्यूह—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध हैं। सुतरां परव्योमाधिपति नारायण ही परम्परा क्रम से तीन मूर्ति के कारण हैं। तैत्तिरीय उपनिषत् के "शिवमच्युतं नारायणम्" वाक्य से समस्त मूर्त्तियों की एकार्थता सुव्यक्त है। सुतरां सर्व कारण के कारणरूपी स्वयं भगवान् नारायण का भी आश्रय होने से ब्रह्मा की उक्ति, सुसङ्गत है।

"नर से जात तत्त्व समूह को बुधगण "नर" जल नाम से जानते हैं। उस के पूर्व आश्रय आप हैं, अतः आप भी नारायण नाम से अभिहित होते हैं।" अन्यत्र भी उक्त है, "पुरुषोत्तम विष्णु से उद्भूत जल को "नारा" शब्द से कहते हैं, उस में जो निवास करते हैं, वह नारायण है।" स्वामिपाद की टीका,— "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मासनातनः" इति वचनात्। नरः पुरुषोत्तमस्तस्माज्जाता नाराः तदुक्तम् तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्र परिवत्सरान् तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः।"

नारायणत्व धर्म अन्यत्र प्रसिद्ध है, इस प्रकार संशय निवारण हेतु "नर भूजलायनात्" कहा गया है, अर्थात् 'नर' से उद्भूत जो अर्थ एवं 'नर' से जात जो जल उस का जो आश्रय है, उस में ही नारायणत्व-विद्यमान है। सुतरां प्रसिद्धार्थ को परित्याग कर अन्यथा क्यों कहते हो? कहते हैं—"सत्यं न" प्रलय में जब समस्त पृथिवी जलमग्ना होती है, उस समय जलादि की आश्रयता क्या सत्य नहीं है? सत्य है, किन्तु उस की अन्यथा प्रतीति आप की माया से ही है, आप सब के आश्रय होकर भी अपने को प्रकाश नहीं करते हो, निज ऐश्वर्य को जानने नहीं देते हो, यहाँ माया शब्द का अर्थ है—प्रतारणा शक्ति, विश्व प्रकाश में,—माया, दम्भ, कृपा, इत्यादि अर्थ का प्रकाशक है।

अतएव आप को स्वरूप शक्ति की सामर्थ्य से अपरिच्छिन्न आप की मूर्त्ति का परिच्छेद होना जलादि के द्वारा सम्भव नहीं है। सुतरां पूर्वोक्ति के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड के सहित मैं भी नारायण के अन्तर्भुक्त हूँ, आप तो उन नारायण का भी अंशी-आश्रय हो। नारायण समस्त ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं, श्रुति

३३। तन्मूर्त्तेर्जलादिभिरपरिच्छेदे स्वानुभवं प्रमाणयति (भा० १०।१४।१५)—

"तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः, किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किंवा सुदृष्टं हृदि मे तदैव, किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि" ॥१३०॥

जगदाश्रयभूतं नारायणाभिधं तव तद्वपुर्जलस्थमेवेत्येवं यदि सत् सत्यं स्यात्तर्हि तदैव कमलनालमार्गेणान्तः प्रविश्य संवत्सरशतं विचिन्वतापि मया हे भगवन्नचिन्त्यैश्वर्य्य! तत् किमिति न दृष्टम्? यदि च तद्वपुर्मायामात्रम् "माया स्याच्छाम्बरीबुद्धयोः" इति त्रिकाण्डशेषरीत्या मिथ्याभिव्यञ्जक-कलाविशेषदर्शितमात्रं स्यात्तर्हि किंवारूढ़समधियोगविरूढ़बोधेन मया हृदि तदैव सुष्ठु सच्चिदानन्दघनत्वेन दृष्टम्, समाध्यनन्तरं किंवा पुनः सपद्येव नो व्यदर्शि न दृष्टम्। अतस्त्वन्मूर्त्तेर्मायामयत्वं देशविशेषकृत-परिच्छेदश्च सत्यो न भवतीत्यर्थः।

३४। एतद्व्याख्यान-निदानं तृतीयस्कन्धेतिहासो द्रष्टव्यः। अत्र तच्चापि सत्यमित्यत्र तच्चापि अङ्गं सत्यमेव, न तु विराड्वन्मायेति, तच्चेज्जलस्थमित्यत्र च तज्जलस्थं सद्रूपं तव वपुर्यदि जगत् स्यात्, प्रपञ्चान्तःपाति स्यादिति व्याकुर्वन्ति। तस्मादेवं नारायणाङ्गकस्य

सर्वसम्वादिनी

एवम्भूता या शक्तिस्तामीश्वरीमीश्वरस्य तवान्तरङ्गत्वादर्द्धाङ्गभूतां चिच्छक्तिरात्ममायेति-नाम्नीम्; परामपरस्या वहिरङ्गाया आश्रयभूतां वन्दे स्तौमि;—तामनुसर्त्तुमिति भावः। नन्वेवम्भूता कथमस्तीति ज्ञायते? तत्राह,—ज्ञानि-ज्ञान-परिच्छेद्येति; ज्ञानिनामशुद्धजीवानां जाति-शब्दादि-विषयाणि प्रादेशिकानि ज्ञानानि, तैः परिच्छेद्या—सर्वतः प्रसरद्भिर्निर्झरोदकैर्महासरोवत् सर्वगतत्वेनावगम्या। वस्तुतस्तस्या एव

अनुवाद—

संवाद यह है—"ब्रह्माण्डादि जगत् जो कुछ दृष्ट एवं श्रुत है, उस के अन्तर बाहर में व्याप्त होकर नारायण अवस्थित हैं ॥३२॥

श्रीब्रह्म का अनुभव, उक्त श्रीभगवन्मूर्त्ति जलादि द्वारा अपरिच्छिन्न है। कहते हैं—"हे भगवन्! मैं उस समय जलस्थित आप के नित्य ब्रह्माण्ड विग्रह को नहीं देखा,—ऐसा नहीं, आप तो सहसा ही उस विग्रह का दर्शन कराये थे।"

अर्थात् जगत् के आश्रयभूत गर्भोदकस्थित आप का नारायणाख्य विग्रह यदि सत्य हो तो जिस समय मैं आप के नाभि पद्म में अवस्थित था, तब पद्मनाल मार्ग के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर शतवत्सर पर्य्यन्त अन्वेषण करके भी उसकी सीमा निर्द्धारण कर न सका। हे अचिन्त्यैश्वर्य्यशालिन्! क्या मैंने नहीं देखा? उस समय ही मैं आपके विग्रह का अपरिमेयत्व को जान गया, वह मायिक, ऐन्द्रजालिक, मिथ्या नहीं है। कारण,—तत् पश्चात् ही मैं रूढ़ समाधि योग के द्वारा विरूढ़ ज्ञान प्राप्तकर सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रह रूपमें आप को अवलोकन किया। समाधि के अनन्तर पुनर्वार उसे देख नहीं पाया। अतएव आप की मूर्त्ति मायिक, देशविशेषके द्वारा परिच्छिन्न कहना सर्वथा मिथ्या है, आप की मूर्त्ति नित्य एवं सर्वथा अपरिच्छिन्न है ॥३३॥

उक्त व्याख्या के निदान स्वरूप तृतीय स्कन्धोक्त इतिहास द्रष्टव्य। यहाँपर "तच्चापि सत्यं" इस सत्य शब्द से त्वदीय अङ्गभूत उक्त नारायण मूर्त्ति भी सत्य है, विराट् मूर्त्ति के समान माया नहीं है, "तच्चेत् जलस्थं" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि—यदि आप की मूर्त्ति जगत् होती, अर्थात् जगत् से पृथक् नित्य विग्रह नहीं होता तव,—प्रपञ्च की अन्तर्भूतता वशतः उस मूर्त्ति की प्रापञ्चिकतापत्ति होती।

किन्तु वस्तुतः आप की मूर्त्ति प्रापञ्चिक नहीं है, उस का प्रदर्शन आपने स्वयं ही किया है। एवं जननी

भगवद्विग्रहस्य विश्वोऽपि प्रपञ्चोऽन्तर्भूत इति स्वयं भगवता दर्शितं श्रीमत्या जनन्यैवानुभूत-मित्याह (भा० १०।१४।१६)—

"अत्रैव मायाधमनावतारे, ह्यस्य प्रपञ्चस्य वहिःस्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या, मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते" ॥१३१॥

अत्रैव तावत् श्रीकृष्णाख्ये मायोपशमनेऽवतारे प्रादुर्भावे वहिश्चान्तर्जठरे च स्फुटस्य दृष्टस्य कृत्स्नस्य जगतः सम्बन्धे पूर्वोक्तं यन्मायात्वं प्रपञ्चकृतत्वत्परिच्छेद्यत्वस्य मिथ्यात्वं तज्जनन्या जनन्यै ते त्वया प्रकटीकृतं दर्शितम् । तस्माद्भवान् जगदन्तःस्थ एव, जगत्तु भगवद्बहिर्भूतमित्येवं मायाधर्मः । वस्तुतस्तु दुर्वितर्क्यस्वरूपशक्त्या मध्यमत्वेऽपि व्यापकोऽसीति भावः ।

३५ । मायाधमनेति यद्भवता कृपया यथादृष्टप्रमाणेऽपि श्रीविग्रहे सर्वोऽपि प्रपञ्चोऽन्तर्भूत इति दर्शितम्, तत् सत्यमेवेति द्योतनार्थम् । भगवत्यप्यन्यथाप्रतीतिनिरसनार्थञ्च पूर्वमेवार्थमुप-पादयति (भा० १०।१४।१७)—

"यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत् त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना" ॥१३२॥

सर्वसम्वादिनी

सर्वप्रवर्तकत्वादिदमुक्तम्,—(बृ० ४।४।१७) "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो मनः" इति श्रुतेः; यद्वा, ज्ञानी जीवः, ज्ञानञ्च, तदुभयमपि परिच्छेद्यं वाह्यं घटादिवत् प्रकाश्यं यस्याः सा,—(श्वे० ६।१४) "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" इत्यादि-श्रुतेः; किंवा, ज्ञानिन आ-ब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्ता ये जीवास्तेषां यज्ज्ञानम्—ज्ञानोपलक्षिता सर्वापि वाह्याभ्यन्तर-चेष्टा तत् परिच्छेद्यं प्रवर्त्तनीयं यया सा,—

अनुवाद—

को दिखाये थे। यथा—हे भगवन् ! "आप का मायाधमनावतार श्रीकृष्ण अवतार में ही आपने जननी को निज जठर में विश्व दर्शन कराये थे।" अर्थात् अन्य अवतार अथवा अन्यमूर्त्ति में नहीं, मायोपशमनकारी श्रीकृष्णाख्य मूर्त्ति के प्राकट्य से युगपत् बाहर जठर के अभ्यन्तर में परिदृश्य विश्व ब्रह्माण्ड का मायिकत्व एवं आप के श्रीविग्रह का परिच्छेद्यत्व—दोनों का ही मिथ्यात्व, जननी को आप दिखाये थे।

सुतरां आप जगत् के मध्य में हैं, एवं जगत् भी आप के बाहर अवस्थित है। एतदुभय ही आप की माया से सम्पन्न होते हैं, अर्थात् आप निज दुर्वितर्क्य स्वरूप शक्ति के बल से मध्यमाकृति में भी आप व्यापक हैं, उस का प्रकाश किए हैं। एवं आप में युगपत् परिच्छिन्नत्व अपरिच्छिन्नत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म वर्त्तमान है, वह भी सुसिद्ध हुआ ॥३४॥

"माया धमनावतारे" इस श्लोक में वर्णित है—साधारण मनुष्याकार श्रीविग्रह में भी अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड अन्तर्निहित हैं, उस का प्रदर्शन आपने ही कराया है, कारण वह आप का यथार्थ स्वरूप है, उसका प्रकाशन करना एकान्त कर्त्तव्य है। स्वयं भगवान् आप हैं, आप में अन्यथा प्रतीति नहीं हो सकती है, आप का नाम ग्रहण से ही जीव के निकट से माया दूर में पलायन करती है, त्वदीय उन विग्रह में माया का विकाश सर्वथा असम्भव है। इसका प्रदर्शन पूर्व में हो गया है, तथापि उसका उपपादन पुनर्वार करते हैं।

"जिन की कुक्षि के मध्य में समस्त जीवगण के सहित विश्वब्रह्माण्ड यथावत् अवस्थित होकर विभासित है, एवं बाहर भी उस प्रकार है, यह कार्य आप की अचिन्त्य शक्ति व्यतीत नहीं हो सकता है" आप की

यस्य तव कुक्षौ सर्वमिदं सात्मं त्वत्सहितं यथा भाति, तत् सर्वमिह वहिरपि तथैव त्वयि भातीत्यन्वयः। अयमर्थः—स्वस्य व्रजेऽन्तर्भूतता-दर्शनेनैव समं व्रजस्य स्वस्मिन्नन्तर्भूततां दर्शयन्, तच्चान्तर्वहिर्दर्शनम् (भा० १०।८।४०) "किं स्वप्न एतदुत देवमाया" इत्यादौ श्रीजनन्या एव विचारे स्वाप्निकत्वमायिकत्व-विम्वप्रतिविम्वत्वानामयोग्यत्वादेकमेवेत्यभिज्ञापयन्, किं स्वप्न इत्यादावेव "यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः" इत्यनेन चरमपक्षावसितया दुर्वितर्क्यस्वरूपशक्त्यैव मध्यमपरिमाणविशेष एव सर्वव्यापकोऽसीति स्वयमेव भगवान् जननीं प्रति युगपदुभयात्मकं निजधर्मविशेषं दर्शितवान्। अतएव द्वितीये(भा० २।७।३०)—"गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता" इत्यादौ "प्रतिबोधितासीत्" इत्युक्तम्। तस्मात्तव कुक्षौ सर्वमिदं यथा भाति, इह वहिरपि तथा, तदन्तर्भूतोऽपि तद्व्यापकोऽसीति प्रकारेणैव, त्वयि तत् सर्वं भातीति।

३६। तदेवं तदिदं प्रपञ्चेन परिच्छेद्यत्व-प्रत्ययनं तव मायया स्वयाथार्थ्यावरणशक्त्या विना किं सम्भवति? नैव सम्भवतीत्यर्थः। मयाप्येवमेवानुभूतमित्याह (भा० १०।१४।१८)—

"अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।

सर्वसम्वादिनी

(तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्?—यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति श्रुतेः। अथवा, ज्ञानी शुद्धो जीवस्तस्य यन्निजं ज्ञानं—प्रमात्रादीनां साक्षित्वाध्यास्यता मात्र-प्रतीत्या च माया-मोहितत्व-लिङ्गावगताच्छन्नस्वज्ञानत्वेन च कैवल्ये तदभावे स्वरूपसुखास्फूर्त्ति-दोष-प्रसङ्गेन च (बृ० ४।३।३२) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि-श्रुत्या च—स्वरूपभूतं लक्ष्यते; तेन ज्ञानेन परिच्छेद्य यस्मात्तथाभूत-

अनुवाद—

कुक्षि में परिदृश्यमान ब्रह्माण्ड अवस्थित है, उसमें आप भी हैं। आप के सहित जिस प्रकार है, बाहर भी उसी प्रकार है।

अर्थात् अपने को श्रीवृन्दाबन के मध्य में दिखाकर स्वयं के मध्य में भी व्रजादि समस्त हैं, इसका प्रदर्शन "न चान्त र्न वहिर्यस्य" श्लोक से हुआ है।

मा यशोदा का प्रथम वितर्क "यह क्या स्वप्न है, अथवा देवमाया है, तत्पश्चात् पुनर्वार स्वयं ही "अथवा पुत्र का ही स्वतः सिद्धोद्भूत आत्मयोग" प्रभाव है, इस वैचारिक चरम सिद्धान्त से उसका स्वाप्निकत्व, मायिकत्व, विम्वप्रतिविम्वत्वादि का निरास पूर्वक त्वदीय निज प्रभाव का स्थापन हुआ है।

सुतरां इस सिद्धान्त से आप अपनी दुर्वितर्क्य स्वरूप शक्ति के द्वारा मनुष्याकार में भी सर्व व्यापक हैं, युगपद्विरुद्ध उभयात्मक निज धर्म विशेष का दर्शन माता को कराये थे।

अतएव द्वितीय स्कन्ध की उक्ति से प्रतीत होता है—मा यशोदा बन्धनार्थ जितनी रज्जु ग्रहण करती थी, सब कुछ विफल होने से मा विस्मित हो गई थी, और शक्ति ऐश्वर्य्य को प्रकट करती थी। आपकी कुक्षि के मध्य में ब्रह्माण्ड जिस प्रकार अवस्थित है, बाहर भी उस प्रकार अवस्थित है, आप ब्रह्माण्ड के अन्तर्भुक्त होकर भी अखिल ब्रह्माण्ड का व्यापक हैं, इस प्रकार समस्त वस्तु ही आप में अवस्थित हैं ॥३५॥

प्रपञ्च के द्वारा परिच्छेदत्व की प्रतीति भी निज याथार्थ्यावरणात्मिका शक्ति व्यतीत सम्भव नहीं है।

ब्रह्मा पुनर्वार कहते हैं,—केवल यशोदा को उक्त रूप का प्रदर्शन किए थे, यह नहीं है, किन्तु मैंने भी आज ही उक्त तत्त्व का अनुभव किया है। आज आपने क्या विश्व प्रपञ्च का मायामयत्व का प्रदर्शन नहीं किया है? किया है, प्रथम मैंने केवल आपको ही देखा। तत् पश्चात् व्रज बालकों को देखा। अनन्तर

तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते" ॥१३३॥

अद्यैव ते त्वया किमस्य विश्वस्य त्वदृते त्वत्तो वहिर्मायात्वं माययैव स्फुरणं भवतीति मम मां प्रति न दर्शितम् ? अपि तु दर्शितमेव। एतन्नराकाररूपात्त्वत्तो वहिरेवेदं जगदिति मुग्धानां भाति, तन्माययैवेत्यर्थः। कथमेतदाकाररूपस्य मम तादृशत्वम् ? तत्राह— एकोऽसीति। व्रजसुहृदादिरूपं यद्यस्मादाविर्भूतम्, तत्तदखिलमधुना तिरोधानसमये येन पुनरनेन श्रीविग्रहरूपेणावशिष्यते, तदद्वयं ब्रह्मैवेत्यर्थः। अशेष-प्रापञ्चिकाप्रापञ्चिकवस्तूनां प्रादुर्भाव-स्थिति-तिरोभाव-दर्शनेन तल्लक्षणाक्रान्तत्वादिति भावः। ततश्चास्य ब्रह्मत्वे सिद्धे व्यापकत्वमपि सिध्यतीति तात्पर्य्यम्।

३७। ननु सृष्ट्यादौ ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा भिन्ना एव कारणभूतास्तथा स्थितौ केचिदन्ये-ऽवताराश्च, तत् कथं ममैवं सर्वकारणत्वमुच्यते ? तत्राह (भा० १०।१४।१९)—

"अजानतां त्वत्पदवीमनात्म,-न्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान, इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः" ॥१३४॥

सर्वसम्वादिनी

ज्ञानोपलक्षिता स्वरूपशक्तिः शुद्धजीव-ब्रह्मणि दृश्यते ; तस्मात् परस्मिन् ब्रह्मणि तु सानन्तात्मिकैव वर्त्तत इति सम्भावनीयेत्यर्थः ; यथा गभस्तिलेशे दृष्टा शक्तिर्गभस्तिमालिनीति, (शतपथ ब्रा० १४का० ६अ० ७ब्रा० ३०मं०) "य आत्मानमन्तरो यमयति" इति श्रुतेरिति ; यद्वा, ज्ञानी सृष्ट्यादि-विद्यानिधिः परमेश्वरस्तस्य यन्निजं ज्ञानम्, तेन परिच्छेद्या—अवगम्या सृष्टि-स्थिति-संहारादि-दर्शनात्तस्मिन् या शक्तिर्लक्ष्यते,—यैव च

अनुवाद—

समस्त वत्सगण के सहित सब को चतुर्भुज मूर्त्ति में देखा। अनन्तर अखिल तत्त्व के सहित उपासित होते हैं—देखा। अनन्तर समस्त ही एक अमित अद्वय ब्रह्म रूपमें अवस्थित हुए। अतएव आज आपने मुझको दिखलाया कि आपको छोड़कर माया के द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड की स्फूर्त्ति होती है। आप नराकार मूर्त्ति हैं, आप का यह जगत् है, अज्ञ की प्रतीति इस प्रकार होती है। वह माया से ही सम्भव है।

यदि कहो कि—मनुष्य मूर्त्ति मैं हूँ, इसमें सर्वमूर्त्तिमयत्व की सम्भावना नहीं हो सकती है ? उत्तर में कथित है,—"एकोऽसि प्रथमम्" प्रथम आप एकक थे। तत् पश्चात् समस्त व्रज सुहृदादि आप से आविर्भूत हुए हैं। अनन्तर उक्त समस्त ही आपके श्रीविग्रह में अन्तर्निहित होकर केवल अद्वय ब्रह्म रूपमें आप का श्रीविग्रह ही अवशेष रहा।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" यह श्रुति आपके अद्वयत्व का प्रकाश करती है। अशेष प्रापञ्चिक अप्रापञ्चिक वस्तु के आविर्भाव, स्थिति, तिरोधान का अनुभव जब हमने आपके श्रीविग्रह में ही किया, तब उक्त लक्षणाक्रान्त अद्वय ब्रह्म आप को क्यों नहीं कहें ? सुतरां आप ही अद्वय ब्रह्म हो, आपने अभिव्यक्त-अनभिव्यक्त उभयावस्था के प्रकाश में आपका विग्रह ही ब्रह्म है, इसका अनुभव कराया एवं उससे उसका व्यापकत्व सिद्ध होता है ॥३६॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—सृष्टि के पहले ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर—विभिन्न कारण से परस्पर भिन्न एवं स्थिति के समय अन्य अवतार भी होते हैं, किस हेतु मुझे सब के कारण कहते हो ? उत्तर में ब्रह्मा कहते हैं—"आप स्वयं निज अंशपुरुष के द्वारा सृष्ट्यादि शक्ति को अनात्मा जड़ प्रधान में प्रवर्त्तित कराकर उस उस कार्य्य में भिन्न की भाँति प्रतीत होते हो। जैसे सृष्टि कार्य्य में मैं, पालन कार्य्य में आप स्वयं

त्वमित्यस्य भासीत्यनेनान्वयः, कर्त्तुः क्रियान्वयस्यैव प्राथमिकत्वात्। कर्त्ता चात्र त्वमित्येव मध्यमपुरुषेण युज्यते। तस्मात्त्वमित्यत्र नेवशब्दः सम्बध्यते, किन्त्वेष इत्यत्रैव। ततश्च श्रीविग्रहोऽयं वाच्यः, स्वयंभगवत्त्वेनास्य गुणावतारत्वाभावात्, (भा० १०।१४।१८)—"अद्यैव त्वदृतेऽस्य" इत्यनेनाव्यवहितवचनेन विरुद्धत्वाच्च। तस्मादयमर्थः—त्वत्पदवीं तव तथाभूतं स्वरूपमजानतामजानतः प्रति, आत्मा तत्तदंशिस्वरूपस्त्वमेव, आत्मना तत्तदंशेन, मायां सृष्ट्यादिनिमित्तशक्तिम्, अनात्मनि जड़रूपे महदाद्युपादाने प्रधाने, विलत्य प्रवर्त्त्य, तत्तत्कार्य्यभेदेन भिन्न इव भासीत्यर्थः। कथम्? जगतः सृष्टावहं ब्रह्मेव, विधाने पालने एष इव एतत्कार्य्यपरिच्छिन्न इव, पालनमात्रकार्य्य इवेत्यर्थः, अन्ते त्रिनेत्र इवेति। वस्तुतस्त्वमेव तत्तद्रूपेण वर्त्तसे, मूढ़ास्तु त्वत्तस्तान् पृथक् पश्यन्तीति भावः। यतो द्वितीये (भा० २।६।३२)—

ब्रह्मवाक्यम्— "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" ॥१३५॥ इति।

अतो भगवत्स्वरूपैकत्वेन न ब्रह्मादिवद्विष्णुरिवेति निर्द्दिष्टम्।

सर्व्वसम्वादिनी

मायेति गीयते, सा तस्य मन्त्रादिविदामिव विद्या-विशेष एव; तत्सादृश्यात् स्वाभाविकत्वं त्वत्र विशेषः। ततस्तस्या विद्या-विशेषत्वे, विद्यायाश्च पुरुषस्य निजज्ञान-धार्यत्वे, तन्निजज्ञानस्य तावन्मात्र-धारकताया-मेवासमाप्तत्वे च वशीकृत-मायस्य परमेश्वरस्य यन्निजं ज्ञानम्, तन्माया मायिकं वा न भवति। तस्मात्तेनैव

अनुवाद—

मूर्त्यन्तर में रहते हैं, संहार कार्य्य में त्रिनेत्र विद्यमान हैं, किन्तु आपके महिमानभिज्ञ व्यक्तिगण उस को माया कहते हैं। कारण वे सब आप की अनिर्वचनीया शक्ति के प्रभाव को नहीं जानते हैं।"

अर्थात् यहाँ 'त्वं' पद के सहित 'भासि' पद का अन्वय प्रथम नियत है। व्याकरण के नियमानुसार कर्त्तृ पद के सहित क्रिया पद का अन्वय होता है। सुतरां "त्वं इव" इस प्रकार 'त्वं' पद के सहित 'इव' अव्यय का सम्बन्ध नहीं होता है। 'एष' पद के सहित ही 'इव' पद का अन्वय है। अतएव स्वयं भगवान् आप हैं, इससे आप का श्रीविग्रह ही यहाँ उक्त पद का वाच्य है। इसमें गुणावतार नहीं है, कारण इसके पहले "अद्यैव त्वदृतेऽस्य" इस वाक्य के साथ विरोध होगा।

यहाँ वक्ष्यमाण अर्थ ही सुसङ्गत होगा। यथा—त्वत् पदवीं,—तथाभूत अचिन्त्य-अनन्त शक्ति के महिमानभिज्ञ के सम्बन्धमें आत्मा अर्थात् समस्त अवतारादि के अंशीभूत आप, आत्मना—उस उस अंश से, मायां—सृष्टि-स्थिति-संहार के निमित्त, शक्ति को अनात्मनि—जड़रूप महदादि उपादान अथवा प्रधान में प्रवर्त्तित करके सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य के द्वारा भिन्नवत् भासित होते हैं।

यदि कहो कि—मैं भिन्नवत् क्यों प्रकाशित हूँगा? तदुत्तर में कहते हैं—सृष्टि कार्य्य में जिस प्रकार मैं ब्रह्मा, आपके ही मूर्त्यन्तर पालन कार्य्य में, विनाश हेतु त्रिनेत्र, कार्य्य परिच्छेद के समान प्रतिभात होते हैं। वस्तुतः आप स्वयं ही विभिन्न रूपमें अवस्थित होते हैं, एवं कार्य्य सम्पादन भी करते हैं। किन्तु मूढ़गण आप को उस सब से पृथक् देखते हैं। वे सब आप की महिमा पूर्णतया नहीं जानते हैं।

द्वितीय स्कन्धोक्त श्रीब्रह्मा की उक्ति भी उसके अनुरूप है, "हे त्रिशक्तिधारिन्! मैं आपके नियोग से ही जगत् सृजन करता हूँ, आप के अधीन महादेव—संहारादि कार्य्य करते हैं, आप स्वयं विष्णुरूप धारण कर विश्व पालन करते हैं।" अतएव यहाँ श्रीविष्णु मूर्त्ति श्रीभगवान् के स्वरूपभूत है, ब्रह्मादिवत् विष्णु में 'इव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है ॥३७॥

३८। एवं यथा गुणावतारास्तथान्येऽप्यवतारा इत्याह (भा० १०।१४।२०)—

"सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि, तिर्य्यक्षु यादःस्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय, प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च" ॥१३६॥

अजनस्य जन्मेत्यनेन प्रादुर्भावमात्रं जन्मेति बोधयति। ननु ब्रह्मन्! किमत्र विचारितं भवता, यदेकस्या एव मम मूर्त्तेर्व्यापकत्वे सत्यन्यासां दर्शनस्थानं न सम्भवतीति, तथा जड़-वस्तूनां घटादीनामेव प्राकट्य-प्रकारो लोके दृष्टः, कथं तदितरस्वभावानां चिद्वस्तूनां मम श्रीमूर्त्यादीनामिति? यथा यावत्यो विभूतयो मम भवता दृष्टास्तावतीभिरेव भवान् विस्मितः, नापराः सन्तीति सम्भावयन्निव तत्परिमिततामधिगतवानस्तीति। तथा ये ममांशाः पूर्वं बालवत्सादिरूपास्त एव चतुर्भुजा अभवन्निति कस्यापि रूपस्य कदाचिदुद्भवः कस्यापि कदाचिन्नेति।

३९। किञ्च, सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरस-मूर्त्तित्वाद्युगपदेव सर्वमपि तत्तद्रूपं वर्त्तत एव, किन्तु यूयं सर्वदा सर्वं न पश्यथेति, तत्र च यौगपद्यं कथमिति, तत्राह (भा० १०।१४।२१)—

"को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्, योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोकचाम् ।
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति, विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्" ॥१३७॥

सर्वसम्वादिनी

स्वरूपभूत-ज्ञानेन तदात्मिका शक्तिर्लक्ष्यते,—(श्वे० ४।१०) "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति श्रुतेः। इदं वा एकस्मिन्नेव स्वरूपे ज्ञानीति ज्ञानमिति च परिच्छेद्यं यया सा ;—(ब्र०सू० ३।२।३०) "**पूर्ववद्वा**" इति न्यायात् ; (**छा**० ७।२४।१) "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नि" इति श्रुतेः। इत्थं वा,ज्ञानी विद्वान्, तस्य ज्ञानेनानुभवेन परिच्छेद्या अवगम्या— **वैकुण्ठादिषु श्रीभगवतस्तत्तन्निजवैभवानां**

अनुवाद—

गुणावतार, ब्रह्मादि गुणावतार जिस प्रकार है, उस प्रकार आपके अन्यान्य अवतार भी हैं। "हे प्रभो! आप असुरगण के एवं तत् स्वभावविशिष्ट जीवगण के दुर्मद विनाश हेतु तथा साधुगण के प्रति अनुग्रह विधान निमित्त अजन—जन्म रहित होकर भी देवता, ऋषि, मनुष्य, तथा तिर्य्यगादि में जन्मग्रहण करते हैं।"

यहाँ "अजन का जन्म" इस कथन से प्रतीत होता है कि—आपका जन्म जीववत् सामान्य जन्म नहीं है, आपका जन्म—प्रादुर्भाव नाम से अभिहित होता है।

यदि कहो—हे ब्रह्मन्! मेरी मूर्त्ति की व्यापकता होने से अपर मूर्त्तियों की दर्शन सम्भावना नहीं होगी। कारण लोक घट-पटादि अनेक वस्तुओं की विद्यमानता को देखकर उस की पृथक् उपलब्धि को मानते हैं। अतएव उससे भिन्न स्वभावविशिष्ट चिद्रूप मेरी अन्य मूर्त्ति का दर्शन नहीं होगा। इसका सम्भव कैसे हो? ब्रह्मा जी आपने मेरी जो विभूति को देखी है, उससे आप विस्मित भी हैं, उससे तदधिक विभूति नहीं है, इस प्रकार अभिज्ञता भी आपकी हुई है।

आपने पहले बालवत्स रूपमें जिस को देखा, तत्पश्चात् सब को चतुर्भुज रूपसे भी देखा, इससे किसी एक रूप का कभी उद्भव होता है, कभी उसका तिरोभाव होता है। ऐसा अनुभव आपका हुआ॥३८॥

अपिच—सत्यज्ञानानन्तानन्दैक रसमूर्त्तिताहेतु उन उन विशेष मूर्त्ति, नित्य ही विद्यमान हैं। किन्तु सर्वदा कोई देख नहीं पाता है,—इससे मूर्त्यादि का युगपद् विद्यमानत्व कैसे कहा जा सकता है? ब्रह्मा इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—"हे भूमन्! हे भगवन्! हे परात्मन्! हे योगेश्वर! अहो! आपकी अचिन्त्य

क्व वा, कथं वा, कति वा, कदा वा, योगमायां दुस्तर्क्यां चिच्छक्तिम्, विस्तारयन् तथा तथा प्रवर्त्तयन् क्रीड़सीति भवत ऊतिर्लीलास्त्रिलोक्यां को वेत्ति ? न कोऽपीत्यर्थः। (केन० २।३) "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः" इति भावः। अत्र दुर्ज्ञेयतापुरस्कृतेनैव सम्बोधन-चतुष्टयेन चतुर्षु युक्तिमाह—हे भूमन्! क्रोड़ीकृतानन्तमूर्त्यात्मकश्रीमूर्त्ते! अयं भावः—एकमपि मुख्यं भगवद्रूपं युगपदनन्तरूपात्मकं भवति।

४०। तथैवाक्रूरेण स्तुतम् (भा० १०।४०।७)—"बहुमूर्त्येकमूर्त्तिकम्" इति; तथा च श्रुतिः—"एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्" इति। ततो यदा यादृशं येषामुपासनाफलोदयभूमिकावस्थानं तदा तथैव ते पश्यन्ति। तथा च (ब्र०सू० ३।३।५२) 'प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टिश्च तदुक्तम्' इत्यत्र तु ब्रह्मसूत्रे मध्वभाष्यम्—"उपासनाभेदाद्दर्शनभेदः" इति। दृष्टान्तश्च यथैकमेव पट्टवस्त्र-

सर्वसम्वादिनी

शुद्धानन्द-विलासमात्रतां प्रति प्रमाणेन विद्वदनुभवेनैव प्रमेयेत्यर्थः; (श्वे० १।३) "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्" इति श्रुतेः। तदेवमन्तरङ्गापरपर्य्यायिा स्वरूपशक्तिर्दर्शिता।

श्रुत्यन्तरे चात्र (ब्र०सू० ३।२।३८—माध्वभाष्य-धृतायाम्)—

"स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः। अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्" ॥२५॥

अनुवाद—

योगमाया के प्रभाव से—किस देश में, किस हेतु, कितने, किस समय में आप क्रीड़ा करते रहते हैं, उसको कौन जान सकता है ? कोई भी जानने में सक्षम नहीं है।" अर्थात् कहाँ, क्यों, कितने, कब, स्वीय दुस्तर्क्या चिच्छक्ति को विस्तार कर आप क्रीड़ा करते रहते हैं। हे लीलामय! त्रिलोक में कौन ऐसा है, जो आप की उस अचिन्त्य लीला को समझ लेगा ? कारण जो व्यक्ति कहेगा कि मैं भगवान् को जान गया हूँ, उसने आप को नहीं जाना है, यह ही स्थिर सिद्धान्त है। श्रुति कहती है—"यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः" श्रीशङ्करभाष्य—"यस्य ब्रह्मविदो अमतमविज्ञातं, ब्रह्मेति मतमभिप्रायः निश्चयस्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग् ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनर्मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म जानाति" अर्थात् ब्रह्म तत्त्व इतना दुर्ज्ञेय है, जिसका सम्यक् ज्ञान जीव में होना कभी भी सम्भव नहीं है।

अचिन्त्य शक्ति के कारण दुर्ज्ञेय लीलत्व के विषय में सम्बोधन चतुष्टय का प्रयोग हुआ है। उसमें युक्ति दर्शाते हैं। हे भूमन्! स्वीय अचिन्त्य शक्ति के द्वारा स्वीय अनन्तमूर्त्ति क्रोड़ीकृत करके इस परिच्छिन्न मूर्त्ति श्रीगोपबालक रूपमें विद्यमान्। इसका तात्पर्य्य यह है—आपकी मुख्य यह भगवन्मूर्त्ति है, यह मूर्त्ति ही युगपत् अनेक रूपात्मक होती है ॥३६।

उक्त बहु मूर्त्तिमें भी एक मूर्त्तित्व के सम्बन्ध में अक्रूर महाशय की उक्ति इस प्रकार है, भा० १०।४०।७ "बहुमूर्त्येकमूर्त्तिकम्" "आप बहुमूर्त्ति होकर भी एक भगवन्मूर्त्ति में अवस्थित हैं।" श्रुति इस प्रकार है—"एक होकर भी बहुरूप में दृश्यमान होते हैं।"

जब जिसकी यादृश उपासना का फलोदय होता है। आप तत्काल उपासक को अभीप्सित मूर्त्ति में दर्शन देते हैं।

ब्रह्म सू० "प्रज्ञान्तर पृथक्त्ववत् दृष्टिश्च तदुक्तम् (ब्र० सू० ३।३।५२) मध्वाचार्य के मत में "उपासना के भेद से भगवद् दर्शन भेद होता है।"

गोविन्द भाष्य—"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति द्वे प्रज्ञे दृष्टे। तत्रैका शाब्दी, अन्या तूपासना। तस्याः पृथक्त्वं भेदः। तद्वदेव तदुपासकानां तद्दृष्टिर्भवति, तथा चोपासनानुयायि भगवद्दर्शनं ततो विमुक्तिरिति"

विशेष-पिञ्छावयवविशेषादिद्रव्यं नानावर्णमय-प्रधानैकवर्णमपि कुतश्चित् स्थानविशेषाद्दत्त-चक्षुषो जनस्य केनापि वर्णविशेषेण प्रतिभातीति। अत्राखण्डपट्टवस्त्रविशेषादिस्थानीयं निज-प्रधानभासान्तर्भावित-तत्तद्रूपान्तरं श्रीकृष्णरूपं तत्तद्वर्णच्छविस्थानीयानि रूपान्तराणीति ज्ञेयम्। यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथा विभुः" ॥१३८॥ इति।

मणिरत्र वैदूर्य्यम्, नीलपीतादयस्तद्गुणाः। तदेवं क्वेत्यस्य युक्तिरुक्ता। एवमेव श्रीवामनावतारमुपलक्ष्य श्रीशुकवाक्यम् (भा० ८।१८।१२)—

"यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै,-रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः, संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः" ॥१३९॥ इति।

अर्थश्चायम्—यद्वपुः शरीरं न केनापि व्यज्यते, या चित् पूर्णानन्दस्तत्स्वरूपमेव सत् विभूषणायुधैर्भाति, तद्वपुस्तदा प्रपञ्चेऽपि व्यक्तं यथा स्यात्तथा अधारयत् स्थापितवान्।

सर्वसम्वादिनी

इति चतुर्वेदशिखायां माया-शब्दस्य द्विधा वृत्तिरित्युक्तम्। तस्या एकस्या एव स्वरूपशक्तेर्वृत्तिभेदेन भेदा अपि स्वीकृताः;—(श्वे० ६।८) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्रुतेः; तथा च (ब्र०सू० २।१।३०) श्रीमाध्वभाष्य-प्रमाणिताः श्रुतयः—

सर्वयुक्ता शक्तिभिर्देवता सा, परेति यां प्राहुरजस्रशक्तिम्। नित्यानन्दा नित्यरूपाजड़ा च या, शाश्वतात्मेति च यां वदन्ति॥

अनुवाद—

अर्थात् "भगवत्तत्त्व को जान कर तद्विषयक प्रज्ञा करें।" इस वाक्य में प्रज्ञा शब्द का प्रयोग है। उसका अर्थद्वय है, प्रथम—शाब्दी प्रज्ञा, द्वितीया—उपासना, उपासना के भेद के अनुसार प्राप्य उपास्य तत्त्व का भी आविर्भाव भेद होता है।" यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशीत्यादि" जिसकी भावना यादृशी है, उसकी सिद्धि भी तादृशी होती है।

दृष्टान्त—जिस प्रकार मयूरकण्ठी वर्ण का पट्टवस्त्र, विभिन्न वर्ण का प्रकाशक होने पर भी, उसमें सर्व वर्णान्तर्गत एक प्रधान वर्ण विद्यमान है। किसी समय प्रधान वर्ण की उपलब्धि होती है। तद्रूप पट्टवस्त्र स्थानीय निज प्रधान श्रीकृष्ण मूर्त्ति में,—अन्यान्य मूर्त्तिसमूह भी अन्तर्भावित है। वस्त्र के अपर वर्णविशेष की प्रतीति के समकाल में जिस प्रकार उसका प्रधान वर्ण उसके मध्य में होने से भी प्रतीत नहीं होता है। तद्रूप आपकी मूर्त्यन्तर की प्रतीति के समकाल में वस्त्रस्थ प्रधान वर्णवत् मूल श्रीकृष्ण मूर्त्ति भी उसमें ही विद्यमान है।

श्रीनारद पञ्चरात्र में उक्त है—"वैदूर्य्यमणि जिस प्रकार एक होकर भी रश्मि के तारतम्य से नील-पीतादि विभिन्न वर्णों के द्वारा रञ्जित होती है। तद्रूप अनन्त वैभवशाली श्रीभगवान् की मूर्त्ति के विभेद ध्यान भेद से होता है। मण्यादि के नील-पीतादि गुण के समान आपकी लीला एवं अवयवादि की महिमा भी अनन्त है।

श्रीवामन अवतार के उपलक्ष्य में श्रीशुकदेव की उक्ति इस प्रकार है, यथा—"भगवान् श्रीहरि पिता माता के निकट कृपा करके स्वीय भूषण आयुधादि परिशोभित जिस मूर्त्ति में आविर्भूत हुये थे, उन सब की दृष्टि के सन्मुख में ही दिव्यगति नट के समान उन चिन्मय मूर्त्ति में ही अव्यक्तचित् श्रीवामन मूर्त्ति धारण किए थे।"

यहाँ इस प्रकार अर्थ को जानना होगा। श्रीभगवान् के शरीर किस के द्वारा किसी भी प्रकार से

पुनश्च तेनैव वपुषा वामनो वटुर्बभूव हरिः। एवकारेण परिणाम-वेषान्तरयोगादिकं निषिद्धम्। कदा ? पित्रोः संपश्यतोः; तेनैव वपुषा, तद्भावे हेतुः—दिव्याः परमाचिन्त्याः, "यद्गतं भवच्च भविष्यच्च" इत्यादि-श्रुतेः स्वस्मिन्नेव नित्यस्थितानां नानासंस्थानां प्रकाशनाप्रकाशन-रूपा गतयश्चेष्टा यस्य सः। तत्रालक्षितस्वधर्ममात्रोल्लासांशे दृष्टान्तलेशः—यथा नट इति। नटोऽपि कश्चिदाश्चर्य्यतमे दिव्या परमविस्मापिका गतिर्हस्तकररूपा चेष्टा यस्य तथाभूतः सन् तेनैव रूपेण वैषम्यादिकमनुरीकृत्यापि नानाकारतां यथा दर्शयति, स्वर्ग्यो नटो वा दिव्यगतिः। ततश्च तत्तदनुकरणं तस्यात्यन्ततदाकारमेव भवति। अत्र परमेश्वरं विना अन्यस्य सर्वांशे तादृशत्वाभावात्; न च दृष्टान्ते खण्डत्वदोषः प्रसञ्जनीयः। यथा भक्षितकीटपरिणाम-लालाजाततन्तु-साधनोऽप्यूर्णनाभः परमेश्वरस्य जगत्सृष्टावनन्यसाधकत्वे दृष्टान्तः (भा० ११।९।२१) "यथोर्णनाभिर्हृदयात्" इत्यादि, तद्वत्। तदेवं श्रीब्रह्मणापि सर्वरूपसद्भावाभिप्रायेणैवोक्तम् (भा० ३।९।११)—

"त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज, आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" ॥१४०॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

इति चतुर्वेदशिखायाम्; (ब्र०सू० १।३।१०—माध्वभाष्यधृता श्रुतिः; बृ०आ० ३।७।२७; ३।८।११) "अश्रुतं श्रोतृ अदृष्टं द्रष्टृ" इत्यादिरन्यत्र। अतएव ब्रह्मसायुज्य-प्रतिपादिका माध्यन्दिनश्रुतिरपि तस्य सर्वशक्ति-मत्त्वं स्वरूपसिद्धमेवेत्यङ्गीकरोति—(ब्र०सू० ४।४।५—माध्वभाष्यधृता श्रुतिः) "स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृत्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति, ब्रह्मणा शृणोति, ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति" इति। एक-

अनुवाद—

प्रकाशित होने का नहीं है। अप्रापञ्चिक नित्य चित्पूर्णानन्दस्वरूप होकर भी जो मूर्त्ति विभूषण आयुधादि परिशोभित हुई थी उस विग्रह को प्रपञ्च में अभिव्यक्त कराकर श्रीभगवान् स्थापन किए थे। पुनश्च उस मूर्त्ति में ही वामनरूप धारण किए थे। कब ? पितामाता की दृष्टि के सामने। नित्य चित् पूर्णानन्दस्वरूप में ही वामनरूप हुए थे। उसमें प्रमाण—"तेनैव वपुषा" है। "दिव्याः" परम अचिन्त्य स्वरूप के पक्षमें सब कुछ सम्भव है। गीतामें भगवान् स्वयं ही कहे हैं, "दिव्या ह्यात्मविभूतयः" (गीता १०।१८) "यत् गतं भवच्च भविष्यच्च" इत्यादि श्रुति जिनका सार्वकालिकत्व का प्रतिपादन करती है। "गतिः" स्वकीयावयव में ही नित्यावस्थित नाना संस्थानादि की मूर्त्यादि की प्रकाश अप्रकाशरूप गति-चेष्टा जिन की है वह ही "दिव्यगतिः" है। यहाँ जीव का अलक्षित स्वधर्म विशेष का उल्लासांश का ही दृष्टान्त जानना होगा।

नट दृष्टान्त से जो कुछ दिखाया गया है,—नट जिस प्रकार किसी आश्चर्य्यतम परमविस्मापिका नाना विध कटाक्षादि अङ्गचेष्टा को देखाकर दर्शकगण को मुग्ध करता है, एवं उस का अनुकरण ठीक अनुकृत के तुल्य ही होता है। तद्रूप भगवान् भी उनके मूर्त्ति में ही किसी प्रकार वैषम्यादि को अङ्गीकार न करके भी मूर्त्यन्तर का परिग्रह करते हैं। सर्वांश में एतादृश अनुकरण करता परमेश्वर को छोड़कर अपर किसी के लिए कभी भी सम्भव नहीं है। दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक में सामञ्जस्य न होने से आंशिक दोष ग्रहणीय नहीं है। जगत् सृष्टि को समझाने के लिए जिस प्रकार लूता (मकोड़सा) का दृष्टान्त दिया जाता है, उस प्रकार यहाँ नट का दृष्टान्त दिया गया है।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में उक्त है—"यद्रूप ऊर्णुनाभ निज हृदय से उद्गत ऊर्णासमूह को मुख से निकालता है"।

प्रणयसे प्रकर्षेण नयसि प्रकटयसि, श्रुतेक्षितपथ इत्यनेन कल्पनाया निरस्तत्वात्। सर्वरूपत्वेऽपि भक्तानभिरुचितरूपत्वेऽपवादः श्रीकर्द्दमवाक्येन (भा० ३।२४।३१)—

"तान्येव तेऽभिरूपाणि भगवंस्तव। यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः"॥१४१॥इति

यानि यानि च त्वदीयस्वभक्तेभ्यो रोचन्ते, तानि कान्येव तव रूपाणि ते तव अभिरूपाणि योग्यानि, नान्यानीत्यर्थः। अन्यानि च यादृशं रन्तिदेवाय कुत्सितरूपं प्रपञ्चितं तादृशानि ज्ञेयानि। तादृशस्य च मायिकत्वमेव हि तत्रोक्तम् (भा० ६।२१।१५)—

"तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम्।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः" ॥१४२॥ इति।

टीका च—"त्रिभुवनाधीशा ब्रह्मादयः, मायास्तदीयधैर्य्यपरीक्षार्थं प्रथमं मायया वृषलादिरूपेण प्रतीताः सन्त इत्यर्थः" इत्येषा। अनभिरूपत्वे हेतुः—अरूपिण इति, 'प्राकृतरूपरहितस्य' इति टीका च। अप्राकृतत्वेन कुत्सितत्वासम्भवादिति भावः।

अथ प्रकृतपद्यस्य कथं वेत्यादित्रययुक्तयेऽवशिष्टं सम्बोधनत्रयं व्याख्यायते—हे भगवन्नचिन्त्यशक्ते! अचिन्त्यस्य भगवन्मूर्त्याद्याविर्भावस्यान्यथानुपपत्तेरचिन्त्या स्वरूपशक्तिरेव

सर्वसम्वादिनी

विज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञा च तथैव कल्पयते; (छा० ६।१।३) "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति वाक्यान्तरञ्च;—सर्वस्य तादृश-तन्निजशक्तिवृन्दानुगतत्वान्निर्विशेष-वस्तुज्ञाने सर्वज्ञानासम्भवाच्च। अतएव (मु० १।१।१)—"स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्युक्तम्; (छा० ८।१।३) "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति, सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" इति चान्यत्र; यथा (छा० ६।१।४)

अनुवाद—

इस हेतु—ब्रह्मा भी समस्त रूपों का सद्भाव जिस श्रीभगवद् मूर्त्ति में विद्यमान् है, तदभिप्राय से ही इस प्रकार कहे थे। "भक्तियोग परिभावित में" अर्थात् भक्ति योग आचरण के द्वारा हृदय विशुद्ध होने से उसमें आप प्रकाशित होते हैं।" उक्त श्लोक में "प्रणयसे" शब्द है, उसका अर्थ प्रकटित करते हैं। "श्रुतेक्षित" पद प्रयोग से मूर्त्ति का कल्पितत्व का निरास हुआ है।

श्रीभगवान् सर्वरूपी होने पर भी भक्त की अनभीप्सित मूर्त्ति में आविर्भूत नहीं होते हैं। इससे श्रीकर्दम की उक्ति सुस्पष्ट है। यथा—हे भगवन्! भक्तगण आपकी अप्राकृत रूप सम्पन्न जो जो मूर्त्ति का दर्शन करना चाहते हैं। आप रुचि एवं प्रार्थना के अनुसार उन मूर्त्ति को प्रकट करते हैं।

रन्तिदेव के सम्बन्ध में भगवान् कुत्सित रूप प्रकट किए थे, ऐसा प्रसङ्ग है। उक्त रूप मायिक है, उस समय ही कहा गया है, "फलकामिगण के फल प्रदाता ब्रह्मादि त्रिभुवनाधीशगण रन्तिदेव को विष्णु निर्मित माया के द्वारा आत्म प्रदर्शन किए थे। 'टीका'—त्रिभुवनाधीशगण "ब्रह्मादि देवगण" प्रथम उनके धैर्य्य की परीक्षा करने के निमित्त माया द्वारा वृषलादि मूर्त्ति को प्रकट किए थे" वह ही अयोग्य के प्रति कारण है। यहाँ "अरूपिणः" का अर्थ—प्राकृत रूप रहित है। टीका का तात्पर्य्य भी वह है। जो अप्राकृत है, वह कभी भी कुत्सित नहीं हो सकता है। तात्पर्य्य यह है कि—परीक्षा हेतु मायिक मूर्त्ति ग्रहण से कृपा ही प्रकाशित हुई है।

सम्प्रति मूलस्थ—"को वेत्ति भूमन्" श्लोकोक्त—कथं वा, कदा वा, वाक्यत्रय का यौक्तिकत्व विधायक अवशिष्ट सम्बोधन त्रय की व्याख्या करते हैं,—हे भगवन्! हे अचिन्त्यस्वरूप श्रीभगवान् की मूर्त्यादि आविर्भाव की अन्यथा अनुपपत्ति होने से, अचिन्त्यस्वरूप शक्ति ही उसमें कारण है। यह ही "कथं वा"

कारणमिति भावः। इयं कथं वेत्यस्य युक्तिः। तथा हे परात्मन्! परेषां प्रत्येकमप्यनन्त-शक्तीनां पुरुषाद्यवताराणामात्मन्नवतारिन्! त्वयि तु तासां सुतरामनन्तत्वात् तदाविर्भाव-विभूतयः कति वा वाङ्मनसगोचरत्वमापद्येरन्निति भावः। इयं कति वेत्यस्य युक्तिः। तथा हे योगेश्वर! एकस्मिन्नेव रूपे नानारूपयोजनालक्षणाया योगमायानाम्नचाः स्वरूपशक्तेस्तया वा ईशनशील! अयं भावः—यथा तव प्रधानं रूपमन्तर्भूतानन्तरूपं तथा तवांशरूपञ्च। ततश्च यदा तव यत्रांशे तत्तदुपासनाफलस्य यस्य रूपस्य प्रकाशनेच्छा, तदैव तत्र तद्रूपं प्रकाशस इति। इयं कदेत्यस्य युक्तिः॥

४१। तस्मात्तत्तत् सर्वमपि तस्मिन् श्रीकृष्णरूपेऽन्तर्भूतमित्येवमत्रापि तात्पर्य्यमुपसंहरति (भा० १०।१४।२२)—

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं, स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति" ॥१४३॥

यस्मादेवं प्रपञ्चाप्रपञ्च-वस्तूनां सर्वेषामपि तत्त्वविग्रहोऽसि, तस्मादेव नित्यसुखबोध-लक्षणा या तनुस्तत्स्वरूपेऽनन्ते त्वय्येवाशेषमिदं जगदवभातीत्यन्वयः। कथम्भूतम्? सत् उद्यदपि यत् मुहुरुद्भवत्तिरोभवच्च। यद्यस्मिन् मुहुर्जायते लीयते च, तत्तस्मिन्नेवावभाति

सर्वसम्वादिनी

"सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्" इति दृष्टान्तोऽपि;—एकस्मिन्मृत्पिण्डे घटशरावादि-विकारानाविर्भाव्य, दर्शनया तत्तद्विज्ञान-सम्भवात् सत्कार्य्यवादाङ्गीकाराच्च। मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति विवर्त्तवादश्च न तच्छ्रुति-स्वारस्यसिद्धः। तस्मात् साधूक्तं श्रीपराशरेण (वि०पु० ६।८।५७)—"सर्वशक्ति-निलये" इति।

अनुवाद—

(किस लिए) कहने की युक्ति है। हे परात्मन्! अंशभूत अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रत्येक पुरुषादि अवतारगणों के अंशिन्! अवतारिन्! सुतरां उक्त समुदय शक्ति ही विद्यमान है।

अतएव आपकी आविर्भाव विभूति कितने प्रकार है, वह मन-वाणी के अगोचर है, अचिन्त्य विभूति ही उक्त अगोचरत्व का प्रतिपादक है। यह ही "कति वा" (कितने प्रकार) के पक्ष में युक्ति है। हे योगेश्वर! एक आपके रूप के मध्य में नाना प्रकार योजन लक्षणा योग नाम्नी जो स्वरूपशक्ति है, उसके द्वारा ईशनशील! तात्पर्य्य यह है कि—जिस प्रकार आपके रूप के मध्य में अनन्त रूपादि अन्तर्निहित है, तद्रूप अंशरूप भी अन्तर्निहित है। जब अंश उपासकगण की उपासना के फलस्वरूप जिस रूप को प्रकट करने की इच्छा होती है, तत्पश्चात् उसके निमित्त उक्त रूप को प्रकट करते हैं। यह ही "कदा" (कब) पक्ष की युक्ति है।

अतएव उक्त समस्त ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण रूपमें अन्तर्भुक्त हैं, प्रकरण का तात्पर्य्य यह ही है ॥४०॥

उपसंहार में—कहते हैं, यह प्रापञ्चिक जड़जगत् असत् है, क्यों कि यह स्वप्नवत् ज्ञानादि रहित जड़ है, प्रकृष्ट दुःख का आधार जो प्रकृष्ट दुःख है, उससे उत्थित इन्द्रियादि समस्त दुःखमय एवं असत् होकर भी नित्य सुखस्वरूप ज्ञानघन विग्रह त्वदीय इच्छा शक्ति से आविर्भूत होकर सद्वत् अवभात हो रहे हैं।

अर्थात् जिस हेतु प्रापञ्चिक अप्रापञ्चिक समस्त वस्तु का ही आप मूल तत्त्व विग्रह हैं। अतएव तज्जन्य आपका जो नित्य ज्ञानानन्दलक्षण विग्रह, उस सत्स्वरूप अनन्तमूर्त्ति आप में ही यह अशेष जगत् अवभात होते हैं। यहाँ सत् न कहकर सद्वत् कहने का हेतु है—जो बारम्बार उद्भूत एवं तिरोभूत होता है। जो

भुवि तद्विकार इवेति भावः। तर्हि किं मम विकारित्वम् ? नेत्याह; मायया त्वदीयाचिन्त्य-शक्तिविशेषेण विकारादि-रहितस्यैव (ब्र०सू० २।१।२७) **"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादौ परिणामस्वीकारात् मुहुरुद्भवत्तिरोभवत्त्वादेव स्वप्नाभं तत्तुल्यम्, न त्वज्ञानमात्र-कल्पितत्त्वादपि;** (ब्र० सू० २।२।२९)— **"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इति-न्यायेन तथा अविद्यावृत्तिक-माया-कार्य्यत्वाच्च अस्तधिषणं जीवपरमार्थज्ञानलोपकर्त्तृ। उभयस्मादपि हेतोः पुरुदुःखदुःखं तदीयसुखाभासस्यापि वस्तुतो दुःखरूपत्वाद्विना त्वत्सत्तया तु असत्स्वरूपं शशविषाणतुल्यं तदेवम्भूतमपि सदिवाऽनश्वरमिवाभाति, मुग्धानामिति शेषः। उपलक्षणञ्चैतद्व्यवहारज्ञान-**

सर्वसम्वादिनी

तदेवमेकस्यैव वस्तुनोऽचिन्त्यज्ञानगोचरतया श्रुत्येक-निर्द्धारिततया च नानाशक्तित्वे सति तदात्मिका एव भग-संज्ञिता ऐश्वर्य्यादयो षड् भवेयुः,—**येनाद्वयमेव तत्तत्त्वं भगवानपि तदद्वयं ज्ञानं शब्द्यत इति तेषां परब्रह्मधर्माणां परब्रह्मणः प्रत्यग्रूपत्वात् स्वप्रकाशत्वमेव, न तु जड़त्वम्। न हि ज्योतिर्धर्मस्य श्वौक्यादि-कस्य तमोरूपत्वम्।** तच्च स्वप्रकाशत्वमिन्द्रिय-करणक ग्रहणाभावे सति स्वरूपेण तानि प्रकाश्य तेषु प्रकाश-

अनुवाद—

वस्तु जहाँ बारम्बार उत्पन्न होकर उसमें लीन होती है, वह उसमें ही अवभात होती है। जिस प्रकार पृथिवी में अनेक प्रकार विकार की प्रतीति होती है। तब क्या यह सब मेरा विकार है ? अविकारी मुझ में विकारित्व का संघटन करना चाहते हो ? उत्तर में कहते हैं—ना, पृथिवीत्व की भाँति आप में विकारित्व की सम्भावना नहीं है, कारण "मायातः" शब्द प्रयोग के द्वारा त्वदीय अचिन्त्य इच्छाशक्ति विशेष के द्वारा उक्त कार्य निर्वाह होने से विकारित्वादि दोष का निषेध हुआ है।

"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस सूत्र में आप का परिणामवाद अस्वीकृत हुआ है, एवं उद्भव—तिरोभाव की पौनपुन्यता हेतु वह स्वप्नाभ— स्वप्न तुल्य कथित होने से वह कल्पित नहीं है, यह प्रतिपादित हुआ है। "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इस सूत्र में सूत्रकार स्वयं ही प्रदर्शन किए हैं।

गोविन्द भाष्य—"च शब्दोऽवधारणे स्वप्ने मनोरथे च यथा घटाद्यर्थाकारकज्ञानमात्रसिद्धो व्यवहार-स्तथा जागरेऽपि भवेदित्येतन्न सम्भवति, कुतो वैधर्म्म्यात्, स्वप्नजागरप्राप्तयोर्वस्तुनोरसाधर्म्यादेव। स्वमतन्तु स्वमात्रानुभाव्यं तावन्मात्रसमयं वस्तु स्वप्ने परेशः सृजतीति "सन्ध्ये सृष्टिराह" (वे० सू० ३।२।१) हीत्यादिना वक्ष्यते।" अर्थात् स्वप्न भी परेश कर्त्तृक सृजित है, तद्रूप सृष्ट्यादि अविद्या वृत्ति माया का कार्य्य होने से माया अपनी शक्ति से जीव के स्वतःसिद्ध ज्ञान को आच्छादित करती है, वह ही 'अस्तधिषणं' कथित है, जिस से जीवात्मपरमात्म विषयक ज्ञान लुप्त होता है।

"स्वप्नाभं" "अस्तधिषणं" हेतुद्वय कथन से जीव दुःख परायण है, यह सूचित हुआ है। कारण,—जीव जिस को सुख मानता है, वह प्रकृत सुख न होने से भी सुखाभास है। किन्तु वह दुःख रूप ही है। कारण—आभास, कभी वस्तु स्वरूप नहीं हो सकता है। त्वदीय सत्ता व्यतीत समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी वस्तु उपलब्ध होती है, समस्त ही शशविषाणवत् केवल कल्पना, अथवा मिथ्या है। किन्तु आश्चर्य्य यह है कि—यह सब नश्वर स्वभावापन्न वस्तु भी आप की सत्ता से मायामुग्ध जीव के निकट अविनश्वर नित्यवत् प्रतिभात हैं।

ज्ञान नित्य होने पर भी उस की उद्बोधक वस्तु की भाँति वह केवल उपलक्षण मात्र ही है। कारण—व्यवहार ज्ञानमय महत्तत्त्वाद्यात्मकता ही उसका हेतु है। जिस प्रकार सुख के प्रति स्वर्गाद्यात्मकता हेतु है। उस प्रकार परिच्छिन्न महत्तत्त्वादि तदाश्रयभूत अपरिच्छिन्न तत्त्व को प्रकाश करते हैं। यह ही उपलक्षण अथवा अजहत् स्वार्थ लक्षणा है। यह अजहत् जहत् स्वार्थ लक्षणा ही मायावाद का एकमात्र उपजीव्य है।

मयमहदाद्यात्मकत्वाज्ज्ञानोद्बोधकमिव स्वर्गाद्यात्मकत्वात् सुखमिव च। तदेवमन्यस्य तत्-परिच्छेद्यत्वात् स्वरूपशक्त्यैव परिच्छिन्नमपरिच्छिन्नञ्च तवेदं वपुरिति प्रकरणार्थः ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

४२। तदित्थं मध्यमाकार एव सर्वाधारत्वाद्विभुत्वं साधितम्; सर्वगतत्वादपि साध्यते (भा० १०।६९।२)—

"चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्" ॥१४४॥

एतद्वत अहो चित्रम्। किन्तत्? एक एव श्रीकृष्णः द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रीर्यदुदावहत् परिणीतवान्। ननु किमत्राश्चर्य्यम्? तत्राह,— गृहेष्विति तत्संख्यकेषु सर्वेष्विति शेषः। भवतु ततोऽपि किम्? तत्राह—पृथक् पृथगेव स्थित्वा पाणिग्रहणादि-विवाहविधिं कृतवान्। ननु क्रमश उद्वाहे नासम्भवमेतत्? तत्राह—युगपदिति। ननु योगेश्वरोऽपि युगपन्नानावपूंषि विधाय तद्विधातुं शक्नोति, किमत्र योगेश्वराराध्यचरणानां युष्माकमपि चित्रम्? तत्राह—एकेन वपुषेति। तर्हि कथमनेकबाह्वादिकेन व्यापकेनैकेन वपुषा तत् कृतवान्? मैवम्; (भा०३।३।८)—

"आसां मुहूर्त्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया" ॥१४५॥

सर्वसम्वादिनी

मानत्वं नाम क्वचिदनिन्द्रियेष्वप्यचेतनेष्वपि तस्य प्रकाशः श्रूयते;—यथा वंशीवाद्यस्य (भा० १०।३५।९) "वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुम्" इत्यादौ, (भा० १०।३५।७) "तर्हि भग्नगतयः सरितो वै" इत्यादौ च।

तत्र भगानां स्वप्रकाशत्वं भगविशिष्टस्यैव भगवतः परविद्या-मात्राभिव्यङ्ग्यतया श्रीविष्णुपुराणे स्पष्टम्। प्रायः श्रीधरस्वामिपादानां क्रमेण तद्व्याख्याने च यथा (वि०पु० ६।५।५९तम-प०)—

अनुवाद—

अतएव अपर समस्त वस्तु श्रीभगवन्मूर्त्ति की परिच्छद्य होने से भी श्रीभगवान् स्वीय अचिन्त्य स्वरूप शक्ति से परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न श्रीविग्रह में अवस्थित हैं। उसमें किसी अवस्था—भाव की असम्भावना नहीं है। ब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे ॥४१॥

अनन्त ब्रह्माण्डादि सर्वाधारत्व निबन्धन श्रीभगवान् की मध्यमाकार मूर्त्तिमें विभुत्व प्रदर्शन के अनन्तर मध्यमाकार मूर्त्ति में सर्वगतत्व है, उस का प्रदर्शन करते हैं। जिस प्रकार विभुत्व के साधन में अनन्त ब्रह्माण्डादि सर्वाधारत्व हेतु है, उस प्रकार सर्वगतत्व धर्म भी विभुत्व के प्रतिकारण है। श्रीकृष्ण युगपत् समभाव से बहुमूर्त्ति में अवस्थित थे, देवर्षि नारद स्वयं ही उसका अनुभव किए थे। "इससे अधिक आश्चर्य्य और क्या हो सकता है, श्रीकृष्ण—एकमूर्त्ति होकर भी युगपत् षोड़श सहस्र स्त्री को परिणय किए थे।"

यहाँ "एतत्वत" शब्द का प्रयोग, अत्याश्चर्य्य जनित विस्मय प्रकाश के निमित्त हुआ है। एक श्रीकृष्ण—षोड़श सहस्र स्त्री को युगपत् परिणय सूत्र से अङ्गीकार किए थे। इस से अधिक आश्चर्य्य का विषय क्या हो सकता है? पृथक् पृथक् रूप से पाणि ग्रहण तो सम्भव है, किन्तु युगपत् उक्त कार्य सम्पन्न करना ही आश्चर्य्य जनक है।

योगेश्वर गण ही जब अनेक शरीर धारण कर कार्य सम्पन्न करते हैं, तब योगेश्वराधित चरण श्रीकृष्ण के पक्ष में वह क्या आश्चर्य्य का विषय होगा? उत्तर—एकमूर्त्ति में,—योगेश्वरगण,—कायव्यूह से कार्य्य निष्पन्न करते हैं। तब क्या आपने अनेक बाहु प्रकट कर उक्त कार्य्य किए थे? नहीं। "श्रीकृष्ण, एक मुहूर्त्त में ही अनेक गृहों में स्त्रियों के पाणि ग्रहण किए थे। यह वाक्य श्रीउद्धव महाशय का है।" शङ्का

इति श्रीमदुद्धव-वाक्यादौ तत्तदनुरूपताप्रसिद्धेः। इत्यभिप्रेत्य पूर्वेणैकपदोपन्यासेन परिहरति पृथगिति। एकेन नराकारेणैव वपुषा पृथक् पृथक्त्वेन दृश्यमानस्तथा विहितवान्। तस्मादेकमेव नरवपुर्यतो युगपत् सर्वदेशं सर्वक्रियाश्च व्याप्नोति, तस्मान्महदाश्चर्य्यमिति वाक्यार्थः। इत्थमेव च पञ्चमे लोकाधिष्ठातुः श्रीभगवद्विग्रहस्य (भा० ५।२०।४०) "तेषाम्" इत्यादि-गद्योपदिष्टस्य तादृशत्वं व्याख्यातं श्रीस्वामिचरणैः—"महाविभूतेः परमैश्वर्य्यस्य पतित्वादेकयैव मूर्त्त्या समन्तादास्ते" इति, (भा० १०।५९।४२)—

"अथो मुहूर्त्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवान् तावद्रूपधरोऽव्ययः" ॥१४६॥

इत्यत्राप्यतस्तावद्रूपधरत्वं नाम युगपत्तावत्प्रदेशप्रकाशत्वमेवेति व्याख्येयम्, न तु नारायणादिवद्-

सर्वसम्वादिनी

"निरस्तातिशयाह्लाद-सुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता" ॥२७॥

इत्यत्र "निरस्तोऽतिशयाह्लादो निर्वृतिर्यस्मिन् सुखे तद्भावस्तदात्मत्वमेवैकलक्षणं यस्याः सा तथा; किञ्च, एकान्ता भगवन्निष्ठा-मात्रेणावश्यम्भाविनी, न तु ऋत्विगादि-वैगुण्येन कर्मफलादिवदनित्या।" आत्यन्तिकी च नित्या। (६०तम-प० —)

अनुवाद—

समूह का समाधान के लिए पूर्वश्लोक में 'एक' पदोपन्यास एवं 'पृथक्' पदोपन्यास हुआ है। अर्थात् एक नराकार मूर्त्ति में पृथक् पृथक् दृश्यमान होकर सपर्य्यादि ग्रहण किए थे। सुतरां एक मनुष्याकार मूर्त्तिमें समकाल में सर्व देशमें सर्वविध कार्य्य सम्पन्न किए थे। यह ही परम विस्मय कर है।

पञ्चम स्कन्ध में समस्त लोक के अधिष्ठाता श्रीभगवद्विग्रह के सम्बन्ध में कहा गया है। 'तेषां' इसकी टीका में—श्रीस्वामिचरण कहते हैं—"आप महाविभूति सम्पन्न हैं, अर्थात् परमैश्वर्य्यपति हैं, आप निज अचिन्त्य ऐश्वर्य्य द्वारा एक मूर्त्ति में युगपत् समुदय मूर्त्ति का कार्य्य सम्पन्न किए थे।" अन्यत्र भी वर्णित है—"अनन्तर उन अव्यय श्रीभगवान् एक मुहूर्त्त में ही नाना गृह में समस्त स्त्रीगण जिस प्रकार उनको विवाह कर सके उस प्रकार अनेक मूर्त्ति धारण किए थे।" यहाँ अनेक मूर्त्ति धारण शब्दसे समकाल में उस स्थान में ही निज प्रकाशत्व रूप अर्थ ही करना होगा। किन्तु नारायणादिवत् भिन्न आकारादि अर्थ नहीं होगा, उस से भिन्न, श्रीभगवान् का प्रकाश अर्थ को जानना होगा। यथा—"प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि नो पृथक्।"

तथाहि—"अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा।
सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्य्यते। द्वारवत्यां यथा कृष्णः प्रत्यक्षं प्रतिमन्दिरम्॥" (लघु भा०मृ०)

श्रीबलदेव कृत भाष्य—"ननु चन्द्रावली राधिकादीनां रुक्मिणी सत्यभामादीनाञ्च सद्मसु बहुतया स्थितः कृष्णः स्मर्य्यते, तेषु बहुषु कोऽशी कस्स्वंश इति चेत्? भेदेषु विलास स्वांश रूपेषु प्रागुक्तेषु न गण्यते नान्तर्भवेदित्यर्थः। हि हेतौ, नोपृथगिति विशेषविभावितेनाप्यन्यत्वेन विशिष्टो न भवेत्। प्रकाश लक्षणमाह, अनेकत्रेति,—नन्दमन्दिरात् वसुदेव मन्दिराच्च निर्गतः कृष्णस्तासां तासाञ्च मन्दिरेषु युगपत् प्रविष्टो विभातीत्यैकस्यैवविग्रहस्य युगपदेव बहुतया विराजमानता, स प्रकाशाख्योभेदः पूर्वोक्तभेदेभ्योऽन्य एव। कुत? इत्याह सर्वथेति आकृत्या गुणैर्लीलाभिश्चैकरूप्यादित्यर्थः।"

अर्थात्—यहाँ चन्द्रावली राधिकादि, रुक्मिणी, सत्यभामादि के गृहमें श्रीकृष्ण अनेक मूर्त्तिमें अवस्थित थे, उक्त मूर्त्तियों में अंशी एवं अंश का प्रश्न नहीं होता है, कारण वे सब मूर्त्ति, विलास एवं स्वांश रूप भेदान्तर्गत नहीं है, "स हि नो पृथक्" यहाँ 'हि' अर्थ हेतु है, उक्त मूर्त्ति विशेष विभावित होने परभी

भिन्नाकारत्वम् । यथोक्तम् (श्रीसंक्षेपभागवतामृतम् १।२१)—
"अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा । सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्य्यते" ॥१४७॥ **इति ।**
एष एवान्यत्राकारस्य प्रकाशस्य च भेदो ज्ञेयः ॥ श्रीनारदः ॥

४३ । तथैवाह (भा० १०।६९।४१)—
"इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् । तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह" ॥१४८॥
सर्वगेहेषु तमेव, न तु तस्यांशान् । एकमेव सन्तम्, न तु कायव्यूहेन बहुरूपम्, "एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्" इति श्रुतेः । (भा० १०।९।१३) **"न चान्तर्न वहिर्यस्य" इत्यादिना विभुत्वसिद्धेश्च, ह स्फुटमेव ददर्श, भगवद्दत्तशक्त्या साक्षादेवानुभूतवान्, न तु केवलमनुमितवान् नारद इति शेषः । अतएव** (भा० १०।६९।४२)—
"कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् । मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः" ॥१४९॥
तत्र च योगमाया दुर्घटनी चिच्छक्तिः; तृतीये (भा० ३।१५।२६) **श्रीसनकादीनां वैकुण्ठगमने**

सर्वसम्वादिनी

"तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्त्तव्यः पण्डितैर्नरैः । तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म चोक्तं महामुने" । २८॥
इत्यत्र "यत्नस्य साधनविषयत्वात् साधनमाह,—तत्प्राप्तीति ; कर्म च ; सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानञ्च साक्षात् ।"
"तच्च ज्ञानं द्विविधमित्याहार्द्धेन" (६१तम प०)— "आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते" ;
"तद्विवृणोत्यपरार्द्धेन" (६१तम-प०)—"शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम्" । २९॥

अनुवाद—

अन्य रूपमें गृहीत नहीं होगा । कारण, यह उनके प्रकाशमूर्त्ति हैं । एक रूप, जब अनेक मूर्त्ति में दृष्ट होता है, और सब मूर्त्ति ही एक रूप हैं, तब उसे प्रकाश कहते हैं ।

श्रीनन्द मन्दिर एवं श्रीवसुदेव गृह से बहिर्गत श्रीकृष्ण जिस प्रकार उस उस मन्दिर में युगपत् प्रविष्ट होकर विभावित होते हैं, उक्त समविद्यमानता ही प्रकाश है । वह तदेकात्म, स्वांश, विलासादि भेद से सम्पूर्ण पृथक् है । कारण,—"सर्वथा तत् स्वरूप" अर्थात् आकार, गुण, लीलादि सर्वप्रकार मूर्त्ति भी एक प्रकार है । द्वारका के प्रतिगृह में रास मण्डल में "कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः । रराम भगवान् स्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया" (भा० १०-३३।१९) यहाँ श्रीभगवान् गोपीगणों के संख्यानुरूप निज मूर्त्ति को प्रकट कर उन सब के सहित आत्मारामानुरूप क्रीड़ा किए थे । यह ही प्रकाशमूर्त्ति है । अन्यान्य मूर्त्ति के सहित इस का विभेद है ।

यह उक्ति श्रीनारद महाशय की है ॥४२॥

तत् पश्चात् उक्त है—"श्रीनारद महाशय श्रीकृष्णचन्द्र को उक्त समस्त गृह में गृहस्थ धर्मानुष्ठान रत देखे थे" यहाँ श्रीनारद महाशय षोड़श सहस्र महिषी के गृह में श्रीकृष्ण को देखे थे—वह दर्शन श्रीकृष्ण के अंश विशेष का नहीं । एक होकर जो अनेक मूर्त्ति में विभावित होते हैं, कायव्यूह के द्वारा बहुमूर्त्ति नहीं हुए थे । श्रुति कहती है—"जो एक होकर भी अनेक प्रकार से दृश्यमान होते हैं ।" "जिनके अन्तर-बाहर नहीं है ।" इत्यादि वाक्य में विभुत्व का विषय उक्त है । उन भगवान् को देखे थे । इसका प्रकाश—श्लोकोक्त "ह" के द्वारा हुआ है । यहाँ श्रीनारद महाशय अनुमान किए थे, ऐसी बात नहीं है, भगवत् प्रदत्त शक्ति से ही आप दर्शन किए थे । अतएव उक्त है—"सञ्जात कौतुक ऋषि, अनन्त वीर्य्यसम्पन्न श्रीकृष्ण की योगमायाख्या शक्ति का प्रभाव को देख कर विस्मित हो गये थे ।"

यहाँ 'योगमाया' शब्द का अर्थ—'दुर्घटघटनी चिच्छक्ति' । तृतीय स्कन्धोक्त सनकादि ऋषि के वैकुण्ठ

योगमाया-शब्देन परमेश्वरे तु प्रयुज्यमाने चिच्छक्तिरुच्यत इति स्वामिभिरपि व्याख्यातमस्ति। जातकौतुको मुनिर्मुहुर्दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत्। कायव्यूहस्तावत्तादृशेष्वपि बहुष्वेवसम्भवति। तं विनापि मध्यमाकारेऽपि तस्मिन् सर्वव्यापकत्वमपूर्वमिति तस्यापि विस्मये हेतुर्नान्यथेति

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "आगममयमागमोत्थं ज्ञानम्; शब्दब्रह्म—शब्दात् (तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि-वाक्याज्-जायमानं ब्रह्म श्रवणजं ज्ञानमागमोत्थमित्यर्थः; देहादिविविक्तात्माकार-चित्तवृत्तौ निदिध्या-सनायां प्रकाशमानं परं ब्रह्म विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। वृत्तिव्यङ्ग्यस्य ब्रह्मण एव ज्ञानाभिधेयत्वाद्ब्रह्मैव ज्ञानमित्युक्तम्।"

अनुवाद—

गमन प्रसङ्ग में उक्त 'योगमाया' शब्द का प्रयोग हुआ है। परमेश्वर में उक्त शब्द प्रयुक्त होने से उसका अर्थ चिच्छक्ति है। स्वामिचरण भी योगमाया शब्द का अर्थ चिच्छक्ति किए हैं।

सञ्जात कौतुक मुनि,—इस प्रकार उनको पुनः पुनः देखकर विस्मयाविष्ट हो गये थे।

कायव्यूह से भी उस प्रकार अनेक मूर्त्ति हो सकती है? आशङ्का परिहार कल्पमें कहते हैं,—कायव्यूह व्यतीत ही मनुष्याकार श्रीकृष्ण मूर्त्ति में इस घटना को देखकर ही श्रीभगवान् की अपूर्व व्यापकता का दर्शन से श्रीनारद महाशय विस्मित हुये थे।

सर्वव्यापकता भिन्न अन्य प्रकार से उक्त घटना नहीं हो सकती है, एवं भगवत् कृपा व्यतीत अनुभव भी नहीं होता है। "नान्यथा" श्लोक में स्पष्टीकरण हुआ है। एवं गीता में श्रीभगवान् की उक्ति "सर्वत्र ही मेरे हस्तपदादि" एतादृश श्रीमूर्त्ति को लक्ष्य करके ही हुई है। अतएव "न स्थानतोऽपि" इत्यादि ब्रह्मसूत्र उभयलिङ्गाधिकरणे श्रीभगवान् की अनेक मूर्त्ति कही गई है। अर्थात् "परमेश्वर के स्थानापेक्षा से भिन्नरूप नहीं होता है। कारण उनके रूप सर्वत्र विद्यमान है।"

तत्त्ववादिगण इस प्रकार अर्थ करते हैं—इस पक्ष में श्रुति प्रमाण—"ब्रह्म समस्त भूतों में इस प्रकार अवस्थित हैं।" मत्स्य पुराण में उक्त है—"एक परः पुरुष विष्णु सर्वत्र विद्यमान हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। तद्रूप सूर्य्य एक होकर भी अनेक प्रतिभात होते हैं, तद्रूप एक विष्णु स्वीय अनन्त ऐश्वर्य्य से बहुरूप में प्रतिभात होते हैं।"

उक्त सूत्र का श्रीरामानुजभाष्य—"इदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णाजननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्व कल्याण-गुणात्मकत्व प्रतिपादनायारभते, तत्र जागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रान्तिषु स्थानेषु तत्तत्स्थानप्रयुक्ता जीवस्य यो दोषाः, ते तदन्तर्य्यामिणः परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्र तत्रावस्थितस्य सन्ति, नेति विचार्य्यते, एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न स्थानतोऽपि परस्य इति। न पृथिव्यात्मादि स्थानतोऽपि परस्य ब्रह्मणः अपुरुषार्थ गन्धः सम्भवति, कुतः? उभयलिङ्गं सर्वत्र हि यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परं ब्रह्म उभयलिङ्गम्, उभयलक्षणमभि-धीयते निरस्त निखिल दोषत्व कल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमित्यर्थः। "अपहत पाप्मा विजरो विमृत्यु-र्विशोकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः—"

अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति हेतु सामाजिक की रुचि उत्पन्न करने के मिमित्त कहते हैं—ब्रह्म निर्दोष कल्याणगुणगण रत्नाकर हैं। ब्रह्म जीव के हृदय में अन्तर्य्यामी रूप में अवस्थित होने पर भी जीव के स्वप्न-जागरण-सुषुप्ति मोह उत्क्रान्ति जनित दोष ब्रह्म को स्पर्श नहीं करता है। उसकी मीमांसा के निमित्त सूत्र की अवतारणा करते हैं, अर्थात् परपुरुष सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु श्रुतिस्मृत्यादि में उभय लक्षण उक्त होने से भी सर्वत्र समभाव से अवस्थित होने पर भी अधिष्ठान के दोष से अधिष्ठाता लिप्त नहीं होता है।"

गोविन्दभाष्य—"एवं निखिलनियामकतया भगवतोमहिमा दर्शितः। इदानीं बहुधावभातोऽप्यैक्यं स्वस्मिन्न त्यजतीत्यविचिन्त्य स्वरूपता तस्य दर्श्यते। यद्यपि "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इत्यादिनोक्तमेतत्

स्पष्टमेव यथोक्तं ज्ञेयम् । अनेन (गी० १३।१३) "सर्वतः पाणिपादन्तत्" इति तादृश्यां श्रीमूर्त्यामेव व्याख्यातं भवति । अतएव (ब्र०सू० ३।२।११) "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इति सूत्रं तत्त्ववादिभिरेवं योजितम्—"स्थानापेक्षयापि परमात्मनो न भिन्नं रूपम्, हि यस्मात्तद्रूपत्वं सर्वत्रैव"; "सर्वभूतेष्वेवमेव ब्रह्म इत्याचक्षते" इति श्रुतेः ;

"एक एव परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः । ऐश्वर्य्याद्रूपमेकञ्च सूर्य्यवद्बहुधेयते" ॥१५७॥

सर्वसम्वादिनी

"ननु शब्दश्रवणादपि ब्रह्मज्ञानमेवोत्पद्यते,—तेनैवाज्ञानं निवर्त्त्य भगवत्प्राप्तिसिद्धेः ; किं विवेकज-ज्ञानेनेत्याशङ्क्याह"—(६२तम-प०)

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् । यथा सूर्य्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे विवेकजम्" ॥३०॥

अनुवाद—

तथापि युगपद् बहुभावेन भेद प्रतीतौ न समाहितमतोऽत्राचिन्त्यत्वेन तत् समर्थनम् । "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इत्यादि श्रुतम् । तत्र संशयः । नानाविधेषु स्थानेषु स्थितानि भगवतो बहूनि रूपाणिमिथो भिन्नानि न वेति ? स्थानभेदेन स्थानिनोऽपि भेदाद्भिन्नानि तानि—।

"न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।" (वे० सू० ३।२।११)

परस्य भगवतः स्वरूपं स्थानतोऽपि नोभयलिङ्गमुभयलक्षणम् । स्थानभेदेऽपि स्थानि विशेष्यं न विद्यते इत्यर्थः । हि यस्मादेकमेव स्वरूपमचिन्त्यशक्त्या युगपत् सर्वत्रावभात्येकोऽपि सन्निति श्रुतेः । स्थानानि भगवदाविर्भावास्पदादि तद्विधलीलाश्रयभूतानि संव्योमशब्दितानि । विविधभाववन्तो भक्ताश्च । तेषु सर्वेष्वेकमेव स्वरूपं विभाति ।"

अर्थात् इतःप्राक् निखिल ब्रह्माण्ड एवं तन्मध्यवर्त्ती जीवों की नियामकता के द्वारा श्रीभगवान् की महिमा प्रदर्शित हुई है, सम्प्रति बहुधा प्रकाश होने पर भी भगवान् निज स्वरूप में सर्वदा अवस्थित होते हैं। अतः उनकी अविचिन्त्य स्वरूपता प्रदर्शित हो रही है ।

पहले "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इस सूत्र में उक्त विषय कथित होने पर भी युगपत् उस उस स्थान में भाव भेद से प्रतीति भेद का समाधान नहीं हुआ है, अचिन्त्य शक्ति के द्वारा श्रीभगवान् के तत्तद् भाव का समाधान करते हैं। "जो एक होकर भी बहुधा प्रकाशित होते हैं"। अतएव भगवान् के स्थान भेद से विभिन्न रूपादि भिन्न है अथवा एक ? कारण,—आश्रय भेद से आश्रयी का भेद वशतः, रूप भेद भी निश्चित होता है ? श्रुति कहती है—"भगवदाविर्भाव के आस्पदभूत श्रीभगवल्लीला के आश्रयभूत विविध भावविशिष्ट, विविध भक्तगण के सम्बन्ध में, भक्तगण के भावानुरूप श्रीमूर्त्ति में श्रीभगवान् प्रकाशित होने से भी श्रीभगवान् निज स्वरूप में ही विभावित होते हैं।"

श्रीभागवतस्थ भीष्म देव की उक्ति इस प्रकार है—"जीवगण, निज निज अज्ञता प्रयुक्त जिस प्रकार एक सूर्य्य को अनेक देखते हैं, तद्रूप श्रीभगवान् को भी प्रति शरीर भेद से भिन्न भिन्न शरीरी मानते हैं। आज इनकी कृपा से मेरी भेदबुद्धि तिरोहित हो गई है। मैं सर्वत्र एक ही दर्शन कर रहा हूँ। अर्थात् मेरे सामने उपविष्ट श्रीकृष्ण की व्यष्ट्यन्तर्यामीरूप निजांश पुरुष के द्वारा प्रति जीव के शरीर में रहने पर भी मैं एक अभिन्न मूर्त्ति का बोध लाभ कर रहा हूँ।"

परमानन्दघनविग्रह आप व्यापक हैं, स्वीयान्तर्भूत निज आकार विशेष के द्वारा सकल जीव के हृदयमें आप स्फुरित होते हैं, जानने में मैं सक्षम हूँ। कारण इनकी कृपा से मेरा जो मोह था वह विदूरित हो गया है, अर्थात् श्रीभगवान् की श्रीमूर्त्ति व्यापक नहीं हो सकती है, वह परिच्छन्न होकर अनेक है। इत्याकार की व्यापकता के प्रति जो असम्भव भावना थी वह नष्ट हो गई। श्रीभगवान् निज अचिन्त्यशक्ति से व्यापक अव्यापक उभय मूर्त्ति में अथवा बहुमूर्त्ति में भासित होते हैं। मेरे सम्मुख में आविष्ट इन श्रीकृष्ण

इति मात्स्यात्; (भा० ११६।४२) **"प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः" इति भागवताच्चेति। एवं** (ब्र०सू० ३।२।१२) **"न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्"इत्येतस्य,** (ब्र०सू० ३।२।१३) **"अपि चैवमेके" इत्येतस्य च सूत्रस्य व्याख्यानं तद्भाष्ये दृश्यम्॥ श्रीशुकः॥**

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "निविड़ं तम इवाज्ञानं व्यापकमावरणम्; इन्द्रियैः शब्दादि-द्वारा जातं ज्ञानं दीपवदसम्भावनाद्यभिभूतम्, न सर्वात्मनाऽज्ञाननिवर्त्तकम्। विवेकजं तु ज्ञानं सूर्य्यवत् सर्वाज्ञाननिवर्तकमित्यर्थः।"

"उक्तलक्षण-ज्ञानद्वैधे मनुसम्मतिमाह,"—(६३तम-प०)

"मनुरप्याह वेदार्थं स्मृत्वा च मुनिसत्तम। तदेतच्छ्रूयतामत्र सम्बन्धे गदतो मम" ॥३१॥

अनुवाद—

मूर्त्ति का दर्शन मैं सर्वत्र कर रहा हूँ। यह ही भगवत् कृपा की अवस्था है, जब साधक भक्त उनकी कृपा लाभ करते हैं, तब उन भक्त की बाह्य स्फूर्त्ति नहीं रहती है। भक्त सर्वत्र आराध्य की मूर्त्ति को देखते हैं।

"न भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" (वे० सू० ३।२।१२)

गोविन्दभाष्य—"बहुधावभातस्यापि तत्त्विकत्वेन भेदाभेदप्राप्ते पूर्वोक्तं न युक्तमिति चेन्न। कुतः? प्रतीत्यादेः। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्त्यानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनन्तरमवाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतिरित्यनुशासनमिति बृहदारण्यके सर्वेषां रूपाणामैक्योक्तेरित्यर्थः॥"

अथवा बहुधा जो अवभात होते हैं, उनके उक्त प्रकाश की तात्त्विकता को स्वीकार करने से भेद अभेद उभय की प्राप्ति होती है, अतः पूर्वोक्त अभेदोक्ति अयुक्त होती है, ऐसा कह नहीं सकते। कारण,—"बृहदारण्यकादि श्रुतिमें भेदसूचक वाक्य दृष्ट नहीं होता है। इन्द्र माया द्वारा अनेक रूपमें प्रकाशित होते हैं। उनके दशशत बहु अनन्त अश्व हैं, उन ब्रह्म, अपूर्व, अनपर, अवाह्य, आत्मा, व्यापक तथा सर्वानुभूति स्वरूप" इत्यादि वाक्य में ऐक्य ही उक्त हुआ है।

इसका तात्पर्य्य—"इन्द्र—परमेश्वर, पुरुषोत्तम, आप स्वीय ह्लादिनी सन्धिनी सम्विदाख्या त्रिवृत्तिका पराशक्ति युक्त होकर बहुरूप होते हैं, अर्थात् एक पुरुषोत्तम के सहस्र-सहस्र प्रकाश सम्भव है, इन्द्र-परमेश्वर सङ्कल्पमात्र से ही अनेक मूर्त्ति आविर्भावित करते हैं। परमेश्वर से मत्स्यादि दशावतार होते हैं। आप द्वारका के प्रति मन्दिर में ही एक मूर्त्ति से संस्थित थे। ब्रह्म मोहन के समय आप वत्सप एवं वत्सादि हुए थे, अतएव आपके रूप की कोई सीमा नहीं है। अनन्त मूर्त्तिमें अवस्थित होते हैं, कारण,—आप ब्रह्म हैं।"

"इन्द्रोमायाभिः" इत्यादि श्रुति की विद्याभूषणकृतव्याख्या—"इन्द्रः परमेश्वरः पुरुषोत्तमः। मायाभिरिति। ह्लादिनी सन्धिनी सम्विदित्येवं त्रिवृत्तिकया स्वरूपशक्त्या परयेत्यर्थः। स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युक्तः। अतोमायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनमितिश्रुतेः। मायावयुनं ज्ञानामिति निर्घण्टु कोषे ज्ञानपर्य्यायाच्च। युक्ता ह्यस्य हरय इति। हि यतोऽसावचिन्त्य स्वरूपशक्तिरतोऽस्यैकस्यैव इन्द्रस्य शतादश हरयः" सहस्रं विष्णुरूपाः प्रकाशः युज्यन्ते। शत्रुरथस्याश्वभ्रान्ति निवारयितुं माह—अयं वा इति, अयमिन्द्रः परमेश्वरो वै प्रसिद्धौ निश्चये वा एक एवानेक हरयोविष्णवः सङ्कल्पमात्रादेवाविर्भवन्ति।"

"अपिचैवमेक" (वे० सू० ३।२।१३)

गोविन्द भाष्य—"अपिचेति किञ्चेत्यर्थः। अमात्रोऽनन्तमात्र श्चेत्यके शाखिन एवमभेदेनानन्तरूपत्वेन चैनं पठन्ति। अमात्रः स्वांशभेदशून्यः। अनन्तमात्रोऽसंख्येयस्वांशः। एक एव परोविष्णुः सर्वत्रापि न संशयः। ऐश्वर्य्याद्रूपमेकश्च सूर्य्यवद्बहुधेयत" इति स्मृतेश्च। एवं धातृभावभेदात्—कार्य्यभेदाच्चानेकतया प्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यं स्वस्मिन्न मुञ्चति॥"

अर्थात् वेद की अनेक शाखा हैं, भिन्न भिन्न शाखाध्यायिगण भगवान् को अमात्र, अनेक मात्र कहते हैं।

४४। तथा च (भा० १।६।४२)—

"तमिममहमजं शरीरभाजां, हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं, समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः" ॥१५१॥

तमिममग्रत एवोपविष्टं श्रीकृष्णं व्यष्ट्यन्तर्य्यामिरूपेण निजांशेन शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितम्,(भा० २।२।८) "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्"इत्युक्तदिशा तत्तद्रूपेण भिन्नमूर्त्तिवद्वसन्तमपि एकमभिन्नमूर्त्तिमेव समधिगतोऽस्मि। अयं परमानन्दविग्रह एव व्यापकः। स्वान्तर्भूतेन निजाकारविशेषेणान्तर्य्यामितया तत्र तत्र स्फुरतीति विज्ञातवानस्मि। यतोऽहं विधूतभेदमोहः। अस्यैव कृपया दूरीकृतो भेदमोहो भगवद्विग्रहस्य व्यापकत्वासम्भावना-जनिततन्नानात्वविज्ञानलक्षणो मोहो यस्य तथाभूतोऽहम्। तेषु व्यापकत्वे हेतुः—आत्मकल्पितानामात्मन्येव परमाश्रये प्रादुष्कृतानाम्। तत्र दृष्टान्तः—प्रतिदृशमिति प्राणिनां नानादेश-स्थितानामवलोकनमवलोकनं प्रति यथैक एवार्को वृक्षकुड्याद्युपरिगतत्वेन तत्रापि कुत्रचिद-

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "अत्र सम्बन्धेऽस्मिन् प्रसङ्गे।"—(६४तम-प०)

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥३२॥

इत्यत्र "शब्दब्रह्मणि श्रवणेन निष्णातो विवेकज-ज्ञानेन परं ब्रह्म प्राप्नोति।"

"तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म चोक्तमित्यत्र श्रुतिसम्मतिमाह"—(६५तम प०)

अनुवाद—

अतएव आप अभिन्न होकर भी अनन्तरूप हैं, कारण अमात्र शब्द का अर्थ—स्वांशभेदशून्य है, अनन्तमात्र शब्द का अर्थ—असंख्येय-स्वांश है। श्रीभगवान् धातुभेद एवं कार्य्य भेद से अनेक प्रतीत होकर भी स्वरूप की एकता को परित्याग नहीं करते हैं। यह श्रीशुकदेव की उक्ति है ॥४३॥

उक्त अज, स्वनिर्मित शरीरधारी, प्रति जीव के हृदय में अधिष्ठित परमात्म हैं। लोक अज्ञता वशतः एक सूर्य्य को उपाधि भेद से जिस प्रकार अनेक देखते हैं। इनको भी उस प्रकार प्रति शरीर में भिन्न भिन्न देखते हैं। इनके अनुग्रह से आज मेरा भेदज्ञान तिरोहित हुआ है। मैं मेरे सम्मुख में अवस्थित श्रीकृष्ण को एक अभिन्न परमात्म रूपमें प्राप्त कर कृत कृतार्थ हुआ हूँ।"

विग्रह का विभुत्व के सम्बन्ध में भीष्म देव का अनुभव।

अग्र में उपविष्ट श्रीकृष्ण, जो निज व्यष्ट्यन्तर्य्यामिरूप निजांश में शरीरधारी जीवगण के हृदय में परमात्मा रूपमें अधिष्ठित हैं। "जिन को स्वकीय देहान्तर्गत हृदयाकाश में प्रादेशमात्र पुरुषरूप में निवास करते देखते हैं।"

वेदान्त के दहराधिकरण में भी दृष्ट होता है—उन उन रूपमें भिन्न मूर्त्तिवत् वास करने पर भी जिनको एक अभिन्न मूर्त्ति रूपमें सम्यक् जान गया हूँ। उन परमानन्द विग्रह आप व्यापक हैं। आप स्वान्तर्भूत निज आकार विशेष के द्वारा अन्तर्य्यामि रूपमें प्रत्येक जीव के हृदय में स्फुरित होते हैं। अर्थात् श्रीभगवद् विग्रह की व्यापकता का असम्भव जनित नानात्व ज्ञान लक्षण, जो मोह पहले था, इन की कृपा से वह विदूरित हुआ है।

सर्वत्र व्यापकत्व के हेतु—"आत्मकल्पितानाम्" अर्थात् आत्मकल्पित—आत्मस्वरूप आधार में प्रकाशित। उक्त परमात्मा एवं परमाश्रयभूत निज श्रीविग्रह में ही जो प्रकाशित है। दृष्टान्त—नाना देशस्थित प्राणि समूह की दृष्टि में एक ही सूर्य्य,—वृक्षादि व्यवहित होकर भी किसी किसी स्थान में सम्पूर्ण रूपमें दृष्ट होता

व्यवधानः सम्पूर्णत्वेन सव्यवधानस्त्वसम्पूर्णत्वेनानेकधा दृश्यते तथेत्यर्थः। दृष्टान्तोऽयमेकस्यैव तत्र तत्रोदय इत्येतन्मात्रांशे; वस्तुतस्तु श्रीभगवद्विग्रहोऽचिन्त्यशक्त्या तथा भासते। सूर्य्यस्य दूरस्थ-विस्तीर्णात्मतास्वभावेनेति विशेषः। अथवा तं पूर्ववर्णित-स्वरूपमिममग्रत एवोपविष्टं शरीरभाजां हृदि हृदि सन्तमपि समधिगतोऽस्मि। यद्यप्यन्तर्य्यामिरूपमेतस्माद्रूपादन्याकारम्, तथाप्येतद्रूपमेवाधुना तत्र तत्र पश्यामि। सर्वतो महाप्रभावस्यैतस्य रूपस्याग्रतोऽन्यस्य रूपस्य स्फुरणाशक्तेरिति भावः। अत्र दृष्टान्तो देशाभेदेऽप्यभेदबोधनाय ज्ञेयः, न तु पूर्णापूर्णत्व-विवक्षायै। (भा० १।९।३०) "अमीलितदृग्व्यधारयत्" इति, (भा० १।९।४३) "कृष्ण एवं भगवति मनोवाक्कायवृत्तिभिः" इत्युपक्रमोपसंहारादिभिरत्र श्रीविग्रह एव प्रस्तूयते। ततो नेदं पद्यं ब्रह्मपरं व्याख्येयम्। तदेवं परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वयोर्युगपत् स्थितेः (गी०१३।१६) "अचरं चरमेव च" इत्येतदप्यत्र सुसंगच्छते। अतो विभुत्वेऽपि लीलाया याथार्थ्यं सिध्यति॥ भीष्मः श्रीभगवन्तम्॥

सर्वसम्वादिनी

"द्वे विद्ये वेदितव्ये वा इति चाथर्वणी श्रुतिः। परया त्वक्षरप्राप्तिर्ऋग्वेदादिमयापरा" ॥३३॥

इत्यत्र "विद्या-शब्देन तद्धेतु-कर्म-ब्रह्म-विषयौ वेदभागौ गृह्येते; तदाह,—परयेति; ब्रह्मभागोऽक्षर-प्रतिपादक-पराख्य-वेदभागादिना, कर्मभाग ऋग्वेदादि-शब्देनोच्यते,—'ब्राह्मण-परिव्राजकादि'वत्। सा त्वपरा साधनगोचरत्वात्।"

अनुवाद—

है। उस प्रकार जीव भी निज अज्ञतावशतः श्रीकृष्ण को अनेक प्रकार देखता है।

यहाँ दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के सहित केवल एकत्वांश में दृष्टान्त है।

वस्तुतः श्रीभगवद्विग्रह स्वीय अचिन्त्य शक्ति से तत्तद्रूप में प्रकाशित होते हैं। किन्तु सूर्य्य,—बहु दूर में अवस्थित हेतु निज विस्तीर्ण स्वभाव से लोकदृष्टि का भ्रम उत्पन्न करता है। सूर्य्य के सहित श्रीभगवद् विग्रह का महा प्रभेद है।

अथवा मैंने (भीष्म) श्रीभगवत् स्वरूप का वर्णन किया है, उन श्रीकृष्ण मूर्त्ति मेरे सम्मुख में उपविष्ट होकर भी निज अचिन्त्य शक्ति से युगपत् सर्वजीव हृदय में अवस्थित हैं। मैं सम्यक् अवगत हूँ। यद्यपि अन्तर्य्यामिरूप, सम्मुख में दृष्ट स्वरूप से अन्य प्रकार है। तथापि मैं इस रूपमें सर्वत्र अवस्थित देख रहा हूँ। महाप्रभाव सम्पन्न श्रीभगवद्रूप के सम्मुख में अपर रूप का स्फुरण नहीं होता है। कारण, अंशरूप समूह अंशी में अन्तर्निहित होने से मैं सर्वत्र ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मूर्त्ति को ही देख रहा हूँ। देश भेद से उनका भेद नहीं है, यहाँ का तात्पर्य्य जानना होगा। "न स्थानतोऽपि" इत्यादि सूत्र में इसका प्रदर्शन हुआ है। पूर्णापूर्णत्व विवक्षा से ही यहाँ की उक्ति नहीं है।

"तदोपसंहृत्यगिरः" इस श्लोक (भा० १।९।३०) "अमीलित दृग्व्यधारयत्" में भीष्मदेव निज वाक्य समाप्त कर विषयान्तर से मन को प्रत्याहृत करतः सम्मुख में उपविष्ट चतुर्भुज पीतवासा श्रीकृष्ण को अनिमिष नयनों से निरीक्षण करते करते उनमें चित्त को समर्पण किए थे।" एवं "कृष्ण एवं भगवती" (१।९।४३) श्लोक में भीष्मदेव—तदीय मनोवृत्ति, वाग्वृत्ति, दृष्टिवृत्ति द्वारा श्रीकृष्ण में उपरत हुए थे, एवं प्राणवायु अन्तर में लीन किए थे" इस प्रकार उपक्रम-उपसंहार से श्रीभगवद्विग्रह ही यहाँ का विषय है। उसका सुष्ठु प्रतिपादन हुआ है। भीष्मदेव, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर तिरोहितभेद हुए थे—श्रीमद् भागवतीय पद्य का तात्पर्य्य वह नहीं है।

श्रीभगवान् की इस प्रकार परिच्छिन्नत्व एवं अपरिच्छिन्नत्व युगपत् स्थिति से 'अचरत्व-चरत्व' युगपत्

४५। एवं तस्य नित्यत्व-विभुत्वे साधिते। तथैव व्याख्यातं श्रीस्वामिभिरष्टमस्य षष्ठे (श्रीभावार्थदीपिका ८।६।८)—

"अनाविराविरासेयं मा भूताभूदिति ब्रुवन्।
ब्रह्माभिप्रैति नित्यत्व-विभुत्वे भगवत्तनोः" ॥१५२॥ इति।

तथा हि श्लोकद्वयं तट्टीका च (भा० ८।६।८-९)—

"अजातजन्मस्थितिसंयमाया,-गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने, महानुभावाय नमो नमस्ते" ॥१५३॥
रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं, श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिक-तान्त्रिकेण।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्, पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्त्तेः" ॥१५४॥

इतीदं पद्यद्वयम्। "श्रीमूर्त्तेरयमाविर्भाव एव, न त्वस्मदादिवज्जन्मादि तवास्तीत्याह—न जाता जन्मादयो यस्य; कुतः? अगुणाय, अतो निर्वाणसुखस्यार्णवाय अपारमोक्षसुख-रूपायेत्यर्थः। तथापि अणोरणिम्ने अतिसूक्ष्माय,दुर्ज्ञानत्वात्; वस्तुतस्तु अपरिगण्यमियत्तातीतं

सर्वसम्वादिनी

(मु० १।१।५,६) "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्' इत्याद्यथर्वश्रुत्युक्त परविद्या-विषय-मक्षराख्यं परं तत्त्वमाह त्रिभिः"—(६६तम–६८तम-प०)

"यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्द्देश्यमरूपञ्च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥३४॥
विभु सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम्। व्याप्याव्याप्यं यतः सर्वं तद्वै पश्यति सूरयः ॥३५॥

अनुवाद—

श्रीभगवत् विग्रह में वर्त्तमान है, वह भी सुसङ्गत हुआ।

यह उक्ति, श्रीभगवान् के प्रति भीष्म देव की है ॥४४॥

पूर्वोक्त शास्त्रयुक्ति के द्वारा श्रीभगवद्विग्रह के नित्यत्व-विभुत्व का स्थापन हुआ है। अष्टम स्कन्ध के अष्टम अध्याय के अष्टम श्लोक के पूर्व में श्रीधरस्वामिपाद ने स्वयं ही उस विषय को कहा है—"जिनका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं है, तथापि जिनके तनु आविर्भूत हुए हैं, जिनकी उत्पत्ति नहीं है, तथापि जो प्रादुर्भूत होते हैं, इस प्रकार कह कर ब्रह्मा श्रीविग्रह के नित्यत्व-विभुत्व का अभिप्राय प्रकाश किये हैं।"

भगवद्विग्रह की स्थूल सूक्ष्मातिरिक्तता।

ब्रह्मा की उक्ति एवं स्वामिपाद की टीका—"जो स्वयं जन्म रहित होकर भी विश्व के सृष्टिस्थितिलयादि कार्य्य करते रहते हैं, स्वयं गुणातीत होकर भी जो निर्वाण सुख का सागरस्वरूप हैं, जो स्वयं अणु से भी अणुतर हैं, जिन की मूर्त्ति की सीमा की नहीं जाती है, उन महानुभाव स्वरूप श्रीभगवान् को मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। हे पुरुष श्रेष्ठ! हे धातः! हे विश्वमूर्त्त! श्रेयोर्थिगण कर्त्तृक वैदिक-तान्त्रिक विधान से पूजित आपकी मूर्त्ति में अस्मदादि देववृन्द के सहित त्रिलोक को मैं अवस्थित देख रहा हूँ।"

श्लोक द्वय उनकी टीका—८।६।८-९ "अस्मदादिवत् श्रीभगवन्मूर्त्ति के जन्मादि नहीं है। उनके आविर्भाव को ही जन्म कहते हैं। गुण सम्पर्क परिशून्यता ही जिनके जन्मादि राहित्य का कारण है।" निर्वाण सुख के अर्णवस्वरूप—अर्थात् जो अपार मोक्ष सुखरूप हैं, यहाँ सुखरूप कहने से उनके सहित मोक्ष का पार्थक्य तिरोहित हुआ है, तथापि जो अणु से भी अणुतर हैं, जिनका परिमाण नहीं हो सकता है। अर्थात् जिनका कार्य्य जीव के लिए दुर्ज्ञेय है, एवं दुर्ज्ञेयत्व निबन्धन जिनको अति सूक्ष्म कहा जाता है। सुतरां इयत्तातीत मूर्त्ति जिनकीहै, उनको प्रणाम करता हूँ।"

धाम मूर्त्तिर्यस्य तस्मै। न चैतदसंभावितम्, यतो महानचिन्त्योऽनुभावो यस्य तस्मै। तन्मूर्त्तेः सनातनत्वमपरिमेयत्वं चोपपादयति—रूपमिति। हे पुरुषर्षभ! हे धातः! एतत्तव रूपं वैदिकेन तान्त्रिकेन च योगेनोपायेन श्रेयोऽर्थिभिः सदा इज्यं पूज्यम्, अतो नेदमिदानीमपूर्वं जातमिति भावः। ननु यूयं देवाः पूज्यत्वेन प्रसिद्धाः? सत्यम्, सर्वेऽप्यत्रैवान्तर्भूता इत्याह—उ अहो, ह स्फुटम, अमुष्मिन् त्वयि नोऽस्मांस्त्रिलोकांश्च सह पश्यामि। तत्र हेतुः—विश्वमूर्त्तेः विश्वं मूर्त्तौ यस्य, अतस्तवैतद्रूपं परिच्छिन्नमपि न भवतीत्यर्थः" इत्येषा।

अत्र निर्वाणसुखार्णवायेत्यर्णवत्वरूपकेण निर्वाणसुखमात्रत्वं निरस्य ततोऽप्यधिकमहासुखत्वं दर्शितम्। तदुक्तं श्रीध्रुवेण (भा० ४।६।१०)—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म,-ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्, किम्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्"॥१५५

इत्यादि; तथा "अणोरणिम्ने" इति प्रोच्य अपरिमेयधाम्न इत्युक्तेरचिन्त्य-शक्तित्वरूपेण

सर्वसम्वादिनी

तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणाम्। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥३६॥ इत्यत्र "विभुं प्रभुम्, सर्वगतमपरिच्छिन्नम्, व्यापि सर्वकार्य्यानुगतम्, स्वयं त्वन्येनाव्याप्यम्; यतः सर्वं भवति।" "तत् परं ब्रह्मैव स्वेच्छयाविष्कृत-षाड्गुण्यं परमेश्वराख्यं भगवच्छब्दवाच्यं द्वादशाक्षरादि-पराविद्यो-पासनया भक्तैः सुलभदर्शनमित्याह,"—(६६तम-प०)

अनुवाद—

आपमें इनकी असम्भावना की आशङ्का नहीं की जाती है। कारण,—आप महानुभाव हैं, अर्थात् महान्, अचिन्त्य ऐश्वर्य्य है जिनका, उनके पक्ष में सब ही सम्भव है। कारण—उनके बाद की उक्ति से इस मूर्त्ति के सनातनत्व-अपरिमेयत्व मूलतः प्रतिपादित हुए हैं।

यथा—हे पुरुषर्षभ! हे धातः! आपकी मूर्त्ति वैदिक एवं तान्त्रिक उपाय के द्वारा श्रेयस्कामिगण कर्त्तृक सर्वदा पूजित होती रहती है। अतएव वह अपूर्व नहीं है। आपकी उक्त मूर्त्ति, नित्य ही अवस्थित है, उसका प्रदर्शन हुआ है

यदि कहें कि—तुम सब देवता हो, पूज्यत्व तो तुम सब का है, मुझे पूज्य क्यों कहते हो? ब्रह्मा के वाक्य में उसका उत्तर भी है—जगत् में जो देवगण पूज्य हुये हैं, वे सब देवमूर्त्ति आपकी श्रीमूर्त्ति में ही अन्तर्भुक्त हैं, विस्मय से उसका कथन हुआ है। "उ" एवं स्फुटार्थ में "ह" उक्त है। अर्थात् आपकी इस मूर्त्ति में हम सब को एवं समस्त प्राणिवृन्द के सहित त्रिलोक को देख रहा हूँ। तत् पक्ष में सहेतुक सम्बोधन—"हे विश्वमूर्त्ते! अर्थात् विश्व, ब्रह्माण्ड जिनकी मूर्त्ति में अवस्थित हैं। आप ही विश्वमूर्त्ति हैं। अतएव आपकी यह मूर्त्ति परिच्छिन्नवत् प्रतीत होने पर भी परिच्छिन्न नहीं है, अर्थात् आपके अचिन्त्य ऐश्वर्य्य से आप समस्त मूर्त्ति में ही रह सकते हैं।"

यहाँ श्रीभगवान् को निर्वाण सुख का अर्णव कहने से अर्णवत्व के द्वारा निर्वाण सुखमात्रता का निरास करके तदधिक महत्सुख का (परमप्रेम का) आश्रयत्व दर्शाया गया है।

ध्रुव की उक्तिमें दृष्ट होता है—"हे नाथ! आपके पादपद्म का ध्यान, एवं आपके भक्तजन की महिमा का श्रवण से जीव का जो आनन्द लाभ होता है, वह ब्रह्मानन्दानुभव रूप स्वमहिमा से भी नहीं होता है। अतएव अन्तक की (मृत्यु की) असि के आघात से जो लोक स्वर्गादि से भ्रष्ट होकर पतित होते हैं, उनके सम्बन्ध में कहना ही क्या है? अर्थात् वह आनन्द अति तुच्छ है।"

महानुभावत्वेन सर्वपरिमाणाधारत्वं तत्र दर्शितमिति विशेषोऽपि ज्ञेयः। अथ स्थूल-सूक्ष्मातिरिक्ततामाह द्वाभ्याम् (भा० ८।३।२४,३०)—

"स वै न देवासुरमर्त्यतिर्य्यङ्,-न स्त्री न षण्डो न पुमान्न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म्म न सन्न चास,-न्निषेधशेषो जयतादशेषः ॥१५६॥
एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं, ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वा,-त्तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्" १५७॥

(भा०८।३।२२) 'यस्य ब्रह्मादयो देवाः' इत्यादि-प्राक्तन-पद्यद्वयेन यस्मात् सर्वकारणत्वं व्यञ्जितम्, तस्माद्देवादीनां मध्ये कोऽपि न भवति। वैलक्षण्यञ्च सात्त्विकत्व-भौतिकत्वादिहीनतैव; स्त्रीत्व-पुरुषत्वहीनता च प्राकृततत्तद्धर्मराहित्यम्। अतएव 'न षण्डः' इत्युक्तम्। तस्मान्न कोऽपि जन्तुः; कारणभूतः सत्त्वादिगुणः पुण्य-पापलक्षणं कर्म च नेत्याह— नायं गुणः कर्मेति;

सर्वसम्वादिनी

"तदेतद्भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः" ॥३७॥

ईदृग्विषयश्च ज्ञानं परविद्येत्याह,"— (७०तम प०)

"एवं निगदितार्थस्य सतत्त्वं तस्य तत्त्वतः। ज्ञायते येन तज्ज्ञानं परमन्यत्त्रयीमयम्" ॥३८॥

इत्यत्र "निगदितार्थस्य द्वादशाक्षरादिभिरुक्तार्थस्येश्वरस्य सतत्त्वं स्वरूपं तत्त्वतोऽप्रच्युतब्रह्मस्वरूपेण येन

अनुवाद—

यहाँ ब्रह्मा की उक्ति से श्रीभगवान् अणु से भी अणुतर एवं अपरिगणित महिमा का आधार, वर्णित होने से श्रीभगवान् स्वीय अचिन्त्य शक्तित्व रूपमें तथा महानुभावत्व में युगपत् समस्त परिमाण का ही आधार हैं, उसका कथन हुआ है। अनन्तर श्रीभगवान् की श्रीमूर्त्ति स्थूल-सूक्ष्म से अतीत है, वह वक्ष्यमाण श्लोक के द्वारा उक्त हो रहा है। (भा० ८।३-२४,३०)

"श्रीभगवान्—देवता, असुर, मर्त्य जीव, तिर्य्यक्, षण्ड, स्त्री, पुरुष अथवा अपर किसी प्रकार जन्तु भी नहीं हैं। सदसद् के अतीत चेतन-अचेतन उभय वर्ग के अतीत सकल निषेध एवं अशेष कल्याण गुणके आश्रयरूप भगवान् जययुक्त हो, अर्थात् तत् प्राप्ति के प्रतिकूल वर्ग का निरास करें। गजेन्द्र कर्त्तृक इस प्रकार गुणातीत रूपसे उपवर्णित होकर भी जब विविध शरीर नाम, रूपाद्याभिमानी ब्रह्मादि देवगण का आगमन गजेन्द्र की मुक्ति के निमित्त नहीं हुआ, तब गजेन्द्रोपवर्णित निखिल गुणाश्रय अखिल देवमयमूर्त्ति श्रीहरि आविर्भूत हुये थे। कारण गजेन्द्र की प्रार्थना में किसी देव विशेष का नामोल्लेख न होने से, एवं गजेन्द्र ने विशेषण विन्यास के द्वारा जो स्तव किया था, उससे ब्रह्मादि देववृन्द का बोध होना असम्भव होने से पुरुषोत्तम श्रीहरि स्वयं ही गजेन्द्र की मुक्ति के निमित्त आविर्भूत हुये। "स आत्मा अङ्गान्यन्या-देवताः" इत्यादि श्रुति वाक्य से सकल देव के अङ्गीरूप में श्रीहरि ही अभिहित होने से आप स्वयं ही उपस्थित हो गये।"

इस श्लोक के पूर्व में "ब्रह्मादि देवगण जिनके स्वल्प मात्र अंश से उद्भूत हुये हैं" इत्यादि वाक्य में जिनका सर्व कारण का कारणत्व व्यञ्जित हुआ है, उक्त देवादि में सर्व कारण का कारणत्व न होने से, वे सब उपस्थित नहीं हुये। कारण—सात्त्विकत्व भौतिकत्वादि की हीनता के द्वारा वैलक्षण्य प्रतिपादित हुआ है। स्त्रीत्व पुरुषत्व हीनता के द्वारा प्राकृत धर्मराहित्य प्रदर्शित हुआ है। अतएव आप उक्त किसी श्रेणी के प्राणी नहीं हैं—वह भी कथित हुआ है। कारण,—सत्त्वादि गुण, पाप-पुण्य उनमें नहीं हैं। आप गुण अथवा कर्म भी नहीं हैं। अतएव जो उक्त समुदाय का प्रवर्त्तक हैं, उनका वर्णन हुआ है।

तयोरपि प्रवर्त्तकत्वादिति भावः। किं बहुना ? यदत्र सत् स्थूलम्, असत् सूक्ष्मं तदेकमपि न भवति, स्वप्रकाशरूपत्वादिति भावः। "किन्तु सर्वस्य निषेधे अवधित्वेन शिष्यत इति निषेधशेषः। मायया तत्तदशेषात्मकश्च जयतात् मद्विमोक्षणाय आविर्भवतु" इति टीका च। एवमुपवर्णितं निर्विशेषं देवादिरूपं विना परं तत्त्वं येन तं गजेन्द्रम्। विविधलिङ्गभिदाभिमानाः विविधा चासौ लिङ्गभिदा देवादिरूपभेदश्च तस्यामभिमानो येषामतएव ते ब्रह्मादयो यदा नोपजग्मुस्तत्र तदा निखिलात्मकत्वात् निखिलानां तेषां परमात्मसुखरूपत्वात् तद्विलक्षणो मायया अशेषात्मकत्वादखिलामरमयो हरिराविरासीदिति। एवमाविर्भावं प्रार्थयमाने श्रीगजेन्द्रे यद्रूपेणाविर्भूतं तत् खलु तादृशमेव भवितुमर्हतीति साधूक्तम्—स्थूलसूक्ष्मवस्त्वतिरिक्तस्तव श्रीविग्रह इति। अन्यथा त्वपाणिपादरूपत्वेनैव तच्चेतस्याविर्भूय तद्विदध्यात्। तदुक्तम् (भा०१०।१४।२)—"स्वेच्छामयस्य" इति। श्लोकद्वयमिदं श्लोकान्तरव्यवहितमप्यर्थेनाव्यवहितत्वाद्युगलतयोपदध्रे ॥ प्रथमं पद्यं गजेन्द्रः श्रीहरिम्; द्वितीयं श्रीशुकः ॥

सर्वसम्वादिनी

द्वादशाक्षरादिना ज्ञायते, तत् परं ज्ञानं परा विद्या, त्रयीमयं त्वन्यदपराविद्या कर्माख्या।"

"ननु यदीश्वरो ब्रह्मैव, कथं तर्हि तस्य निर्द्देश्यस्य भगवच्छब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्याह"; अथवा, स्वरूपमेव भगवच्छब्देन वाच्यम्, न तु लक्ष्यमित्युक्तम्। तदेव प्रतिपादयति,—(७१तम, ७२तम प०)

अनुवाद—

अधिक क्या,—जगत् में जो सत्-स्थूल, असत्-सूक्ष्म, उनके मध्यमें आप एक भी नहीं हैं। कारण,—आप स्वयं प्रकाशरूपत्व हेतु सदसद् के अतीत हैं।

इस श्लोक की व्याख्या में स्वामिपादने लिखा है—"जो इस प्रकार नहीं है, किन्तु उक्त समूह वस्तु के निषेध से अर्थात् निषेध श्रुति से जो सब की शेषसीमामें अवस्थित हैं, एवं जो शेष सीमामें अवस्थित होकर भी स्वीय माया के द्वारा अशेषात्मक रूपमें प्रतिभात होते हैं। वह जययुक्त हो, अर्थात् मेरी मुक्ति के निमित्त आविर्भूत हो।"

अतएव इस प्रकार उपवर्णित निर्विशेष अर्थात् देवादि रूप को छोड़कर जिससे परतत्त्व वर्णित हुआ है, उस गजेन्द्र की, जब विविध लिङ्गभिधाभिमानी अर्थात् विविध प्रकार से रूपभेद हुआ है जिनका, इस प्रकार देवगण के उस प्रकार नाम का अभिमान है। तत्तदभिमानी ब्रह्मादि देवगण नहीं आये थे। उस समय उक्त निखिल देवता के परमात्मसुखरूपत्व हेतु जो उससे भिन्न लक्षणाक्रान्त है, किन्तु स्वीय माया के द्वारा उन सब मूर्त्तिमें अवस्थित होते हैं, अर्थात् उन देवगण जिनके अङ्ग रूपमें अवस्थित हैं, उनके अङ्गी श्रीहरि आविर्भूत हुए थे।

अतएव गजेन्द्र उस प्रकार प्रार्थना करने पर श्रीभगवान् जिस मूर्त्ति में आविर्भूत हुए, उनकी उन मूर्त्ति को अवश्य ही प्रार्थना के अनुरूप ही कहना होगा। सुतरां श्रीभगवान् के विग्रह को समस्त परिमाण के आधाररूप स्थूल-सूक्ष्म से अतिरिक्त कहकर निर्देश किया गया है, वह अतीव समीचीन है।

अन्यथा श्रीभगवान् अपाणिपाद रूपसे गजेन्द्र के चित्त में आविर्भूत होकर उनकी रक्षा करते। इससे "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वे० उ० ३।१९) इत्यादि श्रुत्यर्थ स्पष्टीकृत हुआ है। अर्थात् श्रीभगवान् के प्राकृत हस्त पद नहीं है। उनकी मूर्त्ति अप्राकृत चिन्मय है, आप स्वीय अप्राकृत चिन्मय नित्य मूर्त्ति में आविर्भूत हुए थे। तज्जन्य उनको "भूत मायातीत स्वेच्छामय" कहा गया है।

पूर्वोक्त श्लोकद्वय के प्रथम श्लोक गजेन्द्र कृत है। द्वितीय श्रीशुकदेव की उक्ति है, एवं इसके मध्य में

४६। अथ प्रत्यग्रूपत्वमप्याह (भा० १०।६४।२६)—

"स त्वं कथं मम विभोऽक्षपथः परात्मा, योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः" ॥१५८॥

टीका च—"हे विभो स त्वं ममाक्षपथः लोचनगोचरः सन् कथं साक्षात् प्रत्यक्षोऽसीत्यर्थः। किमत्राश्चर्य्यम् ? तदाह—पर आत्मा, अतएव योगेश्वरैरपि श्रुतिदृशा उपनिषच्चक्षुषा, अमले हृदि विभाव्यश्चिन्त्यः। यतोऽधोक्षजः—अक्षजमैन्द्रियकं ज्ञानं तदधः अर्वागेव यस्मात् सः। यस्य हि भवापवर्गो भवेत्, तस्य भवाननुदृश्यः स्यात्। उरुव्यसनेन कृकलासभवदुःखेन अन्धबुद्धेस्तु मम एतच्चित्रमित्यर्थः।" इत्येषा। दर्शनकारणन्तूक्तं नारायणाध्यात्मे—

"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः। तामृते परमात्मानं कः पश्येतामृतं प्रभुम्" ॥१५६॥ इति।

तादृश-शक्तेरप्युल्लासे तत्कृपैव कारणम्। तदुक्तं श्रुतौ (कठ० २।३।६)—"न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य", (मु० ३।२।३) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्"

सर्वसम्वादिनी

"अशब्दगोचरस्यापि तस्यैव ब्रह्मणो द्विज। पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्यौपचारिकः ॥३९॥
शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारण-कारणे" ॥४०॥

"अशब्देति पूजायां निमित्तभूतायामाविष्कृत-षाड्गुण्येन भगवच्छब्दः प्रयुज्यते ; तत्रापि गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वादुपचारात् मत्वर्थीयः प्रयुज्यते, तद्भेद-विवक्षायाम्। इत्थम्भूते मुख्य एव भगवच्छब्दो वर्तत

अनुवाद—

कतिपय श्लोक का व्यवधान होने पर भी परस्परार्थ का अव्यवधान से एकार्थता प्रतिपादक होने से ही श्लोकद्वय का उल्लेख हुआ है ॥४५॥

अनन्तर प्रत्यक् रूपत्व का वर्णन करते हैं,—

"हे विभो ! योगेश्वरगण, परात्म स्वरूप आपका उपनिषत् लब्ध ज्ञाननेत्र द्वारा दर्शन करते हैं, एवं संसारमुक्त पुरुषगण को भी आप दर्शन प्रदान करते हैं। कारण—आप अधोक्षज हैं, आपका दर्शन मांस नेत्र से नहीं होता है। ऐसे आप महाव्यसनान्धबुद्धि युक्त मेरे सम्मुख में साक्षात् प्रत्यक्ष हुये हैं।"

इसकी टीका—"हे विभो ! उस प्रकार आप आज कैसे मेरे नेत्रगोचर हुये हैं। यदि कहें,—इसमें आश्चर्य्य क्या है ? उक्त विस्मय का कारण—आप परमात्मा हैं, योगिगण कर्त्तृक श्रुत्युक्त दृष्टि (ज्ञान दृष्टिसे) उनके अमल अन्तःकरण में चिन्तित होते हैं, कारण,—आप अधोक्षज हैं, ऐन्द्रियक ज्ञान आपके समीप से अनेक दूरदेश में अवस्थित होता है। जो लोक संसार मुक्त हो गये हैं, आप उनके नयनगोचर होते हैं, मैं कृकलास जन्म प्राप्त हुआ हूँ। निज कर्मदोष से महद्दुःख में निपतित हूँ, मैं अन्धबुद्धि हूँ। आप मेरे दृष्टिगोचर हुये हैं, यह ही अतीव विस्मयकर है।"

नारायणाध्यातम में भगवद् दर्शन के कारण उक्त है—"भगवान् नित्य अव्यक्त होकर भी निज शक्ति से दर्शन दान करते हैं। उनकी शक्ति व्यतीत उन अमृतमय प्रभु परमात्मा का दर्शन करने में कौन सक्षम होता है ? इत्यादि वाक्य से प्रतीत होता है,—तादृश कृपाशक्ति के उल्लास से ही उनका दर्शन होता है। तदीय कृपा ही उनके दर्शन का कारण है। श्रुति में कथित है,—"नेत्र से उनका रूपको देखा नहीं जाता है। तदीय ध्यानादि के द्वारा जो उनको वरण करता है, वह उनको देखने में सक्षम होता है। उनके समीप में श्रीहरि निज मूर्त्ति प्रकट करते हैं।" "उनका रूप दृष्ट नहीं होता है।" स्थल विशेष में श्रुति की उक्ति वैसी है।

इति; (कठ० २।३।६,श्वे० ४।२०) "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य" इत्यादिकञ्च कुत्रचित्। एवमेव मोक्षधर्मे नारायणीये नारदं प्रति श्रीश्वेतद्वीपपतिनोक्तम् (म० भा०, शान्ति० ३३९।४५-४६)—

"एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते। इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः ॥१६०॥
माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि" ॥१६१॥ इति।

यथाऽन्यो रूपवानिति हेतोर्दृश्यते, तथायमपीति एतत्त्वया न ज्ञेयम्। ततश्च स्वस्य रूपित्वेऽप्यदृश्यत्वमुक्त्वा निजरूपस्याप्राकृतत्वमेव दर्शितम्। तद्दर्शने च परमकृपामय्यकुण्ठा

सर्वसम्वादिनी

इत्याह,—शुद्ध इति; शुद्धेऽसङ्गे महाविभूत्याख्येऽचिन्त्यैश्वर्य्ये" (७६तम-प०) "एवमेष महाशब्दो भगवानिति सत्तम" इति वक्ष्यमाणानुसारेण प्राकृत-घट-पटादि-शब्दानामगोचरस्य तदतीतस्य परस्यापि ब्रह्मणस्तस्यैव भगवच्छब्दः, नान्यस्य। अन्यस्य तु पूजायां पूज्यत्व-प्रतिपादननिमित्ते औपचारिक एव क्रियते; यतः शुद्ध इत्यादि; शुद्ध एव सति महाविभूतिराख्या ख्यातिर्यस्य तस्मिन्। तथैव वक्ष्यते हि-(७६तम,७७तम-प०)

अनुवाद—

मोक्ष धर्म में श्रीनारद के प्रति श्वेतद्वीपाधिपति की उक्ति इस प्रकार है—"हे नारद! इसको तुम रूपवान् न मानना, मैं मुहूर्त्त में ही अदृश्य हो सकता हूँ। मैं ही जगत् का प्रभु, ईश्वर हूँ। इच्छा से ही सृष्टि संहारादि कर सकता हूँ। यह मत्सृष्टा माया है, जिससे तुम मुझको देख रहे हो, सर्वभूतगुणयुक्त होने पर भी तुम मुझे वैसा न जानना। अर्थात् जगत् में आकारयुक्त अपर वस्तु जिस प्रकार दृष्ट होती है, उस प्रकार मुझे न जानना। कारण, यहाँ समस्त भूतों के आधारभूत परमरूपवत् होकर भी स्वीय रूप की अदृश्यता की उक्ति से वह अप्राकृत प्रतिपादित हुआ है। उस अप्राकृत श्रीभगवान् मूर्त्ति के दर्शन में परमकृपामयी स्वीया अकुण्ठा इच्छाशक्ति को कारणता उक्त है। "इच्छेन्" शब्द ही उसका प्रतिपादक है। "नश्येयम्" पद से मुहूर्त्त मात्र में अदृश्य हो सकता हूँ। यहाँ निज स्वातन्त्र्य एवं जगद्विलक्षणता के सम्बन्ध में "ईश" आदि शब्द ही हेतु है। तथापि मुझे सर्वगुणयुक्त रूपसे तुम देख रहे हो, यह कार्य्य, मत्सृष्टा माया का है, मेरी माया से उस प्रकार भान होता है। वस्तुतः मैं उस प्रकार नहीं हूँ। यहाँ माया शब्द का अर्थ—प्रतारणा शक्ति है। बहिर्मुख जीव मुझको जान नहीं सकते हैं। उसके निकट मैं उस प्रकार ही प्रतीत होता हूँ। "परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्" (गी० ७।२४)

इसके भाष्यमें आचार्य्य शङ्कर को उक्ति—"किं निमित्तं त्वामेव न प्रपद्यन्ते" इत्युच्यते—"अव्यक्तमिति; अव्यक्तमप्रकाशं, व्यक्तिमापन्नं प्रकाशं गतं, इदानीं मन्यन्ते मां नित्यप्रसिद्धमीश्वरमपि सन्तं, अबुद्धयोऽविवेकिनः परं भावं, परमात्मास्वरूपं अजानन्तोऽविवेकिनः, ममाव्ययं—व्ययरहितं, अनुत्तमं निरतिशयं मदीयं भावमजानन्तो मन्यन्ते इत्यर्थः।"

टीका—"भगवद्भजनस्योत्तमफलत्वेऽपि प्राणिनां प्रायेण तन्निष्ठत्वाभावे प्रश्नपूर्वकं निमित्तं निवेद्यति किं निमित्तमित्यादिना। तर्हि कादाचित्कत्वं भगवति प्राप्तं नेत्याह नित्येति। कथं तर्हि भगवन्तमागन्तुक प्रकाशं मन्यन्ते तत्राबुद्धयः" इत्युत्तरम्॥

भाष्य एवं टीका से सुस्पष्ट हुआ है कि—श्रीभगवद् भजन ही परमपुरुषार्थ है। तथापि जीव स्वीय अज्ञतावशतः सुप्रसिद्ध श्रीभगवान् के निरतिशय भाव का अनुसन्धान प्राप्त न होने से भूभार हरणार्थ प्रकटित श्रीविग्रह को आगन्तुक मानता है। किन्तु वास्तविक वह नित्य है, तथापि गुणमयत्व बोध के प्रति अज्ञता ही कारण है।

मध्वभाष्य—"को विशेषस्तवान्येभ्य इत्यत आह—अव्यक्तमिति,—कार्य्यकारणादिवर्जितं तद्वान् इव प्रतीयसे' इत्यत आह, व्यक्तिमापन्नमिति कार्य्यदेहाद्यापन्नं। तच्चोक्तं—"सदसतः परं" "न तस्य कार्य्यं" "अपाणिपादः" आनन्ददेहं पुरुषं मन्यन्ते, गौणदैहिकमित्यादौ भावं याथार्थ्यम्।"

ममेच्छैव कारणमित्याह—इच्छन्निति। नश्येयमदृश्यतामापद्येयम्। तत्र स्वातन्त्र्यं जगद्-विलक्षणत्वञ्च हेतुमाह—ईश इत्यादि। तथापि मां सर्वभूतगुणैर्युक्तं यत् पश्यसि, तद्युक्तत्वेन यत् प्रत्येषि, एषा माया मयैव सृष्टा, मम माययैव तथा भानमित्यर्थः। तस्मात् नैवमित्यादि। मायात्र प्रतारणशक्तिः; "स्यात् कृपादम्भयोर्माया" इति विश्वप्रकाशः। तथा हि तत्रैव श्रीभीष्मवचनम् (म०भा०, शान्ति० ३३६।१२)—

"प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेव सनातनः। साक्षात्तं दर्शयामास दृश्यो नान्येन केनचित्" ॥१६२॥ इति।

तमुपरिचरं वसुं प्रति स्वात्मानमिति शेषः। तदग्रे च वस्वादि-वाक्यम् (म०भा०,शान्ति०३३६।२०)—

"न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते। यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति" ॥१६३॥ इति।

तदेवं श्रुतावप्यदृश्यत्वादयो धर्माः श्रीविग्रहस्यैवोक्ताः; श्रुत्यन्तरञ्च (कठ० २।३।९)—"न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" इति ॥ नृगः श्रीभगवन्तम् ॥

४७। अतएव तत्र प्राकृतानि रूपादीनि निषिध्य अन्यानि सम्प्रतिपाद्यन्ते (भा० ८।३।८)—

"न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा, न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः, स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति" ॥१६४॥

सर्वसम्वादिनी

"एवमेष महाशब्दः" इत्यादि-सार्द्धपादद्वयेन "त्वन्यत्र ह्युपचारतः" इत्यन्तेन। (७३तम-प०)—

"सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थ-द्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने" ॥४१॥

इत्यत्र "अक्षरार्थनिरुक्त्या भगवच्छब्दस्य परमेश्वरवाचकत्वमाह,—सम्भर्त्तेत्यादिना। सम्भर्त्ता पोषकः, भर्त्ता आधार इत्यर्थद्वयेनान्वितः; नेता कर्म-ज्ञान-फल-प्रापकः"; नेतृत्वं प्रयोज्य-गमनगर्भमिति ग-कारार्थः;

अनुवाद—

अर्थात् परतत्त्वानभिज्ञ व्यक्तिगण मुझको कार्य्य देहापन्न मानते हैं। मैं सदसत् एवं कार्य्यादि से भिन्न होने पर भी जड़बुद्धि सम्पन्न जीव भगवान् के सच्चिदानन्द नित्य विग्रह का अनुसन्धान न प्राप्त कर, कल्पित मूर्त्ति की अवतारणा करते हैं।

भीष्म देव की उक्ति भी इस प्रकार है—"अनन्तर देवदेव सनातन श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उपरिचर वसु को अन्य कर्त्तृक अदृष्टपूर्व स्वीय मूर्त्ति को दिखाये थे।" अर्थात् निज मूर्त्ति का दर्शन कराये थे। अनन्तर ईदृश उक्ति भी है—"हे बृहस्पते! आपकी एवं हम सब की वह सामर्थ्य नहीं है, जिससे अधोक्षज भगवान् का सन्दर्शन हो।"

हे बृहस्पते! आप अथवा हम सब भगवान् को देखने में सक्षम नहीं हैं, श्रीभगवान् जिसके प्रति कृपा करते हैं, वह व्यक्ति निश्चय ही भगवद्दर्शन लाभ करता है। अध्यायार्थ संग्रह में श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं—"परमेश्वरदर्शनस्य दौर्लभ्यं तद्भक्तदर्शनाच्च तद्दर्शनसिद्धिरित्येतत् प्रतिपादयति।" "नेत्र से उनका रूप दृष्ट नहीं होता है। यह कथन,—श्रीभगवान् के प्रति नृगराज का है। ४६॥

श्रीभगवान् के रूपादि अप्राकृत हैं।

श्रीभगवान् के रूपादि नेत्रादि इन्द्रियग्राह्य न होने से वह प्राकृत नहीं है, कारण—प्राकृत वस्तुमात्र ही अस्मदादि शरीराभिमानी मानव के दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव श्रीभगवान् में प्राकृत रूप-गुणादि का निषेध कर उसकी अप्राकृतता प्रतिपादन के अभिप्राय से प्रकारान्तर का प्रारम्भ कर रहें हैं।

"जिनके जन्म, कर्म, नाम, रूप, गुण, दोषादि नहीं है, तथापि जो जगत् के सृष्टि, स्थिति, विनाशादि के निमित्त स्वीया योगमायाख्या शक्ति के द्वारा नियत उक्त जन्म, कर्म, रूप-गुणादि का प्रवर्त्तन करते रहते हैं।"

अयमर्थः—अवस्थान्तरप्राप्तिर्विकारः; तत्र प्रथमविकारो जन्मेति। अपूर्णस्य निजपूर्त्त्यर्थो चेष्टा कर्मेति। मनोग्राह्यस्य वस्तुनो व्यवहारार्थं केनापि सङ्केतितः शब्दो नामेति; चक्षुषा ग्राह्यो गुणः रूपमिति; सत्त्वादिप्राकृतगुणनिदानो द्रव्यस्योत्कर्षहेतुधर्मविशेषो गुण इति प्रकृतिजे लोके दृश्यते। यस्य च सर्वदा स्वरूपस्थत्वात् पूर्णत्वात् मनसोऽप्यगोचरत्वात् स्वप्रकाशत्वात् प्रकृत्यतीतत्वात् तानि न विद्यन्ते;तथापि यस्तानि ऋच्छति प्राप्नोति;(भा०८।३।९) "तस्मै नमः इत्युत्तरश्लोकेनान्वयः। अतएव श्रुत्यापि (श्वे० ६।१९)"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादौ, (कठ० १।३।१५)"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादौ च तन्निषिध्यापि (छा० ३।१४।२) "सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादौ विधीयते। गुणदोष इत्यपरमार्थत्वाद्गुण एव दोष इत्यर्थः। ततो रूढ़दोषस्तु सर्वथा न सम्भवत्येवेति व्यज्यते। तथा च कौर्म्मे—

"ऐश्वर्य्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते। तथापि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः कथञ्चन।
गुणा विरुद्धा अपि तु समाहार्य्याश्च सर्वतः" ॥१६५॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

"गमयिता प्रलये कार्य्याणां कारणं प्रति; स्रष्टा पुनरपि तेषामुद्गमयिता सर्गकर्त्तेति वा ग-कारार्थः"इति।

अत्र श्रीस्वामिभिर्वहिरङ्गान्तरङ्गयोः शक्तित्वेनाभेदविवक्षया व्याख्यातम्। शुद्धस्वरूपशक्ति-विवक्षायां तु तज्ज्ञान-भक्ति-फल-प्रापकत्वाद्यभिप्रायेणार्थान्तरं योज्यमिति।

"इदानीमक्षरद्वयात्मकस्य पदस्यार्थमाह,"—(७४तम-प०)

अनुवाद—

श्रीभगवान् के जन्मादि नहीं है, इसे समझने के लिए 'जन्म' को जानना आवश्यक है। उसका अर्थ करते हैं,—वस्तु की भावान्तर प्राप्ति का नाम विकार है, जैसे दुग्ध का विकार दधि। विकृत दधि में दुग्ध अवस्थित होने से भी उसे दुग्ध नहीं कहा जाता है। तद्रूप जीव का अन्यथा ख्यातिरूपप्रथमविकार ही जन्म है। अनादि वहिर्मुख जीव निज पूर्वकृत कर्म द्वारा बद्ध होकर जब देवादि स्थावरान्त देह को आश्रय कर तद्देहाभिमानी होकर आत्म स्वरूप विस्मृत होता है, तब उसे जन्म कहा जाता है।

अपूर्ण व्यक्ति की अभाव-आकाङ्क्षा पूर्त्ति की चेष्टा को कर्म कहते हैं। मनोग्राह्य वस्तु का व्यवहारार्थ सङ्केतित शब्द ही नाम है। चक्षुर्ग्राह्य गुणविशेष ही रूप है। सत्त्वादि प्राकृतगुण निदान अथवा आश्रयभूत द्रव्य का उत्कर्षविधायक धर्मविशेष को गुण कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन में गुण का विवरण इस प्रकार है—"रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणादि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः (१ अ, १अ, ६ सू०) समस्त गुण, गुणत्वरूप में समस्त द्रव्य में समवेत होकर द्रव्य का अभिव्यञ्जक होते हैं। "गुणानां सर्वद्रव्याश्रितत्व द्रव्याभिव्यङ्ग्यत्वं द्रव्याभिव्यञ्जकत्वञ्चेति।"

जो सर्वदा स्वरूपस्थत्व, पूर्णत्व, मनोऽगोचरत्व, स्वप्रकाशत्व, एवं प्रकृत्यतीतत्वावस्था में विराजित हैं, उनके सम्बन्ध में उक्त रूप जन्मादि नहीं हो सकते हैं। तथापि जो निज मायाशक्ति द्वारा जगत् में जन्मादि को प्रकट करते रहते हैं, उन पुरुषोत्तम को नमस्कार करता हूँ। 'न विद्यते' श्लोक का यह अर्थ है।

अतएव श्रुति में "निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय" इत्यादि अनेक वाक्य से जन्मादि निषिद्ध होने से भी पुनः श्रुत्यन्तर के द्वारा उनको "सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस" इत्यादि शब्द से कहा गया है। उक्त धर्मसमूह की विद्यमानता उनमें स्वीकृत है।

"गुणदोष एव वा" शब्द का अर्थ, गुण एवं दोष नहीं है। प्राकृत गुण की अपरमार्थता के कारण गुण ही दोषरूप है, अतएव दोष शब्द से जिसका बोध होता है, उसका सर्वथा असम्भव श्रीभगवान् में है।

(छा० ८।१।५) "अयमात्मापहतपाप्मा" इत्याद्याः श्रुतयश्च ; (छा० ४।१५।२-४) "एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति एष उ एव भामनीः, एष सर्वेषु वेदेषु भाति" इत्याद्या च। अतएव सर्वगन्ध इत्यादौ गन्धादि-शब्देन सौगन्धादिकमेवोच्यते। यदा तु ऋच्छतिनान्वयस्तदा गुणस्य दोषत्वेन रूपकमविवक्षितं श्रुतिविरुद्धत्वात् परमार्थत्वेनैव प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च। नन्वेकत्र तेषां जन्मादीनां भावाभावयोर्विरोध इत्याशङ्क्य तदविरोधे हेतुमाह—स्वमाययेति। अन्यथानुपपत्तिप्रमिता दुस्तर्क्या स्वरूपशक्तिरेव तत्र हेतुः। अतएव स्वरूपभूतत्वेन तेभ्यः प्राकृतेभ्यो विलक्षणत्वात् तान्यपि न विद्यन्त इति च वक्तुं न शक्यत इति भावः। यथा शङ्कर-शारीरके ब्र०सू० १।४।१६) "समाकर्षात्" इत्यत्र "नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः सच्छब्दः प्रायेण प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्म श्रुतावसदित्युपर्य्यते" इत्युक्तं तथैव ज्ञेयम्। अतएव श्रीविष्णुपुराणे (६।५।८३) "गुणांश्च दोषांश्च मुने व्यतीतः" इत्युक्त्वा पुनराह (वि०पु० ६।५।८४)—"समस्तकल्याणगुणात्मको हि" इति ; तथा (वि०पु० ६।५।७९)—

सर्वसम्वादिनी

"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना" ॥४२॥

इत्यत्र इङ्गनेरणं संज्ञेत्यर्थः। अत्र तैर्व्याख्यातमप्येवं ज्ञेयम्।—ऐश्वर्य्यस्य वीर्य्यस्य मणि-मन्त्रादीनामिव प्रभावस्य, यशसो विख्यातसद्गुणस्य, श्रियः सर्वप्रकारसम्पत्तेः, ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वस्य, वैराग्यस्य यावत्-प्रापञ्चिकवस्त्वनासङ्गस्य च। समग्रस्येति सर्वत्रान्वितमिति।

अनुवाद—

कूर्म पुराण में उक्त है—"श्रीभगवान् स्वीय ऐश्वर्य्य योग से विरुद्धार्थ से अभिहित होते हैं। किन्तु उन परमपुरुष में कभी भी दोष का आहरण नहीं होता है। अपितु समस्त विरुद्धगुण ही उनमें समाहृत होते हैं।"

श्रुति—"यह आत्मा अपहत पाप्मा" "इनको संयद्वाम कहा जाता है, सकल मङ्गल जिनको आश्रय कर रहते हैं, वह 'संयद्वाम' हैं। इस प्रकार जो जानते हैं, उनको सकल मङ्गल आश्रय करते हैं। इनको 'वामनी' कहा जाता है। वह प्राणिसमूह को पुण्यकर्म का फल प्रदान करते हैं। उनको 'भामनी' कहते हैं, समस्त वेद में लोक में आप विभात हैं, अतः 'भामनी' आख्या से अभिहित होते हैं। जो इनको जानते हैं, वह भी प्रकाश प्राप्त करते हैं।" इत्यादि श्रुति से श्रीहरि की गुणवत्ता का परिचय मिलता है। अतएव 'सर्वगन्ध' इत्यादि शब्द से उनके सौगन्ध्यादि विषय की उक्ति को जानना होगा।

पूर्वोक्त "अनुकालमृच्छति" श्लोक के ऋच्छति पद का अन्वय करना होगा, तब तदीय गुण का दोषत्व रूपक नहीं होगा, कारण—वह श्रुति विरुद्ध है। विशेषतः श्रीभगवान् में उक्त गुणादि परमार्थ रूपमें विद्यमान हैं। इसका प्रतिपादन पश्चात् होगा।

एकत्र उनका जन्माभाव एवं जन्मादि से विरोधाशङ्का का आपतन नहीं हो सकता है। कारण—स्वमायया,—निज माया शक्ति द्वारा कार्य्य होता है, कहने से उक्त विरोध परिहृत हुआ।

अर्थात् अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा प्रमिता दुरतर्का स्वरूपशक्ति को ही वहाँ पर हेतु जानना होगा। अतएव स्वरूपभूतता निबन्धन उक्त प्राकृत वस्तु से विलक्षणता हेतु जन्मादि की असम्भावना वहाँ हो सकती है। "समाकर्षात्" सूत्र भाष्य में (१।४।१५) आचार्य्य शङ्कर कहते हैं—"नाम-रूपादि व्याकृत वस्तु के सम्बन्ध में 'सत्' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है। सृष्टि के पहले उक्त नाम-रूपादि की अभिव्यक्ति न होने से सत्स्वरूप ब्रह्म भी श्रुतिमें 'असत्' आख्या से उक्त होते हैं।"' आचार्य्य का अभिप्राय यह ही जानना होगा।

गोविन्दभाष्य—"अथासद्व्याकृतशब्दयोर्गतिमाह। समाकर्षात्।" (सू० १।४।१५)

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्य-वीर्य्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः" ॥१६६॥ इति।
पाद्मोत्तरखण्डे च—

"योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसंयुक्तै र्गुणैर्हीनत्वमुच्यते" ॥१६७॥ इति।

न च स्वमाययेत्यन्यथार्थं मन्तव्यम्। स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः, "अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्" इति श्रुतेः "आत्ममाया तदिच्छा स्यात्" इति महासंहितातः;

"त्रिगुणात्मिकाथ ज्ञानञ्च विष्णुशक्तिस्तथैव च। मायाशब्देन भण्यन्ते शब्दतत्त्वार्थवेदिभिः" ॥१६८॥
इति शब्दमहोदधेः; "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टोः, "माया स्याच्छाम्बरीबुद्ध्योः" इति त्रिकाण्डशेषाच्च। (भा० १०।३७।२२)—

"विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया, समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम्।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया,-गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि" ॥१६९॥

सर्वसम्वादिनी

"व-कारार्थमाह"—(७५तम-प०)

"वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। सर्वभूतेष्वशेषेषु व-कारार्थस्ततोऽव्ययः" ॥४३॥

इत्यत्र "तत्राधिष्ठानभूते भूतानि वसन्ति; स च भूतेषु वसतीति व-कारार्थः।" (७६तम-प०)—

"एवमेष महाशब्दो भगवानिति सत्तम। परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः" ॥४४॥

अनुवाद—

"सोऽकामयतेति पूर्वसन्दर्भप्रकृतस्य परमात्मनोऽसद्वा इत्यत्र आदित्यो ब्रह्मेति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मणोऽसदेवेदमित्यत्र च समाकर्षात् तत्तच्च वाक्यं ब्रह्मपरमेव। प्राक्सृष्टेर्नामरूपविभागात् तत् सम्बन्धितयास्तित्वभावादसच्छब्देन तत्र ब्रह्मैवोक्तम्। अन्यथा सदेव सौम्येत्याद्यानन्तरसम्भावितासत् कारणाप्रत्युक्तेरासीदिति कालसम्बन्धस्य च विरोधः। असन्नेव स भवतीत्यादिना सद्वादिनो विगीतत्वाच्च सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैव तदर्थः। तद्धेदं तर्ह्यीत्यत्राप्यव्याकृतशब्देन तदन्तरात्मभूतं ब्रह्मैव बोधयते स एष इह प्रविष्टेत्यादिपरवाक्यतस्तस्याकर्षणात् तच्छक्तिकं ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पवशात् स्वयमेव नामरूपाभ्यां व्याक्रियते' इति तत्रार्थः। इतरथा वेदान्तप्रतिष्ठितत्वं गतिसामान्यञ्च श्रुतं व्याकुप्येत। तस्मादेकं ब्रह्मैव विश्व हेतुरिति निश्चेयम्॥"

अर्थात् असत् अव्याकृत शब्द की गति निर्देश के निमित्त समाकर्षण हेतु उक्त शब्द समूह ब्रह्म पर है, सूत्र का यह ही तात्पर्य्य है। सृष्टि के पहले नाम रूपादि का अविभाग हेतु ब्रह्म ही तत्काल में असत् शब्द से कथित हैं। अन्यथा "हे सौम्य यह सत्" इत्यादि श्रुतिके अनन्तर सम्भावित असत् कारणता का प्रत्याख्यान हेतु "आसीत्" 'था' उक्ति से काल सम्बन्ध का विरोध उपस्थित होता है। जो असत् था, वह उत्पन्न हो रहा है। इत्यादि वाक्य से "सत्" वादी के मत् में दोषापत्ति होने से असत् शब्द से सूक्ष्म शक्तिसम्पन्न ब्रह्म का ही बोध होता है।"

सुतरां 'सत्' स्वरूप ब्रह्म यदि 'असत्' शब्द से अभिहित हो सकते हैं, तब "न विद्यते यस्य जन्मकर्म" इत्याद्युक्त जन्म कर्मादि का भावाभाव असङ्गत न होकर, प्राकृत अप्राकृत भेद के द्वारा सुसङ्गत ही हुआ है। अतएव विष्णुपुराण में—"हे मुने! गुणदोषादि शून्य" यह कह कर पुनः कहा "समस्त कल्याण गुणात्मक"। तथा—"हेय गुणादि परिशून्य भगवत् शब्दवाच्य ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, तेज जिनमें अशेष रूपसे विद्यमान हैं।"

पाद्मोत्तर खण्ड में भी—"उक्त जगदीश्वर जिस शास्त्र में निर्गुण उक्त हैं, उससे उनका प्राकृत-हेय-गुण-हीनत्व ही प्रतिपादित हुआ है। इस प्रकार पूर्वापर सङ्गति को जानना होगा। "भगवान् स्व मायाशक्ति के द्वारा कार्य्य करते हैं।" यहाँ माया शब्द का अर्थ—स्वरूपशक्ति है, अन्य अर्थ नहीं।

श्रीभागवत में उक्त है—"जो समाप्त सर्वार्थ, जिनकी वाञ्छा सर्वदा अमोघ है, जो स्वीय तेज से नित्य

इति श्रीनारदवाक्यात्; (भा० १२।१२।६९) "स्वसुखनिभृत" इत्यादिवक्तृहृदयविरोधाच्च । ततः सर्वथा चिच्छक्त्येत्यर्थः । अतः स्वामिभिरपि योगमायाशब्देन चिच्छक्तिर्व्याख्याता । ननु प्राप्नोतीत्युक्तेः कादाचित्कत्वमप्यवगम्यते ? तत्राह—अनुकालं नित्यमेव प्राप्नोति, कदाचिदपि न त्यजतीत्यर्थः । स्वरूपशक्तिप्रकाशितत्वस्य नित्यत्वस्य च मिथो हेतुहेतुमत्ता ज्ञेया । ननु कथं जन्मकर्मणोर्नित्यत्वम् ? ते हि क्रिये; क्रियात्वञ्च प्रतिनिजांशमप्यारम्भपरिसमाप्तिभ्यामेव सिध्यतीति ते विना स्वरूपहान्यापत्तिः, नैष दोषः । श्रीभगवति सदैवाकारानन्त्यात् प्रकाशानन्त्यात् जन्मकर्मलक्षणलीलानन्त्यादनन्त-प्रपञ्चानन्त-वैकुण्ठगत-तत्तल्लीलास्थान-तत्तल्लीलापरिकराणां व्यक्तिप्रकाशयोरानन्त्याच्च । यत एवं सत्योरपि तत्तदाकारप्रकाश-गतयोस्तदारम्भसमाप्त्योरेकत्रैकत्र ते ते जन्मकर्म्मणोरंशा यावत् समाप्यन्ते न समाप्यन्ते वा, तावदेवान्यत्रान्यत्राप्यारब्धा भवन्तीत्येवं श्रीभगवति विच्छेदाभावान्नित्ये एव तत्र ते जन्म-

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "एवमेष महाशब्दो वासुदेवस्य वाचको न त्वन्यस्येत्यर्थः ।"

अक्षरनिरुक्ति-पक्षे,—भश्च गश्च वश्चेति द्वन्द्वस्ततश्च भगवा इति नामरूपाणि विद्यन्ते यस्य स 'भगवान्' पृषोदरादित्वाद्व-लोपः । तत्र "धात्वेकदेशेऽप्यर्थशक्तिरप्यक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयात्" इति निरुक्तात् ।

"तदेवं परमेश्वरे निरतिशयैश्वर्य्यादियुक्ते मुख्योऽयं शब्दः । अन्यत्र तु गौण इत्याह,"—(७७तम-प०)

अनुवाद—

ही मायागुण प्रवाह को निवृत्त करते हैं । उन विशुद्ध विज्ञानघनमूर्त्ति श्रीभगवान् का स्तव करता हूँ ।"

नारद महाशय की इस उक्ति से एवं "स्वसुखनिभृतचित्त" इत्यादि पद्य से श्रीमद्भागवत प्रवक्ता शुक हृदय निष्ठा का विरोध उपस्थित होने से श्रीभगवान् को चित्शक्तिसम्पन्न सर्वदा जानना होगा । तज्जन्य स्वामिपाद भी 'योगमाया' शब्द का अर्थ 'चिच्छक्ति' किए हैं । 'न विद्यते' श्लोकोक्त 'ऋच्छति' शब्द का 'प्राप्नोति' अर्थ करने से उक्त जन्मादि का कादाचित्कत्व बोध होता है, एवं उससे अनित्यता दोष भी होता है ? इस प्रकार शङ्का के उत्तर में कहा गया है "अनुकालं" अर्थात् उनकी जन्मादि लीला नित्य ही होती है । कदापि विराम नहीं है । स्वरूपशक्ति के द्वारा प्रकाशित विषय की परस्पर हेतु हेतुमत्ता जानना होगा । उक्त स्थल में हेत्वन्तर की कल्पना नहीं हो सकती है ।

तथापि आशङ्का होती है,—जन्मकर्मादि की नित्यता कैसे सम्भव हो, जन्मादि क्रिया है, क्रियात्व, उसके प्रति निजांश की आरम्भ-परिसमाप्ति के द्वारा सुसिद्ध होता है । उसके अभाव से क्रिया की स्वरूप हानि होती है । एवं लीला भी क्रियात्मिका है, उसके अभावसे लीला सिद्ध नहीं होगी, स्वारस्य नहीं रहेगा ?

उत्तर में कहते हैं—यहाँ उक्त दोष नहीं है । श्रीभगवान् में सर्वदा आकार की अनन्तता, प्रकाश की अनन्तता, जन्म-कर्म-लक्षण लीला की अनन्तता, अनन्त प्रपञ्च एवं वैकुण्ठगत उन-उन लीलास्थान की अनन्तता वशतः एवं लीलारस के आलम्बनभूत परिकरवृन्द की व्यक्ति-प्रकाश की अनन्तता निबन्धन अनित्यता का आपतन हो ही नहीं सकता । अर्थात् श्रीभगवान् की उस-उस लीला-विषयक आकार-प्रकाशगत आरम्भ समाप्ति होने पर भी उसको अनित्य कहना सम्भव नहीं है । कारण—श्रीभगवान् के आकार प्रकाश भेद से विभिन्न धामादि में विविध प्रकार की लीला एवं परिकरगण के द्वारा निर्वाहित लीला का समापन अथवा किसी अंशका समापन होते न होते ही अपर प्रपञ्च धामादि में तज्जातीय लीलादि का आरम्भ होने से श्रीभगवान् के सहित उसका विच्छेद किसी समय भी नहीं होता है । अतएव उक्त जन्मकर्मादि लीला श्रीभगवान् में नित्य ही विद्यमान है । सुतरां लीला क्रिया होने से भी सामान्य क्रिया

कर्मणी वर्त्तेते। तत्र ते क्वचित् किञ्चिद्विलक्षणत्वेनारभ्येते, ते क्वचिदेकरूप्येण चेति ज्ञेयम्, विशेषणभेदाद्विशेषणैक्याच्च। एक एवाकारः प्रकाशभेदेन पृथक् क्रियास्पदं भवतीति (भा० १०।६९।२) "चित्रं वतैतदेकेन वपुषा" इत्यादौ प्रतिपादितम्। ततः क्रियाभेदात्तत्तत्-क्रियात्मकेषु प्रकाशभेदेष्वभिमानभेदश्च गम्यते। तथा सत्येकत्रैकत्र लीलाक्रमजनितरसोद्बोधश्च जायते। ननु कथं ते एव जन्म-कर्मणी वर्त्तेते इत्युक्तम्, पृथगारब्धत्वादन्ये एव ते? उच्यते—कालभेदेनोदितानामपि समानरूपाणां क्रियाणामेकत्वम्; यथा शङ्कर-शारीरके—"द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चरितः, न तु द्वौ गोशब्दाविति प्रतीतिनिर्णीतं शब्दैकत्वम्। तथैव द्विः पाकः कृतोऽनेन, न तु द्विधा पाकः कृतोऽनेनेति प्रतीत्या भविष्यति।" इति। ततो जन्म-कर्मणोरपि नित्यता युक्तैव। अतएवा-गमादावपि भूतपूर्वलीलोपासनविधानं युक्तम्। तथा चोक्तं माध्वभाष्ये—"परमात्मसम्बन्धित्वेन नित्यत्वात् त्रिविक्रमत्वादिष्वप्युपसंहार्य्यत्वं युज्यते" इति; अनुमतं चैतत् श्रुत्या "यद्गतं भवच्च

सर्वसम्वादिनी

"तत्र पूज्यपदार्थोक्ति-परिभाषा-समन्वितः। शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः" ॥४५॥

इत्यत्र "पूज्यस्य श्रेष्ठपदार्थस्योक्तौ या परिभाषा—सङ्केतरूपग्रहो यदा तत्समन्वितोऽयं शब्दस्तदा भगवति नोपचारेण वर्तते, अन्यत्र देवादावुपचारेण वर्त्तते।"

"उपचारे वीजान्तरमाह",—(७८तम-प०)

अनुवाद—

के सहित उसकी तुलना नहीं हो सकती है। उसका विच्छेद न होने से अनित्यत्व की सम्भावना भी नहीं हो सकती है। उसके मध्य में कभी किसी प्रपञ्च में किञ्चित् पार्थक्य से कभी एक भाव से लीला अनुष्ठित होती है। यह ही विशेष है।

जिस प्रकार किसी स्थल में श्रीकृष्ण मा यशोदा के अङ्क में उपविष्ट होकर नवनीतादि भोजन कर रहें हैं। इत्यादि विशेष भेद से अथवा विशेषण ऐक्य से होती है। जिस प्रकार प्रकट लीला में एक ही आकार प्रकाश भेद से पृथक् क्रिया का आस्पद होता है, जिसका कथन "चित्रं वतैतद्" श्लोक से पहले हुआ है। एवं क्रिया भेद से उस-उस क्रियात्मक प्रकाश का भेद एवं पृथक् क्रिया बोधक अभिमान भी होता है, एवं लीला का क्रम जनित रस का भी उद्बोध होता है।

आशङ्का हो सकती है कि—लीला का विच्छेद न होने से भी उक्त पृथक् पृथक् जन्म-कर्मादि को कैसे पूर्व जन्म-कर्म मान कर उसमें एकत्वावधारण हो सकता है? पृथगारब्धतावशतः वह भिन्न ही है।

उत्तर में शाब्दिकगण कहते हैं—काल भेद से कथित समान जातीय क्रियासमूह का जिस प्रकार एकत्व स्वीकृत है, लीला सम्बन्ध में भी वैसे जानना होगा। शङ्कर शारीरक भाष्यमें उक्त है—"गौः गौः" कह कर दो बार उच्चारण गो शब्द का होने से भी एक गो शब्द का ही दो बार उच्चारण से भिन्न दो गो शब्द का बोध नहीं होता है। कारण—उभय गो शब्द का एकत्व ही अवधारित हुआ है।

जिस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा दो बार पाक हुआ है, कहने से एक पाकक्रिया का बारद्वय पाक व्यतीत पाक क्रिया का विभिन्नत्व बोधित नहीं होता है। तद्रूप जन्मकर्मादि लीला बहु होने से भी उसका एकत्व नित्यत्व युक्ति सिद्ध है। तज्जन्य आगमादि में भूतपूर्व लीला की उपासना विहित है।

माध्वभाष्यमें उक्त है—"परमात्म सम्बन्धित्व में नित्यता निबन्धन त्रिविक्रमादि में भी उसका उपसंहार करना युक्तियुक्त ही है। एवं वह "यद्गतं" इत्यादि श्रुति द्वारा अनुमोदित भी है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ जो कुछ कर्मादि हैं, वे सब ही नित्य हैं। मूल श्लोक में "गत—भवत्—भविष्यत्" शब्दत्रय के द्वारा लीला का त्रैकालिकत्व प्रख्यापित हुआ है।

भविष्यच्च" इत्यनयैव। उपसंहार्य्यत्वमुपासनायामुपादेयत्वमित्यर्थः। तत्र तस्य जन्मनः प्राकृतात्तस्माद्विलक्षणत्वं प्राकृतजन्मानुकरणेनाविर्भावमात्रत्वं क्वचित्तदननुकरणेन वा, (मुद्गलो० ३।१) "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः। तद्यथा (भा० १०।३।८)—

"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" ॥१७०॥ इति।

तथा च (भा० ७।८।१७)—

"सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं, व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्, स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्" ॥१७१॥ इति।

(भा० ३।२४।६) "कार्द्दमं वीर्य्यमापन्नः" इत्यत्र श्रीकपिलदेवावतारप्रसङ्गेऽपि कर्द्दमस्य भक्तिसामर्थ्यवशीभूत इत्येव व्याख्येयम्। वीर्य्यशब्दन्यासस्तु प्रसिद्धं पुत्रत्वमपि श्लिष्टं भवतीत्येवमर्थः। तथा कर्मणो वैलक्षण्यं स्वरूपानन्दविलासमात्रत्वम्। तद्यथा (ब्र०सू० २।१।३३) "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति। व्याख्यातश्च तत्त्ववादिभिः, यथा—"लोके मत्तस्य सुखोद्रेकादेव

सर्वसम्वादिनी

"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति" ॥४६॥

"भगवच्छब्दवाच्यं षाड्गुण्यं प्रकारान्तरेणाह",—(७८तम-प०)

ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य्य-वीर्य्य तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः" ॥४७॥

इत्यत्र "हेयैः प्रकृति-गुणैस्तत्कार्यैः कर्मभिस्तत्फलैश्च विना" इति। अत्र ज्ञानमन्तःकरणजं बलम्, शक्ति-

अनुवाद—

अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा में उक्त है—"एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापीभक्तहृद्यन्तरात्मा" अर्थात् नित्य लीलानुरक्त भक्तव्यापी एक वह श्रीभगवान् भक्तगण के हृदय में अन्तरात्मारूप में साक्षात् विराजमान हैं। पूर्वोक्त त्रिविक्रमादि में "उपसंहार्य्यता" का अर्थ—उपासना की उपादेयता को जानना होगा। अतएव श्रीभगवान् का जन्म, प्राकृत जन्म से विलक्षण है, यह स्थिर हुआ।

कभी प्राकृत जन्मानुकरण से, कभी अनुकरण से आविर्भाव मात्र ही जन्म है। श्रुति में सुस्पष्ट उक्त है—"श्रीभगवान् अजायमान होकर भी बहु प्रकार से जन्मग्रहण करते हैं।" इस उक्ति से प्राकृतानुकरण से आविर्भाव मात्र ही जन्म है, प्रतिपादित हुआ है। अन्यथा विरुद्ध उभय वाक्य की स्वारस्य रक्षा नहीं हो सकती है।

"देवरूपिणी देवकी से सर्वगुहाशय विष्णु,—पूर्वदिक् में उदित पूर्णचन्द्र के समान आविर्भूत हुये" इस उक्ति से पूर्व कथित विषय पूर्णतः समर्थित हुआ है।

श्रीनृसिंहावतार में श्रीभगवान् "निज भृत्य प्रह्लाद वाक्य की सत्यता एवं अखिल भूत में निज व्याप्ति का परिदर्शन हेतु स्तम्भ से सभास्थल में अद्भुत नरसिंह मूर्त्ति धारण कर आविर्भूत हुए।" एवं "कार्दमं वीर्य्यमापन्न" इस श्लोक का भी उक्तरूप अर्थ करना होगा। अर्थात् श्रीकपिलदेव के अवतार प्रसङ्ग में कर्दम की भक्ति सामर्थ्य से वशीभूत होकर श्रीभगवान् आविर्भूत हुये थे। यह ही वीर्य्य शब्द का अर्थ है, वीर्य्य शब्द का प्रयोग—सामर्थ्य प्रभावादि में भी होता है। अथवा 'वीर्य्य' शब्द से प्रसिद्ध पुत्रत्वरूप अर्थ भी श्लिष्ट है।

श्रीभगवान् का कर्म वैलक्षण्य, केवल उनका स्वरूपभूत-आनन्दशक्ति का विलासमात्र है। "लोकवत्तु" इत्यादि वेदान्त सूत्र से उनका प्रतिपादन हुआ है। तत्त्ववादिगण इसमें दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—जिस

नृत्यादिलीला, न तु प्रयोजनापेक्षया, एवमेवेश्वरस्य'' इति । नारायणसंहितायाञ्च—

''सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु । कुरुते केवलानन्दाद्यथा मत्तस्य नर्त्तनम् ॥१७२॥

पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः । मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमुतास्याखिलात्मनः''॥१७३॥इति।

न चोन्मत्तदृष्टान्तेनासर्वज्ञत्वमपि प्रसञ्जयितव्यम् । स्वरूपानन्दोद्रेकेण स्वप्रयोजनमननुसन्धायैव लीलायत इत्येतदंशेनैव स्वीकारात्, उच्छ्वासप्रश्वासदृष्टान्तेऽपि सुषुप्त्यादौ तद्दोषापातात् । तस्मात् स्वरूपानन्दस्वाभाविक्येव तल्लीला । श्रुतिश्च (आगम० ६) ''देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'' इति । अत्र प्राकृतसृष्ट्यादिगतस्य साक्षाद्भगवच्चेष्टात्मकस्य वीक्षणादि-

सर्वसम्वादिनी

रिन्द्रियजम्, बलं शरीरजम्, तेजः कान्तिः; अशेषतः सामग्रेचरणेत्यर्थ इति ज्ञेयम् ।

''द्वादशाक्षरान्तर्गत-भगवच्छब्दस्यार्थमुक्त्वा वासुदेव-शब्दस्यार्थमाह'',—(८०तम-प०)

''सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः'' ॥४८॥

इत्यत्र ''वसनाद्वासनाच्च वासुः,—साधनात् साधुरितिवत्; द्योतनाद् वः; वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः;

अनुवाद—

प्रकार प्रयोजन न होने पर भी मदोन्मत्त व्यक्ति सुखोद्रेक से नृत्यादि करता रहता है, तद्रूप ईश्वर भी किसी प्रकार प्रयोजन के उद्देश्य से कार्य्य नहीं करते हैं । नारायणसंहिता में उक्त है—''श्रीहरि के सृष्ट्यादि कार्य्य किसी प्रयोजन विशेष को लक्ष्य कर नहीं होते हैं । मत्त के नृत्यवत् केवल आनन्दस्वभाववशतः कार्य्यादि करते रहते हैं । परिपूर्ण आनन्दस्वरूप श्रीभगवान् के लिए प्रयोजनविशेष की अपेक्षा क्या है ? जब कि, मुक्त व्यक्ति ही आप्तकाम होते हैं, तब अखिलात्मा श्रीहरि के सम्बन्ध में कहना ही क्या है ?''

आचार्य्य उक्त सूत्र के भाष्य में लिखे हैं—''तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य वयस्य राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीड़ाविहारेषु भवन्ति । एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपाप्रवृत्तिर्भविष्यति । न हि ईश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्य्यनुयोक्तुं शक्यते । यद्यप्यास्माकमियं जगद्बिम्वविरचनागुरुतरासंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमितशक्तित्वात् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनं उत्प्रेक्षते तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते आप्तकामः श्रुतेः ।'' (वे० सू० २।१।३३)

अर्थात् 'तु' शब्द से आपेक्ष परिहार हुआ है । जिस प्रकार जगत् में आत्मसुखकामी राजा, अथवा आमात्य, प्रयोजन व्यतीत ही क्रीड़ाविहारादि में प्रवृत्त होते हैं । तद्रूप सर्वथानपेक्ष ईश्वर की कोई प्रयोजन न होने पर भी केवल लीलास्वभाववशतः ही प्रवृत्ति होती है । ईश्वर के सम्बन्ध में न्यायतः श्रुतितः प्रयोजनान्तर की कल्पना नहीं हो सकती है ।

अथवा स्वभाव—अर्थात् गुणमयी प्रकृति का निज स्वभाव से हुआ है, इस प्रकार नियोग भी नहीं हो सकता है । हमारे निकट जगद् विम्व की रचना, एक गुरुतर संरम्भवत् प्रतिभात होने से भी, वह परमेश्वर की लीला व्यतीत अपर कुछ नहीं है । कारण निर्वचन असम्भव है, उनकी अपरिमित शक्ति से सब कुछ सम्भव है । लौकिक जगत् में एतादृशी लीला के सम्बन्ध में सूक्ष्म किसी कारण की उत्प्रेक्षा सम्भव होने से भी, श्रीभगवान् के कार्य्यमें सूक्ष्मकारणान्तर की उत्प्रेक्षा भी सम्भव नहीं है । ''आप्तकामस्य का स्पृहा'' इत्यादि आप्तकाम श्रुति,—आशङ्का का निरसन करती है ।

गोविन्दभाष्य—''शङ्काच्छेदाय तु शब्दः, परिपूर्णस्यापि विचित्रसृष्टौ प्रवृत्तिर्लीलैव केवला नतु स्वफलानुसन्धिपूर्विका ।''

तत्त्ववादिगण के दृष्टान्त एकांश में है, सर्वांश में नहीं । अतएव भगवान् में असर्वज्ञता की प्रसक्ति नहीं

कर्मणो वस्तुतस्तु तथाविधत्वे वैकुण्ठादिगतस्य कैमुत्यमेवापतितम्। यथोक्तं नागपत्नीभिः (भा० १०।१६।४७) **"अव्याकृतविहाराय" इति। अतएव श्रीशुकादीनामपि तल्लीलाश्रवणे रागतः प्रवृत्तिर्युज्यते। अतश्च** (भा० १।३।३५)—

"एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्त्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥१७४

इत्यत्र जन्मगुह्याध्यायपद्येऽप्येवमेव व्याख्येयम्। (भा० १।३।३३) **"यत्रेमे सदसद्रूपे" इत्यादि-भ्यामव्यवहितपद्याभ्यां यथा स्वरूपसम्यग्ज्ञानेनैव कृतस्याविद्याकृतात्माध्यास-सदसद्रूपनिषेधस्य हेतोर्ब्रह्मदर्शनं भवति, यथा च मायोपरतावेव स्वरूपसम्पत्तिर्भवतीत्युक्तम्। एवमेव कवय आत्मारामा हृत्पतेः परमात्मनो जन्मानि कर्माणि च वर्णयन्ति। तत्तद्प्रतिषेधे तदुपरतौ चैव सत्यां तज्जन्मकर्मानुभवसम्पत्ती भवत इत्यर्थः। सम्पत्तिरत्र साक्षाद्दर्शनम्। तस्मात्**

सर्वसम्वादिनी

तदुक्तं मोक्षधर्मे—"वसनाद्द्योतनाच्चैव वासुदेवं ततो विदुः" इति।"

"जनकादयो भगवन्नामालोचननिष्ठयैव ब्रह्मज्ञानं प्राप्ता इति दर्शयन्नाह षड्भिः"—(८१तम–८६तम-प०; ८१तम-प०)—"खाण्डिक्यजनकायाह पृष्टः केशिध्वजः पुरा। नामव्याख्यामनन्तस्य वासुदेवस्य तत्त्वतः" ॥४९॥

स्पष्टम्। (८२तम-प०)—"भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः"॥५०॥

अनुवाद—

होती है। उन्मत्त दृष्टान्त—स्वीय प्रयोजन के अननुसन्धान से स्वरूपभूत आनन्दोद्रेक से लीला करते हैं, इस अंश में स्वीकृत है। उच्छ्वास-प्रश्वास दृष्टान्त से भी सुषुप्ति काल में उक्त असर्वज्ञत्व दोष होता है। अतएव उसका ग्रहण न करके स्वरूपभूत आनन्द स्वभाव से ही लीला होती है—यह ही सर्वथा सङ्गत है।

श्रुति कहती है—"परमदेवनशील श्रीभगवान् का यह ही स्वभाव है। जो नित्य ही पूर्णकाम है, उनकी स्पृहा की सम्भावना कहाँ है ?

अतएव प्राकृत जगत् सृष्ट्यादि गत साक्षात् श्रीभगवान् के चेष्टात्मक वीक्षणादि कर्म, अर्थात् सृष्टि के पहले श्रीभगवान् का जो ईक्षण है, जिसके फलस्वरूप प्रकृति का क्षोभ, तज्जनित जो जगत् सृष्ट्यादि—सब ही लीला है। इस प्रकार अप्राकृत वैकुण्ठादि धामगत कार्य्य भी लीला है, यह कैमुतिक न्याय से प्राप्त है।

नागपत्नीगण कर्त्तृक श्रीभगवान् की स्तुति में भगवान् "अव्याकृतविहाराय" कहा गया है। इससे उनके कार्य्यमात्र का ही लीलात्व प्रतिपादित हुआ है। तज्जन्य ही श्रीशुकदेवादि के समान आत्मारामगण की भी प्रवृत्ति उनकी लीला श्रवण में सानुराग से होती है।

अन्यत्र भी उक्त है—"इस प्रकार अज, अकर्त्ता, हृत्पति, श्रीभगवान् के वेदगुह्य जन्मकर्मादि का वर्णन तत्त्वज्ञगण करते रहते हैं।"

जन्मगुह्याध्याय में "सद् असद् उभयरूप जब प्रतिसिद्ध होता है"। इस प्रकार कहकर परवर्त्ति श्लोक में उक्त जन्मादि वृत्तान्त को कहने से स्पष्टतः उपलब्धि होती है। जब स्वरूप का ज्ञान सम्यक् रूपसे होता है, तब अविद्याकृत आत्मा में सद् असद् अध्यास की निवृत्ति हेतु ब्रह्मदर्शन होता है।

अर्थात् अविद्या कृत आत्मा में अध्यस्त स्थूल, सूक्ष्म उभय देह की निवृत्ति होने से ब्रह्मदर्शन होता है। चित् के साम्य में ब्रह्म के सहित निज चित् साजात्य की उपलब्धि होती है। जीव, स्वरूप विस्मृत होकर अपने को शरीर ही मानता है। माया उपरता होने से हृत विस्मृत सम्पत्ति लाभ कर नित्य चित् कणादि स्वरूप की स्फूर्त्ति जीव की होती है। अनन्तर स्वरूपस्फूर्त्ति के परिपाक से क्रमशः जीव, आत्मारामावस्था में उपनीत होता है। अर्थात् अविद्या एवं तज्जनित अध्यासद्वय की निवृत्ति होने से श्रीभगवान् के जन्मकर्मादि का अनुभव करने की सामर्थ्य होती है। अर्थात् साक्षात् दर्शन होता है।

स्वरूपानन्दातिशयित-भगवदानन्द-विलासरूपाण्येव तानीति भावः। अतएव प्राकृतवैलक्षण्यात् 'अकर्त्तुरजनस्य' इत्युक्तम्। अतएव वेदगुह्यान्यपि तानीति। यथा अक्रूरस्तुतौ (भा०१०।४८।२३) "त्वयोदितः" इत्यादिद्वयं टीकायामेवेत्थमुत्थापितम्—"ननु तर्हि ममावताराास्तच्चरितानि च शुक्तिरजतवदविद्याकल्पितान्येव किम् ? नहि, नहि, इयन्तु तव लीलेत्याह द्वयेन त्वयोदित इति" इति। तथैव च भगवत्स्वरूपसाम्येनोक्तं वैष्णवे (५।२।१८)—

"नामकर्मस्वरूपाणि न परिच्छेदगोचरे। यस्याखिलप्रमाणानां स विष्णुर्गर्भगस्तव" ॥१७५॥

इति ; रूपकर्मेति वा पाठान्तरम्। इत्थमेवाभिप्रेतं श्रीगीतोपनिषद्भिः (गी० ४।९)-"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः" इति। तथा नाम्नो वैलक्षण्यं वाङ्मनसागोचरगुणावलम्बित्वे स्वतःसिद्धत्वम्। तद्यथा वासुदेवाध्यात्मे—"अप्रसिद्धेस्तद्गुणानामनामासौ प्रकीर्त्तितः" इति ;

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "भूतेषु वसते सोऽन्तरिति वासु-शब्दो व्याख्यातः ; धाता विधातेत्यादिना देव-शब्दो दिवेर्धातोरनेकार्थप्रपञ्चेन व्याख्यात इति ज्ञेयम्।" (८३तम-प०)—

"स सर्वभूतः प्रकृतेर्विकारान्, गुणांश्च दोषांश्च मुने व्यतीतः।
अतीत-सर्वावरणोऽखिलात्मा, तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले" ॥५१॥

अनुवाद—

निवृत्ताध्यास आत्मारामगण का भगवत् जन्मादि का अनुभव होता है। इससे भगवत् साक्षात्कारानन्द से स्वरूपानन्द तिरस्कृत होता है। अन्यथा आत्मारामगण की भगवल्लीला कथा वर्णन में प्रवृत्ति नहीं होती। सुतरां श्रीभगवान् के जन्मकर्मादि अप्राकृत है, उसका प्रतिपादन "अकर्त्ता-अजन" शब्द से हुआ है।

अतएव वह वेदगुह्य, अर्थात् अति गोपनीय होने के कारण स्पष्ट वर्णित नहीं हुआ है। केवल सङ्केत मात्र से वर्णित है, वह ही वेदगुह्य है। "बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं" (मु० २३।७) "रसो वै सः" (तै० २।७।२) इत्यादि श्रुति ही इसका प्रमाण है। महर्षि वेदव्यास वेदगुह्य श्रीभगवान् की लीला का प्रकाश कर कृतकृत्य हुये थे एवं पुराण नाम भी सार्थक हुआ है।

श्रीभगवान् स्वयं कहे हैं—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० १७ २५) आनन्द लीलारस विग्रह श्रीभगवान् के जन्मादि को मूढ़जन कैसे जान सकेंगे, तज्जन्य अक्रूर स्तव में "त्वयोदित" इत्यादि श्लोक की टीका में स्वामिपाद आशङ्का उत्तोलन पूर्वक समाधान किये हैं—"तब क्या मेरा अवतार और उनके चरितादि की शुक्ति में रजत ज्ञान के समान अविद्या कल्पित करते हो ?" ना, ना, यह आपकी ही लीला है। जब पाषण्डपथाभिलम्बि असद्गण कर्त्तृक वेदविहित धर्म व्याहत होता है, उस समय ही जगत् के हित के निमित्त आपका उदय होता है।"

विष्णुपुराण में भी अनुरूप उक्ति है—"जिनके नाम-रूप-कर्म-स्वरूपादि अखिल प्रमाणों के विषय नहीं होते हैं, वह विष्णु आज गर्भगत हुये हैं।"

इस श्लोक की टीका में स्वामिपाद कहे हैं—"यस्य रूपादीन्यखिलानि प्रमाणानि अल्पत्वमहत्त्वादि-परिमाणानि परिच्छेदस्य निर्द्धारस्य गोचरे न वर्त्तन्ते।"

एतदभिप्राय से श्रीभगवद्गीतोपनिषद् की उक्ति भी है—"मेरा जन्मकर्मादि दिव्य है, इसको तत्त्वतः जो जानता है।" अनेक व्यक्ति श्रीभगवान् के जन्मकर्मादि को जानते हैं, किन्तु तत्त्वतः नहीं जानते हैं। तत्त्वतः नाम रूपादि विषय में अभिज्ञता प्राप्त करना, भगवत् कृपा सापेक्ष है।

एवं वाक्य मन के अगोचर गुणालम्बित्व वशतः उनके नाम का वैलक्षण्य भी स्वतःसिद्ध है।

वासुदेवाध्यात्म में उक्त है—"ईश्वर के गुणादि की अप्रसिद्धता हेतु आप "अनामा" शब्द से कीर्त्तित

ब्राह्मचे—"अनामा सोऽप्रसिद्धत्वादरूपो भूतवर्जनात्" इति; अतएव "नामकर्मस्वरूपाणि" इति पूर्वोदाहरणानुसारेणास्यापि वैष्णववाक्यस्यायमेवार्थः; (वि०पु० ५।१८।५३-५४)—

"न यत्र नाथ विद्यन्ते नामजात्यादिकल्पनाः। तद्ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानज।।१७६।।
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः। ततः कृष्णाच्युतानन्तविष्णुनामभिरीड्यसे" ।।१७७।।

इत्यस्य। इत्येतद्वैष्णववचनान्तरमपि न विरुद्धम्। तथा हि अत्र आपाततः प्रतीतार्थतायां कल्पनाशब्दो व्यर्थः स्यात्। नामजात्यादयो न विद्यन्ते इत्यनेनैव विवक्षितार्थसिद्धेः। स्वयमेव ब्रह्माजादिशब्दानां परमार्थप्रतिपादक-नामतया स्वीकृतेश्च; (श्वे० ४।५) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इत्यादिष्वजायमानत्वलक्षणजातिश्च दृश्यत एव। तथा नामादिकल्पना न विद्यन्ते इत्युक्त्या स्वयं कृष्णादिनामकल्पनोक्तिर्विरुद्धा स्यात्, कल्पनया वा कथमीड्यता स्यात्, कल्पनाया अनियतत्वाच्च कथं कृष्णादिनामनैयत्यमुच्यते? तस्मान्नामकर्मस्वरूपाणीत्यनुसाराच्चायमेवार्थो यथा—यत्र नामजात्यादीनां नामानि कृष्णादीनि, जातयो देवत्व-

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "भुवनान्तराले-यदस्ति, तत् सर्वं तेनावृत छन्नं व्याप्तमिति यावत्।" (८४तम-प०)—

"समस्तकल्याणगुणात्मको हि, स्वशक्तिलेशावृत-भूतसर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः, संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ" ।।५२।।

अत्र ग्रहिः प्रादुर्भावनार्थ इति ज्ञेयम्,-श्रीवृत्तिषु परमायास्तद्देहशोभा-सम्पत्तेर्भगान्तःपातेन स्वाभाविकत्वात्;

अनुवाद—

होते हैं।" ब्रह्म पुराण में लिखित है—"अप्रसिद्धता वशतः ईश्वर 'अनामा' एवं भूत वर्जित होने से 'अरूपी' अभिहित होते हैं।" अतएव विष्णुपुराण की उक्ति की भी असङ्गति नहीं होती है। यथा—"हे नाथ! जहाँ नाम जात्यादि की कल्पना नहीं है। आप परब्रह्म हैं। नित्य अविकारी एवं अज हैं। कल्पना व्यतीत भी आपमें समस्त अर्थ का अधिगम होता है। आप अच्युत, अनन्त, विष्णु, कृष्ण नाम से अभिहित एवं आराधित होते हैं।"

यहाँ आपाततः प्रतीतार्थ में ही जब कल्पना व्यर्थ होती है, अर्थात् जो अजादि शब्दसे अभिहित होते हैं, पुनर्बार आप ही कृष्ण अनन्तादि नाम से अभिहित होते हैं। कारण आपमें जात्यादि नहीं हैं, इससे विवक्षितार्थ की सिद्धि होती है, जिनकी प्रतीति अनेक नाम एवं रूपसे होती है, उनको 'अनामा' कहे विना गत्यन्तर नहीं है। कारण ब्रह्म, अज आदि शब्द उनके परमार्थ का प्रतिपादक श्रीकृष्ण नाम में ही स्वीकृत है। "अजां एकां" इत्यादि श्रुति में अजाय मानत्व लक्षण जाति का उल्लेख है। अतएव पूर्वोक्त कारिका द्वय में एकबार नामादि की कल्पना का निरास कर पुनर्बार स्वयं ही आप श्रीकृष्णादि नाम से अभिहित होते हैं।

"अजां एकां" इत्यादि श्रुति में अजायमानत्व लक्षण जाति का उल्लेख भी दृष्ट होता है। अतएव पूर्वोक्त कारिकाद्वय में एकबार नामादि कल्पना का निरास कर पुनश्च "स्वयं ही आप कृष्णादि नाम से अर्चित होते हैं" इत्यादि कल्पना मूलक उक्ति का परस्पर विरोध हो?" एवं कल्पना के द्वारा उनकी पूज्यता कैसे सम्पादित हो सकती है? कारण कल्पना की अनियतता के कारण कल्पित कृष्णादि नाम की प्रापकता की सङ्गति कैसे हो सकती है?

किन्तु जब कृष्णादि नाम से अथवा नामाभास से भी प्राप्ति होती है, तब "नाम कर्म स्वरूपादि का तात्पर्य्य इस प्रकार जानना होगा। यथा—नाम जात्यादि पद से नाम—कृष्णादि नाम, जाति—देवत्व,

मनुष्यत्व-क्षत्रियत्वादिलीलास्तदादीनां कल्पना न विद्यन्ते, किन्तु (भा० १०।३७।२२) "स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थम्" इत्युक्तदिशा स्वरूपसिद्धनित्यशक्तिविलासरूपाण्येव तानीत्यर्थः। ततश्च यतो यस्मात् सर्वस्यापि दृष्टस्य वस्तुनः कल्पनां नामादिरचनामृते अधिगमो व्यवहारिकबोधो न भवति, ततस्तस्मादेव हेतोः कल्पनामयं नाम तन्नामिनश्चार्थं सर्वमवज्ञाय निखिलप्रमाण-परिच्छेदागोचरत्वेन वेदात्मतया स्वतःसिद्धैः कृष्णादिनामोपलक्षणैः प्रसिद्धैरेव नामभिः स्वतःसिद्धस्त्वमेव ईड्यसे, मुनिभिर्वेदैश्च श्लाघ्यसे, न तु कल्पनामयैरन्यैस्त्वमपि श्लाघ्यसे। तादृशमहिमभिस्तैरेव तव महिमा व्यक्तीभवतीति। यद्वा, तैरेवेड्यसे व्यक्तमाहात्मीक्रियस इति। अत्र यैः शास्त्रेऽतिप्रसिद्धैः श्रीभगवानेव झटिति प्रतीतो भवति, येषाञ्च साङ्केत्यादावपि तादृशप्रभावः श्रूयते, तेषां स्वतःसिद्धत्वमन्येषां कल्पनामयत्वं ज्ञेयम्। अथवा हे नाथ! यत्र नामजात्यादीनां कल्पना न विद्यन्ते, तत् केवलविशेष्यरूपं परमं ब्रह्म भवान्। तत्तत्कल्पनाया अविषयत्वे हेतुः—विशेषेण करोति लीलायत इति विकारि तथा न भवतीत्यविकारीति।

सर्वसम्वादिनी

उत्तरत्र शारीरबलादेरप्युक्तत्वात्। तथैव कल्याण-गुणानाह,—(८५तम, ८६तम-प०)

"तेजोबलैश्वर्य्य-महावबोधः, स्ववीर्य्य-शक्त्यादि-गुणैकराशिः।
परः पराणां सकला न यत्र, क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥५३॥
स ईश्वरो व्यष्टि-समष्टिरूपोऽ-,व्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्ववेत्ता, समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः" ॥५४॥

अनुवाद—

मनुष्यत्वादि, लीला—तदानीन्तन कार्य्य इत्यादि की कल्पना नहीं करनी होती। किन्तु श्रुति सिद्ध "आप्तकाम" सर्वार्थ होकर भी स्वरूपसिद्ध नित्य निज शक्तिका विलासरूप उक्त नाम-रूपादि को अङ्गीकार अथवा ग्रहण करते हैं, इस स्थल का यह तात्पर्य्य है।

नामादि कल्पना व्यतीत जब जागतिक दृष्ट वस्तुसमूह की प्रतीति नहीं होती है, तब उक्त युक्ति के अवलम्बन से कल्पनामय नाम अथवा नामी प्रभृति अर्थसमूह की अवज्ञा करके निखिल प्रमाण के अगोचर वेदात्मतारूपमें स्वतःसिद्ध उन-उन नामादि के उल्लेख से वेद में भी आप स्तुत होते हैं। किन्तु कल्पनामय अन्य शब्द के द्वारा आप श्लाघित नहीं होते हैं। महिमा वाचक उक्त शब्द के द्वारा ही आपकी महिमा प्रख्यापित होती है।

अथवा श्लोकोक्त,—नामभिरीड्यसे यहाँ इस प्रकार अर्थ भी हो सकता है। उक्त नामादि के द्वारा आप स्वयं ही माहात्म्य को व्यक्त किए हैं। यहाँ जानना होगा कि—शास्त्र में अति प्रसिद्ध नामादि के द्वारा श्रीभगवान् अति सत्वर ही परिज्ञात होते हैं।

नाम की कथा तो दूसरी है, उक्त नामादि का सङ्केत का प्रभाव भी अत्युद्भुत रूपसे शास्त्र में वर्णित है। इससे जानना होगा कि—उक्त नामादि की स्वतः सिद्धता है, एवं तदितर नामादि की अपर कर्त्तृक कल्पनामयता है।

अथवा (न यत्र नाथ! विद्यन्ते नामजात्यादिकल्पनाः) इस श्लोक का इस प्रकार अर्थ भी सङ्गत होता है—यथा "हे नाथ! जहाँ नाम जात्यादि को किसी प्रकार कल्पना विद्यमान नहीं है, इस प्रकार विशेष्य स्वरूप परब्रह्म ही आप हैं। आपकी अविकारिता ही उन-उन नामादि कल्पित न होने का हेतु है।

जिसको विशेष रूपसे किया जाता है, वह ही विकारी है, आप उस प्रकार नहीं हो, अतएव हे

तद्रूपेण न जायते प्रकटीभवतीति हे अजेति च । ततः किमवलम्ब्य तत्र नामजात्यादिकल्पनाः क्रियन्तामिति भावः । तत्तत्कल्पनां विना च सर्वस्याप्यर्थस्य वस्तुमात्रस्याधिगममात्रं न भवेत्, किमुत तादृशब्रह्मस्वरूपस्य भवतः ; कल्पनामय-नाम-जात्यादयस्तु न कस्यापि स्वरूपधर्मा भवन्ति । यत एवं ततः साङ्केत्यादिना भावितैरपि भवद्वत्सर्वपुरुषार्थप्रदैस्तत्तद्विशेषप्रतिपादकैः कृष्णादिनामभिरेव त्वमीड्यसे नित्यसिद्धश्रुतिपुराणादिभिः श्लाघ्यसे, न तु निर्विशेषताप्रतिपादकैर्नितरां कल्पनामयैरित्यर्थः। किन्तु कृष्णादीनां चतुर्णां नाम्नामुपलक्षणत्वमेव ज्ञेयम्; नारायणादिनाम्नामपि साङ्केत्यादौ तथा प्रभावश्रवणात् "वर्ण एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः" इत्यनेन (ब्र०सू० २।४।१७) "तस्य च नित्यत्वात्" इत्यनेन च न्यायेन वर्णतयैव नित्यत्वमस्य वेदसारवर्णात्मकनाम्नः सिध्यति । तथैव गोपालतापनीश्रुतौ (पू० ३०) नाममयाष्टादशाक्षरप्रसङ्गे ब्रह्मवाक्यम्—"तेष्वक्षरेषु भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन्" इति । अत्रावरकालजातशब्दादिमय-जगत्कारणत्वेन तद्वैलक्षण्यात् स्वतःसिद्धत्वं तथा भगवत्स्वरूपा-

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "व्यष्टिः सङ्कर्षणादिरूपः, समष्टिर्वासुदेवात्मा ।" अत्र प्रकटस्वरूपः श्रीविग्रहप्राकट्येनेति ज्ञेयम् । "प्रकृतमुपसंहरति,"—(८७तम प०)

"स ज्ञायते येन तदस्तदोषं, शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् ।
संदृश्यते चाप्यधिगम्यते वा, तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" ।।५५।।

अनुवाद—

अविकारिन् ! आप उस प्रकार जन्मग्रहण नहीं करते हैं । सुतरां हे अज ! तब किसको अवलम्बन कर नामादि की कल्पना करेंगे ? विशेषतः नाम रूप की कल्पना व्यतीत किसी वस्तु का अधिगम नहीं होता है, तब आपके सम्बन्ध में अधिक वक्तव्य ही क्या है ? आप ब्रह्म स्वरूप हैं ।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—कल्पनामय नाम, जात्यादि किसी का स्वरूप धर्म नहीं है । जिस प्रकार शुक्ति में कल्पित रजत ज्ञान, कभी भी रजत स्वरूप की उपलब्धि कराने में सक्षम नहीं है । नियम जब वैसा ही है, तब आपका नाम कल्पित नहीं हो सकता है, कारण—साङ्केत्यादि क्रम से भावित होकर भी आपका नाम आपके समान ही सर्व पुरुषार्थ प्रदान करता है । उन-उन विशेष गुण लीलादि प्रतिपादक श्रीकृष्ण, गोविन्द, अनन्त, अच्युत प्रभृति नाम से आप पूजित एवं नित्यसिद्ध श्रुतिपुराणादि के द्वारा घोषित होते हैं । निर्विशेषता प्रतिपादक सम्पूर्ण कल्पनामय वाक्य के द्वारा कभी भी आप अभिहित नहीं होते हैं ।

यहाँ कृष्णादि नाम चतुष्टय के उल्लेख से नाममात्र को ही जानना होगा, वे सब उपलक्षण हैं । श्रीभगवान् के प्रत्येक नाम की महिमा ही उस प्रकार है । श्रीनारायणादि नाम के सङ्केत का प्रभाव उक्त प्रकार है, "नारायणायेति म्रियमाण इयाय मुक्ति" अजामिल की मुक्ति शास्त्र प्रसिद्ध है । सुतरां एवम्भूत प्रभावसम्पन्न त्वदीय नाम कभी भी कल्पित नहीं हो सकता है ।

नाम-नामी की अभिन्नता—शब्द तत्त्वविद् भगवान् उपवर्ष वर्ण को ही "शब्द" स्वीकार किए है । "तस्य च नित्यत्वात्" (वे० सू० २।४।१६) सूत्रमें वर्ण को नित्य माना गया है । वेदके सारस्वरूप वर्णात्मक 'नाम' का नित्यत्व, सुतरां सुनिष्पन्न है ।

गोपालतापनी श्रुति के नाममय अष्टादशाक्षर मन्त्र के प्रसङ्ग में ब्रह्मा का कथन इस प्रकार है—"वर्ण समूह के मध्य में भविष्यत् जगत् को प्रकाशित करके" तत्पश्चात् उत्पन्न शब्दादिमय जगत् के प्रति मन्त्र की कारणता के द्वारा, सामान्य शब्द से मन्त्रात्मक शब्द की नित्यतारूप वैलक्षण्य निबन्धन स्वतःसिद्धता,

भिन्नत्वञ्च तद्वैलक्षण्यं नाम्नः। तद्यथा श्रुतौ (ऋक् १।१५६।३) "ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। ॐ तत् सत्" इत्यादि। अयमर्थः—हे विष्णो! ते तव नाम चित् चित्स्वरूपम्, अतएव महः स्वप्रकाशरूपम्। तस्मादस्य नाम्नः आ ईषदपि जानन्तः, न तु सम्यगुच्चारमाहात्म्यादिपुरस्कारेण। तथापि विवक्तन ब्रुवाणाः केवलं तदक्षराभ्यासमात्रं कुर्वाणाः सुमतिं तद्विषयां विद्यां भजामहे प्राप्नुमः। यतस्तदेव प्रणव-व्यञ्जितं वस्तु सत् स्वतःसिद्धमिति। अतएव भयद्वेषादौ श्रीमूर्त्तेः स्फूर्त्तेरिव साङ्केत्यादावप्यस्य मुक्तिदत्वं श्रूयते। तथा चोक्तं ब्राह्मे—

"अप्यन्यचित्तः क्रुद्धो वा यः सदा कीर्त्तयेद्धरिम्। सोऽपि बद्धक्षयान्मुक्तिं लभेच्चेदिपतिर्यथा"॥१७८॥ इति।

तथा श्रीभगवत इव तस्य नाम्नः सकृदपि साक्षात्कारः संसारध्वंसको भवति यथा स्कान्दे (विष्णु-ख० मार्गशीर्ष-मास-माहात्म्ये १५।५२)—

"सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति" ॥१७९॥ इति।

श्रुतौ च प्रणवमुद्दिश्य—"ओमित्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम यस्मादुच्चार्य्यमाण एव संसारभयात्तारयति तस्मादुच्यते तारः" इत्यादि बहुतरम्; न चास्यार्थवादत्वं चिन्त्यम्;

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र "येन ज्ञायते परोक्षवृत्त्या, संदृश्यते—साक्षात्क्रियते, अधिगम्यते—निःशेषाविद्या-निवृत्त्या प्राप्यते, तज्ज्ञानं परा विद्या; अज्ञानमविद्यान्तर्वर्त्तिन्यपरा विद्येत्यर्थः" इति।

अत्रैतदुक्तं भवति।—स एवम्भूत ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्तो येन ज्ञानेन तदेकरूपमेव तत्त्वमित्येव ज्ञायते, तदेव ज्ञानमित्यस्य किं विवक्षितम्? किमतदंशानां तत्तद्गुणानां परित्यागेन भेदगन्धरहितं तज्ज्ञायेत?

अनुवाद—

एवं भगवत् स्वरूपाभिन्नता सिद्ध हुई है।

श्रीभगवान् एवं उनका नाम परस्पर अभिन्न है, यह अभिन्नता ही उसका विशेष लक्षण है। श्रुति में उक्त है—"हे विष्णु! प्रणवादि व्यञ्जित सत् एवं चित्स्वरूप आपके नामसमूह का उच्चारण से हम सब सुमति को प्राप्त करते हैं।"

अर्थात् हे विष्णु! ते—तव, नाम, चित्—चित्स्वरूप, अतएव महः—स्वप्रकाशरूप है। अतः इस नाम का 'आ' ईषन्मात्र ज्ञान, जिसमें उच्चारणादि की सम्यक् महिमा को न जानकर ही उच्चारण हुआ है। तथापि 'विविक्तन्' केवल उसके अक्षरमात्र के अभ्यास से ही हम सब सुमति, "तद्विषया विद्या भजामहे" प्राप्त करेंगे। कारण—"ॐ तत् सत्" ॐ प्रणव व्यञ्जित तत्—वह वस्तु 'सत्' नित्य स्वप्रकाश स्वरूप है। अतएव न्याय, श्रुति प्रभृति में सर्वत्र ही नाम की अभिन्नता एवं स्वप्रकाशता सुव्यक्त है। भय द्वेषादि स्थल में भी जिस प्रकार नाम के सहित मूर्त्ति की स्फूर्त्ति होती है, तद्रूप सङ्केत प्रभृति में भी नाम की मुक्तिदायक शक्ति,—शास्त्रसिद्ध है। पद्मपुराण में वर्णित है—"अन्यचित्त अथवा क्रुद्ध होकर यदि कोई व्यक्ति श्रीहरिनाम ग्रहण करता है तो उसका कर्मपाश छिन्न होता है। चेदिपति शिशुपाल के समान वह भी मुक्त होता है।"

श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन के समान उनके नाम का साक्षात्कार भी संसार ध्वंसक है। स्कन्द पुराण में उक्त है—"हरि" अक्षरद्वय का उच्चारण जो व्यक्ति एकबार करता है, वह मुक्त हो जाता है।"

प्रणव के उद्देश्य में श्रुति की उक्ति—"ॐ शब्द" ब्रह्म का अति नैकट्य विधायक है। जिसका उच्चारण से संसारभय नष्ट होता है। तज्जन्य वह "तार" नाम से अभिहित होता है इस प्रकार नाम महिमा शास्त्र में अनेक हैं।

"तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्" इति पद्मपुराणानुसारेणापराधापातात्। यस्य तु गृहीत-नाम्नोऽपि पुनः संसारस्तस्य—

"नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं परमेश्वरम्। ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः" ॥१८०॥

इति श्रीविष्णुभक्तिचन्द्रोदयादि-प्रमाणितपुराणवचनवन्महदपराध-तदर्थवादकल्पनादिकं प्रतिबन्धकं ज्ञेयम्। अतएवानन्दरूपत्वमस्य महद्धृदयसाक्षिकं यथा श्रीविग्रहस्य। तदुक्तं श्रीशौनकेन (भा० २।३।२४)—

"तदश्मसारं हृदयंवतेदं, यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः" ॥१८१॥ इति।

अतएव प्रभासपुराणे कण्ठोक्त्या कथितैर्हेतुभिः सकलवेदफलत्वेन च भगवत्स्वरूपत्वमेव प्रतिपादितम्—

"मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां, सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं हेलया श्रद्धया वा, भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम" ॥१८२॥ इति।

तस्माद्भगवत्स्वरूपमेव नाम। स्पष्टश्चोक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रेऽष्टाक्षरमुद्दिश्य—

"व्यक्तं हि भगवानेव साक्षान्नारायणः स्वयम्। अष्टाक्षरस्वरूपेण मुखेषु परिवर्त्तते" ॥१८३॥ इति।

उपनिषत्सु च प्रणवमुद्दिश्य (छा० २।२४।४) "ॐकार एवेदं सर्वम्," (मा० १।१) "ओमित्येतद-

सर्वसम्वादिनी

किंवाचिन्त्यज्ञानगोचरतयैकमेव तत्त्वं गुणगुणिरूपमितीत्थमेवाभेदं तज्ज्ञापयेतेति? उच्यते।—(७९तम-प०) "ज्ञानशक्ति-बलैश्वर्य्य-" इत्यत्र हेयगुणमिश्रता-निषेधात्तथा (८३तम-प०) "गुणांश्च दोषांश्च मुने व्यतीतः" इति, (८४तम-प०) "समस्तकल्याणगुणात्मको हि" इति गुणान्तर-निषेधपूर्वक-तदात्मभूत-गुणान्तर-स्थापनेन तेषां स्वरूपरूपता-प्रतिपादनाच्च ते परित्यक्तुं न शक्यन्ते; अतएव (८७तम-प०) 'अस्तदोषम्' इत्येवोक्तम्,

अनुवाद—

यहाँ अर्थवाद की कल्पना करना उचित नहीं है। नाम में अर्थवाद कल्पना से अपराध होता है। सम्प्रति नामग्रहणकारी का जो संसार दुःख दृष्ट होता है, वह अपराध का ही फल है। श्रीविष्णु चन्द्रोदय में लिखित है—"जो जन मोहवश परमेश्वर की अनुव्रज्या नहीं करता है, वह ज्ञानाग्नि दग्धकर्मा होने पर भी ब्रह्मराक्षस होता है।" अतएव नाम के सम्बन्ध में अर्थवाद की कल्पना से महापराध होता है, उससे मोक्षलाभ नहीं होता है।

श्रीविग्रहवत् श्रीनाम भी आनन्दरूप है, महाजनगण का अनुभव ही इसमें प्रमाण है। श्रीशौनक महाशय की उक्ति यह है—"यह अत्यन्त दुःख का विषय है कि—श्रीहरिनाम ग्रहण से भी जिसका चित्त द्रवित नहीं हुआ, रोमाञ्च-अश्रु भी नहीं हुआ है, उसका चित्त निश्चय ही प्रस्तर सार से निर्म्मित है।" अतएव प्रभासपुराण में श्रीभगवान् स्वयं कहे हैं—"नाम ही समस्त वेद का फल एवं श्रीभगवत्स्वरूप है।" यथा—"हे भृगुश्रेष्ठ! मधुर से भी मधुरतर, मङ्गल के मध्य में भी मङ्गलतम, समस्त वेद लतिका का चित्स्वरूप उत्तमफल श्रीकृष्ण नाम है, श्रीकृष्ण नाम का ग्रहण, श्रद्धा, हेला से भी करने पर ग्रहणकारी व्यक्ति को नाम संसार से उद्धार करते हैं।" अतएव 'नाम' श्रीभगवान् का ही स्वरूप हैं। नारदपञ्चरात्र में अष्टादशाक्षर मन्त्रो के उद्देश्य में विशेष रूपसे कथित है कि—"स्वयं भगवान् नारायण, अष्टाक्षर मन्त्र रूपमें लोकों के मुख में परिवर्त्तित होते रहते हैं।"

मण्डुक्यादि उपनिषद् में प्रणव के उद्देश्य से इस प्रकार उक्ति है—"ॐ ही विश्व ब्रह्माण्ड है। ॐ

क्षरमिदं सर्वम्"; (आगम० २६-२६)—

"प्रणवो हि परं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतम् । अपूर्वोऽनन्तरोऽवाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥१८४॥
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च । एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥१८५॥
प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्व हृदये स्थितम् । सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥१८६॥
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः । ॐकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः" ॥१८७॥ इति ।

न तु परमेश्वरस्यैव तत्तद्योग्यतासम्भवाद्वर्णमात्रस्य तथोक्तिः स्तुतिरूपैवेति मन्तव्यम् । अवतारान्तरवत् परमेश्वरस्यैव वर्णरूपेणावतारोऽयमिति अस्मिन्नर्थे तेनैव श्रुतिबलेनाङ्गीकृते तदभेदेन तत्सम्भवात् । तस्मान्नामनामिनोरभेद एव । तदुक्तं पाद्मे—

"नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः । पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः" ॥१८८॥ इति ।

अस्यार्थः—नामैव चिन्तामणिः सर्वार्थदातृत्वात् । न केवलं तादृशमेव, अपि तु चैतन्येत्यादि-लक्षणो यः कृष्णः, स एव साक्षात् । तत्र हेतुः—अभिन्नत्वादितीति । ननु तथाविधं नामादिकं कथं पुरुषेन्द्रियजन्यं भवति ? न, वेदमात्रस्य भगवतैव पुरुषेन्द्रियादिष्वाविर्भावनात् । यथोक्तमेकादशे स्वयं श्रीभगवता (भा० ११।२१।३६-३७)—**"शब्दब्रह्म सुदुर्बोधम्" इत्यारभ्य—**

सर्वसम्वादिनी

न तु 'ग्रस्ततद्गुणदोषम्' इति । तस्मात्तेषामपि येन यथावस्थितानामेव स्वरूपत्वं ज्ञायते, तज्ज्ञानमित्येव तात्पर्य्यम् । अतएव भगोपलक्षणत्वेन केवलाद्वयस्वरूपमेवोच्यत इति च प्रत्याख्यातम्,—भगवच्छब्देन भगवतश्च भगस्य च वाच्यत्व-स्वीकारात्, (६६तम-प०) "तदेतद्भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः" इत्यनेन, (७१तम-प०) "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि" इत्यनेन च ।

अनुवाद—

अक्षर जगत् हैं, प्रणव ही अपर ब्रह्म हैं । प्रणव ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ हैं, प्रणव ही अपूर्व, अनन्तर, अवाह्य, अनपर एवं अव्यय हैं । प्रणव सब के आदि, मध्य, अन्त में अवस्थित हैं । इस प्रकार प्रणव को अवगत होने से उनको जाना जाता है । प्रणव को ही सर्वभूत में अवस्थित ईश्वर जानना होगा । धीर व्यक्ति, सर्वव्यापी ॐकार को जान कर शोकादि को परित्याग करते हैं । परिणामशून्य होकर भी अनन्त परिमाण में परिमित द्वैत ज्ञान का निवर्त्तक, मङ्गलनिलय ॐकार को (प्रणवरूपी ब्रह्म को) जिसने जाना है, वह ही मुनि नाम से अभिहित होता है । तदितर कोई भी मुनि नाम से अभिहित नहीं होता है ।" इत्यादि अनेक स्थल में ही नाम-नामी की अभिन्नता पतिपादित हुई है ।

परमेश्वर में उक्त योग्यता है, अतः ॐकारादि वर्ण के सम्बन्ध में "स्तुति" मानना उचित नहीं है । किन्तु श्रीभगवान् की विभिन्न मूर्त्ति के समान यह भी वर्णरूप श्रीभगवदवतार हैं । उक्त श्रुति प्रमाण से नामी के सहित नाम अभिन्न अङ्गीकृत हुआ है । सुतरां नाम-नामी की सर्वथा अभिन्नता प्रतिपादित हुई है । पद्मपुराण में उक्त है—"चैतन्यरसविग्रह कृष्ण के सहित नाम की अभिन्नता हेतु नाम भी चिन्तामणिस्वरूप, पूर्ण, शुद्ध, नित्यमुक्त हैं ।" अर्थात् नाम ही चिन्तामणि हैं, कारण—नाम समस्त अर्थ प्रदान करने में सक्षम हैं, केवल सर्वार्थप्रदातृत्व शक्ति ही हैं, ऐसा नहीं । किन्तु अभिन्नतावशतः चैतन्यरसविग्रह श्रीकृष्ण ही हैं । परस्पर की अभिन्नता ही परस्पर की प्राप्ति का कारण है । नाम अभिन्न होने से ही नाम के उच्चारण से ही नामी की स्फूर्त्ति होती है ।

आशङ्का हो सकती है कि—अप्राकृत चित्स्वरूप 'नाम' कैसे पुरुष की प्राकृत इन्द्रिय से ग्रहीत होते हैं ? उत्तर,—नाम—स्वयं पुरुषेन्द्रिय वेद्य नहीं हैं, केवल नाम ही क्यों, परम कारुणिक श्रीभगवान् वेदसमूह को ही पुरुषेन्द्रिय में आविर्भूत कराये थे । श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान् स्वयं कहे हैं—

"मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना । भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते"॥१८६॥इति द्वादशस्य षष्ठे वेदव्यसनप्रसङ्गे (भा० १२।६।४७)"क्षीणायुषः" इत्यादौ । टीका च— "तर्हि पुरुषबुद्धिप्रभवत्वान्नादरणीयं स्यादित्याशङ्क्याह—हृदिस्थाच्युतचोदितेति"इत्येषा । (भा० १२।१३।१९) "कस्मै येन विभाषितोऽयम्" इत्यादौ तद्रूपेणेत्यादिवत् । एतत् सर्वमभिप्रेत्य गर्भस्तुतावुक्तम् (भा० १०।२।३६)—

"न नामरूपे गुणकर्मजन्मभि-र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।

मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो, देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि" ॥१९०॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

एवञ्च भगस्यापि स्वरूपभूतत्वमेव व्यक्तम् । तद्व्यक्तये एव च शुद्ध-स्वरूपनिरूपण एव (६७तम-प०) "विभुं सर्वगतम्' इत्यत्र प्रभुता-वाचक-विशेषणं दत्तम् ।

एवमद्वैतशारीरककृतापि (ब्र०सू० २।२।४५—शा० भा०)—"ज्ञानैश्वर्य्य-शक्ति-बल-तेजांसि गुणा आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवाः" इति पाञ्चरात्रिकं मतमुत्थापितम् । श्रुति-पुराणादिभिः श्लाघिते तस्मिन्नपि

अनुवाद—

"शब्दब्रह्मसुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् । मयोपबृहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ॥

भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ।" (भा० ११।२१।३६-३७)

"प्राणेन्द्रिय मनोमय शब्दब्रह्मविशेष दुर्बोध एवं पारहीन समुद्रवत् गम्भीर एवं दुर्विगाह्य है । अनन्तशक्ति सम्पन्न, व्यापक, ब्रह्म मैं हूँ । मत् कर्त्तृक अधिष्ठित होकर मृणाल के मध्य में ऊर्णा के समान समस्त प्राणीयों के मध्यमें नाद रूपमें उक्त वर्णात्मक शब्द लक्षित होता है । अन्तर्द्रष्टा मनीषिगण इनको जानने में सक्षम होते हैं ।"

इस श्लोक में स्वामिपादकृत श्रुति—"चत्वारि वाक्परिमिता विपदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहायां त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।" अर्थात् शब्दरूपी ब्रह्म के रूप चतुष्टय के मध्य में तीन रूप को अन्तर्द्रष्टा मनीषिगण नहीं जानते हैं । केवल वैखरीरूप चतुर्थ भाग को जानते हैं । किन्तु उसका भी सम्यक् ज्ञान उन सब का नहीं है । द्वादश स्कन्ध में उक्त है—

"क्षीणायुषः क्षीणसत्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्यकालतः । वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतबोधितः ।" (भा० १२।६।४७)

अर्थात् काल प्रभाव से प्राणिगण को क्षीणायु, क्षीणबल, अल्पप्रज्ञ देखकर ब्रह्मर्षि वेदव्यास हृदयस्थित परमात्मरूपी अच्युत द्वारा प्रेरित होकर वेद को विभक्त किए थे । टीकाकार कहते हैं—इस कार्य्य में पुरुषबुद्धिजनित अनादर की सम्भावना नहीं है । कारण—भगवान् ब्रह्मा के हृदय में प्रेरणा किए थे । श्रीभगवत् प्रेरणा से वह कार्य्य हुआ था "कस्मै येन" श्लोक में उक्त वृत्तान्त परिस्फुट हुआ है । गर्भस्तुति में उक्त है—"साक्षिस्वरूप आपके नामरूप का निरूपण,—गुण, कर्म, जन्म के द्वारा होना सम्भव नहीं है, कारण, आप मन एवं वाणी के द्वारा निरूपित होते हैं । साक्षात् सम्पूर्णरूपसे जानने का कोई उपाय नहीं है । तथापि हे परमद्योतमान ! भक्तगण आपको जानने में समर्थ होते हैं ।" अर्थात् साक्षीस्वरूप आप द्रष्टा, जीव के अन्तर में परमात्म मूर्त्ति में अवस्थित होकर सकल दृश्य वस्तु को प्रत्यक्ष करते हैं । आपकी स्वरूप मूर्त्ति का साक्षादनुभव—आपकी कृपासापेक्ष है । आप भक्तगण के अभ्युदय एवं अपवर्ग विधान के निमित्त भजनीय रूपादि को प्रकट करते हैं । भक्तगण आपका भजन करते हैं । किन्तु सम्पूर्ण जान नहीं सकते हैं । कारण, आप अनन्त, अतकर्य, सुतरां मन वाणी का अगोचर हैं, तज्जन्य अनुमेय वर्त्म कहा जाता है । कारण—आप साक्षी हैं, किन्तु दृढ़भजननिष्ठ भक्तके निकट आप अज्ञात नहीं रहते हैं । भक्तगण भजन द्वारा साक्षात् दर्शन करते हैं । अतएव श्रीभगवान् के रूप का भी वैलक्षण्य आप को जानना होगा ।

तथारूपस्यापि वैलक्षण्यं स्वप्रकाशतालक्षणस्वरूपशक्त्यैवाविर्भावितत्वम्। तच्च पूर्वं दर्शितम्। अतएव द्वितीये (भा० २।९।४)—

"आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्। ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः" ॥१९१॥

इत्यत्र टीका च—"यच्चोक्तमष्टमाध्याये परमेश्वरस्यापि देहसम्बन्धाविशेषात् कथं तद्भक्त्या मोक्षः स्यादिति, (भा० २।८।७) "आसीद्यदुदरात् पद्मम्" इत्यादिना, तत्राह—आत्मतत्त्व-विशुद्ध्यर्थमिति आत्मनो जीवस्य तत्त्वविशुद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञानार्थं तद्भवेदेव। किं तत्? यत्तप-आदिना स्वभजनं भगवान् ब्रह्मणे आह। किं कुर्वन्? ऋतं सत्यं चिद्घनं रूपं दर्शयन्; दर्शने हेतुः—अव्यलीकेन व्रतेन तपसादृतः सेवितः सन्। अयं भावः—जीवस्याविद्यया मिथ्या-भूतदेहसम्बन्धः; ईश्वरस्य तु योगमायया चिद्घनविग्रहाविर्भाव इति महान् विशेषः। अतस्तद्भजने मोक्षोपपत्तिरिति" इत्येषा। अतएव (भा० १०।३।२०) "स त्वं त्रिलोकस्थितये" इत्यादिपद्यद्वये श्रीमदानकदुन्दुभिनापि समाहितम्। अत्र ह्ययमर्थः—स प्रपञ्चस्य सृष्टिस्थिति-प्रलयकर्त्ता, त्वं त्रिलोकस्थितये यदा तस्य स्थितिमिच्छसि, तदा स्वमायया स्वाश्रितया मायाशक्त्या कृत्वा आत्मनः शुक्लं वर्णं स्वेन सृष्टां धर्मपरां विप्रादिजातिं विभर्षि पालयसि। अत्र सत्त्वमय्येव स्वमाया ज्ञेया, निष्कृष्टत्वादुपयुक्तत्वाच्च। अथ यदा सर्गमिच्छसि, तदा रजसा रजोमय्या स्वमायया कृत्वा उपबृंहितं रक्तं कामिनं विप्रादिवर्णं विभर्षि। यदा च जनात्ययमिच्छसि, तदा तमसा तमोमय्या कृत्वा कृष्णं मलिनं पापरतं तं विभर्षि। अथवा,

सर्वसम्वादिनी

साक्षाच्छ्रीभगवन्मते स्वरूपशक्ति-वृत्ति-विशेषाणां तेषां गुणानां गुणिनैक्यवृत्तौ दूषणं त्वद्वैतवाद-स्थापना-ग्रहेणैव क्लृप्तम्; तदाग्रहेण (ब्र०सू० २।१।१८—शा० भा०) "कारणस्यात्मभूता शक्तिः" इत्यात्मवचनं नानुसंहितमिति। श्रीभगवदुपनिषत्सु च (गी० ९।११)—"परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" इत्यनेन

अनुवाद—

कारण, वह स्वप्रकाशतारूपा स्वरूपशक्ति के प्रभाव से ही आविर्भूत होता है।

द्वितीय स्कन्ध में उक्त है—"भगवान् ब्रह्मा की अकपट भक्ति से अभ्यर्थित होकर, आत्मतत्त्व विशुद्धि के निमित्त ब्रह्मा को स्वीय रूप का दर्शन कराये थे।" अर्थात् जीवतत्त्व को परिज्ञात कराने के लिए वह सम्भव हो सकता है। कारण, तपस्या से सन्तुष्ट होकर निज भजनविषयक उपदेश ब्रह्मा को किए थे। एवं निज सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्त्ति का दर्शन कराये थे। इसका तात्पर्य्य यह है कि—जीव देह के सहित भगवद् विग्रह का पार्थक्य सूचित करने के निमित्त कहते हैं, अविद्याजनित प्रापञ्चिक अनित्य देह संयोग जीव का है। श्रीभगवान् स्वीय योगमाया नामिका शक्ति के द्वारा अप्रापञ्चिक नित्यचिद्घनविग्रह का आविर्भाव करते हैं, परस्परमें इस महान् पार्थक्य की उपलब्धि श्रीभगवान् ही कराते हैं। अतएव श्रीभगवद् भजन ही अविद्यान्ध जीवों की मुक्ति का एकमात्र साधन है।

आनक दुन्दुभि श्रीवसुदेव महाशय की उक्ति में इस प्रकार अभिप्राय परिव्यक्त हुआ है। अर्थात् प्रापञ्चिक जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय कर्त्ता तुम हो, जब स्थिति की इच्छा करते हो, निज आश्रिता माया शक्ति के द्वारा शुक्लवर्ण धारण कर निज सृष्ट धर्मपरायण विप्रादि का पालन करते हो।

यहाँ माया को सत्त्वमयी जानना होगा, वह ही पालन के निमित्ता उपयुक्ता है। अनन्तर जब सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब रजोगुणमयी माया को अवलम्बन कर तदनुरूप विप्रादि वर्ण की सृष्टि करते

यदा स्थितिमिच्छसि, तदात्मनः श्रीविष्णुरूपस्य शुक्लं शुद्धं गुणसङ्गरहितमित्यर्थः ;— शिवब्रह्मवत्तस्य तत्सङ्गाभावात्। तथैव सिद्धान्तितं श्रीशुकदेवेन (भा० १०।८८।३)—"शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः" इत्यादौ,(भा० १०।८८।५) "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः" इत्यादि। अतएव (भा० १०।१३।५०)—

"चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः" ॥१९२॥ इति।

अत्र सात्त्विकत्व-राजसत्वे उत्प्रेक्षिते एव, न तु वस्तुतया निरूपिते। वर्णं रूपम्, न तु कान्तिमात्रम्। गुणमयत्वस्वीकारेऽपि तत्तद्गुणव्यञ्जकाकारस्याप्यपेक्ष्यत्वात्, न तु श्वेतं वर्णमिति व्याख्येयम्, श्रीविष्णुरूपस्य पालनार्थं गुणावतारस्य परमात्मसन्दर्भे क्षीरोदशायित्वेन स्थापयिष्यमाणस्य तत्र श्यामत्वेनातिप्रसिद्धेः, जनात्ययहेतो रुद्रस्य श्वेततातिप्रसिद्ध्या तद्वैपरीत्यापातात्; तथैव हि गोभिलोक्तसन्ध्योपासनायाम् ; अतोऽत्र ब्रह्मणोऽपि न शोणवर्णत्वे तात्पर्यम्, न च तत्तद्गुणानां तत्तद्वर्णनियमः, परमतामसानां वकादीनां शुक्लत्वदर्शनात्; सात्त्विकगुणोपास्यानां श्रीबादरायण-शुकादीनां श्यामत्वश्रवणात्। स्वमायया भक्तेषु कृपया

सर्वसम्वादिनी

भूतं परमार्थसत्यं महेश्वर-लक्षणमेव स्वस्य परं तत्त्वमित्युक्तम्। अतएव श्रीस्वामिभिरपि तत्र तत्र तथा व्याख्यातम्। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि। वर्त्तते निरुपाधिश्च वासुदेवेऽखिलात्मनि" ॥५६॥ इति।

तस्माद्भगविशिष्टस्यैव भगवतो ब्रह्मवत् परविद्यामात्र-व्यङ्ग्यत्वेन स्वप्रकाशत्वं स्पष्टमेव। अत्र श्रुत्यन्तरञ्च

अनुवाद—

हो, विनाश करने की जब इच्छा होती है, तब तमोगुणमयी मायाशक्ति के द्वारा मलिन पापरत विप्रादि को विनष्ट करते हो।

अथवा स्थिति की इच्छा होने से विष्णुरूप शुद्ध मूर्त्ति को प्रकट करते हो, जो गुण सङ्गरहित है। कारण—शिव एवं ब्रह्मा के समान विष्णु का गुणसङ्ग नहीं है। श्रीशुकदेव की उक्ति भी उक्तानुरूप है— "शिव शक्तियुक्त त्रिलिङ्ग गुणसंवृत" इत्यादि, "हरि निर्गुण प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष" इत्यादि। अतएव ब्रह्मा भगवान् की जिस मूर्त्ति को देखे थे, उसमें "चन्द्रिका किरण सदृश अति विशद स्मितसह कृत अरुण अपाङ्ग वीक्षण के द्वारा भक्त मनोरथ पूरण की चेष्टा रही, रजः सत्त्व के द्वारा स्रष्टा एवं पालक रूप भी था। अर्थात् सत्त्ववत् विशद स्मित से पालक, एवं रजोवत् अरुण गुणसे स्रष्टा होते हैं। यहाँ सात्त्विकत्व एवं राजसत्व—उत्प्रेक्षित हुआ है। किसी वस्तुविशेष निरूपित नहीं हुआ है। अतएव "वर्ण" शब्द से रूप को जानना होगा, कान्ति नहीं है।

अतएव यदि गुणमयत्व अर्थ को स्वीकार करते हैं, तो तब भी उस-उस गुण के अभिव्यञ्जक आकार को लक्ष्य करके ही उस प्रकार कहा गया है। श्वेत अथवा रक्तवर्ण में उसका तात्पर्य्य नहीं है। परमात्म सन्दर्भ में पालनार्थ—अवतार गुणावतार क्षीरोदशायी हैं। उनका वर्ण श्याम है। विष्णु का श्यामवर्ण— अति प्रसिद्ध है। नाश हेतु, रुद्र का श्वेतरूप—अति प्रसिद्ध है। गुण व्यञ्जक अर्थ न मानने से सर्वत्र बैपरीत्य की सम्भावना है। गोभिलोक्त सन्ध्योपासना में भी उक्त रूप है।

अतएव यहाँ ब्रह्मा का रक्तवर्ण में तात्पर्य्य नहीं है। किन्तु सृजन वासना में तात्पर्य्य है। गुणानुरूप वर्ण नियम सङ्गत नहीं होता है। परम तामस "वक पक्षी" का श्वेतवर्ण है। परम सात्त्विक पुरुषों का

"माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशात्, विभर्षि जगति धारयसि प्रकटयसीत्यर्थः। रक्तं रजोमयत्वेन सिसृक्षादिरागबहुलम्। कृष्णं तमोमयत्वेन स्वरूपप्रकाशरहितमित्यर्थः। (भा० ११२१२४)—

"पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः। तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्"॥१९३

इत्युक्तेः। ननु कथमन्यार्थेन वाक्येन लोकभ्रामकं वर्णयसि, यतः सम्प्रति जनात्ययार्थं कृष्णोऽयं वर्णो मया तमसा गृहीत इत्यर्थोऽप्यायाति; तदेतदाशङ्क्य परिहरन्नाह (भा० १०।३।२१) 'त्वमस्य' इति; निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाः। अयं भावः—आस्तां तावद्ब्रह्मघनत्व-शुद्धसत्त्वमयत्वबोधकं प्रमाणान्तरम्, गुणानुरूप-रूपाङ्गीकारेऽपि यथा प्रलयस्य दुःखमात्र-हेतुत्वात् सुषुप्तिरूपत्वाच्च तत्र तदर्थावसरो भवति, तथास्य तु कालस्य त्वत्कृतरक्षया जगत्-सुखहेतुत्वात् तमोमयासुरविनाशयोग्यत्वात् तेषामसुराणामपि हननव्याजेन सर्वगुणातीत-मोक्षात्मक-प्रसादलाभात्तदर्थावसरो न भवति, सैन्धवमानयेतिवत्। तथैवोक्तम् (भा० ७।१।८)—

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० १।२।२१)—श्रीमाध्यभाष्य-प्रमाणितं "अथ द्वे वाव विद्ये वेदितव्ये—परा अपरा च। तत्र ये वेदाद्या यान्यङ्गानि यान्युपाङ्गानि साऽपरा। अथ परा—यया स हरिर्वेदितव्यो योऽसावदृश्यो निर्गुणः परः परमात्मा" इति। कोटरव्य-श्रुतावपि तेषां गुणानां परविद्यामात्र-व्यङ्ग्यत्वं व्यञ्जितम्—(ब्र०सू० ३।२।३३—माध्वभाष्य-धृता कौण्डिन्य ? श्रुतिः) "अदृश्यमव्यवहार्य्यमव्यपदेश्यं सुखं ज्ञानमोजो बलमिति";

अनुवाद—

उपास्य बादरायण का शुकदेव का वर्ण श्याम है। अतएव भक्तके प्रति कृपा हेतु सृजनेच्छा से रजोगुणमयी मूर्त्ति धारण करते हो। एवं तमोमयत्व हेतु स्वरूप प्रकार रहित मूर्त्ति धारण करते हो। इस प्रकार अर्थ होना सङ्गत है। "पार्थिव काष्ठ से धूम, धूम से अग्नि जिस प्रकार साक्षात् यज्ञादि कर्म का साधक होता है, तद्रूप लयात्मक तमः से विक्षेपात्मक रजः, ब्रह्म का कथञ्चित् प्रकाशक है, रजः से सत्त्व का साक्षात् ब्रह्म प्रकाशकत्व है। अतएव उक्त गुणानुरूप गुणोपाधिक हर-ब्रह्मादि का भी उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य है। श्रीधर स्वामिपाद का लेख इस प्रकार है—"यत् सत्त्वं तत् साक्षात् ब्रह्मदर्शनम्। अत स्तत्तद् गुणोपाधीनां हरब्रह्मादीनामपि यथोत्तरवैशिष्ट्यमिति भावः।"

यहाँ इस प्रकार आशङ्का हो सकती है,—लोकों को विभ्रान्त करने के लिए ही उस प्रकार अर्थ किया जा रहा है कारण सम्प्रति कृष्णावतार दुष्ट जनात्यय हेतु ही है, अतः कृष्णवर्ण है ? इस प्रकार आशङ्का अपनोदन के लिए कहते हैं—"आप लोक रक्षाहेतु अवतीर्ण हुए हैं।" इस श्लोकमें स्वामिपाद की उक्ति यह है—"रिरक्षिषु रक्षितुमिच्छुः, अवतीर्णोऽसि, कृष्णेन वर्णन अतः साधूनां रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञा जो असुर-कोटीयूथपास्तैर्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्च भूः सेनानि हनिष्यसि।" सुतरां यह संहार, प्रलयात्मक संहार नहीं है, साधुगण की रक्षा ही अवतार का प्रयोजन है। अर्थात् शुद्ध सत्त्वमयत्व एवं सच्चिदानन्द घनत्व बोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा को छोड़कर गुणानुरूप रूपको ही यदि मान लिया जाता है, तो बोध होगा कि—दुःखमात्र हेतु प्रलयावस्था का नाम सुषुप्ति है। जैसे सुषुप्ति काल भी दुःख का प्रकाशक है। तद्रूप अवतार काल में भगवत्कृत साधुरक्षा के द्वारा जगत् में सुखादि स्थापित होते हैं। तत्सह तामस प्राकृतिक असुर विनाश के छल से असुरों को मुक्तिदानरूप कृपा भी करते हैं। असुरगण भी जब भगवत् कृपा लाभ किए थे, तब दुःखानुभव के परिवर्त्त में मुक्तिसुखानुभव असुरों का हुआ था। सुतरां उस समय दुःखानुभव का अवसर ही नहीं होता है। "सैन्धवमानय" कहने पर उभयार्थ का बोध होता है। किन्तु

"जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्" ॥१६४॥ इति ।

तस्मान्न तमःकृतोऽयं वर्ण इति रजःसत्त्वाभ्यां रक्तशुक्लावेव भवत इति पूर्वप्रतिपक्षिमतम् । ततश्च पारिशेष्यप्रमाणेन स्वरूपशक्तिव्यञ्जितत्वमेवात्रापि पर्य्यवस्यतीति भावः । तथैव तमेवार्थं श्रीदेवकीदेव्यपि सम्भ्रमेण प्रागेव विवृतवती (भा० १०।३।२४) "रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यम्" इति ।

अथ प्रकृतमनुसरामः । तथा गुणस्य वैलक्षण्यमात्मारामाणामप्याकर्षणलिङ्गगम्याद्भुतरूपत्वम् । तद्यथा श्रीसूतोक्तौ (भा० १।७।१०) "हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः" इत्यादि च । अतएवोक्तं विष्णुधर्मोत्तरे—

"गुणाः सर्वेऽपि युज्यन्ते ह्यैश्वर्य्यात् पुरुषोत्तमे । दोषाः कथञ्चिन्नैवात्र युज्यन्ते परमो हि सः ॥१६५॥
गुणदोषौ माययैव केचिदाहुरपण्डिताः । न तत्र माया मायी वा तदीयौ तौ कुतो ह्यतः ॥१६६॥
तस्मान्न मायया सर्वं सर्वमैश्वर्य्यसम्भवम् । अमायी हीश्वरो यस्मात्तस्मात्तं परमं विदुः" ॥१६७॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

"ब्रह्मणस्तस्माद्ब्रह्मेत्याचक्षते" इति । अन्यत्र च—(ब्र०सू० ३।२।३२—माध्वभाष्यधृत-प्रमाणवचनम्) ।
"अन्यज्ज्ञानं तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च । नित्यानन्दाव्ययं पूर्णं परं ज्ञानं विधीयते" ॥५७॥ इति ।
अतो (ब्र०सू० २।२।४१)—माध्वभाष्य एव प्रमाणितं "यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः; किमात्मको

अनुवाद—

भोजनावसर में उक्त शब्द लवन का ही बोधक होता है । उस प्रकार यहाँ भी काल एवं कालोचित अर्थ को जानना होगा ।

अन्यत्र कथित है,—"जय के समय देव-ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट होकर सत्त्व बृद्धि करते हो, रजगुण की बृद्धि के समय असुर देह में प्रविष्ट होकर उसे वर्द्धित करते हो, तमो बृद्धि के समय यक्ष, राक्षसों के देह में प्रविष्ट होकर तमोगुण को वर्द्धित करते हो । कालानुरूप गुण का भजन करते हो ।"

अतएव वर्ण कृष्ण होने से भी वह तमोगुणकृत नहीं है । रजोगुण एवं सत्त्वगुण से रक्तवर्ण एवं शुक्ल वर्ण होता है, यह मत पूर्वपक्षीय है । पूर्व प्रदर्शित शास्त्रीय युक्ति से उक्त मत निरस्त हुआ है । सुतरां परवर्त्ति प्रमाणनिचय से भी प्रतिपादित होगा कि- श्रीभगवद् विग्रह स्वरूपशक्ति का विलासभूत है ।

श्रीदेवकी देवी सम्भ्रम से कही थी—"तुम्हारा जो रूप है, यह अव्यक्त आद्य है ।" यहाँ रूप शब्द का प्रयोग श्रीभगवद् विग्रह को लक्ष्य कर ही हुआ है ।

"न विद्यते यस्य" श्लोक की अवशेष व्याख्या करते हैं—"आपके गुणों का एक विशेष लक्षण है कि—वे सब आत्मारामगण को आकर्षण करने में परमाद्भुत स्वभावसम्पन्न हैं । "आत्माराम मुनिगण भी" श्रीहरि के गुण से विचलितचित्त होकर" इत्यादि श्लोक ही इसमें प्रमाण है । विष्णुधर्म में उक्त है,—"पुरुषोत्तम श्रीभगवान् के निज अचिन्त्य ऐश्वर्य्य से उनमें निखिल गुणों का सद्भाव हैं । किन्तु श्रीभगवान् में दोष की सम्भावना नहीं है । कतिपय अतत्त्वज्ञ जन कहते हैं कि—"भगवान् में माया के द्वारा दोष-गुण उभय की विद्यमानता हैं ।" यह कथन अत्यन्त असमीचीन है, कारण जहाँ प्राकृत माया की सम्भावना ही नहीं है, वहाँ मायिक गुणदोष की सम्भावना नहीं हो सकती है । ईश्वर अमायी हैं, परम मायातीत हैं, उनमें प्राकृत रूप-गुणादि की सम्भावना नहीं है । उक्त समुदय ही उनके स्वीय अचिन्त्य ऐश्वर्य्य सम्भूत हैं ।"

अथ (भा० ८।३।८) "न विद्यते" इत्यस्य प्रकृतश्लोकस्य व्याख्यावशेषः। तदेवं स्वरूपशक्तिविलासरूपत्वेन तेषां जन्मादीनां प्राकृताद्वैलक्षण्यं साधितम्। तत्र आशङ्कते,—ननु भवन्तु स्वस्वरूपभूतान्येव तानि, तथापि स्वरूपस्यैव पूर्णत्वात्तत्तत्प्राप्तौ किं प्रयोजनम्? तत्राह—लोकाप्ययसम्भवाय, लोको भक्तजनस्तस्याप्ययः संसारध्वंसस्तत्पूर्वकः सम्भवो भक्तिसुखप्राप्तिः, भू प्राप्तौ, तदर्थम्, एतदप्युपलक्षणम्, नित्यपार्षदानामपि भक्तिसुखोत्कर्षार्थम्। तदुक्तं श्रीमदर्जुनेन प्रथमे (भा० १।७।२५) –

"तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्" ॥१६८॥ इति।

अस्यार्थः—यथान्ये पुरुषादयोऽवतारास्तथायञ्चावतारः साक्षाद्भगवतः श्रीकृष्णाख्यस्य तवैव प्राकट्यं परमभक्ताया भुवो भारजिहीर्षया जातोऽपि, अन्येषां स्वानां भक्तानामसकृच्च मुहुरप्यनुध्यानाय निजभजनसौख्याय भवति। ननु तर्हि भक्तसौख्यमेव प्रयोजनं जातमिति "पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः" इत्येतत् कथमुपपद्येत? तत्राह—अनन्यभावानामिति। अन्यथा सर्वज्ञशिरोमणेर्निर्दोषस्य तस्य तन्मात्रापेक्षकाणां तेषामुपेक्षायामकारुण्यदोषः

सर्वसम्वादिनी

भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्य्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च" इति श्रुत्यन्तरमपि तेन गुणिना तेषां गुणानां तदव्यञ्जकशक्तेश्चैकात्मकत्वमेव प्रतिपादयति; (मु० १।१।९) "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति च श्रुत्यन्तरेऽपि यस्य चित्स्वरूपमेवैश्वर्य्यमित्यभिधीयते; (ब्र०सू० १।३।४०—माध्वभाष्य-धृत-) चतुर्वेदशिखायाञ्च—'विष्णुरेव

अनुवाद—

उक्त शास्त्रीय प्रमाणों से श्रीभगवद्रूपादि, स्वरूपशक्ति के विलासरूप प्रतिपन्न होने से वे सब विलक्षण है, उसका प्रदर्शन करते हैं। यहाँ आशङ्का हो सकती है कि—जो स्वरूपशक्ति के विलासरूप एवं पूर्ण हैं, उनको ग्रहण करने की प्रयोजनीयता ही क्या है? उत्तर में कहते हैं—दुष्ट दलन एवं अभ्युदय के निमित्त प्रकट होते हैं, अर्थात् भक्तगणों का संसार ध्वंसरूप अप्यय विधान करके उन सबको भक्ति प्रदान करना ही आविर्भाव का तात्पर्य्य है।

भू धातु का प्राप्ति अर्थ प्रसिद्ध है, यह तो अवान्तर कथा है। वास्तविक तथ्य यह है—नित्य परिकरगण को भक्तिसुख आस्वादन कराने के निमित्त आविर्भूत होते हैं।

"पृथिवी का भार अपनोदन निबन्धन आप अवतीर्ण होते हैं, ऐसा भी कहना उचित् नहीं है, किन्तु अनन्य भजनपरायण निजजन के हृदयमें निरन्तर अनुध्यान को प्रसारित करने के लिए ही आपका अवतार हैं।" अर्थात् पुरुषादि अन्यान्य अवतार जिस प्रकार अवतीर्ण होते हैं, उसके साथ आपका अवतार अंशमें साजात्य होने से भी आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, अनन्य भक्तिमती पृथिवी का भार हरणेच्छा आपकी होने से भी वह ही अवतीर्ण होने का मुख्य कारण नहीं है, किन्तु अनन्य भक्तवृन्द के हृदय में पुनः पुनः लीला की स्फूर्त्ति हो, एवं तज्जन्य आनन्दास्वादन से भक्तगण के हृदय परिपूर्ण हो। एतज्जन्य ही आपका आगमन प्रपञ्च में होता है।

यहाँ आशङ्का हो सकती है कि—भक्तजन के सुख विधान हेतु अवतार जब होता है, तब भगवान् की प्रयोजनोन्मुखी प्रवृत्ति होती है। इससे "भगवान् पूर्णानन्द हैं" यह कथन अनर्थक होगा। कारण—पूर्णानन्द की प्रयोजन मति नहीं होती है? इसका उत्तर—"अनन्यभावानाम्" शब्द से हुआ है। अर्थात् सर्वज्ञशिरोमणि श्रीभगवान् यदि अनन्य भजनपरायण व्यक्ति की उपेक्षा करते हैं, तो उनमें अकारुण्य दोष

प्रसज्येतेति भावः। आत्मारामेऽपि कारुण्यगुणावकाशो (कौर्मे) "गुणा विरुद्धा अपि तु समाहार्य्याश्च सर्वतः" इति स्मरणात् विचित्रगुणनिधाने श्रीभगवत्येव सम्भवति ; ततोऽन्यत्र तु सञ्चरिततद्-गुणांशे तदीय एव यः प्रतिपदमेव साश्चर्य्यं श्रुत्यादिभिरुच्चैर्गीयते,यश्चाविरिञ्चिमापामरजनमा-कर्षन्नेव वर्त्तते। तदुक्तं श्रीदशमे स्वयमेव (भा० १०।३२।१९-२०)—

"भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः।

आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।।१९९।।

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्, भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये" इत्यादि। तस्मात् परमसमर्थस्य तस्य कृपालक्षणं भक्तजनसुखप्रयोजनकत्वं नाम कोऽपि स्वरूपानन्दविलासभूत-परमाश्चर्य्यस्वभावविशेष इति मूलपद्येऽपि "अनुकालमृच्छति" इत्यनेनैव दर्शितम्। अतः प्रयोजनान्तरमतित्वन्तु तस्मिन्नास्त्येव। तत्प्रयोजनत्वञ्च तस्य परमसमर्थस्यानन्दविलास एवेति दिक्। यथोक्तम्—

"कृपालोरसमर्थस्य दुःखायैव कृपालुता। समर्थस्य तु तस्यैव सुखायैव कृपालुता" ।।२००।। इति। गजेन्द्रः श्रीहरिम् ।।

सर्वसम्वादिनी

ज्योतिर्विष्णुरेव ब्रह्म, विष्णुरेवात्मा, विष्णुरेव बलम्, विष्णुरेवानन्दः' इत्यादि; (ब्र०सू० २।३।१०—माध्व-भाष्योद्धृत-) भागवत-तन्त्रे च—

"शक्ति-शक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन। अविभिन्नापि स्वेच्छादि-भेदैरपि विभाव्यते" ।।५८।। इति। विष्णुसंहितायाञ्च

अनुवाद—

की प्रसक्ति होगी। आत्मारामगण में भी कारुण्य गुण दृष्ट होता है। "विरुद्ध समस्त गुण ही श्रीभगवान् में सन्निविष्ट हैं।" इस प्रकार शास्त्र वाक्य से विचित्र गुण निधान श्रीभगवान् में समस्त ही सम्भव हैं। भगवद्गुण के अंशमात्र भी अन्यत्र सञ्चारित होने से वह भी तद्रूप गुणविशिष्ट होता है, यह वार्त्ता श्रुत्यादि में सुस्पष्ट है। भगवद् गुणसमूह ब्रह्मा से आरम्भ कर समस्त जीव को आकर्षण करते रहते हैं।

श्रीभगवान् गोपिका के प्रश्नोत्तर में कहे थे—"आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ, गुरुद्रोही जन, भजन कारी का भजन नहीं करते हैं। अतएव भजन न करने से भी करेंगे, इस प्रकार तो सम्भावना ही नहीं हो सकती है। किन्तु हे सखीगण ! मैं उक्त चतुर्विध के मध्य में अन्तर्भुक्त नहीं हूँ। मैं उक्त चतुर्विध से बाहर हूँ। मैं स्वतःसिद्ध कारुण्य गुण से सबको अतिक्रम करके परम कारुणिक एवं सुहृत् हूँ। मेरी करुणा का अधिकारी भजन अभजनकारी सब ही हैं। तब जो मैं भजनकारी का भजन नहीं करता हूँ, उसका कारण है—मेरे प्रति निरन्तर ध्यान प्रवृत्ति को वर्द्धित करना। सुतरां उन सबके समक्ष में प्रकट होकर भजन न करने पर भी मैं अप्रकट में रहकर ही अधिक भावसे भजन करता हूँ।" अतएव "अनुकालमृच्छति" इस मूल पद्य की व्याख्या में—परम सामर्थ्यरूप भगवान् की कृपा, भक्तजनगण के सुख के निमित्त स्वीय स्वरूपानन्द के विलासभूत परमाश्चर्य्य स्वभाव से ही होती है। सुतरां प्रयोजनापेक्षित्व रूप जो आशङ्का भगवान् के आचरण में हुई थी, वह नहीं हो सकती है। अतएव श्रीभगवान् का प्रयोजन,—कहने से परम शक्ति समर्थ, सम्पन्न का आनन्दविलास का ही बोध होता है। यथा—"असमर्थ कृपालु की कृपालुता दुःख के निमित्त ही होती है, समर्थ कृपालु की कृपालुता सुख के निमित्त ही है।

श्रीहरि को गजेन्द्र कहे थे ।।४७।।

४८। तस्मादपाणिपादश्रुतेरपि सदनन्तस्वप्रकाशानन्दविग्रह एव भगवति तात्पर्य्यं नान्यत्रेति प्रतिपादयन्ति (भा० १०।८७।२८)—

"त्वमकरणः स्वराड़खिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः" ॥२०१॥

अयमर्थः—अत्र करणं नाम वास्यादिवत् कर्त्तृशक्तिप्रेरिततया कार्य्यकरं कर्त्तुर्भिन्नतमं केवलकरणत्वापन्नमेव वस्त्वङ्गीकृतम्, न तु स्वरूपत्वापन्नमपि यत्तदपि। यथा दहनादौ तच्छक्त्यादिकं गौणार्थत्वात्, स्वराट्पदनिरुक्तौ स्वेनेति तृतीयान्तपदस्य स्वरूपशक्तावेव पर्य्यवसानाच्च। ततो जीवस्य चिद्रूपत्वात् पाण्यादीनां स्वतो जड़त्वात्तदधीनशक्तीनां तेषां भिन्नतमानां करणत्वं मुख्यार्थमेव। ततोऽसौ तदासक्तत्वात् सकरणः, त्वन्तु तदन्तर्य्यामी तदनासक्तत्वात् तदनपेक्षः, यतः स्वराट् स्वरूपशक्त्यैव राजस इति। तथा प्रलयकालावसाने (भा० १०।८७।२३) "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो, वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः" इति विद्वद्गणगुरुभिरस्माभिरपि निजालम्बनत्वेन वर्ण्यमानपरमदिव्यकरणगणविचित्रोऽप्यसौ अकरण एव। कुतः? स्वराट् स्वेन स्वरूपशक्तिविशेषसिद्धप्रादुर्भाव-

सर्वसम्वादिनी

"इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिति त्रिधा। शक्तिशक्तिमतोश्चापि न भेदः कश्चिदिष्यते" ॥५६॥ इति।

तस्माद्भगवतैकरूपत्वमेव गुणानाम्। अतएव महाभारत-तात्पर्य (१।६७)-प्रमाणिता श्रुतिः—"सत्यः सोऽस्य महि महिमा गृणेशवो यज्ञेषु विप्रराज्ये" इति। अतो मायिक-सर्व निषेधावधि-स्वरूपमुक्त्वा पश्चात्तस्यैवैश्वर्य्यादिकमुच्यते,—(वृ० ४।४।२२) "एष सर्वेश्वरः" इत्यादि। अतो गुणगुणिनोर्भेदपक्षेऽपि

अनुवाद—

अतएव अपाणिपाद श्रुति का तात्पर्य्य भी नित्य, अनन्त, स्वप्रकाश, आनन्दविग्रह श्रीभगवान् में ही है। निर्विशेष, करचरणादि रहित ब्रह्म में उसका तात्पर्य्य नहीं है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

श्रुत्यध्याय में वर्णित है—"आप करण सम्बन्धरहित होकर भी अखिल प्राणिवृन्द की इन्द्रियशक्ति का प्रवर्त्तक हैं। कारण, आप स्वराट् स्वयं दीप्तिशील हैं। अविद्यावृत इन्द्रादि देवगण एवं उनके पूज्य विश्वस्रष्टा ब्रह्मा भी मनुष्य प्रदत्त हव्य कव्यादि स्वरूप बलि ग्रहण करते हैं। किन्तु वे सब ही अत्यन्त चकित होकर आपकी पूजा करते रहते हैं। अर्थात् अधिकृत देवतागण निज निज कर्म सम्पादन कर आपकी आज्ञा पालन, पूजा करते हैं। जगत् में जिस प्रकार खण्ड प्रदेशाधिपति प्रजा द्वारा प्रदत्त करादि स्वयं ग्रहण करने पर भी विविधोपढौकनादि के द्वारा सम्राट् की तृप्तिविधान करते हैं, तद्रूप श्रीभगवान् की पूजा ब्रह्मादि देवगण करते रहते हैं।"

अपाणिपाद श्रुति का तात्पर्य्य श्रीभगवान् में ही है। कारण शब्द का अर्थ—जिसकी सहायता से कार्य्य निर्वाह होता है। जिस प्रकार काष्ठादि च्छेदन कार्य्य का निर्वाह कुठारादि से होता है। वह कर्त्तृ शक्ति द्वारा प्रेरित होकर कार्य्य होता है। अतः करणत्व धर्मापन्न वस्तु कर्त्ता से पृथक् है। किन्तु जो स्वरूपत्वापन्न है, जैसे दहनादि कार्य्य के प्रति अग्नि की दाहिकाशक्त्यादि, यह अग्नि स्वरूप से पृथक् न होने से भी दाह का कारण होने से उसको गौण करण कहते हैं।

विशेषेण स्वरूपेणैव तत्तत्करणतया राजसे, तेषां स्वरूपभूतत्वेन मुख्यकरणत्वायोगादिति भावः अन्यथौपाधिकवस्तुद्वारा तवापि प्रकाशे कथं नाम स्वराट्त्वं सिध्येदिति च ; "आनन्दमात्रमजरं पुराणमेकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्" ; (बृ० ४।४।१९) "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुतेः, 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इत्यादि स्मृतेश्च । ननु त्वयि तथाभूतस्वरूपशक्तीनामस्तितायां किं प्रमाणम् ? तत्राहुः—अखिलकारकशक्तिधर इति; अखिलेभ्यः प्राणिभ्यः कारकाणि करणानि चक्षुरादिगोलकानि तेषु शक्तीश्चेन्द्रियाणि धरसि ददासीति तथा सर्वेषु तेषु तत्तद्धारणात् । तास्तु त्वयि स्वतःसिद्धा अव्ययाः पूर्णा एव सन्तीति भावः । तथा च

सर्वसम्वादिनी

तदेकरूपमिति वचनं गुणानामन्तरङ्गत्वेन गुणिना सह तुल्यत्वात्तादात्म्यापत्तेश्च सङ्गच्छत एव ।

दहरविद्यायामपि तदीयगुणानां (ब्र०सू० १।३।१४) "दहर उत्तरेभ्यः" इति-न्याय-प्रसिद्ध-दहराख्यब्रह्मवदेव; तत्राप्यन्तरङ्गतयैव च जिज्ञास्यत्वमन्वेष्टव्यत्वं चोक्तम् । तथा हि (छा० ८।१।१)--"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासि-

अनुवाद—

स्वराट् पद की निरुक्ति में—'स्वेनैव राजत' तृतीयान्त पद स्वरूपशक्ति में ही पर्य्यवसित होने से वह भी गौण है ।

जीव चिद्रूप है, उसके हस्तपदादि स्वतः ही जड़ हैं, तदधीन शक्तिसम्पन्न हस्तपदादि जीव से भिन्न होने से ही वे सब मुख्य करण हैं ।

जीव, इन्द्रिय साहाय्य व्यतीत कोई भी कार्य्य नहीं कर सकता है । अतः उसकी इन्द्रियासक्ति स्वाभाविकी अवश्यम्भावी है, सुतरां 'जीव' सकरणक है । किन्तु आप अकरणक हैं । आप जीवान्तर्य्यामी होने से भी आपकी करणासक्ति नहीं है । अतः आप निरपेक्ष हैं । कारण आप स्वराट् हैं, आपका कार्य्य इन्द्रियादि करण सापेक्ष नहीं है । आप अपनी स्वरूपशक्ति में ही विराजित हैं ।

प्रलयावसान में आप की श्रीमूर्त्ति, हस्तादि के मनोहारित्व, मुक्तिदातृत्व श्रुत होने से, वे सब भी सच्चिदानन्दमय एवं स्वरूपाभिन्न हैं । यथा—"स्त्रीगण कामतः, उरगेन्द्र भोग सदृश मनोहर वर्त्तुल भुज द्वय की कमनीय शोभा से मुग्ध होकर नियत ध्यानमग्न हैं । श्रुत्यभिमानिनी देवतागण हम सब भी आपके सम कृपाप्राप्त होने के योग्य हैं, आपके चरणकमल को मस्तकमें धारण कर कृतकृतार्थ होकर हम सब अन्त में आपको प्राप्त करेंगे ।" स्वामिपाद उक्त श्लोक का संग्रहात्मक श्लोक किए हैं—

"चरणं स्मरणं प्रेम्णा तव देवदुर्ल्लभम् । यथा कथञ्चिन्नु हरे ! मम भूयादहर्निशम् ।।"

अर्थात् हे हरि ! प्रेमातिशय्य से विभोर होकर आपका चरण स्मरण दुर्ल्लभ है । आप कृपा करें, जिससे मैं अहर्निश आपका चरण स्मरण कर सकूँ । अतएव महर्षि वेदव्यासादि विद्वद्गण गुरुगण की एवं हम सब की उपासना के परम आलम्बनभूत वर्ण्यमान विचित्र दिव्य पाणिपादादि करण से शोभित होकर भी आप अकरण हैं । आप स्वराट् हैं । स्वीय स्वरूपशक्ति विशेष से सिद्ध जो प्रादुर्भाव है, उसमें उक्त हस्तपदादि करण से परिशोभित हैं, उक्त हस्तपदादि करण स्वरूपभूत होने से जीववत् आपके हस्तपदादि की मुख्य करणता नहीं है, कारण वह करण होकर भी कर्त्ता सदृश है, अतः करण की विद्यमानता में भी आप अकरण हैं । अन्यथा औपाधिक वस्तु के द्वारा आपका प्रकाश अथवा कार्य्य को स्वीकार करने से, स्वराट्त्व रूप धर्म की अर्थात् स्वप्रकाशत्व की सिद्धि कैसे सम्भव हो ?

"आप आनन्द, अजर, पुराण, एक होकर भी बहु प्रकार से दृश्य होते हैं ।" "अखिल ब्रह्माण्ड का सृष्टिकर्त्ता एक आप ही हैं, और कोई नहीं ।" इत्यादि श्रुति में एवं "जिनके हस्त, पद, मुख, उदरादि

श्रुतिः (वृ० ४।४।१८) "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" इत्याद्या ; (श्वे० ६।८) "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्याद्या च। तदुक्तमेकादशे (भा० ११।४।४)—"यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभये-न्द्रियाणि, ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा" इति। अतएव (ब्र०सू० २।१।३१) "विकरणत्वा-न्नेति चेत्तदुक्तम्" इत्यत्र सूत्रकारोऽपि तदुक्तमित्यनेन (ब्र०सू० २।१।२७)"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्युक्तरीत्यैव श्रुत्येकगम्यं तर्कातीतं तस्य विकरणत्वं सकरणत्वञ्च साधितवान्। श्रुतिश्च (श्वे० ६।८)—"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" इत्याद्या। अथवाखिलकारकशक्तिधरोऽपि त्वमसावकरण एवेत्यन्वयः। कुतः? स्वराडित्यादि। अतः सर्वतो विलक्षणमहिमत्वात्

सर्वसम्वादिनी

तव्यम्" इति ; व्याख्यातञ्च श्रीरामानुजचरणैः—(ब्र०सू० १।३।१४—श्रीभाष्ये) "यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे पुण्डरीके वेश्मेत्यनूद्य तस्मिन् दहरे पुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशो यच्च तदन्तर्वर्त्ति-गुणजातम्, तदुभय-मन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यञ्चेति विधीयत इत्यर्थः।" (छा० ८।१।५) "अस्मिन् कामाः समाहिताः" इत्यत्र

अनुवाद—

समस्त ही आनन्दमय हैं।" इत्यादि स्मृतिमें उक्त प्रभाव का वर्णन है। यहाँ श्रीभगवान् अपने को गोपन करने के अभिप्राय से जीव को भ्रान्त कर यदि कहें कि—उस प्रकार शक्ति के अस्तित्व में प्रमाण क्या है? उत्तर में उक्त है—"अखिल कारण शक्तिधर" अर्थात् आप अखिल ब्रह्माण्ड में निखिल प्राणिवर्ग की चक्षुरादि इन्द्रिय में शक्ति प्रदान करते हैं, आप की शक्ति नित्या, परिपूर्णा, स्वतःसिद्धा अव्यया है। श्रुति कहती है,—"आप प्राण का प्राण हैं, चक्षु का चक्षु हैं, परब्रह्म की स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया प्रभृति विविधा शक्ति हैं।"

पाणिपादादि की स्वरूपभूतता—एकादश स्कन्ध में वर्णित है—"जिनकी इन्द्रिय के द्वारा समष्टि व्यष्टि जीव की ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय नामक उभय इन्द्रिय ही शक्तिसम्पन्न होती है। अर्थात् जिनकी स्वरूपभूत सत्ता से प्राणियों का ज्ञान, जिनके श्वसन एवं प्राण से प्रणियों की देहशक्ति, इन्द्रिय शक्तिसमूह उद्भूत एवं शक्तिसम्पन्न हो रहीं हैं।" इत्यादि उक्ति दृष्ट होती है। अतएव "विकरणत्वान्नेति चेत्—तदुक्तम्" इस से उक्त विकरणत्व आशङ्का का समाधान हुआ है। अर्थात् "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस सूत्र से चिन्तातीत वस्तुमें एकमात्र शब्दप्रमाण ही स्थापित हुआ है। मण्डुकादि श्रुत्युक्त "वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं" इत्यादि शब्द प्रमाण के द्वारा उनका अचिन्त्य दिव्य रूपादि प्रतिपादित हुई हैं। जागतिक विभु, भूत, मणिमन्त्रादि का अचिन्त्य प्रभाव सर्वानुभव स्वतःसिद्ध है। सर्वेश्वर विष्णु की निज शक्ति के सम्बन्ध में संशय उपस्थित न होकर सुसिद्धान्त हुआ है।

विकरण-सकरण के सम्बन्ध में शब्द ही एकमात्र प्रमाण है। उसका प्रदर्शन गोविन्दभाष्य में हुआ है। यथा—"कर्त्तृत्वं, ब्रह्मणो न सम्भवति—अनिन्द्रियत्वात्, शक्तिमन्तोऽपि देवादयः सेन्द्रिया एव तत्तत्कार्यक्षमा विज्ञायन्ते। ब्रह्मत्वनिन्द्रियं कथं विश्वकार्य्याय क्षमं स्यात्। एवं प्राप्ते ब्रवीति—विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्" (वेदान्त सू० २।१।३१)

अनिन्द्रियत्वात् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं नेति यदुच्यते तदुक्तम्—उभयत्र स्वाभाविकपरशक्तिकतां दर्शयन्त्या श्रुत्यैव तत् समाहितं—तथाहि तैरेव पठ्यते तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् तं दैवतानां परमञ्च दैवतम्, पतिं पतीनां परमं पुरस्तात् विदाम देवं भुवनेश मीड्यम्। सकारणं कारणाधिपाधिपो—न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिप इति। पाण्यादिवर्ज्जितोऽप्यसौ महापुरुषो ग्रहणादिकार्य्यभाग् भवतीत्युक्तम् प्राक्। प्राकृत-करणविरहेऽपि स्वरूपानुबन्धिकरणमत्त्वादनुपपन्नं न किञ्चिदपि। सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो-मुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठतीति तैरेव पठितत्वात्।"

अनिमिषा देवा इन्द्रादयः, तत्पूज्या विश्वसृजो ब्रह्मादयोऽपि तव तुभ्यं बलिमुपहारम् उदुच्चैः शिरोभिर्वहन्ति ; अजया तेषामधिकारिण्या माययापि सहिताः ; सापि आभासशक्तिरूपा स्वरूपानन्तशक्तिमयाय तुभ्यमात्मसम्पदुद्भावनार्थं बलिं हरतीत्यर्थः। समदन्ति च मनुष्यैर्दत्तं हव्यकव्यादिलक्षणं बलिं भक्षयन्ति च। अत्र दृष्टान्तः—वर्षभुज इति वर्षं खण्डमण्डलम्। कथं बलिमुद्वहन्ति ? तदाहुः—विदधतीति। त्वदाज्ञापालनमेव बलिहरणमित्यर्थः; (तै० २।८।१) "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति

सर्वसम्वादिनी

हि काम्यत्वात् कामाः कल्याणगुणास्तदन्तःस्था उच्यन्ते। ते च गुणाः—(छा० ८।१।३) "अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादिभिर्विभुत्वादयः, (छा० ८।१।५) "अयमात्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिभिरपहतपाप्मत्वादयश्च तत्र बहव एव व्याख्याताः सन्तीति। वाक्यकारैश्च त एव तदन्तरस्थत्वेनोक्ताः—(छा० ८।१।१) "तस्मिन् यदन्तः" इति, "कामव्यपदेशः" इत्यादिनेति। अत्र यदि दहरज्ञानार्थं द्यावापृथिव्या-

अनुवाद—

अर्थात् प्रथम आशङ्का है,—अनिन्द्रिय ब्रह्म का कर्त्तृत्व सम्भव है अथवा नहीं ? शक्तिसम्पन्न देवतागण इन्द्रियविशिष्ट हैं, एवं इन्द्रिय होने से ही उनमें कार्य्यक्षमत्व का नियामक है, तब अनिन्द्रिय ब्रह्म कैसे विश्वकर्त्ता होंगे ? इस प्रकार पूर्वपक्ष खण्डन हेतु सूत्र का अवतारण कर रहे हैं,—ब्रह्म इन्द्रिय रहित हैं, तज्जन्य उनमें कर्त्तृत्व अयुक्त है। ऐसा विचार हो नहीं सकता। कारण—श्रुति उत्तर वाक्य में उनका स्वाभाविक पराशक्ति समन्वितत्व प्रतिपादन करती है। इससे पूर्व संशय का समाधान करके अनिन्द्रिय ब्रह्म का भी कर्त्तृत्व अयुक्त नहीं है, उसका प्रदर्शन करते हैं। श्रुति—ब्रह्म, ब्रह्मादि ईश्वरगण का भी ईश्वर हैं। आप देवतागण के परम देवता हैं। आप लोकपालगण का अधीश्वर हैं। प्रधान का भी प्रधान हैं, त्रिभुवन के ईश्वर एवं पूज्य हैं। उनका कार्य्य एवं करण नहीं है, उनके समान अधिक कोई नहीं है। उनकी स्वाभाविकी शक्ति, पराशक्ति है, ज्ञानक्रिया बल, इच्छाशक्ति समूह उनकी स्वाभाविकी हैं। उनका अधिपति अथवा ईश्वर अपर कोई नहीं हैं। आप विश्व कारण हैं। कारणाधिपगण का अधिपति हैं। उनका जनक एवं अधिपति—उभय ही नहीं हैं।" इत्यादि श्रुति उनकी हस्तपदादि इन्द्रिय का निषेध करके भी उक्त महापुरुष के ग्रहणादि कार्य्य का वर्णन करती हैं।

आप जब इन्द्रियाधिपति देवतावृन्द का नियामक हैं, अधिपति हैं, तब आपमें प्राकृत इन्द्रिय का असद्भाव है, यह ही इन्द्रिय निषेध वाक्य का अर्थ है।

प्राकृत करचरण न होने से भी अप्राकृत शरीरेन्द्रिय के सद्भाव उनमें कर्त्तृत्व उपपन्न होता है, विशेषतः अन्यत्र श्रुति—सर्वतः पाणिपादादि का वर्णन करती है। अतएव ब्रह्म में सर्वत्र तर्कातीत विकरणत्व एवं सकरणत्व प्रतिपादित हुआ है। अथवा अखिल कर्त्तृत्व शक्ति के द्वारा ब्रह्म परम कारणस्वरूप एवं स्वयं अकरण हैं, कारण आप स्वराट् हैं। अतएव सर्व प्रकार से ही आपकी महिमा विलक्षण है। अनिमिष इन्द्रादि देवगण, एवं उनके पूज्य विश्वस्रष्टा ब्रह्मादि आपके चरणों में उपहार प्रदान करते हैं। अतः उक्त मायाशक्ति आपके निकट अति तुच्छा है। जिसके अधिकार में देवगण हैं। स्वरूपानन्द शक्तिमय आपके निकट से निज अभीप्सित सम्पद् प्राप्ति की कामना से वे सब आपकी पूजा करते हैं।

जगत्में मनुष्य प्रदत्त हव्य-कव्यादि रूप पूजा ग्रहण देवतागण करते हैं, सत्य है, वह आपकी कृपाशक्ति से सम्भव है, आपकी शक्ति से ही वे सब पूज्य तथा सम्पन्न हैं, जिस प्रकार खण्ड मण्डलाधिपति निज अधीन प्रजावर्ग से पूजा सम्मान ग्रहण करता है, और वह भी सम्राट् का सम्मान करता है, तद्वत् देवतागण भी तदीय शक्तिगण के सहित नियत आपकी आज्ञा प्रतिपालन करते रहते हैं।

श्रुतेः। अथवा, ननु मम पाण्यादिकरणानां स्वरूपभूतत्वे युक्तिं कथयतेत्यत आहुः—अनिमिषाः करणाधिष्ठातृदेवास्तव बलिमुद्वहन्तीति। अजानजदेवत्वाद्विश्वसृजो विश्वेषां सृष्टिहेतवः। अन्ये तत्तदधिष्ठातृदेवतास्तदाश्रयादेव करणैर्विषयं प्रकाशयितुं शक्नुवन्ति। त्वं पुनस्तेषामप्याश्रय इति त्वत्करणानां स्वप्रकाशतापत्तेः स्वरूपभूतत्वमेवेति। अथाप्यास्तां महाशक्तिर्माययैवाश्रय इत्यत आहुः—अजयेति। ननु जीवा अपि निजेन्द्रियाधिष्ठातॄणामाश्रया भवन्ति, तत्राहुः—विदधतीति। विषयभोगद्वारेष्विन्द्रियेषु भवता विश्वपतिना दत्ताधिकाराणां देवानामेवाधिकार्य्याः कतिपयग्रामभौमिका इव जीवा इति न तेषामाश्रयाः, किन्तु भवानेव तेषामधिकारकत्वादाश्रय इति भावः ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

४९। तस्माद्विलक्षणपाणिपादादित्वेनैवापाणिपादादित्वम्; यथाह (भा० १०।६०।४५)—

"त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धमन्त,-र्मांसास्थि-रक्त-कृमि-विट्-कफ-पित्त-वातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा, या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री" ॥२०२॥

सर्वसम्वादिनी

वेदान्वेष्टव्यत्वादिभ्यां विवक्षिते, तदा ज्ञातत्वात्ते पूर्वमुपदिश्याज्ञातत्वात् पश्चादेव दहर उपादेक्ष्यत इति ज्ञेयम्। तस्मात् स्वरूपभूता एते गुणाः सहस्रनामभाष्ये चाद्वैतवादगुरुभिरपीदमुक्तम्—(१५) "साक्षादव्यवधानेन स्वरूपबोधेन पश्यति सर्वमिति 'साक्षी'; (३७) निरुपाधिकमैश्वर्य्यमस्येति 'ईश्वरः'—(बृ० ४।४।२२) 'एष सर्वेश्वरः' इति श्रुतेः" इति; अत्र 'सर्व'-शब्देनोपाधेरपि परिग्रहात्तदतिरिक्तमैश्वर्य्यमिति भावः।

अनुवाद—

तैत्तिरीयक श्रुति में उक्त है—"ब्रह्म से भीत होकर वायु प्रवाहित होता है, सूर्य्य प्रतिनियत उदित होता है, भीत होकर अग्नि, इन्द्र स्वीय स्वीय अधिकार सम्पादन करते हैं। मृत्यु भी यथाकाल प्राणियों को ग्रास करती रहती है।"

श्रुति आपकी ऐश्वर्य्य वार्त्ता की सुस्पष्ट घोषणा करती है। उसके आगे और कोई सन्देह आपके ऐश्वर्य्य के विषय में नहीं रहता है। अतएव हे भगवन्! आप सर्वैश्वर्य्य सम्पन्न हैं। कोई भी संशय नहीं उठ सकता है। प्रश्न हो सकता कि—स्वरूपभूत हस्तपदादि इन्द्रिय कहने का तात्पर्य्य क्या है? उत्तर में श्रुति कहती है, "अनिमिषाः" करणाधिष्ठात्री देवतागण ब्रह्मादि देवगण, जीववृन्द उस-उस इन्द्रियाधिपति की सहायता से निज निज इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण करने में सक्षम होते हैं। आप उन सब देवता गणों का आश्रय हैं। सुतरां आप की इन्द्रिय निरपेक्ष है, वह स्व-प्रकाश है। अतएव आप जिस प्रकार सच्चिदानन्दमय हैं। उस प्रकार आप की इन्द्रियादि भी सच्चिदानन्दमय हैं।

तथापि यदि कहा जाय कि—माया ही उस का आश्रय है? उस का समाधान पहले हुआ है। अजया—माया के सहित ही देवतागण आप की पूजा करते हैं, इससे माया का आश्रयत्व विदूरित हुआ है, पुनश्च यदि आशङ्का हो कि—जीवगण भी निज निज इन्द्रियाधिष्ठातृ देवतागण के आश्रय होते हैं? उत्तर में कहते हैं, विदधती,—अर्थात् विश्वपति आप हैं। आप का प्रदत्त अधिकार में अवस्थित होकर देवतागण जीव का आधिपत्य करते हैं, जीव समूह कतिपय ग्राम्य जनके सदृश हैं, सुतरां एवमवस्थापन्न जीव समूह कदापि किसी का आश्रय नहीं हो सकते हैं। एकमात्र आप ही सर्वाधिकारत्व वशतः सब का आश्रय हैं। श्लोक का यह ही तात्पर्य्य है। श्रुतिगण श्रीभगवान् को कही थीं ॥४८॥

जीव एवं श्रीभगवान् के हस्तपदादि विलक्षण हैं। हस्तपदादि विद्यमान होने से ही अपाणिपादादि की स्थापना होती है। वैलक्षण्य के सम्बन्ध में कथन इस प्रकार है,—"हे स्वामिन्! आपके पादपद्म के

अत्र श्रीभगवति केशादीनां श्रूयमाणानामानन्दस्वरूपत्वमन्येषां त्वभाव एवेति वैलक्षण्यं स्पष्टमेव। अतएव हि हिरण्यकशिपुं प्रति तन्मारक-जन-निषेधलक्षण-ब्रह्मवरदानमपि सङ्गच्छते। (भा० ७।३।३७) "व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः" इति। न चैतत् करणस्य निषेधपरम्, किन्तु कर्त्तुरेव, कर्त्तृ-प्रकरणात्, अप्राणिभिः प्राणिभिर्वेत्युक्तेस्तस्यैव प्राप्तत्वात्। हन्तुर्जीवदेहसाम्येऽपि (हन्तृजीववद्देहसाम्येऽपि) सप्राणभागान्निष्क्रान्तस्य कर्त्तनीयनखाग्रभागस्य त्यक्तप्राणत्वाच्च। तस्मादस्माकम् (मु० २.१।२) "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इति, (वृ०४।५।११) "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" इति च श्रुतिर्नासङ्गतेति। अतएवोक्तं वाराहे—

"न तस्य प्राकृता मूर्त्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा। न योगित्वादीश्वरत्वात् सत्यरूपोऽच्युतो विभुः"॥२०३॥इति

तच्चाप्राकृतमूर्त्तित्वन्तस्य महायोगित्वादिच्छाकृतमिति न, किन्त्वीश्वरत्वान्नित्यमेवेत्यर्थः। तथा च प्रयोगः—ईश्वरः सविग्रहः ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्कर्त्तृत्वात् कुलालादिवत्। स च विग्रहो नित्यः, ईश्वरकरणत्वात् तज्ज्ञानादिवदिति; अतएव विलक्षणत्वमपि। जीवच्छवमिति चैतन्य-

सर्वसम्वादिनी

अथ यत् पृष्टम्,—निषिद्ध-नीलपीताद्याकारस्य तस्य ज्ञानमात्रवस्तुनः कथं तत्तद्वर्णत्वम्? कथं वा परिच्छेदरहितस्य चतुर्भुजाद्याकारत्वेन परिच्छिन्नत्वम्? कथं वा वैकुण्ठादीनामपि तद्रूपत्वमिति? तत्रै-श्वर्यादिवत् स्वप्रकाशत्वेन विभुत्वेन च तत्तदुपाधिरहित-स्वरूपमात्रत्वं प्रमाणचक्रचक्रवर्त्ति-विद्वदनुभव-सेव्यमानैः शब्दैरेव प्रमितं दर्शयिष्यते। तदेवं भग-पदमत्र 'भास्वानयमुदयते' इत्यादौ भाः-शब्दादिवत्

अनुवाद—

मकरन्द का आघ्राण प्राप्त कर भी जो स्त्री,—त्वक् श्मश्रु, रोम, नख, केशादि द्वारा वहिरावृत एवं मांस, रक्त, कृमि, कफ, विष्ठा, पित्त, वायु परिपूरित देहधारी जीवन्मृत व्यक्ति का भजन कान्त बुद्धि से करती है, वह विमूढ़ा है। अर्थात् तदपेक्षा अधिक दुर्भाग्यवती अपर नहीं है।"

यहाँ श्रीभगवान् में श्रूयमाण केशादि की आनन्दरूपता अन्यत्र उसका अभाव होने से परस्पर में वैलक्षण्य सुस्पष्ट ही है। अतएव हिरण्यकशिपु के प्रति उसका मारक जन एवं अस्त्र निषेधव्यापक ब्रह्मा के वरदान की सङ्गति हुई है। यथा—"विगत प्राण, सप्राण, देव, असुर उरगादि से" इत्यादि वाक्य—कर्त्तृ प्रकरण में पठित होने से, यह वाक्य करण इन्द्रियादि का निषेध पर नहीं है। किन्तु कर्त्ता का निषेध पर है। अप्राणी, प्राणिगण शब्द से कर्त्ता का बोध होता है। हनन कर्त्ता जीव के समान शरीरगत साम्य होने पर भी, प्राणयुक्त देह से निष्क्रान्त कर्त्तनीय नखाग्र भाग के त्यक्तप्राणतावशतः पूर्वोक्त कर्त्तृ पर अर्थ सङ्गत हुआ है।

तज्जन्य "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र" "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" इत्यादि श्रुति की असङ्गति नहीं होती है। अतएव वराह पुराण के वचन में उक्त है—"उनकी मूर्त्ति, प्राकृत मेद, मज्जा, अस्थि के द्वारा निर्मित नहीं है, योगज भी नहीं है। किन्तु ईश्वरत्व वशतः अच्युत, विभु, सत्यस्वरूप हैं।" अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप अच्युत की मूर्त्ति भी सच्चिदानन्दमय है। उनका अप्राकृत मूर्त्तिमत्त्व, महा योगित्व वशतः इच्छाकृत नहीं है। सर्व देश, काल में जो स्वीय ईशितृत्व में अवस्थित हैं, उनकी मूर्त्ति नित्य है। उपरि उक्त श्लोक का तात्पर्य्य यह ही है।

श्रीभगवान् के हस्तपदादि की विलक्षणता है। कुम्भकारादिवत् ज्ञान इच्छा प्रयत्नवत् कर्त्तृत्व निबन्धन ईश्वर—सविग्रह हैं, इस प्रकार अनुमान प्रयोग होता है। ईश्वर के ज्ञानादि जिस प्रकार नित्य हैं, तद्रूप उनकी मूर्त्ति अथवा शरीर भी नित्य है। सुतरां अपर समस्त प्राणीयों के शरीर से ईश्वर शरीर की

योगेन जीवन्तम्, स्वतस्तु शवम्। ततः श्रीभगवद्विग्रहस्तु चिदेकरसत्वात् सदा जीवन्नेवेति वैलक्षण्यं युक्तम्, नित्यानन्दचिद्रूपत्वाद्भजनीयत्वं च युक्तमिति भावः॥ श्रीरुक्मिणी श्रीभगवन्तम्॥

५०। नामरूपित्वविधिनिषेधश्रुतिभिर्विवदमानानां विवादावसरे तदेव ह्युपपादयति (भा० ६।४।३२)—"अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो,-रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः, समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत्" ॥२०४॥

अस्तीति योगः स्थूलोपासनाशास्त्रम्, तत्र हि यद्भगवतो नामरूपित्वं श्रूयते, तद्दृष्टकल्पना-लाघवात् घटपटादिलक्षणाखिलनामधेयत्वं पातालपादादिकत्वञ्चेति विधीयते; नास्तीति सांख्यं ज्ञानशास्त्रम्, तत्र हि निषेधश्रुतिभिस्तस्य नामरूपित्वं यन्निषिध्यते, तत् प्रापञ्चिक-नाम-रूपित्वस्य कल्पितत्वात् सर्वथैव नास्तीति निश्चीयते। तदुक्तमुभयमतमस्यैव प्राक्,(भा० ६।४।२८) "स सर्वनामा स च विश्वरूपः" इत्यादिना (भा० ६।४।२९) "यद्‌यन्निरुक्तं वचसा निरूपितम्"

सर्वसम्वादिनी

स्वरूपांशभूतं विशेषणमेव, न तूपलक्षणम्। ततश्च भेदवृत्ति-प्राधान्येन वा केवलया भेदवृत्त्या वा कृतेऽपि मत्वर्थीये स्वरूपशक्तिवृत्तीनामद्वये ज्ञानेऽप्यपरिहरणीयत्वात्, स्वरूपशक्ति-वृत्ति-लक्षणेन भगेन सहैव भगवतस्तेनाद्वय-ज्ञानेनैकवस्तुत्वमेव सिध्यतीति कृतं [अलं] जहदजहल्लक्षणमय-कष्टकल्पनया। तत एवेत्थं प्रौढ़ियुक्तमुक्तम्—"भगवानपि तदद्वयं ज्ञानं शब्द्यते" इति। तत्र प्रमाणम्—(भा० १।२।११) "तत्त्वविदः"

अनुवाद—

विलक्षणता सुसिद्ध है। पूर्व श्लोकोक्त "जीवच्छवं" पद से "जीवित होकर भी मृत है" बोध होता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि—जीव देह में चैतन्य का संयोग होने से ही चेतनता का उन्मेष होता है, अन्यथा उक्त देह स्वतः अचेतन अथवा शव के सदृश है।

श्रीभगवान् का विग्रह-शरीर चित् के सम्बन्ध से चेतन नहीं है, कारण आप, चिदेकरस हैं, अर्थात् चिद्भिन्न आपमें अपर कुछ भी नहीं है। सच्चिदानन्द का स्वरूप, शरीर भी सच्चिदानन्दमय है। सदा सर्वक्षण ही वह जीवित है, इस प्रकार नित्य चिद्भाव ही वैलक्षण्य पूर्ण है। नित्य आनन्द चिद्रूप श्रीभगवान् की मूर्त्ति की भजनीयता भी युक्ति सङ्गत है।

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीभगवान् को बोली थी ॥४९॥

सम्प्रति श्रीभगवान् के नाम-रूप के सम्बन्ध में विधि निषेध श्रुति को अवलम्बन कर परस्पर विवाद परायण व्यक्तिगण के समक्ष में उक्त श्रुत्यादि से नाम-रूप ही प्रतिपादित होते हैं, उसको दर्शाते हैं। यथा —"उपासनादि योगशास्त्र में एवं सांख्यादि ज्ञानशास्त्र में अभिहित एक ब्रह्मनिष्ठ "अस्ति, नास्ति" उभय विरुद्ध धर्म के विवाद से प्रतीत बृहत् ब्रह्म ही विवाद का आस्पद होते हैं। पादादि विधिनिषेध भी अधिष्ठानभूत एक वस्तु को अवलम्बन करके ही होता है। सुतरां उक्त पादादिमत् स्वरूप ही अनुकूल है।"

अनामरूप श्रुति का तात्पर्य्य—अप्राकृत नामरूप में है। अर्थात् "अस्ति" इस शब्द का प्रतिपादक स्थूल उपासना शास्त्र है, उसमें श्रीभगवान् के नामरूप विशिष्ट होने का संवाद है। दृष्ट वस्तु में कल्पना लाघव होने से, घट-पटादि अखिल नामधेयत्व एवं पाताल पादादित्व का प्रकाश श्रुति से ही हुआ है। "नास्ति" शब्द सांख्य ज्ञानशास्त्र में उक्त है। सुतरां उपासना के निमित्त विराट् रूप की कल्पना हुई है, और उसमें पातालादि को पाद रूपमें कहा गया है। इससे निषेध श्रुति का भिन्न तात्पर्य्य ग्रहण अवश्य करना होगा, प्रापञ्चिक नामरूप कल्पित होने से भी ब्रह्म के नामरूप, कल्पित नहीं है, इस प्रकरण में वह सुसिद्ध हुआ।

इत्यादिना च; अस्तीति नास्तीति च वस्तुनि निष्ठा ययोस्तमेव विवादं स्फुटयति—भिन्नौ अस्तीति नास्तीत्येवम्भूतौ विरुद्धौ धर्मौ ययोस्तयोः। नन्वास्तामनयोर्भिन्नविषयत्वम्; नेत्याह—एकस्थयोः समानविषययोः। तदेवं विवादे सति तयोर्यत् किञ्चित् समं समञ्जसत्वेनैव अवेक्षितं प्रतीतं वस्तु तद्द्वयोरपि वृहन्महदनुकूलं भवति। किं तत् समञ्जसम्, यत् परं नाम-रूपादत्यन्त-तदभावाच्च विलक्षणम्, यत्र युगपन्नामरूपित्वमनामरूपित्वमपि वक्तुं शक्येत, तद्-विलक्षणं किमपि नामरूपलक्षणमेव वस्त्वित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—एकस्मिन्नेव वस्तुनि नामरूपित्वविधिनिषेधाभ्यां परस्परं श्रुतयः पराहतार्थाः स्युः। अत्र तु परत्वेनोभयत्रापि प्राक्तनयुक्त्या समञ्जसमप्राकृतनामरूपित्वमेव विधिनिषेधश्रुतितात्पर्य्येणोपस्थाप्यत इति तत्तन्मतं विवादमात्रम्। इत्थमेवात्र श्रीध्रुवेण निर्विवादत्वमुक्तम् (भा० ४।९।१३)—

"तिर्य्यङ्नगद्विज-सरीसृपदैत्यदेव,-मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं, नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः" ॥२०५॥

अत्र रूपशब्दस्यैवोभयत्र विशेष्यत्वेन, (वि०पु० ६।७।४७) "भूप मूर्त्तममूर्त्तञ्च पराञ्चापरमेव च" इति वैष्णववाक्यानुसारेण च, अतःपरं चतुर्भुजादित्वलक्षणं रूपं वपुरित्यर्थः। तच्चाग्रे

सर्वसम्वादिनी

इत्यनेन "विद्वदनुभवः," "शब्द्यते" इत्यनेन 'शब्द'श्चेति।

तदेतत् सर्वसम्वादेन प्रकरणमारभ्यते,—(मूले ६म अनु०) "अथ सा भगवत्ता च नारोपिता" इत्यादिना। अथ श्रीविग्रहस्य पूर्णस्वरूपभूतत्व-स्थापक-प्रकरणारम्भे पञ्चविंश-वाक्यस्यानन्तरावतारिकायां (२६शअनु०) "तदेवमैश्वर्य्यादि" इत्यादावेवं वेदान्ता विचारणीयाः।—

अनुवाद—

इस प्रकार उभय मत की उत्थिति के पूर्व में अनुरूप उक्ति भी है,—"आप सर्वनामा हैं, आप विश्वरूप हैं।" "जो जो वाक्य से अभिहित एवं बुद्धि में व्यवस्थित हैं" इत्यादि वाक्य में भी ब्रह्म की उभयास्पदता उक्त हैं। अतएव "अस्ति, नास्ति" उभय की निष्ठा जिस वस्तुमें है, वह ही "अस्तिनास्ति" का आस्पद है।

यहाँ उभय विरुद्ध धर्म का विषय भेद स्वीकृत नहीं हो सकता है। कारण "एकस्थयोः" इस वाक्य में विरुद्ध उभय का समविषयत्व व्यवस्थापित हुआ है। एवम्बिध विवाद स्थल में जिससे उभय मत का सामञ्जस्य रक्षित हो वह ही महदनुकूल रूपमें उभय के द्वारा गृहीत होता है।

उक्त सामञ्जस्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा के उत्तर में उक्त है, 'परं' नामरूप एवं नामरूप का अत्यन्त अभाव से जो विलक्षण है, वह ही "पर" अर्थात् जिसमें युगपत् 'नामरूपित्व, अनामरूपित्व' उभय विरुद्ध धर्म का उल्लेख होता है। एवम्प्रकार नाम, रूप सम्पन्न वस्तु को जानना होगा। एक वस्तु में नाम, रूप की विधि एवं निषेध के द्वारा परस्पर श्रुतिसमूह का अर्थ पराहत होता है। सुतरां यहाँ विलक्षण वस्तु रूपमें पूर्वोक्त युक्त्यनुसार उभय श्रुति का सामञ्जस्य की रक्षा करके अप्राकृत नामरूप के सम्बन्ध में विधि एवं प्राकृत नाम, रूप के सम्बन्ध में निषेध ही श्रुति के तात्पर्य्यानुसार उपस्थापित हुआ है। यथा,— "हे अज! तिर्य्यक्, नग, द्विज, सरीसृप, देव, दैत्य एवं मर्त्यादि रूप में, महदादि अनेक आकारों में व्याप्त सदसद् से विलक्षण आपका विराट् रूपको जानने में सक्षम हूँ। किन्तु हे परम! इसके बाद शब्द व्यापार का अतीत आपके ईश्वर स्वरूप का तत्त्व अवगत होने में अक्षम हूँ।"

इस श्लोकस्थ उभयत्र रूप शब्द का विशेष उल्लेख भी विष्णुपुराण में है—"हे भूप! उनका रूप एवं

दर्शयिष्यते। तन्न वेद्मि, एतत्पर्य्यन्तं कालं नाज्ञासिषमित्यर्थः। तदेव-व्यनक्ति (भा० ४।६।३३)—

"योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल,-मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि,-र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु" ॥२०६॥

यो नामरूपरहित एव नामानि रूपाणि च भेजे प्रकटितवान्, जन्मकर्मभिः सह तानि च प्रकटितवानित्यर्थः। व्यतिरेके दोषमाह—अनन्तः। यदि तस्मिन्नामरूपित्वादिकं नास्ति, तर्हि तच्छक्तिमत्त्वं प्रति सान्तत्वमेव प्रसज्येतेति। तदुक्तं प्रचेतोभिः (भा० ४।३०।३१)—"न ह्यन्तो त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे" इति। तत्तत्प्रकाशने हेतुः—भगवान् भगात्मकशक्तिमान्। तस्याः शक्तेर्मायात्वं निषेधति—परमः पराख्यशक्तिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्मिन्; अन्यथा परमत्वव्याघातः स्यादिति भावः;

"तस्मान्न मायया सर्वं सर्वमैश्वर्य्यसम्भवम्। अमायो हीश्वरो यस्मात्तस्मात्तं परमं विदुः" ॥२०७॥

इत्युक्तेः। ननु सर्वनाम-विश्वरूपत्वे तद्राहित्ये च सन्त्येव तत्तदुपासकाः प्रमाणम्। अत्र तु के स्युरित्याशङ्क्याह—पादमूलं भजतामनुग्रहार्थमिति। योगसांख्ययोस्तत्तत्त्वं न सम्यक्

सर्वसम्वादिनी

ननु तस्यारूपत्वमेव वेदैः प्रस्तूयते—(बृ० ३।८।८) "अस्थूलमनणु" इत्यादिभिः, (श्वे० ३।१९)
"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुराद्यं पुरुषं महान्तम्" ॥६०॥

अनुवाद—

अरूप, पर एवं अपर" इत्यादि श्लोकोक्त रूप अथवा मूर्त्तिमत्त्व के सम्बन्ध में विशेष्य निर्देश ही दृष्ट होता है। सुतरां उभयत्र वाक्य की सुसङ्गति होती है। इसके बाद "आपका चतुर्भुज द्विभुजादि नित्यरूप—श्रीविग्रह (रूप शब्द का श्रीविग्रह अर्थ है, इसका प्रकाश आगे होगा) हैं, अभी तक उसको जान नहीं पाया। यहाँ पर इसका ही प्रकाश हुआ है।

हंस गुह्य स्तव में वर्णित है—"अनन्त अचिन्त्य ऐश्वर्य्य श्रीभगवान् हैं, जो प्राकृत नाम रूपातीत होकर भी, पादपद्म भजन परायण भक्तगण को कृपा करने के लिए विशुद्ध सत्त्वोर्जित रूप एवं कर्मानुरूप नाम को प्रकट करते हैं। उन परमपुरुष मेरे प्रति प्रसन्न होवे।" अर्थात् जो नाम रूप रहित होकर भी स्वीय जन्म एवं कर्म के सहित नाम रूप को प्रकट करते हैं। कारण—अनन्त; उनमें नाम रूप का असद्भाव करने से उनकी शक्तिमत्त्वा के प्रति सान्तत्व दोष होता है।

प्रचेता की उक्तिमें अनन्त पदका सुस्पष्ट अर्थ व्यक्त हुआ है। यथा—"जिनकी विभूति का अन्त नहीं है, उनको ही अनन्त कहा जाता है।" सुतरां नामरूप के असद्भाव से विभूति का सान्तत्व होना अनिवार्य्य है।

रूप नामादि प्रकाश सम्बन्ध में हेतु,—भगवान् अर्थात् भगात्मक शक्तिमान् हैं, उक्त शक्ति का मायात्व निषेध के लिए "परम" पद सन्निविष्ट हुआ है। अर्थात् पराख्य शक्तिरूपा "मा" लक्ष्मी जिनमें विद्यमान है, उनको ही परमपद से कहा जाता है। अन्यथा परमपद का व्याघात होगा। "अतएव परमब्रह्म का कोई भी कार्य्य मायिक नहीं है। समस्त ही तदीय ऐश्वर्य्य सम्भूत हैं, आप अमायी हैं, ईश्वर हैं, अतः उनको परम शब्द से अवगत होना है।" इत्यादि अनुकूल उक्ति दृष्ट होती है।

यहाँ आशङ्का हो सकती है कि—समस्त नाम के सद्भाव एवं असद्भाव में उनके उपासकगण ही प्रमाण हैं। यहाँ उपासक कहाँ है, इस प्रकार आशङ्का भी नहीं हो सकती है। कारण—पादमूल का प्रकट, भजनकारियों के प्रति अनुग्रहार्थ ही करते हैं। योग, सांख्यादि के द्वारा भगवत् तत्त्व सम्यक् प्रकाशित

प्रकाशते, किन्तु भक्तावेव; (ब्र०सू०,मध्व-भा० ३।३।५४ माठर-श्रुतिः) "भक्तिरेवैनं नयति,भक्तिरेवैनं दर्शयति"इत्यादिश्रुतेः। तस्माद्युक्तं तयोर्विवादमात्रत्वमिति भावः। अतएव वक्ष्यतेऽनन्तरमेव (भा० ६।४।३५-३६)—"इति संस्तुवतस्तस्य स तस्मिन्नघमर्षणे।

प्रादुरासीत् कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः ॥२०८॥
कृतपादः सुपर्णांसे" इत्यादि।

"पादमूलं भजताम्" इत्यनेन तान् प्रति रूपप्राकट्यात् पूर्वमपि रूपमस्त्येवेति व्यञ्जितम्; (म०न० ५।१०)"चरणं पवित्रं विततं पुराणम्" इत्यादि श्रुतेः। भेज इत्यतीतनिर्द्देशः प्रामाण्य-दार्ढ्यायानादित्वं बोधयति। अनन्तपदस्य च नामानि रूपाणि चानन्तान्येवेति भावः। अत्र (भा०टी० ६।४।३३) "प्राकृत-नाम-रूपरहितोऽपि" इति टीका च॥ दक्षः श्रीपुरुषोत्तमम्॥

५१। तदेवं नित्यत्वाद्विभुत्वात् सर्वाश्रयत्वात् स्थूल-सूक्ष्म-प्राकृतवस्त्वतिरिक्तत्वात् प्रत्यग्रूपत्वात् स्वप्रकाशत्वात् सर्वश्रुतिसमन्वयसिद्धत्वात्तद्रूपं परमतत्त्वरूपमेवेति सिद्धम्। तथैव हि परमवैदुष्येणानुभूतं स्पष्टमेवाह त्रिभिः (भा० ३।९।२४)—

"रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन, शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं, यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥२०९॥

सर्वसम्वादिनी

इत्यादिभिश्च? उच्यते।—तस्य स्वरूपभूत-सर्वशक्तित्व-स्थापनया रूपस्यापि सिद्धिः श्रुतिलब्धैवेति। किञ्च, (छा० ३।१३।७) "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" इत्यत्र ज्योतिः-शब्देनैव प्रसिद्धं ब्रह्म; ब्रह्मत्वञ्चास्य प्रकरणबलात् सूत्रकृद्भिः साधितम्। ततस्तस्य ज्योतिष्ट्वे सति रूपित्वमेव सिध्यति।

अनुवाद—

नहीं होता है, "भक्ति ही भगवद् दर्शन कराती है।" इत्यादि श्रुति ही उसका प्रमाण है। अतएव परस्पर उभय मतीय विवाद असङ्गत नहीं है, वह तत्त्व प्रकाशक है। अनन्तर परवर्त्ती श्लोक में उक्त है—"इस प्रकार दक्ष के द्वारा स्तुत होकर अघमर्षण भक्तवत्सल भगवान् गरुड़ में आरोहण कर उनके सम्मुख में प्रकट होकर दर्शन दिये थे।" पूर्व श्लोकमें "पादमूलं भजतां" इस प्रकार कथन से जिस समय भगवान् प्रकट होकर दर्शन दिए थे, उसके पहले भी उनका रूप—हस्तपदादि विशिष्ट विग्रह था, वह भी व्यञ्जित हुआ है। "चरणं पवित्रं" इत्यादि श्रुति भी उसका परिचायक है, एवं "भेजे" इस पद से अतीत काल निर्देश के द्वारा अतीत कालमें भी श्रीविग्रह का सद्भाव था, उसको सूचित करने के लिए अनादित्व बोधित हुआ है। स्वामिपाद भी स्वीय टीका में "प्राकृत नाम रूप रहित होने से भी" इस प्रकार कथन के द्वारा नित्य अप्राकृत विग्रह अङ्गीकार किए हैं।

श्रीभगवान् के प्रति दक्ष महाशय की यह उक्ति है ॥५०॥

भगवद्रूप का परतत्त्वत्व। पूर्वोक्त शास्त्रयुक्ति के अनुसार नित्यत्व, विभुत्व, सर्वाश्रयत्व, स्थूल, सूक्ष्म-प्राकृत वस्तु से अतिरिक्तत्व प्रत्यग्रूपत्व, स्वप्रकाशत्व, सर्व श्रुति समन्वय सिद्धत्व से श्रीभगवान् के रूप-विग्रह,—परमतत्त्वभूत नित्य विग्रह है, यह निर्णीत हुआ। सम्प्रति वैदुष्य के द्वारा स्पष्टानुभव को दर्शाते हैं, अर्थात् ज्ञानीश्रेष्ठ ब्रह्मा श्रीभगवद्विग्रह को दर्शन कर कृतकृतार्थ होकर जो कहे थे, वह इस प्रकार है—"अवबोध रस का उदय से नित्य निवृत्ततम, अवतारसमूह का बीजस्वरूप—आपका रूप,—विग्रह का

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप,-मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्, भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥२१०
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय, ध्याने स्म नो दरशितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं, योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥२११॥

टीका च—"ननु त्वमपि सम्यङ् न जानासि, यत्त्वया दृष्टं रूपमेतदपि गुणात्मकमेव, निर्गुणं ब्रह्मैव तु सत्यम्? तत्राह—रूपमिति द्वाभ्याम्। अवबोधरसोदयेन चिच्छक्त्याविर्भावेन शश्वन्निवृत्तं तमो यस्मात्तस्य तव यदेतद्रूपम्, त्वयैव स्वातन्त्र्येण सतामुपासकानामनुग्रहाय गृहीतमाविष्कृतम्; अवतारशतस्य शुद्धसत्त्वात्मकस्य यदेकं वीजं मूलम्; तत्प्रदर्शनार्थं गुणावतारवीजत्वं दर्शयति—यन्नाभीति। हे परम! अविद्धवर्च्चोऽनावृतप्रकाशम्, अतोऽविकल्पं निर्भेदमतएवानन्दमात्रम्। एवम्भूतं यद्भवतः स्वरूपं तत्, अतो रूपात् परं भिन्नं न पश्यामि, किन्तु इदमेव तत्; अतः कारणात् ते तव अद इदं रूपमाश्रितोऽस्मि। योग्यत्वादपीत्याह—एकमुपास्येषु मुख्यम्, यतो विश्वसृजम्, अतएव अविश्वं विश्वस्मादन्यत्। किञ्च, भूतेन्द्रियात्मकं

सर्वसम्वादिनी

ननु (वृ० ४।३।५) "वाचैवायं ज्योतिषास्ते," (तै०ब्रा० १।६।३।३) "मनो ज्योतिर्जुषताम्" इत्यादि-दर्शनान्नात्र तच्छब्दश्चक्षुरनुग्राहके तेजसि वर्त्तते। किं तर्हि? यद्यस्यावभासकम्, तदेव तत्र ज्योतिरुच्यत इति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यमात्रस्य सर्वविभासकत्वाज्ज्योतिष्ट्वम्? सत्यम्; यद्यपि तत्स्वरूपत्वादपि ज्योतिष्ट्वं

अनुवाद—

आविष्कार उपासकगण को कृपा करने के लिए ही आपने किया है, एवं जिसके नाभिकमल से मैं आविर्भूत हुआ हूँ। हे परम! आप विश्वस्रष्टा हैं, अतएव विश्व से भिन्न होकर भी स्थूल सूक्ष्म महाभूत, इन्द्रिय, देवताओं के कारणभूत—इस रूप को, अनावृत प्रकाश, निर्भेद, आनन्दमात्र स्वरूप आपसे मैं भिन्न नहीं मानता हूँ। तज्जन्य मैं आपका रूप, विग्रह का ही आश्रय ग्रहण करता हूँ। हे भुवनमङ्गल! उपासकगण के प्रति मङ्गलप्रदान के निमित्त ध्यानसे वशीभूत होकर जिस मूर्त्तिमें आप दर्शन देते हैं। निरीश्वर कुतर्कनिष्ठ नारकीजन जिसका अनादर करता है, हे भगवन्! मैं आपकी उन मूर्त्ति को बारम्बार प्रणाम करता हूँ।"

उक्त श्लोकत्रय की स्वामिपादकृत टीका,—"प्रथमतः आशङ्का करते हैं—ब्रह्म! तुम भी मेरा सम्यक् तत्त्व को नहीं जानते। कारण—मेरा यह दृष्ट रूप इस प्रकार ही है। यह गुणात्मक ही है, गुणातीत ब्रह्म ही सत्य है। इस प्रकार आशङ्का अपनोदन करने के लिए ब्रह्मा को उक्ति है, "रूपम्" इत्यादि श्लोकों की अवतारणा अवबोधरस के उदय से नित्य निवृत्त हुआ है तमः, अर्थात् औपाधिक सम्बन्ध जिससे होता है। इस प्रकार आपका रूप है, सम्पूर्ण स्वाधीन होने पर भी उपासकों को अनुग्रह करने के लिए ही उक्त रूप आविष्कृत हुआ है। शुद्धसत्त्वात्मक अवतारसमूह का जो एकमात्र मूल वीज है। उक्त अवतारसमूह का मूलत्व प्रदर्शन के निमित्त कहते हैं, उक्त रूप गुणावतारों का भी मूल वीजभूत है। जिनके नाभिपद्म से इत्यादि। हे परम! अविद्धवर्च्च—अनावृत प्रकाश, अविकल्प—निर्भेद विकल्पशून्य, अतएव आनन्दमात्र, एवम्भूत आपका रूप है, रूप के सहित आपका कुछ भी पार्थक्य नहीं हैं। जिस प्रकार आप सच्चिदानन्दमय हैं, स्वतन्त्र हैं, आपका रूप भी स्वतन्त्र सच्चिदानन्द है, इस प्रत्यक्ष परिदृष्ट मूर्त्ति ही आप हैं। तज्जन्य मैं उन रूप, मूर्त्ति की शरण ले रहा हूँ। इस श्रीमूर्त्ति के शरणापन्न होने की विशेष योग्यता भी है, कारण—उपास्यगण के मध्य में आप ही मुख्य हैं। कारण—आप विश्वस्रष्टा हैं। सुतरां आप

भूतानामिन्द्रियाणाञ्चात्मानं कारणमित्यर्थः। नन्वेवमपि सोपाधिकमेतदर्वाचीनमेवेत्याशङ्क्याह—तद्वै तदेवेदं हे भुवनमङ्गल यतस्ते त्वया नोऽस्माकमुपासकानां मङ्गलाय ध्याने दर्शितम्, न ह्यव्यक्तवर्त्माभिनिवेशितचित्तानामस्माकं त्वया सोपाधिकं दर्शनं दातुं युक्तमिति भावः। अतस्तुभ्यं नमोऽनुविधेम, अनुवृत्त्या करवाम। तर्हि किमिति केचिन्मां नाद्रियन्ते, तत्राह—योऽनादृत इति, असत्प्रसङ्गैर्निरीश्वरकुतर्कनिष्ठैः" इत्येषा।

अत्र कल्पितमप्यर्थान्तरं तस्य विद्वद्गणगुरुत्वान्न सम्भवत्येवेति व्यञ्जितम्, न ह्यव्यक्तवर्त्मेति। उक्तं चैतत् स्तुतितः प्राक्, (भा० ३।८।३३) "अव्यक्तवर्त्माभिनिवेशितात्मा" इति; (भा० दी० ३।९।४) "मां नाद्रियन्ते" इति विग्रहरूपं मामित्येवार्थः, विग्रहस्यैव परब्रह्मत्वेन स्थापितत्वात्। अतएव ये विग्रहमेतादृशतया न मन्यन्ते, ते विद्वदनुभवविरुद्धमतयो नेश्वरमपि मन्यन्त इत्यत आह—"निरीश्वर" इति। यत एव (भा० ३।९।५)—

"ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं, जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां, नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम्"॥२१२

इत्यनन्तरपद्ये तु-शब्देन योऽनादृत इत्याद्युक्तेभ्यो बहिर्मुखजनेभ्यो विलक्षणत्वेन निर्दिष्टानां

सर्वसम्वादिनी

भवेत्, तथापि प्रसिद्धार्थं यज्ज्योतिष्ट्वम्, तदपि तस्यावगम्यते,—श्रुत्यन्तरात्। तथा हि (कठ० २।२।१५, मु० २।२।११, श्वे० ६।१४)—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥६१॥

अनुवाद—

विश्वातीत हैं। कारण—स्रष्टा और सृज्य वस्तु एक नहीं है। आप विश्व से पृथक् हैं। अर्थात् समस्त भूत एवं इन्द्रियों का कारण हैं। अतएव, गुणातीत हैं, आज जिस मूर्त्ति का दर्शन मैं कर रहा हूँ। वह क्या सोपाधिक है? इस प्रकार अर्वाचीन आशङ्का परिहार के निमित्त कहते हैं, वैसा नहीं है। कारण आपकी मूर्त्ति आपका स्वरूपभूत है। हे भुवन मङ्गल! मादृश उपासकगण के मङ्गल निमित्त ध्यान में आपने मूर्त्ति को प्रकट की है। अव्यक्त ब्रह्म में अभिनिविष्ट चित्त मादृश व्यक्ति उस मूर्त्ति को सोपाधिक मानकर दर्शन कर नहीं सकता। सुतरां वह सोपाधिक नहीं है। अतएव हे भगवन्! मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। यहाँ भगवान् आशङ्का करते हैं कि—उनको लोक अनादर क्यों करते हैं? उत्तर में कहते हैं—"योऽनादृत" इत्यादि, अर्थात् निरीश्वर कुतर्कनिष्ठ व्यक्तिगण असत् तर्क की अवतारणा करके श्रीभगवान् के विग्रहादि में अनास्था प्रकट करते हैं। स्वामिपाद का यह ही अभिप्राय है।

यहाँ कल्पित अर्थान्तर की सम्भावना नहीं हो सकती है। विद्वद्गण वरेण्य श्रीब्रह्माजी ने जो कुछ अनुभव स्वयं किया है उस को, एवं अव्यक्त तत्त्व में अभिनिविष्ट चित्त का फल को भी सुस्पष्ट रूप में कहा है। भगवान् ब्रह्मा के निकट श्रीविग्रह रूपमें प्रकट थे। ब्रह्मा ने भी उन मूर्त्ति को ही परब्रह्म माना था। अतएव जो श्रीभगवद्विग्रह को नहीं मानता है, वह विद्वदनुभव मत का विरोधी है। तज्जन्य स्वामिपाद "निरीश्वर" शब्द का प्रयोग किए हैं। कारण उक्त है—हे नाथ! जो श्रुत्यादि समीरण प्रवाहित आपके चरण कोष के गन्ध का आघ्राण प्राप्त करता है, उसके हृदयमें भक्ति सन्निविष्ट होती है, उस भक्ति से गृहीत चरण होकर आप उसके हृदय से विदूरित हो नहीं सकते हैं। अर्थात् उसके हृदय में आप निरन्तर निवास करते हैं।

ताद्दश-श्रीभगवद्रूपनिष्ठानामेव श्रुतिवातनीतमितिशब्देन प्रमाणेन भक्त्या गृहीतचरण इत्यनुभवेन च प्राशस्त्यमुक्तम् ॥ श्रीब्रह्मा श्रीनारायणम् ॥

५२ । एवञ्च, आवेशावतारतया प्रतीतस्य श्रीऋषभदेवस्यापि विग्रह एवं योज्यते, यथा (भा० ५।५।१९)—"इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, तत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरा,-दतो हि मामृषभं प्राहुरार्य्याः" ॥२१३॥

इदं मनुष्याकारशरीरं हि निश्चितं दुर्विभाव्यं दुर्वितर्कंच यत्तत्त्वं तदेव । यत्रैव धर्मो भागवतलक्षणस्तत्रैव मे हृदयं मनः । यद्यस्मात्तद्विपरीतादिलक्षणोऽधर्मो मया पृष्ठे कृतः, ततः पराङ्मुखोऽहमित्यर्थः। अतएव वक्तुरस्य श्रीऋषभदेवस्य च सर्वान्तिमलीलापि व्याजेनान्तर्द्धानमेव प्राकृतलोकप्रतीत्यनुसारेणैव तु तथा वर्णितम्, आत्मारामता-रीति-दर्शनार्थम् । तदुक्तम् (भा० ५।६।६)—"योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन्" इति। अतः "स्व-कलेवरं जिहासुः" इत्यत्र कलेवर-शब्दस्य प्रपञ्च एवार्थः; उपासनाशास्त्रे तस्य तथा प्रसिद्धेः। तथा (भा० ५।६।८) "अथ समीरवेगविधूतवेणु-सङ्घर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह" इत्यस्य वास्तवार्थे तु तेन सहेति कर्त्तृसाहाय्ये तृतीया । गौणमुख्य-

सर्वसम्वादिनी

इति समामनन्ति । अत्र तेजः-स्वभावानां सूर्यादीनां तत्र भासप्रतिषेधात् पूर्ववज्ज्योतीरूपत्वमेवोपपद्यते,—सूर्य्येऽवभासमाने चन्द्रतारकादि न भासत इतिवत् । एवं समानस्वभाव एवानुकार-दर्शनाच्च तद्रूपत्वमेव,—गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत् । यत्तु "वह्निं दहन्तमनुदहति सुतप्तं लोहम्" इत्यत्र, "वायुं वहन्तं तमनुवहति रजः" इत्यत्र चान्यथात्वम्, तत्रापि दहन-वहन-क्रिययोस्तत्रैव मुख्यत्वमिति । ब्रह्मण्यपि ताद्दशज्योतिष्ट्वस्य

अनुवाद—

इस श्लोकस्थ "तु" शब्द से श्रीभगवद्रूप में पराकाष्ठाप्राप्त जन की, "श्रुतिवातनीतम्" शब्द से शास्त्र प्रमाण की एवं "भक्त्या गृहीतचरणः" शब्द से अनुभव की श्रेष्ठता उक्त है । "योऽनादृत" शब्द से भगवद् विमुख व्यक्ति से श्रीभगवद्भजनकारी व्यक्ति की श्रेष्ठता सूचित हुई है ।

ब्रह्मा श्रीनारायण को कहे थे ॥५१॥

श्रीऋषभदेव का देह अप्राकृत था। श्रीनारायण की कथा तो दूसरी है, आवेशावतार रूपमें प्रतीत श्रीऋषभदेव का विग्रह भी उस प्रकार निरुपाधिक नित्य चिद्विग्रह है । उदाहरण—"मेरा यह मनुष्याकार शरीर अवितर्क्य है, कारण—यह देह मेरी इच्छा से गृहीत है । विशुद्ध सत्त्वमयत्व के कारण इसमें धर्म अधिष्ठित है । कारण मेरे द्वारा अधर्म विदूरित हुआ है । तज्जन्य आर्य्यगण मेरा नामकरण "ऋषभ" किए हैं ।" अर्थात् मनुष्याकार यह शरीर दुर्विभाव्य (तर्कातीत) तत्त्व स्वरूप हैं । जहाँ भागवत लक्षण धर्म है, वहाँ ही मेरा हृदय है । अर्थात् भागवत धर्म ही मेरा हृदय है, जहाँ से उसका विपरीत लक्षण अधर्म, मत् कर्त्तृक पराभूत-अपसारित हुआ है, अर्थात् मैं सर्वक्षण अधर्म पराङ्मुख हूँ । अतएव धर्मवक्ता ऋषभदेव की सर्वशेष अन्तिम लीला भी अन्तर्धान ही है । उसका छल पूर्वक वर्णन किया गया है, जिससे लोक की प्रतीति प्राकृत हो । अपर कारण—आत्मारामगण की शरीर त्याग रीति का प्रदर्शन करना है ।

"स्वीय कलेवर त्यागेच्छु" यहाँ कलेवर शब्द का सङ्गत अर्थ प्रपञ्च है, उपासना शास्त्र में 'प्रपञ्च' अर्थ में कलेवर शब्द का प्रयोग होता है ।

"वायुवेग से परिचालित होकर वृक्षादि सङ्घर्षजदावानल, समस्त वन को दग्ध किया, ऋषभदेव ने

न्यायेन कर्त्तर्य्येव प्राथमिकप्रवृत्तेः । ततश्च दावानलस्तद्वनवर्त्ति-तर्वादिजीवानां स्थूलं देहं ददाह, श्रीऋषभदेवस्तु सूक्ष्मं देहमिति तस्य सर्वमोक्षदत्वमनुसन्धेयम् । (भा० ६।११।२२)—

"स यै स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः" ॥२१४॥

इतिवत् । ततोऽनलसाधर्म्यं च वर्णयित्वा तद्वदन्तर्द्धानमेव तस्येति च व्यञ्जितम् । अतएव "ऋषभदेवाविर्भावस्तृतीयोऽध्यायः" इत्येवोक्तम्, न तु तज्जन्मेति ॥ श्रीऋषभदेवः स्वपुत्रान् ॥

५३ । तदेवं ऋषभदेवस्यापि विग्रहे तादृशता चेत्, किमुत स्वयंभगवत इत्याह (भा० १।६।४१)—"मुनिगण-नृपवर्य्यसङ्कुलेऽन्तः,-सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो, मम दृशि गोचर एष आविरात्मा" ॥२१५॥

टीका च—"एष जगतामात्मा मम दृशि गोचरो दृग्विषयः सन् आविः प्रकटो वर्त्तते । अहो मे भाग्यमिति भावः" इत्येषा ॥ श्रीभीष्मः श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

तथात्वम् । एवं तद्भासा सर्वस्य भासमानत्वेऽपि तद्रूपत्वं सिध्यति । अतएवानुभानमिति सिद्धम् ;— 'सूर्य्यमनुभान्ति रश्मयः" इतिवत्, न तु "दीपो दीपान्तरमनुभाति" इतिवद्विरुद्धम् । अतस्तस्य प्रसिद्धार्थं ज्योतीरूपत्वे सर्वपरत्वे च श्रुतिशब्देष्वेव सति किं नामान्यथा गति-क्रियया ?—(ब्र०सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इतिवत् ? तथा हि (छा० ३।१४।२)—"भारूपः सत्यसङ्कल्पः इति ; (मु० २।२।१०)

अनुवाद—

सूक्ष्म देह को दग्ध किया था । ऋषभदेव का देह स्थूल का अतीत था, सुतरां आपने अग्नि की सहायता की, उनका देह दग्ध नहीं हुआ, यह ही यहाँ का तात्पर्य्य है ।

कारण—आपने जब सबको मुक्ति दी है, तब जिनकी शक्ति मोक्षदायिनी है, वह निज देह को दग्ध करने के लिए सामान्य वह्नि की अपेक्षा नहीं करता है । उनके साहचर्य्य से बनस्थ वृक्षादि जीववर्ग स्थूल देह परित्याग किए थे ।

श्रीरामचन्द्र का बनवास प्रसङ्ग में जाना जाता है कि—"जो भी उनका दर्शन किए थे, स्पर्श किए थे, आप जहाँ उपवेशन किए थे, जो लोक उनके अनुगमन किए थे, वे सब कोशलवासी जनगण देहमुक्त होकर योगिगम्य स्थान को प्राप्त किए थे ।"

अतएव यहाँ अनल का साधर्म्य वर्णन के द्वारा अन्तर्धान ही व्यञ्जित हुआ है । एतज्जन्य अध्याय के अन्तिम में "ऋषभदेवाविर्भावरूप तृतीय अध्याय" लिखित है । किन्तु उनका 'जन्म' इस प्रकार उक्त नहीं है । यह उपदेश स्वीय पुत्रगण को श्रीऋषभदेव किए थे ॥५२॥

भगवद्विग्रह की जगत् पूज्यता । जब ऋषभदेव के विग्रह के सम्बन्ध में इस प्रकार अप्राकृत विग्रह वर्णित है, तब साक्षात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के विग्रह के सम्बन्ध में अपर वक्तव्य क्या हो सकता है ! श्रीभगवान् के विग्रह को लक्ष्य करके श्रीभीष्मदेव की उक्ति इस प्रकार है । यथा—"युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मुनिगण एवं नृपश्रेष्ठगण के सभा मध्य में जो मुनिश्रेष्ठगण कर्त्तृक "अहो ! कीदृश मनोहर रूप, कीदृश आश्चर्य्य महिमा" इस प्रकार अभिहित एवं आश्चर्य्य से विलोकित होकर पूजा प्राप्त किये थे, उन जगदात्मा श्रीकृष्ण, मेरी दृष्टि के सम्मुख में आकर साक्षात् प्रकटित हैं । अहो ! मेरा कैसा सौभाग्य है ।"

यहाँ स्वामिपाद ने कहा है—"स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विग्रह की जगत् पूज्यता का स्मरण कर श्रीभीष्म देव कहे थे ।, "आप जगदात्मा हैं, मेरे दृष्टिपथ के सम्मुख में प्रकट हुए हैं । यह मेरा स्वल्प भाग्य की

५४। तथैव च (भा० १०।३।२६) "रूपं यत्तत्" इत्यादौ "स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः" इति। यत्तत् किमपि रूपं वस्तु प्राहुर्वेदाः। किं तद्वस्तु ? तत्राह—अव्यक्तमित्यादि। एवम्भूतं किमपि कार्य्यकल्पं वस्तु यत्, स एव साक्षादक्षिगोचरस्त्वं विष्णुरिति। तथा च पाद्मे निर्माणखण्डे श्रीभगवन्तं प्रति श्रीवेदव्यासवाक्यम्—

"त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन। यत्तत् सत्य परं ब्रह्म जगद्योनिं जगत्पतिम्।
वदन्ति वेदशिरसश्चाक्षुषं नाथ मेऽस्तु तत्" ॥२१६॥ इति।

तत्र हेतुः—अध्यात्मदीपः, देहि-तत्कारणकार्य्य-सङ्घप्रकाशकत्वेनावभासमान इत्यर्थः। एवम्भूतस्य न तव भयशङ्केति भावः। इत्येष प्रकरणानुरूपः श्रीस्वामि-दर्शित-भावार्थोऽपि श्रीविग्रहपर एव, अन्यत्र भयसम्भावनानुपपत्तेः॥ श्रीदेवकी श्रीभगवन्तम्॥

सर्वसम्वादिनी

"हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः" ॥६२॥ इति।

ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति, ब्रह्मान्येन न व्यज्यते; (वृ० ४।३।६) "आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते," (वृ० ३।६।२६) "अगृह्यो न हि गृह्यते" इति; (वृ० ३।६।२६) "येन सूर्य्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च। तथा चोक्तम्—(गी० १५।१२) 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो बिद्धि मामकम्" ॥६३॥ इति।

अनुवाद—

कथा नहीं है।" इत्यादि।"

अतएव यहाँ दृष्ट होता है कि,—श्रीकृष्ण जिस विग्रहमें आये थे उक्त श्रीविग्रह ही जगदात्मा हैं। सुतरां वह विग्रह—सोपाधिक अथवा जीव कल्पित नहीं है, यह प्रतिपादित हुआ ॥५३॥

उस प्रकार देवकी देवी के वाक्य से भी प्रकाश हुआ है,—"तुम्हारे यह रूप" इस श्लोक में आपने कहा है, "वह तुम अध्यात्म दीप साक्षात् विष्णु हो"। कंस के भय से भीता देवकी पुत्र रूपमें आविर्भूत पुत्र की प्राण रक्षा हेतु अत्यन्त भीता हो गई थी। इस समय उनकी विभीषिका नहीं रही, आपने पुत्र के रूप की कथा ही कही है—वेदसमूह जिस रूप की कथा कहे हैं, वह क्या है? क्या अव्यक्तादि है? ना, एवम्भूत कार्य्यकल्प जो वस्तु है, वह विग्रह है, वह मेरे नेत्रगोचर में अवस्थित है। वह साक्षात् विष्णु तुम ही वेद की अभिहित वस्तु हो।

पद्मपुराण के निर्वाण खण्ड में श्रीभगवान् को व्यासदेव कहे थे—"हे मधुसूदन! मैं आपको नयनों से देखना चाहता हूँ। सत्य, परब्रह्म, जगद्योनि, जगत्पति इत्यादि नामों से वेद जिनकी वर्णना करते हैं, हे नाथ! उस सत्यस्वरूप परब्रह्म जगत्पति मेरे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होवे।"

यहाँ देवकी देवी के कथन के सहित वेदव्यास महोदय की प्रार्थना का ऐक्य विद्यमान है, उससे वेद प्रतिपाद्य वस्तु,—जो साक्षात् चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होती है, यह दिखाया गया है।

आज वह मूर्त्ति ही देवकी देवी के सम्मुख में उपस्थित है। तत्पक्ष में योग्यतम हेतु विन्यस्त है। "अध्यात्मदीप"—अर्थात् देही जीव, उसके कारण—कार्य्य सङ्घ का प्रकाशकत्व में जो नित्य अवभासमान हैं। सब को प्रकाशित कर रहें हैं। अतएव एवम्भूत जो तुम हो, तुम्हें भय की शङ्का नहीं है।

देवकी देवी की उक्ति अति समीचीन है। कारण, पुत्र विग्रह में भय की शङ्का होने से भी इस महापुरुष लक्षण पुत्र मूर्त्ति दर्शन से आप शुचिस्मिता हो गई थी, क्योंकि श्रीभगवान् ही आत्मज रूपमें मूर्त्तिमान् हैं। इस प्रकरण के अनुरूप स्वामिपाद प्रदर्शित भावार्थ मूलग्रन्थ को देखने से सब ही व्यक्ति समझ जायेंगे कि—आपने यहाँ को व्याख्या श्रीभगवान् के विग्रह पर ही की है। यदि इसका तात्पर्य्य अन्य प्रकार हो, तब भय शङ्का की अनुत्पत्ति नहीं होती। देवकी देवी भगवान् को बोली थीं ॥५४॥

५५। अतस्तदंशानामपि तादृशत्वमाह (भा० १०।१३।५४)—

"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्"॥२१७

टीका च—"सर्वेषां मूर्त्तिमत्त्वेऽप्यविशेषमाह—सत्यज्ञानेति। सत्याश्च ज्ञानरूपाश्च अनन्ताश्च आनन्दरूपाश्च ; तत्रापि तदेकमात्रा विजातीयसम्भेदरहिताः। तत्रापि च एकरसाः सदेकरूपा मूर्त्तयो येषां ते। यद्वा, सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद्ब्रह्म तदेव मूर्त्तिर्येषामिति। अतएवोपनिषत् आत्मज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि, हि निश्चितम्। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्याः, न स्पृष्टं स्पर्शायोग्यं भूरिमाहात्म्यं येषां ते तथाभूताः सर्वे व्यदृश्यन्तेति" इत्येषा। अत्र मात्रपदं तद्वर्णादीनां स्वरूपान्तरङ्गधर्मत्वं बोधयति। न ह्यत्रापरस्मिन्नर्थे मूर्त्तिशब्द केवलात्मपर इति स्वामिनः श्रीशुकदेवस्य वा मतम्, लक्षणायाः कष्टकल्पनामयत्वात्, अस्पृष्ठेत्यत्र अस्पृष्टेति भूरिमाहात्म्येति अपीति उपनिषद्दृगिति पदचतुष्टयस्यैव व्यस्तस्य समस्तस्य च सारस्यभङ्गप्रसङ्गात् उक्तप्रकरणानुरोधात्, (भा० ३।१५।३८) "तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्" इत्याद्युदाहरिष्यमाणानुसारात्, (भा० १२।१२।६९) "स्वसुख-" इत्यादि-

सर्वसम्वादिनी

तस्माद्रूपवदेव तदिति स्थितम्। (ब्र०सू० १।१।२४) "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यधिकरणे श्रीरामानुज-चरणाश्चैवमाचक्षते,—(ऋक्सं० १०म० ९०सू० ३म०; छा० ३।१२।६)

'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि'॥६४॥

इति प्रतिपादितस्य चतुष्पदः परम-पुरुषस्य (श्वे० ३।८) 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-,मादित्यवर्णं तमसस्तु

अनुवाद—

भगवदंश का नित्य विग्रहवत्त्व। अतएव उनके अंश मूर्त्ति के सम्बन्ध में 'तादृशता' 'अप्राकृत नित्य विग्रहत्व' को कहते हैं। यथा—"आत्मतत्त्वाभिज्ञ परम ज्ञानिगण भी जिनके सत्य ज्ञानानन्त आनन्दस्वरूप मूर्त्तिसमूह की महिमा नहीं जानते हैं।" स्वामिपाद उसके तात्पर्य्य में कहे हैं—"मूर्त्तिमत्त्व में सब का ही अविशेषत्व है. अर्थात् एक विधाता है। यथा,—सत्य, ज्ञानरूप, अनन्त, आनन्दरूप मूर्त्तिसमूह जिनकी है। जो तदेकमात्र है, विजातीय भेदरहित है, जो सदा एक रूपमें अवस्थित है, अथवा सत्य ज्ञानादि मात्र स्वरूप ही जो ब्रह्म हैं, वह ही उन सबकी मूर्त्ति हैं। अतएव उपनिषद् आत्मज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, उनके द्वारा भी अस्पृष्ट हैं, जिनके मूर्त्तिसमूह, एवम्भूत मूर्त्तिसमूह को देखे थे।"

यहाँ स्वामिपाद—पूर्ववर्त्ति श्लोक का तात्पर्य्य को अङ्गीकार कर—'ब्रह्म श्रीभगवान् के आंशिक मूर्त्ति समूह के सम्बन्ध में जो अनुभव किए थे' उसका उल्लेख किए हैं। आपने युगपत्—गोप बालक-वत्सगण को अनन्त चतुर्भूज मूर्त्ति में अवस्थित देखे थे। उसका वर्णन यह है—

तावत् सर्वे वत्सपालाः, पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्। व्यदृश्यन्त घनश्यामाः, पीतकौशेयवाससः॥"

भगवदंश की तादृशता। ब्रह्मा,—वत्स वत्सपाल, यष्टि विषाणादि समुदाय को ही चतुर्भुज मूर्त्ति में अवस्थित देखे थे। यहाँ के मात्र पदसे उनके वर्णादि का स्वरूपान्तरङ्ग धर्मत्व बोधित हुआ है। कारण, मात्र पद में लक्षणा करने से विशेष कष्ट कल्पना करनी होगी। अस्पृष्टादि पद—अर्थात् अस्पृष्ट भूरि माहात्म्य, अपि, एवं उपनिषद् दृक्—इस पद चतुष्टय का व्यस्तार्थ, अथवा समस्तार्थ का स्वारस्य भङ्ग प्रसङ्ग हेतु एवं ब्रह्मा के उक्ति विषयक प्रकरण के अनुरोध से भी यहाँ भिन्नार्थ हो नहीं सकता। "सनकादि मुनिगण उनकी समाधि का फलस्वरूप जिस ब्रह्म का दर्शन किये थे।" स्वामिपाद की टीका, यथा—

श्रीशुक-हृदयविरोधाच्च। अतएव (भा० १०।३७।२२) "विशुद्धविज्ञानघनं," (भा० १०।२७।११) "विशुद्धज्ञानमूर्त्तये," (भा० १०।१४।२२) "त्वय्येव नित्यसुखबोधतनौ" इत्यादिवाक्यानि च न लाक्षणिकतया कदर्थनीयानि। तथैव (भा० १०।४१।२८) "आनन्दमूर्त्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धम्" इत्यादौ (भा० १०।४८।७) "दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त,-मानन्दमूर्त्तिमजहादतिदीर्घ-तापम्" इत्यादौ च दर्शनालिङ्गनाभ्यामन्यार्थत्वं व्यवच्छिद्यते। उक्तञ्च महावाराहे—

"सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः। हेयोपादेयरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥२१८॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः। देहदेहिभिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्" ॥२१९॥ इति।

श्रीशुकः ॥

५६। इत्थमेवाभिप्रेत्याह (भा० १०।१४।५५)—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया" ॥२२०॥

एनं (भा० १०।१४।१) "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे" इत्यादिवर्णितरूपम्, अवेहि मत्प्रसादलब्ध-विद्वत्तयैवानुभव, न तु तर्कादिना विचारयेत्यर्थः। एवम्भूतोऽपि मायया कृपया जगद्धिताय

सर्वसम्वादिनी

पारे" इत्यभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्राकृतमिति। तद्वत्तया स एव ज्योतिःशब्दाभिधेय इति।

किञ्च, (छा० ८।१३।१) "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये", (तै० ३।१०।७) "सुवर्णज्योतिः" इति; (ब्र०सू० १।२।२३ माध्वभाष्यधृता श्रुतिः; तै० ३।१०।६) "तस्य हैतस्य चत्वारि रूपाणि शुक्लं रक्तं रौक्मं कृष्णम्" इति; (मु० ३।१।३)—"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इति; (ऐत० १।१।१) "स

अनुवाद—

"कथम्भूतम्"? "स्व-समाधिना भाग्यं भजनीयं फलं यद् ब्रह्म तदेवाक्षविषयम्" कुमारचतुष्टय वाक्य एवं अनुभव के अनुसार भी श्रीभगवद् विग्रह का अप्राकृत सच्चिदानन्दमयत्व ही प्रकटित हुआ है। "स्वसुख-निभृतचेताः" इत्यादि श्लोक में उक्त श्रीशुकदेव की हृदयनिष्ठा के अनुसार भी उक्त अर्थ ही सुसङ्गत है।

अतएव "विशुद्धविज्ञानघन, विशुद्धज्ञानमूर्त्ति, नित्य सुखबोधतनु आपमें" इत्यादि वाक्य की लाक्षणिक कदर्थना करना सर्वथा असङ्गत है।

अन्यत्र कथित है—"साक्षात् लब्ध आनन्दमूर्त्ति को आलिङ्गन करके" इत्यादि "आनन्दमूर्त्ति कान्त को बाहु द्वारा परिवेष्टन कर वक्षमें धारण कर बहुदिन से सञ्चित हृदय के ताप को विदूरित किये थे" इत्यादि पद्य में दर्शन आलिङ्गनादि से कल्पित अन्यार्थ का व्यवच्छेद किया गया है। महावराह पुराण में भी उक्त है—"परमात्मा श्रीभगवान् के समस्त देह ही नित्य, शाश्वत, हेयोपादान रहित हैं, उसमें प्रकृतिजात पदार्थ कुछ भी नहीं हैं, जो परमानन्दसमूह एवं ज्ञानमात्र स्वरूप हैं, देह-देही विभेद, ईश्वर में नहीं है। सर्वत्र ही अप्राकृत सच्चिदानन्द मूर्त्ति की कथा सुनी जाती है।" यह श्रीशुकदेव की उक्ति है ॥५५॥

इस अभिप्राय से उक्त है—"श्रीकृष्ण को तुम अखिलात्मा का परमात्मा जानना, श्रीकृष्ण जगत् के हित विधान हेतु निज अन्तरङ्गा मायाशक्ति से देही के समान प्रतिभात होते हैं।" पूर्ववर्त्ती "नौमिड्य ते" अर्थात् "जगत् पूज्य अभ्रवपु, आपको नमस्कार करता हूँ।" इत्यादि श्लोक में वर्णित रूप श्रीकृष्ण का ही है, भगवत् प्रसाद लब्ध ज्ञानवत्ता के द्वारा अनुभव करने में समर्थ हूँ। तर्कादि के द्वारा विचार कर जिसको जाना नहीं जाता है। कारण तर्कादि विचार से सम्यक् तत्त्व की स्फूर्त्ति नहीं होती है। एवम्भूत होकर भी जो स्वीय कृपाशक्ति से जगन्मङ्गल हेतु अर्थात् जगत्वासि सब के चित्त में निज श्रीमूर्त्ति

सर्वस्यापि स्वात्मनं प्रति चित्ताकर्षणाय देहीव जीव इव आभाति क्रीड़ति । इव-शब्देन श्रीकृष्णस्तु न जीववत् पृथग्देहं प्रविष्टवानिति च गम्यते । अतएव श्रीविग्रहस्य परमपुरुषार्थ-लक्षणत्वमुक्तं श्रीध्रुवेण (भा० ४।९।१७)"सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म,-माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्त्तेः" इति ; अत्र टीका च—"हे भगवन् ! पुरुषार्थः परमानन्दः, स एव मूर्त्तिर्यस्य तस्य तव पादपद्मम्, आशिषो राज्यादेः सकाशात् सत्या आशीः परमार्थफलं हि निश्चितम्। कस्य ? तथा तेन प्रकारेण त्वमेव पुरुषार्थ इत्येवं निष्कामतया अनुभजतः" इत्येषा ।।श्रीशुकः।।

५७। अतः शब्दप्रतिपाद्य यद्ब्रह्म तच्छ्रीविग्रह एवेत्युपसंहारयोग्यं वाक्यमाह (भा० ३।२१।८)—"तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः" ।।२२१।।

यद्वपुर्दधत् प्रकाशयन्नसौ शुक्लाख्यो भगवान् कृते युगे वर्त्तते, तदेव शब्दप्रतिपाद्यं ब्रह्म परमतत्त्वं तं कर्दमं प्रति दर्शयामासेत्यर्थः ।। श्रीमैत्रेयः ।।

५८। तदेवं सिद्धे भगवतस्तादृशे वैलक्षण्ये दृश्यत्वात् घटवदित्याद्यसदनुमानं न सम्भवति, कालात्ययोपदिष्टत्वात् । तदेतदभिप्रेत्य तस्मिन् सत्यतापुरष्कृतं षड़्भावविकाराद्यभावं

सर्वसम्वादिनी

ऐक्षत" इति ; (महाना० १।८) "सर्वेऽनिमेषा जज्ञिरे, विद्युतः पुरुषादधि" इति ; (तत्रैव १।११) "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" इति ; (कठ० १।२।२३) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति ; (ब्र०सू० २।२।४१—माध्वभाष्ये) "बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे,—बुद्धिमान् मनोवानङ्गप्रत्यङ्गवान्" इत्याद्यैः (ब्र०सू० ३।२।१५) 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्', (ब्र०सू० १।२।२३) "रूपोपन्यासाच्च"

अनुवाद—

की माधुर्य्यमय महिमा को उद्भासित कर जीववत् अवभात होते हैं, क्रीड़ा करते हैं ।

यहाँ "इव" शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण जीव के समान पृथक् देह में प्रविष्ट नहीं होते हैं । उनका स्वरूपभूत विग्रह ही अवभात होता है । विग्रह के सहित श्रीकृष्ण का विभेद नहीं है । अतएव श्रीविग्रह की परम पुरुषार्थ के सम्बन्धमें ध्रुव महाशय ने कहा, "हे भगवन् ! पुरुषार्थ मूर्त्तिस्वरूप आपका पादपद्म ही राज्यादि से भजनकारि का परमपुरुषार्थ फलस्वरूप है ।" टीका—"परमानन्द ही जिनकी मूर्त्ति है, उनके पादपद्म राज्यादि आशिष से भी सत्य आशीर्वाद है, अर्थात् परमार्थ फलस्वरूप है । हि,—निश्चित । किसका ? जो जन आपके पादपद्म को ही परमपुरुषार्थ मानकर निष्काम भाव से भजन करता है ।" स्वामिपाद के अभिप्राय से श्रीभगवान् के पादपद्म ही जब पुरुषार्थ का सार है, तब उनका श्रीविग्रह—अप्राकृत, नित्य आनन्दघन है, इसमें सन्देह नहीं है । श्रीशुकदेव की उक्ति है ।।५६।।

शुक्ल मूर्त्ति का अप्राकृतत्व । अतएव शब्द प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, वह ही श्रीविग्रह ही है । उपसंहार वाक्य से उसको दर्शाते हैं । "हे क्षत्तः ! सत्ययुग में पुष्कराक्ष श्रीभगवान् प्रसन्न होकर शब्दब्रह्ममय विग्रह में (कर्द्दम को) दर्शन दिये थे ।" अर्थात् जिस मूर्त्ति को प्रकट कर सत्ययुग में भगवान् "शुक्ल" नाम से प्रसिद्ध हुये थे, वह ही शब्दब्रह्म प्रतिपाद्य परब्रह्म हैं । श्रीविग्रह के सहित अभिन्नता ही यहाँ प्रतिपादित है । श्रीमैत्रेय महाशय विदुर को कहे थे ।।५७।।

पूर्ण स्वरूपत्व का स्थापन । पूर्वोक्त प्रकार से शब्द प्रतिपाद्य ब्रह्म का विग्रहवत्त्व प्रतिपादित होने से दृश्यत्व हेतु भगवान् में तादृश वैलक्षण्य सिद्ध हो, घटादि दृश्य वस्तुवत्, श्रीविग्रह में इस प्रकार असदनुमान की सम्भावना नहीं है । कारण वह हेतु कालात्यय में उपदिष्ट होने से दृश्यत्व हेतु ही नहीं हो सकता है ।

स्थापयन् पूर्णस्वरूपत्वमभ्युपगच्छति (भा० १०।१४।२३)—

"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः, सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः, पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः" ॥२२२॥

(भा० १०।१४।१) "नौमीड्य ते" इत्यादिना स्तुत्यत्वेन प्रतिज्ञात-रूपोऽयमभ्रवपुरादि-लक्षणस्त्वमेक एव सर्वेषामात्मा परमाश्रयः ; तदुक्तम् (भा० १०।१४।१८) "एकोऽसि प्रथमम्" इति, (भा० १०।१४।५५) "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इति च ; यतस्त्वमात्मा, तत एव सत्यः, परमाश्रयस्य सत्यतामवलम्ब्यैवान्येषां सत्यत्वात् त्वय्येव सत्यत्वस्य मुख्या विश्रान्तिरिति भावः ; तदुक्तम् (भा० १०।२।२६) "सत्यव्रतं सत्यपरम्" इत्यादि; (म०भा०उद्यम-प० ७०।१२)—

"सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् । सत्यात् सत्यञ्च गोविन्दस्तस्मात् सत्यो हि नामतः" ॥२२३॥

इत्युद्यमपर्वणि च। न च त्वयि जन्मादयो विकाराः सन्तीत्याह—आद्यः कारणम् ; (भा० १०।१४।१८) "एकोऽसि प्रथमम्" इत्यादौ तादृशत्वदृष्टेः। अतो न जन्म, किन्तु "प्रत्यक्षत्वं हरेर्जन्म न विकारः कथञ्चन" इति पाद्मरीतिकमेव । अतएव स्कान्दे—

"अविज्ञाय परं देहमानन्दात्मानमव्ययम् । आरोपयन्ति जनिमत् पञ्चभूतात्मकं जड़म्" ॥२२४॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

इत्यादौ माध्वभाष्यादि-प्रमाणितैर्वेदैः 'पश्यते' 'विवृणुते' 'लक्षयामहे' इत्याद्यभ्यस्त-विद्वत्प्रत्यक्ष-पक्षपात-बलवत्तरैर्विरोधादपाणिपादादि-वेदानां न तथार्थः सङ्गच्छत इति न तावत्तस्यारूपत्वं प्रतिपादितम् ।

न दर्शनादि-क्रियायाश्च मनोरथ-कल्पना-मात्रत्वं चिन्त्यम् । उक्तञ्चाद्वैत-शारीरकेऽपि (ब्र०सू० १।३।१३

अनुवाद—

एतदभिप्राय से भगवद्विग्रह की सत्यता स्थापन के द्वारा षड़्भाव विकारादि का अभाव स्थापन कर पूर्ण स्वरूपत्व का अभ्युपगम निर्देश करते हैं।

"एक वह आत्मा, पुराणपुरुष, सत्य, स्वयं ज्योति, अनन्त, आद्य, नित्य, अक्षर, अजस्र सुखस्वरूप, निरञ्जन, पूर्ण, अद्वय, उपाधि शून्य, अतएव अमृत है।" "नौमीड्य ते" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक में स्तुत्य रूपमें प्रतिज्ञात अभ्रवपुरादि लक्षण तुम एक होकर भी सबके आत्मा हो, कारण तुम ही तो परमाश्रय हो। यथा—"एकोऽसि प्रथमम्" प्रथम तुम एक थे, इत्यादि। "कृष्ण को तुम अखिल जीवों के आत्मा, जानना" इत्यादि वाक्य में जब तुम आत्मा आख्या से अभिहित हुये हो तब तुम ही सत्यस्वरूप हो। कारण परम आश्रयस्वरूप तुम्हारी सत्यता को अवलम्बन कर ही अपर की सत्यता होने से सत्यता की चरम विश्रान्ति तुम्हीं में है। यथा "सत्यव्रत सत्यपर" इत्यादि देवगण की स्तुति में है। महाभारत के उद्योग पर्वमें सञ्जयोक्ति में प्रकाश है—"सत्ये प्रतिष्ठित कृष्ण एवं कृष्ण में भी सत्य प्रतिष्ठित, सत्य—धर्म, उनके फल से आरम्भ कर ब्रह्मलोक की भी सत्यता अवधारित है, अतएव वह गोविन्द नामतः यथार्थ ही सत्य है।"

एवम्भूत सत्यस्वरूप तुम्हारे में जन्मादि षड़् विकार नहीं है, इसको विशेषरूप से कहने के लिए उक्त है, —"आद्य, तुम सबके आदि, अर्थात् कारण हो, ब्रह्मा ने प्रथम उस प्रकार ही देखकर कहा था,—"प्रथम तुम एक ही थे"। अतएव तुम्हारा जन्म नहीं है किन्तु जन्म शब्द हम सब प्रत्यक्षता को ही समझते हैं।

पद्मपुराण में उक्त है—"प्रत्यक्षत्व ही श्रीहरि का जन्म है, किसी प्रकार विकार का सद्भाव श्रीहरि में नहीं है।"

स्कन्द पुराण में भी उक्त है—"श्रीभगवान् के आनन्दात्मा अव्यय परदेह को न जान कर अज्ञजन

आद्यत्वे हेतुः—पुरुषः पुरुषाकार एव सन्, पुराणः पुरापि नवः कार्य्यात् पूर्वमपि वर्त्तमान इत्यर्थः। श्रुतिश्च (बृ० १।४।१) "आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः" इति। अतएव जन्मान्तरास्तित्वलक्षणं विकारं वारयति—नित्यः सनातनमूर्त्तिः ; तथा पूर्ववन्मध्यमाकारत्वेऽपि पूर्ण इति वृद्धिम् ; अजस्रसुखो नित्यमेव सुखरूप इति परिणामम् ; सुखस्य पुंस्त्वं छान्दसम् ; (बृ० ३।६।२८) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यत्रानन्दस्य नपुंसकत्ववत् ; तथा अक्षर इत्यपक्षयम् ; अमृत इति विनाशम्। पूर्णत्वे हेतुः—अनन्तः, अद्वय इति देशकालपरिच्छेदरहितः, वस्तुपरिच्छेदरहितोऽपि, अन्यस्य तच्छक्तित्वात्तं विनानवस्थानात्। अत्रामृतत्वोपपादनाय चतुर्विधक्रियाफलत्वञ्च वारयति। तत्रोत्पत्तिराद्य इत्यनेनैव निराकृता। शिष्टत्रयं स्वयंज्योतिर्निरञ्जन उपाधितो मुक्त इति पदत्रयेण। तत्र च प्राप्तिः क्रियया ज्ञानेन वा भवेत्।

सर्वसम्वादिनी

शा०भा०)—"अभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति, मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायति कर्मकत्वादीक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्मदृष्टमिति" इति। अन्यत्रापि दर्शनस्य यथार्थोपलब्धार्थत्वं दृष्टम् ; यथा—(मु० २।२।६) "दृष्ट एवात्मनीश्वरे" इत्यादौ। तस्मादपाण्यादि-वेदैः कथमेते विरुध्येरन्? तस्य रूपस्य ब्रह्मणि स्वरूपभूत-सर्वशक्तित्व-स्थापनया (ब्र०सू० २।१।३०-माध्वभाष्यधृतायां चतुर्वेदशिखायां) "सर्वैर्युक्ता

अनुवाद—

जनिमत् पञ्चभूतात्मक जड़ देह का आदिभूतत्व प्रति हेतु,—पुरुष आकार होकर भी पुराण हो, अर्थात् पुरा काल में भी तुम नव ही हो, कार्य्य के पहले भी तुम वर्त्तमान थे।"

श्रीविग्रह का षड़ विकारराहित्व। श्रुतिमें स्पष्ट उल्लेख है—"अग्रे पुरुषाकार में यह आत्मा ही था।" अतएव जन्म एवं तदनन्तर अस्तित्व लक्षण विकार भी निषिद्ध हुआ है। कारण—तुम नित्य सनातन मूर्त्ति हो। "जायते, अस्ति, वर्द्धते, परिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" 'छह' विकार जीव देह में विद्यमान है, किन्तु आदि पुरुष तुम हो, तुम्हारे में उस विकार की सम्भावना नहीं है। अतएव तुम्हारे प्रकटित मध्यमाकार में भी तुम पूर्ण ही हो, सुतरां वर्द्धन अथवा वृद्धि लक्षण विकार नहीं है। अजस्र सुखस्वरूप नित्य ही जिनके विग्रह सुख रूप उसमें विकारादि की सम्भावना ही नहीं है। "विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म"। यहाँ आनन्द पद में ब्रह्मलिङ्ग का प्रयोग हुआ है। उस प्रकार सुख शब्दमें भी पुरुषोत्तम लिङ्ग का प्रयोग हुआ है, वह प्रयोग, छान्दस् है। उस प्रकार अक्षर पद से 'अपक्षय लक्षण' विकार, अमृत पद से—विनाश लक्षण विकार राहित्य का प्रदर्शन हुआ है।

पूर्णत्व बोध के प्रति हेतु का भी उल्लेख दृष्ट होता है। अद्वय, अनन्त, जो देश-काल रहित है। वह अनन्त है, अर्थात् देश काल में जिनका अनन्तत्व का शेष नहीं होता है। जो वस्तु विशेष परिच्छेद शून्य है, वह ही अद्वय है। किन्तु तादृश परिच्छेद रहित होकर भी तुम्हारे शक्तित्व हेतु, कार्य्य कारणभूत कोई भी वस्तु तुम को छोड़ कर अवस्थित नहीं हो सकती हैं। अर्थात् उस सब की स्वतः विद्यमानता न होने से एकमात्र तुम ही हो—अतएव अद्वय हो।

श्रीविग्रह का चतुर्विध क्रियाफलराहित्व। यहाँ पूर्वोक्त अमृतत्व का स्थापन निबन्धन चतुर्विध क्रिया फल लक्षण-विकार का निषेध को दर्शाते हैं। चतुर्विध क्रियाफल का दृष्टान्त इस प्रकार है—

"यदसञ्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाशते। तन्निवर्त्यं विकार्य्यञ्च कर्मद्वैधाव्यवस्थितम्॥
प्रकृत्युच्छेदसम्भूतम् किञ्चित् काष्ठादिभष्मवत्। किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्।
क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धि र्यत्र न विद्यते। दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिहकथ्यते॥"

अत्र क्रियया प्राप्तिरात्मपदेनैव निराकृता, सर्वप्रत्यगरूपत्वात्। तथा ज्ञानतः प्राप्तिं वारयति—स्वयं-ज्योतिरिति। तदुक्तं ब्रह्माणं प्रति श्रीभगवता (भा० २।९।२१) "मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्" इति। टीका च—"एतच्च मत्कृपयैव त्वया प्राप्तमित्याह—मनीषितमिच्छा, तुभ्यं दातव्यमिति या ममेच्छा तस्या अनुभावोऽयम्। कोऽसौ? तमाह मम लोकस्यावलोकनं यत्" इत्येषा। तदुक्तम्—"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तित" इति। ननु श्रीभगवतोद्धवं प्रति (भा० ११।१६।२९) "वासुदेवो भगवतः" इत्यादिकं विभूतिमध्ये गणयित्वा सर्वान्ते (भा० ११।१६।४१) "मनोविकारा एवैते" इत्युक्तम्; सत्यम्, तद्गणनं प्राचुर्य्यविवक्षया "छत्रिणो गच्छन्ति" इतिवत्। तत्रैव हि (भा० ११।१६।३७)—

"पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्" ॥२२५॥

सर्वसम्वादिनी

शक्तिभिर्द्दवता सा" इत्यादौ नित्यरूपेति विशेषोपदेशेन च नित्यत्वं सिद्धमेव। स्वरूपनित्यत्वं तु तत्र 'शाश्वतात्मा' इत्यनेनैवोक्तमतएव (कठ० १।२।२३) 'विवृणुते' इत्येवोक्तम्, न तु कल्पयतीति। अत्रोदाहरिष्यन्ते च श्रुति-स्मृतयः; उदाहृता च—(छा० ७।२४।१) "यत्र नान्यत् पश्यति" इत्यादिः।

तदित्थमन्यप्राकृतरूप-सादृश्येन कुतर्कविशेषश्च परिहृतः,—वैलक्षण्यात्, कालात्ययापदिष्टत्वात्, (ब्र०सू०

अनुवाद—

जो पूर्व में नहीं था, कार्य्य द्वारा प्रकाशित हुआ। वह निवर्त्त्य क्रियाफल है, (१) काष्ठादि भष्मवत् प्रकृति उच्छेद सम्भूत (२) सुवर्ण से कुण्डलादि रूप गुणान्तरोत्पत्ति (३) भेद से विकार्य्य फल द्विविध है। जहाँ क्रिया कृत कोई विशेष सिद्धि नहीं होती है, वह प्राप्य क्रियाफल है। (४)

ये चार प्रकार क्रिया फल के मध्य में 'आद्य' पद से उत्पत्ति रूप निवर्त्त्य क्रियाफल निवारित हुआ। अवशिष्ट—प्रकृत्युच्छेदक, गुणान्तराधायक, प्राप्यरूप क्रियाफलत्रय का निवारण,—स्वयं ज्योति, निरञ्जन, उपाधि मुक्त, विशेषण त्रय से हुआ है। प्राप्ति,—क्रिया द्वारा, अथवा ज्ञान द्वारा होती है? यदि ज्ञान द्वारा कहा जाय तो, उसका निराकरण—आत्मपद से हुआ है। आत्मा की प्रत्यक्रूपता ही क्रिया फल का निवारक है, ज्ञान द्वारा प्राप्ति का निवारण भी 'स्वयं ज्योति' पद से हुआ है।

श्रीभगवान् स्वयं ही ब्रह्मा को कहे थे—"मेरा लोक का दर्शन मत् प्रदत्त इच्छाशक्ति से होता है।" टीका का तात्पर्य्य—"यह दर्शन तुमने मेरी कृपा से ही किया है।" मनीषित—इच्छा तुम्हें प्रदान करूँगा, इस प्रकार मेरी जो इच्छा है यह उसका ही अनुभव है। वह क्या है? यह मेरा लोक वैकुण्ठादि का दर्शन है। सुतरां जैत्र ज्ञान की अकिञ्चित्करता हेतु ज्ञान के द्वारा प्राप्ति भी स्वतः निरस्ता हुई है।

अन्यत्र भी उक्त है—"श्रीभगवान् नित्य अव्यक्त होने पर भी निज शक्ति से दृष्ट होते हैं।" यदि कहा जाय कि—श्रीभगवान् उद्धवको कहे थे,—"उत्पत्ति प्रलयादि वेत्ता भगवान् नाम से अभिहित जनों के मध्य में मैं वासुदेव हूँ। अर्थात् मैं सब को इन्द्रियादि ज्ञान शक्ति का परिचालक हूँ।" इत्यादि विभूति के मध्य में गणना कर सर्वशेष उपसंहार वाक्य में कहे थे—"ये विभूति के भेदसमूह मनोविकार हैं, परमार्थभूत नहीं हैं।" तत्समाधानार्थ उक्त वाक्य को अङ्गीकार करते हैं,—उपसंहार की एतदुक्ति—प्राचुर्य्य की विवक्षा से है। यथा "मुख्यार्थस्येतराक्षेपो" इत्यादि उपादान लक्षणा से इतरार्थ बोध प्राचुर्य्यार्थ है,—"इतरस्य शक्यतावच्छेदकतातिरिक्त धर्मावच्छिन्नस्य आक्षेपः प्रत्यायनं एषोपादानलक्षणा स्यादित्यर्थः। छत्रिणो गच्छन्ति, छत्रिसार्थवाहित्वेन छत्रिन स्तद्भिन्नाश्च प्रतीयन्ते, छत्रिणां बाहुल्यमतिरत्र प्रयोजनम्।"

इत्यत्र पर-शब्देन ब्रह्मापि तन्मध्ये गणितमस्ति। तदेवं प्राप्तिर्निषिद्धा। अथ विकृतिरपि तुषापाकरणेनावघातेन व्रीहीणामिवोपाध्यपाकरणेन भवेत्, तच्चासङ्गत्वान्न सम्भवेदित्याह— मुक्त उपाधित इति। तदुक्तम् (भा० १०।२७।११) **"विशुद्धज्ञानमूर्त्तये"**, (भा० १०।३७।२२)**"विशुद्ध-विज्ञानघनम्" इत्यादौ च। तस्मात्** (भा० १।९।३४) **"मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि" इत्यादिकन्तु मायिकलीलावर्णनमेव;** (भा० १०।७७।३०)—

"एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येत न नूनं ते स्मरन्त्युत" ॥२२६॥

इत्यादि-न्यायेन वास्तवत्वविरोधात्; तथा हि स्कान्दे—

"असङ्गश्चाव्ययोऽभेद्योऽनिग्राह्योऽशोष्य एव च। विद्धोऽसृगाचितो बद्ध इति विष्णुः प्रदृश्यते ॥२२७॥
असुरान् मोहयन् देवः क्रीड़त्येष सुरेष्वपि। मानुष्यान्मध्यया दृष्ट्या न मुक्तेषु कदाचन" ॥२२८॥

इति श्रीभीष्मस्य युद्धसमये दैत्याविष्टात्तथा भानं युक्तमेवेति। किन्त्वधुना दुःस्वप्नदुःखस्येव तस्य निवेदनं कृतमिति ज्ञेयम्। संस्कारोऽपि किमतिशयाधानेन मलापाकरणेन वा। तत्राति-

सर्वसम्वादिनी

१।१।३) "शास्त्रयोनित्वात्" इति न्यायेन शब्दैकप्रामाण्याच्च। तत एव यथाग्नेः सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तत्वात् क्वचित् कदाचिदमूर्त्तता, स्थूलरूपेण व्यक्तत्वात् कदाचिन्मूर्त्तता, तथा ब्रह्मणोऽपीत्यपि निरस्तम्। विशेष-तस्तत्राव्यक्तता-व्यक्तता-भेदश्च निषेद्धव्यस्तस्माद्रूपित्वमरूपित्वञ्चेति न। अत्र समुच्चय-व्यवस्था त्वेकाधिकरणत्वान्न सम्भवत्येव। तथा विकल्पोऽप्यष्टदोषदुष्टत्वेन क्रियायामिव वस्तुनि तस्यासम्भवान्न

अनुवाद—

यहाँ भी तद्रूप प्राचुर्य्यार्थ की विवक्षा से ही गणना को जानना होगा। कारण उक्त स्थलमें पृथिवी, वायु, आकाश, वाष्प, ज्योति, महान्, विकार, पुरुष, अव्यक्त, रजः, सत्त्व, तमः एवं पर ये समुदय ही मैं हूँ। यहाँ पर शब्दसे ब्रह्मा का ग्रहण हुआ है। यह सब विभूति की उक्ति—प्राचुर्य्य की विवक्षा से ही हुई है। सुतरां भगवत् विग्रह के सम्बन्ध में प्राप्तिरूपा क्रिया फल निषिद्ध हुआ है। अनन्तर विकृति का निषेध हुआ है। धान्य का तुष अपाकरण, एवं अवघात के समान, उपाधि का अपाकरण से स्वरूप की उपलब्धि हो? उसको वैकारिक फल कहता हूँ। यह कथन अतीव असङ्गत होने से असम्भव भी सम्भव हो रहा है। कारण, 'उपाधि से मुक्त' पद से नित्य उपाधि परिशून्यत्व प्रख्यापित होने से, उपाधि का अपाकरण सम्भव नहीं है। अन्यत्र यथा—"विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति" "विशुद्ध विज्ञानघन" इत्यादि वाक्य में नित्य निरुपाधिक विग्रह का विषय ही अभिहित है। तज्जन्य भीष्म देव के स्तव में "मेरा निशित शर से विभिद्य मान शरीर" इत्यादि वाक्य में मायिक लीला वर्णनावसरत्व की असङ्गति नहीं हुई है।

श्रीमद्भागवत के स्थानान्तर में उक्त है—"पूर्वापर अनुसन्धान रहित कतिपय ऋषिगण जिस विरुद्ध वाक्य को कहते हैं, वे सब उसका अनुसन्धान नहीं रखते हैं। इसमें स्वामिपाद की टीका, यथा—"केच —केचन, नान्विताः, अनन्विताः, पूर्वापरानुसन्धानरहिताः। तदाह यत् स्ववाच इति तन्नानुस्मरन्तीत्यर्थः।" इस न्याय के अवलम्बन से, उक्त वाक्य से वास्तवत्व का विरोध होता है, अतः वह आदरणीय नहीं है।

स्कन्द पुराण में वर्णित है—"असङ्ग, अव्यय, अभेद्य, अनिग्राह्य, अशोष्य होकर भी वह देव विष्णु, असुरगण को मोहित करके भी कभी विद्ध, असृग्सेचित, बद्धवत् प्रतीत होते हैं, ऐसा कि देवतागण के सम्मुख में मनुष्याकार मध्यमावयव प्रकट करते हैं; किन्तु मुक्तगण को उस प्रकार प्रदर्शन नहीं करते हैं।"

युद्ध के समय दैत्याविष्टता वशतः श्रीभीष्मदेव का तादृश भान सङ्गत ही हुआ था। किन्तु अधुना दुःस्वप्न प्रदर्शन के समान व्याकुलता के साथ निवेदन करके तादृश भाव जनित स्वीय अपराध की क्षमा

शयाधानं पूर्णत्वेनैव निराकृतम् । मलापाकरणं वारयति—निरञ्जनो निर्मलो विशुद्धज्ञान-मूर्त्तिरित्यर्थः ।। श्रीब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ।।

५६। तदेवं पूर्वं तदैश्वर्य्यादीनां स्वरूपभूतत्वं साधितम्, तच्च तेषां स्वरूपान्तरङ्गधर्मत्वाद्-युक्तम् । यथा ज्योतिरन्तरङ्गधर्माणां तदीयशुक्लादिगुणानां ज्योतिर्भूतत्वमेव, न तम-आदि-रूपत्वम्, तद्वत् । अथ श्रीविग्रहस्य पूर्णस्वरूपलक्षणत्वं साधितम्, तच्च युक्तम्, सर्वशक्तियुक्त-परमवस्त्वेकरूपत्वात्तस्य तत्र यो निजान्तरङ्गनित्यधर्मः श्रीविग्रहतागमकस्तत्तत्संस्थान-लक्षणस्तद्विशिष्टं परमानन्दलक्षणं वस्त्वेव श्रीविग्रहः, स एव चान्तरङ्गधर्मान्तराणामैश्वर्य्यादी-नामपि नित्याश्रयत्वात् स्वयं भगवान्, यथा—शुद्धखण्डलड्डुकम् । यतो यथा लड्डुकता-गमकसंस्थानविशिष्टखण्डमेव लड्डुकम्, तदेव खण्डस्वाभाविकसौगन्धादिमच्चेति लोकैः प्रतीयते प्रयुज्यते च, तथा (भा० ३।९।२) "रूपं यदेतत्" इत्यादिषु परं तत्त्वमेव श्रीविग्रहः, स एव च भगवानिति विद्वद्भिः प्रतीयते प्रयुज्यते चैवेति ।

सर्वसम्वादिनी

स्यादिति रूपित्व-श्रुतिरेव सर्वोपमर्द्दिनी ।

तर्हि कास्विदरूपश्रुतेर्गतिः ? उच्यते ।—अरूप-रूप-प्रतिपादकतया द्विविधस्य श्रुति-जातस्य परस्पर-सङ्घट्टने सति दुर्बलानामरूपश्रुतीनां तदनुगमनमेव गतिः । तदनुगमनञ्चात्र कस्यचिद्रूपस्यैव सतो भवेद-रूपत्व-लक्षण-प्रसाधनम् । तथाविधं रूपञ्चात्र प्राकृतादन्यदेव युज्यते ;---यथा भग-संज्ञकमैश्वर्य्यादिषट्कम् ।

अनुवाद—

चाहते हैं। संस्कार अथवा गुणन्तराधानरूप विकृति का निराकरण के लिए कहते हैं, संस्कार—वस्तु का अतिशयाधान, अथवा मलापाकरण ? अतिशयाधान होने से जो पूर्ण है, उस पूर्णत्व के द्वारा अतिशयाधान निराकृत हुआ है। मलापाकरण कहने से जो निरञ्जन निर्मल-विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति है। उनका मलापाकरण नहीं हो सकता है। सुतरां श्रीभगवद् मूर्त्ति, सर्वथा सर्वविध विकारादि शून्य पूर्णा ज्ञानानन्दघन स्वरूप है, यह सुसिद्ध हुआ। ब्रह्मा कहे थे ।।५६।।

ज्ञानघनमूर्त्ति श्रीभगवान् के ऐश्वर्य्यादि की स्वरूपभूतता साधित हुई। उक्त ऐश्वर्य्यादि उनके स्वरूपभूत अन्तरङ्ग धर्म होने से ही स्वरूपभूत होना युक्तियुक्त हुआ है। जिस प्रकार ज्योतिः पदार्थ आलोक प्रभृति को उसके शुक्लादि वर्णभूत गुण को आलोक पदार्थ से भिन्न तम आदि रूपमें न देखकर उसे ज्योतिः पदार्थ ही हम सब मानते हैं। तद्वत् श्रीभगवान् के श्रीविग्रह एवं ऐश्वर्य्यादि को पूर्ण स्वरूपभूत ही जानना होगा। श्रीहरि के गुण-धर्म को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतएव सर्वशक्तिमान् परम वस्तुस्वरूप श्रीभगवान् की एकरूपता हेतु उक्त ऐश्वर्य्यादि की पूर्ण स्वरूपता युक्तियुक्त ही है। अनन्त शक्तिमान की विविध शक्ति एवं धर्म के मध्यमें जो उनके निज अन्तरङ्ग नित्य धर्म, जो श्रीविग्रह का गमक है, उस-उस (शक्ति एवं धर्म) संस्थान लक्षण तद्विशिष्ट परमानन्द लक्षण वस्तु ही श्रीविग्रह है। सच्चिदानन्दस्वरूप का धर्म—सत् चित् आनन्द एवं सत् चित् आनन्द की शक्ति—सन्धिनी, सम्वित् ह्लादिनी है। उनका अन्तरङ्ग धर्मान्तर स्वरूप कथित धर्म शक्ति सम्भूत उनके ऐश्वर्य्यादि भी नित्य है। उक्त ऐश्वर्य्यादि का नित्याश्रय रूपमें ही उनकी स्वयं भगवत्ता है। 'ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य' प्रमाण से प्रमाणित है।

लौकिक दृष्टान्त में क्षीर का 'लड्डु' कहने से उसके अवयवसंस्थान क्षीर से उसको भिन्न नहीं समझा जाता है एवं लड्डु के साधक संस्थानविशेष के मिलन से ही लड्डु होता है। तद्रूप श्रीभगवत् विग्रह को भी जानना होगा। "रूपं यदेतत्" इस श्लोक में ब्रह्मा की उक्ति से परतत्त्व ही जो विग्रह है एवं उक्त विग्रह ही श्रीभगवान् हैं—यह विद्वद्गण कर्त्तृक अनुभूत एवं प्रयुक्त हुआ है।

तदेवं श्रीविग्रहस्य पूर्णस्वरूपत्वं साधयित्वा, तत्पोषणार्थं प्रकरणान्तरमारभ्यते यावत्-पार्षदनिरूपणम् । तत्र परिच्छदानां तत्स्वरूपभूतत्वेन तदङ्गसहिततयैवाविर्भावदर्शनरूपं लिङ्गमाह द्वयेन (भा० १०।३।६)--"तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं, चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्" इत्यादिना। स्पष्टं ॥ श्रीशुकः ॥

६० । एवमभिप्रायेणैवेदमाह (भा० ६।८।३२-३३)—

"यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥२२६॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः । पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः" ॥२३०॥

ऐकात्म्यानुभावानां केवलपरमस्वरूपदृष्टिपराणां विकल्परहितः परमानन्दैकरसपरम-स्वरूपतया स्फुरन्नपि, यथा येन प्रकारेण, स्वेषु स्वस्वामितया भजत्सु, या माया कृपा तया हेतुना, स्वयं भगवान् विचित्रशक्तिमयेन स्वरूपेणैव कारणभूतेन, भूषणाद्याख्याः शक्तीः शक्तिमयाविर्भावान् धत्ते गोचरयति । तेनैव विद्वदनुभवलक्षणेन सत्यप्रमाणेन, तद्यदि सत्यं स्यात्तदेत्यर्थः । तैरेव भूषणादिलक्षणैः सर्वैः स्वरूपैर्विचित्रस्वरूपाविर्भावै र्नः पातु । अतएव

सर्वसम्वादिनी

यदैव हि स्वरूपशक्तिप्रकाशमानत्वेन स्वप्रकाशरूपमात्रं भवेत्, तदा चक्षुरप्रकाश्यत्वादरूपत्वमङ्गीकरोति । तत एव स्थूल-सूक्ष्माख्य-व्यक्ताव्यक्त-पदार्थेभ्यो विलक्षणं तद्रूपमिति वेदान्ते वैष्णवप्रस्थानविदामभिप्रायः ।

तथा च (ब्र०सू० ३।२।२५) "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्" इत्यत्र व्याख्यातं माध्वभाष्ये— "अग्नचादिवत् स्थूल-सूक्ष्मत्व-विशेषात्तस्य तादृशत्वं न सम्भवति;— "नासौ स्थूलो न सूक्ष्मः, पर एव स भवति, तस्मादाहुः

अनुवाद—

सम्प्रति श्रीविग्रह की पूर्ण स्वरूपभूतता का साधन कर उसको पुष्ट करने के लिए पादादि निरूपणार्थ प्रकरणान्तर का आरम्भ कर रहे हैं। अर्थात् उनका विग्रह एवं वेश-भूषादि, अस्त्रादि, धामादि, पार्षदादि सब ही नित्य एवं स्वरूपभूत हैं, एवं उक्त परिच्छदादि की स्वरूपभूतता हेतु हम परिच्छदादि के सहित उनका आविर्भाव का दर्शन करते हैं। यथा—"श्रीभगवान् जब कंस के कारागार में आविर्भूत हुये तब देवकीदेवी वसुदेव महाशय उस पद्मपलाशलोचन चतुर्भुज शङ्खचक्रादि धृतायुध अद्भुत बालक को देखे थे।" इत्यादि श्लोकद्वय में उनके श्रीविग्रह का आविर्भाव के सहित आयुधादि परिशोभित मूर्त्ति का वृत्तान्त हम अवगत होते हैं। उक्ति श्रीशुकदेव की है ॥५६॥

इस अभिप्राय से ही श्रीविग्रह एवं आयुध प्रभृति की स्वरूपभूतता कही गयी है। "केवल परमात्मा अनुध्यानकारिगण का विकल्प तिरोहित होने से परमस्वरूप की स्फूर्त्ति होती है, उस समय भगवान् विचित्र कृपा शक्ति से योगिगण के निकट भूषण आयुधादि परिशोभित मूर्त्ति में आविर्भूत होते हैं। सर्वज्ञ सर्वत्र भगवान् श्रीहरि, विद्वज्जनानुभूत प्रमाण से उक्त सर्वस्वरूप में सर्वत्र सब प्रकार से हमें रक्षा करें।" अर्थात् केवल स्वरूपदृष्टपरायण जनगण का विकल्प रहित परमानन्द ही जिनका परम स्वरूप है। इस प्रकार आकार में स्फुरित होने से भी जो लोक श्रीभगवान् को एकमात्र प्रभु मानकर उनका भजन करता है, आप उस भजनकारि व्यक्ति के प्रति कृपा करने के लिए स्वीय अनिर्वचनीय कृपा शक्ति से स्वयं विचित्र शक्तिमयता स्वरूप भूषणादि आख्या से विभूषित होकर साधक के निकट आविर्भूत होते हैं। अर्थात् निज कृपाशक्ति से सायुध मूर्त्ति से दर्शन प्रदान करते हैं। उस विद्वदनुभव लक्षण सत्य प्रमाण से—अर्थात् उक्त विद्वद् अनुभव यदि सत्य हो तो, उस विचित्र भूषणादि परिशोभित सायुधधारी विचित्र स्वीय स्वरूप विग्रह के

श्रीविष्णुधर्मे बलिकृतचक्रस्तवे—'यस्य रूपमनिर्द्देश्यमपि योगिभिरुत्तमैः' **इत्यादि। तदनन्तरञ्च—**

"भ्रमतस्तस्य चक्रस्य नाभिमध्ये महीपते। त्रैलोक्यमखिलं दैत्यो दृष्टवान् भूर्भुवादिकम्" ॥२३१॥ **इति।**

तदेवमेव नवमे श्रीमदम्बरीषेणापि श्रीचक्रमिदं स्तुतमस्ति। लिङ्गानि गरुड़ाकारध्वजादीनि। अनेन यत् क्वचिदाकस्मिकत्वमिव श्रूयते, तदपि श्रीभगवदाविर्भाववज्ज्ञेयम्। अत्र तृतीये (भा० ३।२८।२८) **"चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे" इत्यपि सहायम्। अतो द्वादशेऽपि** (भा० १२।११।१०) **"कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः" इत्यादिकं विराड्गतत्वेनोपासनार्थमभेददृष्ट्या दर्शितमेव यथासम्भवं साक्षाच्छ्रीविग्रहगतत्वेनाप्यनुसन्धेयम्। तथाहि श्रीविष्णुपुराणे** (१।१२।२६)—

"आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्। बिभर्त्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः" ॥२३२॥ **इति।**

विश्वरूपो महेन्द्रम् ॥

६१। अथ श्रीवैकुण्ठलोकस्यापि तादृशत्वम् (भा० २।९।९) **"तस्मै स्वलोकं भगवान्**

सर्वसम्वादिनी

परमम्' इति माण्डव्यश्रुतेः;

"स्थूल-सूक्ष्म-विशेषोऽत्र न क्वचित् परमेश्वरे। सर्वत्रैकप्रकारोऽसौ सर्वरूपेषु वर्त्तते" ॥६५॥

इति गारुड़ात्;

"अव्यक्त-व्यक्त भावौ च न क्वचित् परमेश्वरे। सर्वत्राव्यक्तरूपोऽसौ यत एव जनार्दनः" ॥६६॥

अनुवाद—

आविर्भाव द्वारा सर्वत्र हमें रक्षा करें।

अतएव विष्णुधर्मोक्त बलिराजकृत चक्र का स्तव में दृष्ट होता है, यथा—"उत्तम योगिगण भी जिनका रूप निर्णय नहीं कर सकते हैं।" तदनन्तर भी "हे महिपति! दैत्यगण उनका भ्रमणशील विचित्र चक्र की नाभि के मध्य में भूर्भुवादि अखिल विश्व ब्रह्माण्डादि को देखे थे।" श्रीभागवतस्थ नवम स्कन्ध में राजर्षि अम्बरीष कर्त्तृक भगवत् चक्र की एतादृशी स्तुति दृष्ट होती है। लिङ्ग—गरुड़ध्वजादि चिह्न। किसी स्थान में आकस्मिकवत् सबका विवरण वर्णित है, वह उसको भी भगवत् आविर्भाव की भाँति जानना होगा। अर्थात् नित्य सच्चिदानन्द विग्रह, श्रीभगवद् विग्रह जिस प्रकार भक्तविशेष के प्रति कृपा करने के लिए आविर्भूत होता है, तद्रूप आयुधादि श्रीविग्रहमें नित्य विद्यमान होने से भी आवश्यकतानुसार उसका आविर्भाव अथवा प्रकट दर्शन होता है। कौस्तुभ मणि के सम्बन्ध में तृतीय स्कन्ध में वर्णित है—"श्रीभगवान् के कण्ठ में निर्मल जीवतत्त्वस्वरूप कौस्तुभमणि नित्य विराजित है।" द्वादश स्कन्ध में भी लिखित है—"अज श्रीभगवान् कौस्तुभमणि धारण के छल से स्वात्म ज्योति को धारण करते हैं।"

इत्यादि श्लोक में वर्णित विषय, विराड् उपासना के निमित्त है, अभेद दृष्टि ही उसका लक्ष्य है। श्रीविग्रह सम्बन्ध में भी उक्त नियम सार्थक हैं। विष्णुपुराण में उक्त है—"भगवान् हरि, कौस्तुभमणि के स्वरूप में निर्लेप, निर्गुण, अमल क्षेत्रज्ञ शक्ति को धारण करते हैं।" अर्थात् श्रीभगवान् के नित्य शक्ति समूह नित्य ही श्रीभगवद् विग्रह में अवस्थित हैं। यह ही इस प्रकार का तात्पर्य्य है। विष्णुपुराण के द्वाविंश अध्याय को आलोचन करने से उसकी प्रतीति सुस्पष्ट ही होती है।

विश्वरूप महेन्द्र को कहे थे ॥६०॥

श्रीवैकुण्ठ लोक भी उस प्रकार स्वरूपभूत ही है इसका प्रदर्शन पूर्व में हुआ है। तथापि दुर्धिय व्यक्ति को अवगत कराने के लिए पुनर्बार कहते हैं। अर्थात् अविश्वस्त तर्कनिष्ठ जनगण को विशेष प्रतीति के निमित्त पुनर्बार श्रौत युक्त्यादि द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं। कारण—उक्त लोक की प्राप्ति

सभाजितः" इत्यत्र साधितमेव, पुनरपि दुर्धियां प्रतीत्यर्थं साध्यते, यतः स कर्मादिभिर्न प्राप्यते, प्रपञ्चातीतत्वेन श्रूयते, तं लब्धवतामस्खलनगुणसात्म्येन स्तूयते, नैर्गुण्यावस्थायामेव लभ्यते, लौकिक-भगवन्निकेतस्यापि तदावेशात् नैर्गुण्यमतिदिश्यत इत्यतः स तु तद्रूपतया सुतरामेव गम्यते, साक्षादेव प्रकृतेः परत्वेन श्रूयते, नित्यतयोद्घोष्यते, मोक्षसुखमपि तिरस्कुर्वत्या भक्त्यैव लभ्यते,सच्चिदानन्दघनत्वेनाभिधीयत इति। तत्र कर्मादिभिरप्राप्यत्वम्; यथा (भा० ११।२४।१२-१४)—

"देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानाञ्च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनाञ्च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम् ।।२३३।।
अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।।२३४।।
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः" ।।२३५।।

सिद्धानां योगादिभिः त्रितयात् परं महर्लोकादि; भूमेरधश्चातलादि; त्रिलोक्यां

सर्वसम्वादिनी

इति कौर्मञ्च" इति;—यस्मादव्यक्त-व्यक्त-भावौ तस्मिन्न स्तस्तस्मात्ताभ्यामतिरिक्तम्; (भा० १०।३।२४) "रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यम्" इत्यादौ प्रसिद्धं यदव्यक्ताख्यं परं तत्त्वम्, तदेव रूपं विग्रहो यस्येति कौर्म-वचनार्थः। अस्य पूर्ण-परम-तत्त्वाकारत्वमग्रे मूल(श्रीभगवत्सन्दर्भ)-ग्रन्थ (४८श-५१श अनु०) एव विवेचनीयम्।

अनुवाद—

काम्यकर्मादि से नहीं होती है। वह प्रपञ्चातीत है। जगत् में श्रीभगवद्विग्रह प्रतिष्ठित श्रीमन्दिर में, भगवत् सान्निध्य अथवा आवेश से उसको नैर्गुण्य कहा गया है। सुतरां जहाँ साक्षात् नित्य सान्निध्य विद्यमान है। उस लोक-धाम जो गुणातीत नित्यस्वरूपभूत है, उसे कैमुतिक न्याय से जानना होगा। शास्त्र में उसकी प्रकृत्यतीतता एवं नित्यता, उद्घोषित है। जिसकी प्राप्ति मोक्षसुख तिरस्कारिणी भक्ति से होती है, एवं सच्चिदानन्दघन रूपमें उसको माना गया है।

कर्मादि के द्वारा भगवल्लोक की अप्रापकता के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत की उक्ति यह है—"स्वर्ल्लोक देवतागण का निवास स्थान है, भुवर्ल्लोक भूतगण का निवास स्थान, भूर्ल्लोक मर्त्यादि का निवास स्थान है। त्रितया—अर्थात् त्रिगुण का अतीत स्थान ही सिद्धगण की निवास भूमि है। भूर्ल्लोक के अधोलोक में अर्थात् अतलादि में असुर एवं नागादि का निवास स्थान है। श्रीभगवान् त्रिलोक में जीव के निज निज कर्मानुसार भोग गति प्राप्त कराने के लिए भगवान् उक्त स्थान का निर्माण किए हैं। "तन्मध्य में योग, तपस्या, कर्मन्यासी, मुमुक्षु जन प्राप्य महः, जन, तपः सत्यलोक हैं। भक्तियोग से भजनकारि भक्तगण मद्गति को प्राप्त करते हैं।" अर्थात् सिद्धगण द्वारा अनुष्ठित योगादि द्वारा प्राप्य गति—त्रिगुणातीत महर्ल्लोकादि है। चतुर्दश भुवन की स्थिति निम्नोक्तरूप है,—

"भूर्ल्लोकः कल्पित पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। हृदा स्वर्ल्लोक उरसा महर्लोक महात्मनः ।।
ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्। मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ।।
तत् कट्याञ्चातलं कलप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः। जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यान्तु तलातलं ।।
महातलन्तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्। पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ।।"
(भा० २।५।३८-४१)

पातालादिकभूर्भुवःस्वश्चेति । कर्मणां गार्हस्थ्यधर्माणाम् ; तपो बानप्रस्थत्वं ब्रह्मचर्य्यञ्च । तत्र ब्रह्मचर्य्येणोपकुर्वाणनैष्ठिकभेदेन क्रमान्महर्जनश्च, बनस्थत्वेन तपः, न्यासेन सत्यम्, योगतारतम्येन तु सर्वमिति ज्ञेयम् । मद्गतिः श्रीवैकुण्ठलोकः, भक्तियोगप्राप्यत्वेन वक्ष्यमाणः (भा० ३।१५।२३) "यत्र व्रजन्ति" इत्यादिवाक्यसाहाय्यात् लोकप्रकरणाच्च । उक्तञ्च तृतीये देवान् प्रति ब्रह्मणैव (भा० ३।१५।२०) "तत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टैः" इत्यादि । टीका च—"पुनर्वैकुण्ठलोकं विशिनष्टि—तत्सङ्कुलं व्याप्तं भवति । कैः ? हरिपादयोरानतिः प्रणामस्तावन्मात्रेण दृष्टैर्भक्तानां विमानैः, न तु कर्मादिप्राप्यैः" इत्येषा । एवमेव श्रुतिश्च (मु० १।२।१२) "परीत्य लोकान् कर्मजितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" इति । अत्राप्यकृत इत्यस्य विशेष्यं लोक इत्येव, तत्प्रसक्तेः ; (गी० १८।६१) "ईश्वरः सर्वभूतानाम्"

सर्वसम्वादिनी

अतएव बहुव्रीहिरयमौपचारिकेणैव भेदेन बोद्धव्यः । अतएव तस्य रूपस्य परविद्यैकव्यङ्ग्य-स्वप्रकाश-परब्रह्मत्वं (मु० ३।१।३) "यदा पश्यः पश्यते" इत्यस्यान्ते तद्दर्शनमात्रेणाशेषकर्मविधूननपूर्वक-परमसिद्धि-प्राप्ति-लिङ्गतो व्यञ्जितं "तदा पुमान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति" इत्यनेन ; (मु० २।२।८) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुति-सामान्यात् । तथापरापि श्रुतिरादित्यपुरुषमधिकृत्य सर्वपाप्मात्यय-

अनुवाद—

भूरादि सत्यलोक पर्य्यन्त सप्त क्रमोर्द्ध में एवं अतलादि पाताल पर्य्यन्त सप्त क्रमशः निम्न लोक में हैं। ये चतुर्दश लोक विराट् पुरुष के अवयव से कल्पित हैं, निम्न लोक के मध्य में सुतलाख्य लोक का विशेषण "शुद्ध" है। निम्न क्रम से उसका पाठ होने से भी उसका वैशिष्ट्य है।

साधारणतः उक्त लोक को त्रिलोक शब्द से कहते हैं,—कर्मानुसार उस लोक की प्राप्ति होती है। गार्हस्थ्य, बानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य्य, (उपकुर्वाण, नैष्ठिक भेद ब्रह्मचारी में है) उपकुर्वाण—महर्ल्लोक, नैष्ठिक—जनलोक को प्राप्त करता है।

"ब्रह्मचार्य्युपकुर्वाणोनैष्ठिको ब्रह्मतत्परः । योऽधीत्य विधिवद् वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् ॥
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तिकः । (कूर्म पु० २ अ०)

विधिवत् वेदाध्ययन करके ब्रह्मतत्पर होकर जो आमरण उक्तावस्था में जीवन यापन करता है, वह नैष्ठिक है। वेदादि का अध्ययन विधिवत् करके जो गार्हस्थ्याश्रम का ग्रहण करता है, वह उपकुर्वाण है। यह ही उभयविध ब्रह्मचर्य्य का लक्षण है। बानप्रस्थ द्वारा तपः सिद्धि, न्यास के द्वारा सत्य, एवं योग के तारतम्यानुसार उक्त लोक प्राप्ति का तारतम्य होता है। मद्गति—अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोक प्राप्ति, भक्तियोग के द्वारा उसका प्राप्यत्व निर्द्धारित हुआ है। इसमें "यत्र व्रजन्ति" ब्रह्मा की उक्ति प्रमाण है। जो लोक भगवत् प्रसङ्ग को छोड़कर तत्सृष्ट जागतिक रचनानुवाद से भ्रंशमति होते हैं, वे सब वैकुण्ठ लोक गमन नहीं करते हैं।

वैकुण्ठ लोक की महिमा का कीर्त्तन में उक्त है—"श्रीहरि के पादपद्म में जो भक्त एकबार आनत हुआ है, उसके फल से उसके दृष्ट—विमानों से परिव्याप्त है।" स्वामिकृत टीकामें भी उक्तरूप अर्थ प्रकटित है। भक्ति व्यतीत कर्मादि साधन की वैकुण्ठ प्रापकता नहीं है। मुण्डक श्रुति में उक्त है—"ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण कर्मजित लोक को अतिक्रम कर निर्विण्ण होता है। कृतकर्म के द्वारा अकृत लोक वैकुण्ठादि की प्राप्ति नहीं होती है।" इस श्रुति में अकृत पद का विशेष्य 'लोक' ही है। कारण तत्प्रसक्ति का ही उल्लेख है।

श्रीबलदेव भाष्य पीठकमें लिखे हैं—"नास्त्यकृतः कृतेन, न कर्मणा न प्रजया धनेन" टीका—"नास्त्यकृत इति, अकृतो भगवल्लोकः, कृतेन कर्मणा नास्ति न सिद्ध्यति । साध्यसाधनयोस्तयोर्वैरूप्यादित्यर्थः ।"

इत्यादौ, (गी० १८।६२)—"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्" ॥२३६॥

इति श्रीभगवदुपनिषत्सु ॥ श्रीभगवान् ॥

६२। प्रपञ्चातीतत्वम् (भा० ४।२४।२९)—

"स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये" ॥२३७॥

ततोऽपि पुण्यातिशयेन मामेति. भागवतस्तु अथ देहान्ते अव्याकृतम्, (छा० ६।३।२) 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुति-प्रसिद्धव्याकरणाविषयं प्रपञ्चातीतं वैष्णवं पदं वैकुण्ठमेति। यथाहं रुद्रो भूत्वाधिकारिकतया वर्त्तमानः, विबुधा देवाश्चाधिकारिकाः कलात्यये अधिकारान्ते लिङ्गभङ्गे सत्येष्यन्तीति; (ब्र०सू० ३।३।३३) "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"

सर्वसम्वादिनी

कथनोत्तरमेव रूपं वर्णयन्ती तस्य रूपस्य पाप्मापरपर्य्याय-मायिकदोष-राहित्यमेवाङ्गीकरोति,(छा० ८।१।१५) "एष आत्मापहतपाप्मा" इति श्रुति-सामान्यात्। तज्ज्ञानिनामपि पाप्मात्यय-लिङ्गात् कैमुत्येन च तदेव द्रढ़यति,—(छा० १।६।६७) "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ-प्रणखात् सुवर्णस्तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः, उदेति ह

अनुवाद—

साध्य साधन के वैरूप्य हेतु—सङ्गत है, अतएव भगवत् प्राप्ति के प्रति भक्ति ही एकमात्र साधन है। महानारायणोपनिषद् एवं भगवद्गीता में उक्त है—"ईश्वर सर्वभूत के हृदय में अवस्थित हैं। हे भारत! सर्वरूप से एकान्त भावसे उनकी शरण लो, उनकी कृपा से परा शान्ति एवं शाश्वत धाम लाभ होगा।" इस प्रकार सर्वत्र भगवद्भक्ति की ही उक्त लोक प्रापकता की उक्ति प्रसिद्ध है।

यह उक्ति श्रीभगवान् की है ॥६१॥

भगवल्लोक प्रपञ्चातीत है। "जीव शत जन्म यदि निज कर्म का अनुष्ठान, निष्ठा के सहित करता है, तो वह ब्रह्मा हो सकता है। अनन्तर वह भागवत जीव, स्वीय अधिकार के बाद देहत्याग कर अव्याकृत वैष्णव पद अर्थात् वैकुण्ठ गमन करता है। देवतागण, अधिकार के बाद जिस प्रकार गमन करते हैं, एवं मैं गमन करता हूँ।" अर्थात् विरिञ्चि पद लाभ के बाद अधिक पुण्य के फलसे मुझको प्राप्त करता है। वह भागवत—देहान्त में "नामरूपे व्याकरवाणि" श्रुतिसिद्ध नामरूप व्याकरण का अविषय प्रपञ्चातीत वैष्णव पद—श्रीवैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। वेदान्त का "यावद् अधिकार तावत् अधिकार में अवस्थान" सूत्र—अधिकार पर्य्यन्त ही स्वीय पद में अवस्थान एवं सञ्चित कर्म ध्वंस की वार्त्ता की घोषणा करता है।

गोविन्दभाष्य—"न खलु सर्वेषां ब्रह्मविदां विद्यासिद्धौ सत्यां विमुक्तिरित्यस्माभिरुच्यते। किन्तु येषां सञ्चितस्य कर्मणो विद्यया विनाशः क्रियमाणस्य तया विश्लेषः शरीरारम्भकस्य तु तस्य भोगेन संक्षयस्तेषामेव तस्यां सेति। ब्रह्मादीनां त्वाधिकारिकाणां विनष्टविश्लिष्ट सञ्चित क्रियमाणकर्मणाप्यधिकारारम्भकं कर्म-यावदधिकारं न क्षीयते, अतस्तेषामेव तावत् प्रपञ्चे अवस्थितिर्भवेत्। तदारम्भकस्य तस्य समाप्ता तु ते विमुच्य परं पदं विशन्तीति इदन्तु बोध्यम्। अचिराधिकारा मघवाद्योऽधिकारास्ते चिराधिकारं ब्रह्माणं गच्छन्ति। तदधिकारान्ते तस्मिन् विमुक्ते तेन सहविमुच्यन्ते।"

अर्थात् "ब्रह्मविद्या की सिद्धि होने से ही मुक्त होगा", कथन विशेष रुचिकर नहीं है। विद्या के फल से सञ्चित कर्म विनष्ट होता है। भोग के द्वारा शरीरारम्भक कर्म विनष्ट होता है, पश्चात् मुक्ति होती है। तन्मध्य में आधिकारिक ब्रह्मादि पद प्राप्ति के अनन्तर परमपद में प्रविष्ट होता है।

इति न्यायेन ।। श्रीरुद्रः श्रीप्रचेतसः ।।

६३ । ततोऽस्खलनम् (३।२५।३७-३८)—

"अथो विभूतिं मम माययाचिता,-मैश्वर्य्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीश्चास्पृहयन्ति भद्रां, परस्य मे तेऽश्नुवते हि लोके ॥२३८॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्" ॥२३९॥

अथोऽविद्यानिवृत्त्यनन्तरं मम मायया भक्तविषयक-कृपया आचितां तदर्थं प्रकटितां विभूतिं भोगसम्पत्तिम्, तथा अणिमाद्यष्टैश्वर्य्यमनुप्रवृत्तं स्वभावसिद्धम्; तथा भागवतीं श्रियं साक्षाद्भगवत्-सम्बन्धिनीं सार्ष्टिसंज्ञां सम्पत्तिमपि अस्पृहयन्ति, भक्तिसुखमात्राभिलाषेण यद्यपि तेभ्यो न स्पृहयन्तीत्यर्थः, तथापि ते मे मम लोके वैकुण्ठाख्ये अश्नुवते प्राप्नुवन्त्येवेति स्ववात्सल्यविशेषो दर्शितः; यथा सुदाममालाकारवरे (भा० १०।४१।५१-५२)—

"सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्द्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥२४०॥

सर्वसम्वादिनी

वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" इति ।

किञ्च, (ऋक्-सं० १०म० १२९सू० १म०) "नासदासीदाख्ये" ब्रह्मसूक्ते ब्रह्मणि प्राकृतातीतस्य प्राणस्य सद्भावश्रवणेन तत्तन्निषेधवाकचम्—(मु० २।१।२) "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इत्यादिकं प्राकृत-विषयमेवेति गम्यते; यथा (ऋक्-सं० १०म० १२९सू० २म०)—

अनुवाद—

अतएव कालात्यय में भगवत् पद वैकुण्ठादि लोक प्राप्ति के सम्बन्धमें जो कथित है, वह वेदान्त सम्मत है। श्रीरुद्र प्रचेता को कहे थे ॥६२॥

भगवल्लोक से अपतन । पुण्यातिशय से भगवत् कृपा लब्ध वैकुण्ठादि लोक में गमन होता है। पुण्य लब्ध स्वर्गादि लोक से जिस प्रकार पतन होता है, उस प्रकार भगवत् कृपालब्ध वैकुण्ठादि लोक से पतन की सम्भावना नहीं है। उसकी आलोचना करते हैं —"जीव जब साधन सहकृत मदीय कृपा से अविद्या कवल से मुक्त होकर अणिमादि ऐश्वर्य्य प्राप्त करके भी मुग्ध नहीं होता। भक्तिबल से प्राप्त भोग के प्रति भी (अर्थात् स्वतः लब्ध वैकुण्ठस्थ भागवती सम्पत्ति के प्रति भी) निःस्पृह होता है। तथापि वह वैकुण्ठ लोक गमन करता है, एवं वहाँ अवस्थान करता है। किन्तु अन्यान्य लोक के समान भोक्ता का भोग्य काल का विनाश नहीं होता है। शुद्ध सत्त्वस्वरूप मदीय लोक में मत्परायण जीव कभी भी भोग हीन नहीं होता है।

पहले अधिकारी देवगण निज अधिकार की सीमा में रहते थे, अनन्तर साधनबल से वैकुण्ठ लोक प्राप्त करने से उन सबको मेरा कालचक्र ग्रास नहीं करता है। कारण—"जो सब जन मुझको सर्वापेक्षा प्रिय, आत्मा, स्नेहास्पद, विश्वासास्पद, उपदेष्टा, हितकारी, पूज्य रूपमें ग्रहण कर सर्वतोभाव से मेरी शरणापन्न होते हैं, वे सब मेरा कालचक्र के कवल से बाहर अवस्थान करते हैं।"

अर्थात् भक्त के प्रति कृपा करने के निमित्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्यादि भोग सम्पत्ति प्रकटित हैं। भक्त यदि उसका अभिलाषी नहीं होता है, तथापि उक्त लोक में उन सब की अवस्थिति सुस्थिरा होती है। यहाँ भगवान् का भक्तवात्सल्य प्रदर्शित हुआ है।

इति तस्मै वरान् दत्त्वा श्रियञ्चान्वयवर्द्धिनीम्" ॥२४१॥ इति।

अतस्तेषां तत्रानासक्तिश्च द्योतिता। अविद्यानिवृत्त्यनन्तरमिति मम कृपयाचितामिति च तेषामनर्थरूपत्वं खण्डितम्। किंवा माययाचितां ब्रह्मलोकादिगतां सम्पत्तिमपीति तेषां सर्ववशीकारित्वमेव दर्शितम्, न तु तद्भोगः, तस्यातितुच्छत्वेन तेष्वनर्हत्वात्। श्रुतिश्चात्र (छा० ८।१।६) "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवाऽमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इत्यनन्तरम् "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति। नन्वेवं तर्हि लोकत्वाविशेषात् स्वर्गादिवत् भोक्तृभोग्यानां कदाचिद्-विनाशः स्यात्, तत्राह—शान्तरूपे शान्तमविकृतं रूपं यस्य तस्मिन् वैकुण्ठे मत्परास्तद्वासिनो लोकाः कदाचिदपि न नङ्क्ष्यन्ति, भोग्यहीना न भवन्ति। अनिमिषो मे हेतिः मदीयं कालचक्रं नो लेढ़ि, तान्न ग्रसते; (छा० ८।१५।१) "न स पुनरावर्त्तते" इति श्रुतेः; (गी० ८।१६)—

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन। मां प्राप्यैव तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" ॥२४२॥

सर्वसम्वादिनी

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास" ॥६७॥ इति;

अत्र स आनीदिति प्राणकर्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः सन्तमेव प्राणं सूचयति। (बृ० २।३।१०) "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत्" इति श्रुत्यन्तरे च तत्सद्भावस्तस्मिँल्लक्ष्यते। तत्र "अवातम्" इति

अनुवाद—

सुदामा मालाकार के प्रति सन्तुष्ट होकर भगवान् जिस प्रकार वर प्रदान किए थे, श्रीभगवान् को वर प्रदान में उद्यत देखकर (सामान्यावस्थापन्न होकर भी) सुदामा ने वर प्रार्थना की—"हे भगवन्! अखिल ब्रह्माण्डाधिपति आपके प्रति मेरी अचला भक्ति हो, आपके भक्तगणों की कृपासौहार्द्द प्राप्त कर सकूँ, और सर्व प्राणियों के प्रति दयाभाव का आचरण भी कर सकूँ।" श्रीभगवान् भक्त को प्रार्थित वर प्रदान किए थे, किन्तु भक्तवात्सल्य स्वभाव से वशीभूत होकर सुदामा को अप्रार्थिव अन्वय (कुल, सन्तति प्रभृति) वर्द्धन कारिणी भागवती "श्री" प्रदान भी किए थे।

यहाँ भगवान् का भक्तवात्सल्य एवं भक्त की भोग के प्रति अनासक्ति प्रख्यापित हुई। 'अविद्यानन्तर' 'मेरी कृपा से प्राप्त' एतदुभय पद से,—'साधारण दृष्टि से सम्पद अनर्थ का मूल होने से भी' भगवत् कृपा लब्ध सम्पद् की अनर्थरूपता खण्डित हुई है। अथवा 'माययाचित' शब्द का अर्थ—ब्रह्मादि लोकगत सर्व सम्पत्ति को वशीभूत करने की सामर्थ्य भक्त की है, तथापि भक्त का उसके प्रति तुच्छ ज्ञान ही होता है, एवं अयोग्य भोग से भक्त विरत होता है, यह सूचित हुआ है।

श्रुति कहती है—"इहलोक में जिस प्रकार कर्मार्जित पुण्यलब्ध भोग का क्षय होता है, तद्रूप परलोक में भी कर्मार्जित पुण्यलब्ध लोक का एवं भोग का क्षय होता है।" तत्पश्चात् उक्त श्रुति कहती है,—"जो इहलोकमें आत्मा को जान कर, सत्यफल को अवगत होकर लोकान्तर गमन करता है, वह जन सर्वत्र स्वच्छन्दचारी होता है।" इस कथन से समस्त लोक एक स्थिति सम्पन्न होने से, वैकुण्ठ लोक में भी भोग भोक्ता का कदाचित् विनाश की सम्भावना हो? उत्तर में कहते हैं—"शान्तरूपे" अर्थात् "शान्त अविकृत रूप वैकुण्ठ लोक में मत्परायण तल्लोकवासिगण कभी भी भ्रष्ट अथवा भाग्यहीन नहीं होते हैं। कालचक्र भी ग्रास नहीं करता है, पुनरावृत्ति भी नहीं होती है।" श्रुति में नित्यावस्थिति का संवाद वर्णित है।

भगवद्गीतोपनिषद् में उक्त है—"हे अर्जुन! पृथिव्यादि से ब्रह्मलोक पर्य्यन्त समस्त की पुनरावृत्ति है,

इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः; (शाङ्कर-७५) सहस्रनामभाष्येऽप्युक्तम्,—"परमुत्कृष्टमयनं स्थानं पुनरावृत्तिशङ्कारहितम्" इति परायणः; पुंलिङ्गपक्षे बहुव्रीहिरिति। न केवलमेतावत्तेषां माहात्म्यमित्याह—येषामिति; येषां मां विना न कश्चिदपरः प्रेमभाजनमस्तीत्यर्थः; यद्वा, गोलोकादिकमपेक्ष्यैवमुक्तम्। तत्र हि तथाभावा एव श्रीगोपा नित्या विद्यन्ते। अथवा तं लोकं कीदृग्भावा अविद्यानिवृत्त्यनन्तरं प्राप्नुवन्तीति, तत्राह—येषामिति। ये केचित् पाद्मोत्तरखण्डे दर्शितमुनिगणसवासनाः प्रियः पतिरिति मां भावयन्ति, ये केचिच्च सनकादि-सवासनाः, आत्मा ब्रह्मैवायं साक्षादिति मां भावयन्ति, एवमन्ये च ये ये, त एव प्राप्नु-वन्तीत्यर्थः। सुहृद इति बहुत्वं सौहृद्यस्य नानाभेदापेक्षया। एवं चतुर्थे श्रीनारदवाक्ये (भा० ४।१२।३७)— "शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युत-प्रियबान्धवाः" ॥२४३॥ इति ॥श्रीकपिलः॥

६४। प्रपञ्चातीतत्वं ततोऽस्खलनञ्च युगपदाह (भा० १२।११।१९) "आतपत्रन्तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम्" इति। प्रपञ्चरूपस्यैवेति प्रकरणात् द्विजा इति सम्बोधनम्॥श्रीसूतः॥

सर्वसम्वादिनी

विशेषणात्तु प्राकृत-वातत्वं निषेधतीति स्पष्टमेव। ततस्तथाविध-प्राणत्व-श्रवणेन तत्सहचारिणः श्रीविग्रहस्य सद्भावस्तादृशभावश्च गम्यत एव। (रामायणे उत्तर-का० ७)

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्य्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" ॥६८॥

अनुवाद—

किन्तु हे कौन्तेय! जो लोक मुझको प्राप्त करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।" सहस्रनाम भाष्य में उक्त है—"परायणः" सर्वपेक्षा उत्कृष्ट स्थान है जिनका' जिस स्थानमें गमनकारि की पुनरावृत्ति शङ्का नहीं है। (पुरुषोत्तम पक्ष में ही बहुव्रीहि समास हुआ है। उक्त लोकादि में गमनकारि की महिमा उस प्रकार ही नहीं है। वे सब अपर वस्तु में सम्पूर्ण अनासक्त होते हैं, मैं छोड़कर उन सबका प्रीतिपात्र अपर कुछ भी नहीं है। वे सब मुझको सर्वार्पण करते हैं। अथवा गोलोकादि की अपेक्षा से उक्त प्रियत्वादि की उक्ति से नित्य गोपीगण की विद्यमानता को जानना होगा।

अथवा मूल श्लोक जिस लोक की बात हुई है, उक्त लोक कीदृश भावापन्न है। अविद्यानाशानन्तर उसकी प्राप्ति होती है, अथवा नहीं? उत्तर में कहते हैं,- मैं ही जिसके पति प्रभृति हूँ। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में उक्त है,—मुनिगण पति, प्रिय, इत्यादि भावसे भावना करते हैं। सनकादि आत्मा रूपमें भावना करते हैं। अथवा एतादृश भावना सम्पन्न जो जन जिस भाव से मेरा भजन करता है, तदनुरूप प्राप्ति उसकी होती है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यादि श्लोक में स्पष्टतः भावानुरूप भगवत् प्राप्ति का विषय निर्द्धारित है। "सुहृदः" इस पदमें बहुवचन प्रयोग है। सौहार्द्य के विविध भोग को लक्ष्य कर ही बहुवचन प्रयोग सार्थक है। चतुर्थ स्कन्ध में श्रीनारद की उक्ति इस प्रकार है—"शान्त, समदर्शी, शुद्ध, सर्वभूत रञ्जक, अच्युतप्रिय बान्धवगण, अच्युत के धाम गोलोकादि को जाते हैं।" इस उक्ति से धाम की चित्स्वरूपता एवं धाम (वैकुण्ठादि से पतन की आशङ्का हीनता का प्रदर्शन हुआ है।

श्रीकपिलदेव कहे थे ॥६३॥

धाम का प्रपञ्चातीतत्व एवं उससे अपतन का वृत्तान्त युगपत् कहते हैं। "हे द्विजगण! वैकुण्ठ धाम निर्भय आतपत्रस्वरूप है, वहाँ जीवगण निर्भय होते हैं।"

श्रीभगवत् सेवोपयोगी चामरादि प्रापञ्चिक वस्तु होने से भी उक्त वस्तु भगवत् सेवा में प्रयुक्त होने से

६५ । नैर्गुण्यप्राप्यत्वम् (भा० ११।२५।२२)—

"सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः" ।।२४४।।

लोकप्रसक्तेर्मल्लोकमिति वक्तव्ये तत्प्राप्तिर्नाम मत्प्राप्तिरेवेति स्वाभेदमभिप्रेत्याह—मामेवेति ।। श्रीभगवान् ।।

६६ । सुतरां नैर्गुण्याश्रयत्वम् (भा० ११।२५।२२)—

"बनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्" ।।२४५।।

तदावेशेनैवास्यापि निर्गुणत्वव्यपदेश इति भावः । स एव प्रकृतेः परत्वम् (भा० १०।८८।२५-२६)

"ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ।
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।।२४६।।

सर्वसम्वादिनी

इति चैवं व्याख्यायते ।—(रामा० उत्तर-का० ३२) "रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपं, गदारिशङ्खाब्जधरम्" इति तत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् पृथक्शरीरधारिता-रहितस्य रूपकल्पनार्थ्टविध-प्रतिमारचनं विधीयत इत्यर्थः । स च श्रीविग्रहोऽनन्तरूपात्मक एव,—श्रुत्यन्तरे तेषां रूपाणामेतावत्त्व-निषेधात् । तथा हि—(बृ० २।३।१) 'मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च' इत्युपक्रम्यामूर्त्तरूपस्य च पुरुष-शब्दोदितस्य महा-रजनादिरूपाणि दर्शयित्वा तदनन्तरम्,

अनुवाद—

अप्रापञ्चिक अवस्था में उपनीत होती है । इसको दर्शाने के लिए उक्त समस्त विषय का उल्लेख कर कहते हैं । वैकुण्ठ ही आतपत्र स्वरूप है, संसार सूर्य्य किरण से उत्तप्त शिरा जीव, यदि किसी प्रकार भाग्योदय से वैकुण्ठ लोक गमन कर सकता है । धाम,—स्वीय शीतल छाया से उसका समस्त उत्ताप एवं भय विदूरित कर देता है । यहाँ तात्पर्य्य यह ही है । श्रीसूत की उक्ति है ।।६४।।

नैर्गुण्य प्राप्यत्व । उक्त धाम त्रिगुणातीत है । जो लोक सत्त्वगुण में प्रलीन होती है । मृत्यु के समय सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने से स्वर्गलोक गमन होता है, रजोगुण के उत्कर्ष से नरलोक, तमोगुण का उत्कर्ष होने से नरकादि में गति होती है । किन्तु निर्गुण भावापन्न जीव समूह मुझमें (मदीय स्वरूपभूत लोकमें) निवास करते हैं । यहाँ लोक की प्रसक्ति वशतः मदीय लोक न कहकर मुझको प्राप्त करता है, इस उक्ति का तात्पर्य्य है—वैकुण्ठ प्राप्ति भी मेरी प्राप्ति ही है । स्वीय धाम एवं स्वरूप का अभेद कथनाभिप्राय से ही ईदृशी उक्ति हुई है । यह उक्ति श्रीभगवान् की है ।।६५।।

धाम की नैर्गुण्याश्रयता । पूर्वोक्त शास्त्र वाक्यानुसार भगवद् धाम का नैर्गुण्याश्रयत्व सिद्ध होता है । अन्यत्र वर्णित है—"बन में निवास करने से सात्त्विक वास, ग्रामादि नगर में वास—राजस वास, द्यूतादि अपवित्र स्थान वास—तामस वास, मेरा निकेतन में वास, अर्थात् जहाँ मेरी श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठित हैं, जहाँ नित्य श्रीविग्रह की अर्चनादि होती है, वहाँ का निवास निर्गुण है ।" यहाँ श्रीभगवान् के नित्य सान्निध्य के आवेश से निर्गुणता का वर्णन हुआ है, तद्रूप श्रीमन्दिरादि श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठित गृहादि को निर्गुण जानना होगा । अतः कैमुतिक न्याय से मथुरामण्डलादि धाम का निर्गुणत्व, स्वतःसिद्ध है । अतएव वैकुण्ठादि लोक का अप्राकृतत्व निश्चित है ।

"अनन्तर देवादिदेव महादेव वृकासुर के भय से भीत होकर तमोगुणातीत स्वतः भास्वर वैकुण्ठ को गये थे । जो योगिगण की परम गति है । अर्थात् जो लोक भगवान् के सन्तोष के निमित्त अशेषविध

शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्त्तते गतः" ॥२४७॥

अगमत् जगाम, शिव इति शेषः ॥ श्रीशुकः ॥

६७। नित्यत्वम् (भा० २।५।३६)—

सर्वसम्वादिनी

(बृ० २।३।६) "अथात आदेशो नेति नेति" इत्यत्र समाप्तचर्थत्वादियत्ता-वाचकेन 'इति'-शब्देन प्राकृत-रूपस्यैतावत्त्वं निषेधति। पुनः स्वयमेव सा श्रुतिः—(बृ० २।३।६) "न ह्येतस्मात्" इति, "नेत्यन्यत् परमस्ति" इत्यत्रादेशवाक्यमेव व्याचक्षाणा ततः परमन्यदपि रूपवृन्दमस्तीति ब्रवीति, "न ह्येतस्मान्मूर्त्त-लक्षणाद्रूपादमूर्त-लक्षणं रूपमित्येतावदेव वक्तव्यम्, किन्तु नेति-नैतावत्;यतोऽन्यदपि परं रूपमस्तीत्यादेश-

अनुवाद—

कर्म परित्याग किये हैं, राग-द्वेषादि रहित भगवन्निष्ठ चित्त हैं। अतएव हिंसादि जहाँ वर्त्तमान नहीं हैं, ऐसे महात्मागण वैकुण्ठलोक को परम श्रेष्ठ प्राप्य मानते हैं, जहाँ से पुनरागमन नहीं होता है।

वेदान्तदर्शन में उक्त धाम का नित्यत्व एवं नैर्गुण्यत्व उक्त है, गोविन्दभाष्य—"तत्प्राप्तिलक्षणा मुक्तिः क्षय्यास्यादक्षय्या वेति। लोकत्वाविशेशात् सर्गादिव, तस्मात् पातसम्भवात् क्षय्या स्यादिति प्राप्ते—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।" वेदान्त, सू० ४।४।२२ भागवदुपासनया तदवगतिपूर्वया तल्लोकं गतस्य न तस्माद् आवृत्तिर्भवति। कुतः शब्दात्। "एतेन प्रतिपाद्यमाना इदं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" (छान्द० ३८।१५।१)

"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः सत्सिद्धि परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन! मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥"

न च सर्वेश्वरः श्रीहरिः स्वाधीनमुक्तं स्वलोकं कदाचित् पातयितुमिच्छेत् मुक्तो वा कदाचित् तं जिहासेदिति शक्यं शङ्कितुम्? "प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च ममप्रियः" इत्यादिषु द्वयोर्मिथः स्नेहाति-शयाभिधानात्।

"ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तां स्त्यक्तुमुत्सहे॥"

अर्थात् भगवत्धाम प्राप्ति लक्षणामुक्ति क्षय्या अथवा अक्षय्या है? कारण लोकत्व अविशेषहेतु स्वर्गादि लोक से पतन सम्भावनावत् भगवत् लोक से भी पतन हो? उत्तर में कहते हैं,—श्रुत्यादि शास्त्र से अनावृत्ति ही श्रुत है। भगवान् को जानकर जो उपासना हुई है, उक्त उपासना से प्राप्त लोक से पुनरावृत्ति नहीं होती है। कारण शास्त्र का कथन है—"उक्त मार्ग से गमनरत व्यक्ति की पुनरावृत्ति नहीं होती है।" गीता में भगवान् स्वयं ही कहे हैं—"जो महात्मा मुझको प्राप्त करता है, उसको परमासिद्धि होती है, उसको पुनर्बार अनित्य दुःखबहुल जन्म लेना नहीं पड़ता है। हे अर्जुन! आब्रह्म भुवनादि पुनरावृत्ति धर्म सम्पन्न हैं, किन्तु जो जन मेरा आश्रय ग्रहण करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। कारण सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि निज लोक प्राप्त किसी भक्त को पातित करने की इच्छा नहीं करते हैं। मुक्त होने से स्वयं ही उसको त्याग करता है? ऐसा भी नहीं होता है। भगवान् स्वयं कहे हैं—ज्ञानिगण मेरा अत्यन्त प्रिय हैं, मैं भी उनका अत्यन्त प्रिय हूँ। सुतरां उभय परस्पर स्नेहातिशय्य से आबद्ध होकर कोई किसी को परित्याग करने में सक्षम नहीं होता है। भगवान् स्वयं कहे हैं—"बन्धन का मूल कारणस्वरूप पत्नी, गृह, पुत्रादि, धन-सम्पद्—यहाँतक प्राण का महत्व को भी छोड़कर जिसने मेरी शरण ली है, मैं कैसे उसको त्याग करूँ?"

वेदान्तसूत्र एवं भाष्य का तात्पर्य्य से भगवल्लोक की नित्यता एवं अक्षय्यता विशेष रूपसे प्रतिपादित हुई हैं। यह उक्ति श्रीशुक महाशय की है॥६६॥

भगवद्धाम की नित्यता। भगवद्धाम की नित्यता के सम्बन्ध में पुनर्बार कहते हैं, लोक निर्म्माण के

"ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात् ।
मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः" ॥२४८॥

टीका च—"ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यः, स तु सनातनो नित्यः, न तु सृज्यप्रपञ्चान्तर्वर्त्तीत्यर्थः" इत्येषा । ब्रह्मभूतो लोको ब्रह्मलोकः ॥ श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ॥

६८ । मोक्षसुखतिरस्कारि-भक्तैकलभ्यत्वम् (भा० ३।१५।२३, २५)—

"यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा,-च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा,-स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त" ॥२४९॥
यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या, दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्त्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग, वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः" ॥२५०॥

यद्वैकुण्ठम्, यच्च नोऽस्माकमुपरिस्थितं व्रजन्ति, नः स्पृहणीयशीला इति वा । दूरे यमो येषां ते, सिद्धत्वेन दूरीकृतयमनियमाः सन्तो वा व्रजन्तीति । "भर्त्तुर्मिथः सुयशसः" इत्यनेन तथाविधाया भक्तेर्मोक्षसुखतिरस्कारित्व-प्रसिद्धिः सूचिता, (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं

सर्वसम्वादिनी

वाक्यार्थ इत्यर्थः । एवमेवाह सूत्रकारः (ब्र०सू० ३।२।२२)—"प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" इति । अत्र रूपमात्रनिषेधे श्रुत्यभिप्रेते सति महा-रजनादि-सदृशरूपमलोकप्रसिद्धं स्वयमुपदिश्य पुनर्निषेधकारिण्यास्तस्या उन्मत्त-प्रलपिता स्यात् । सूत्रकारस्य चैतावत्त्वमिति संख्यात्मकभाव-प्रयोगोऽसमीक्षाकारितायै भवेत् । एतद्रूपञ्च निषेधतीत्येव सूचयितुं कथञ्चिदुक्तं स्यादिति ।

अनुवाद—

प्रसङ्ग में उक्त है—"ग्रीवा में जनलोक, स्तनद्वय से तपोलोक, मस्तक से सत्यलोक—नित्य ब्रह्मलोक उद्भूत है । उक्त श्लोक की टीका में स्वामिपाद ने कहा है—ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठलोक नित्य है । वह सृज्य नहीं है, प्रपञ्चान्तर्वर्त्ति नहीं है । अतएव ब्रह्मभूत लोक—ब्रह्मलोक इस प्रकार अर्थ ही यहाँ सङ्गत है । सुतरां उसका स्वतःसिद्धत्व एवं अप्रापञ्चिकत्व स्वाभाविक है । ब्रह्माजी श्रीनारद को कहे थे ॥६७॥

मोक्षसुख तिरस्कारित्व एवं भक्तिलभ्यत्व । श्रीभगवद् धामादि प्राप्त सुख, मोक्षसुख को तिरस्कार करता है, उस सुख लाभ केवल भक्ति से ही होता है । श्रीहरि धाम गमन सब के लिए सम्भव नहीं है । अर्थात् जो लोक श्रीहरि की लीला कथा का बुद्धि नाशक अर्थ करता है, काम भोग में आसक्त चित्त है । कुकर्म के द्वारा हृत पुण्य हतभाग्य जीव, भजनोपयोगी नरदेह प्राप्त करके भी काम भोग में मुग्ध होता है, और उस प्रसङ्ग में ही जीवनपात करता है । अतीव दुःख की बात है कि वह निरालम्व नरक में गिर जाता है । किन्तु जो लोक पुरुषश्रेष्ठ श्रीहरि की कथा को सुनता है, उनकी उपासना में रत होता है, यमराज उससे दूर रहते हैं । स्पृहणीय परम-करुण-स्वभाव हरिभक्तगण श्रीहरि के यशोगान से विभोर होकर उक्त शाश्वत धाम गमन करते हैं । अर्थात् वैकुण्ठादि धाम समस्त लोकों के उपरि विद्यमान है । भक्तगण श्रीहरि भजन में परिनिष्ठित होकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम को दूर से परित्याग करते है, श्रीहरि के यशोगान में वे सब मत्त होते हैं । यमादि को परित्याग करते हैं भक्ति करने से ही, मोक्षसुख तिरस्कार करने का बोध होता है ।

सनकादि कुमारगण भक्ति की प्रार्थना किये थे, एवं भक्तगण के सुखातिशय्य को प्रकट किये थे । "हे भगवन् ! आपके चरणारविन्दैक शरण भक्तगण आपके पवित्र यशोगानानन्द से तन्मय होकर आपके द्वारा प्रदत्त मोक्षाख्य कृपा को भी जब अत्यन्त सुखकर नहीं मानते हैं, तब अति तुच्छ इन्द्रादि देवत्व की कथा

विगणयन्त्यपि" इत्यादौ "येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायां, कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः" इति सनकाद्युक्तेः ॥ श्रीब्रह्मा देवान् ॥

६९। सच्चिदानन्दरूपत्वम् (भा० ११।२०।३७)—

"एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः। क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः"॥२५१

मे पथः—ज्ञान-कर्म-भक्तिलक्षणान् मत्प्राप्त्युपायान्; ज्ञानकर्मणोरपि भक्तेषु भक्तेः प्रथमतः क्वचित् कदाचित् किञ्चित् साहाय्यकारित्वात्। क्षेमं मद्भक्तिमङ्गलमयं यत् स्थानं परमं ब्रह्मेतिविदुर्जानन्ति; इत्थमेवोदाहरिष्यते च (भा० १०।२८।१५-१६)—

"इति सञ्चिन्त्य भगवान्महाकारुणिको विभुः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥२५२॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः" ॥२५३॥ इति।

उभयत्रापि चकाराद्यध्याहारादिना त्वर्थान्तरं कष्टं भवति। तैरेव च "तमसः—प्रकृतेः परम्" इति वैकुण्ठस्यापि विशेषणत्वेन व्याख्यातमिति ॥ श्रीभगवान् ॥

७०। तथैव (भा० २।२।१७-१८)—

सर्वसम्वादिनी

अथ पञ्चचत्वारिंशस्य वाक्यस्य व्याख्यान्ते इदं विचार्य्यम्।—यद्यस्य तस्य श्रीविग्रहस्य परिच्छिन्नत्वेऽप्यपरिच्छिन्नत्वं श्रूयते, तच्च युक्तम्;—अचिन्त्यशक्तित्वात्, सर्वेषां विभुत्वादि-परमशक्तीनामेकाश्रयत्वाच्च; यथैव हि श्रीकृष्णविग्रहमधिकृत्योज्जगौ। मूलेऽपि यथा च दहराकाश-संज्ञस्य परमेश्वरस्य; तथा हि (छा० ८।१।१) "दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशे" इत्युक्त्वोच्यते—(छा० ८।१।३) "यावान्

अनुवाद—

की वार्त्ता ही क्या है? यहाँ "भर्त्तुर्मिथः" इत्यादि शब्द से पूर्व कथित भक्ति से मुक्ति का हीनत्व सुस्पष्ट सूचित हुआ है। देवगण के प्रति ब्रह्मा का कथन है ॥६८॥

सच्चिदानन्दरूपत्व। धाम सच्चिदानन्द है। यथा—"मदादिष्ट पथावलम्बी पुरुषगण (भक्तगण) मेरा परममङ्गलमय धाम को प्राप्त करते हैं, एवं परतत्त्व का परिचय प्राप्त करते हैं।" अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान, कर्म, भक्ति लक्षण, मत् प्राप्ति के उपायभूत पथ के अवलम्बन से मुझको मेरे धामको प्राप्त करते हैं। भक्ति—मुझको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। ज्ञान एवं कर्म कभी कभी सहायक होता है। प्राथमिक अवस्था तत्त्व बोध के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। कर्म चित्तशुद्धि करता है, किन्तु भक्ति से उक्त ज्ञान कर्म विदूरित हो जाता है। शुद्ध भक्ति का उदय होने से ज्ञान कर्म अपसृत हो जाता है, उस समय भक्ति से ही समस्त तत्त्व की सम्यक् स्फूर्त्ति होती है, एवं आपकी कृपा से वे सब वैकुण्ठ गमन करते हैं।

अन्यत्र ईदृश उदाहरण—"महाकारुणिक भगवान् विभु, इस प्रकार चिन्ता करके गोपगण को तमोगुण के अतीत, स्वीय लोक दर्शन कराये थे।"

"अजड़, चित्स्वरूप, स्वप्रकाश, सनातन ब्रह्मस्वरूप धाम है। जिसका दर्शन मुनिगण गुणापाय से समाहित होकर करते हैं।" उभय श्लोकों की व्याख्या चकाराध्याहार कर अर्थान्तर करने से कष्ट कल्पना का अवलम्बन होता है। कारण—तमोगुणातीत अर्थात् प्रकृत्यतीत विशेषण वैकुण्ठ लोक का है। अतएव भक्तिलभ्य भगवद्धाम नित्य एवं सच्चिदानन्दमय है। श्रीभगवान् स्वयं कहे थे ॥६९॥

"न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः, कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च, न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥२५४॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तत्,-यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा, हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे" ॥२५५॥

अतत्—चिद्व्यतिरिक्तम्; नेति नेतीत्येवमुत्स्रष्टुमिच्छवो दौरात्म्यं भगवदात्मनोरभेद-दृष्टिं विसृज्य, अर्हस्य श्रीभगवतः पदं चरणारविन्दम्, पदे पदे प्रतिक्षणम्, हृदा उपगुह्य आश्लिष्य, नान्यस्मिन् सौहृदं येषां तथाभूताः सन्तो यदामनन्ति जानन्ति, तद्वैष्णवं पदं श्रीवैकुण्ठमिति ब्रह्मस्वरूपमेव तदिति तात्पर्यम्। अनेन प्रेमलक्षणसाधनलिङ्गेन निराकार-रूपमर्थान्तरं निरस्तम्। अत्र निराकारपरायणस्यापि मुक्ताफलटीकाकृतो (१म-अ० ८) दैवाभिव्यञ्जिता गीर्यथा,—"तत् परं पदं वैष्णवमामनन्ति, अधिकृताधिष्ठितराजाधिष्ठितत्ववत् ब्रह्मादि-

सर्वसम्वादिनी

वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति। दृष्टान्तश्चायमिषुवद्गच्छतीति, सवितेतिवदत्यन्तं महत्त्वमेव निर्दिशति। वाक्यान्तराणि च-(छा० ३।१४।३) "ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इति,(छा० ८।१।३) "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च" इति, "सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" इति "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" इति च। अत्र यावता हृदयपुण्डरीका-

अनुवाद—

वैकुण्ठ धाम प्राप्त होने से साधक कृतकृत्य होता है। अर्थात् जिसको प्राप्त करने से अपर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता है। अन्य प्रकरण में उक्त है—"जहाँ देववृन्द का श्रेष्ठ काल भी आत्मशक्ति परिचालन करने में सक्षम नहीं होता है, देवगण निज शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। सुतरां देवता के नियम्य प्राणीवृन्द की कथा हो ही नहीं सकती है। कारण वैकुण्ठ लोक उपाधिशून्य है। सत्त्व, रज, तमोगुण वहाँ नहीं हैं। गुणों के विकारभूत, अहङ्कार, महत्तत्त्व, अथवा प्रधान भी वहाँ नहीं हैं। अतत्—चित् व्यतीत अपर कुछ भी नहीं है, आत्मातिरिक्त अपर कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन के द्वारा देहादि में आत्मबुद्धि रूप दौरात्म्य को परित्याग करने से श्रीभगवान् में अनन्य सौहार्द्द होता है। उस से श्रीभगवत् पादपद्म को हृदय में धारण हेतु उक्त वैष्णवपद वैकुण्ठ धाम को सर्वश्रेष्ठ रूप में भक्तगण आश्रय करते हैं।" अर्थात् "अतत्" चिद् व्यतिरिक्त वस्तु है, "नेति नेति" इत्यादि रूप से उक्त अतद् वस्तु को त्याग करने के लिए इच्छुक होकर देहात्मबुद्धि एवं अनन्त कल्याणगुणनिलय षडैश्वर्य्यपूर्ण श्रीभगवान् के सहित जीवात्मा की अभेद बुद्धि विसर्जन कर परमपूज्य विश्वनियन्ता देवगण के आराध्य श्रीभगवान् के चरणारविन्द को प्रतिक्षण हृदयमें धारण भक्तगण करते हैं। यहाँ 'उपगुह्य' शब्द का अर्थ—आलिङ्गन। संसार में अज्ञ जीव हृदय के तापोपशम की कामना से कमनीय प्राणाराम रूपमें जिसको आलिङ्गन करता है। उस सबकी नश्वरता एवं मनोहरता के परिवर्त्तन में दुःखबहुलता को उपलब्धि कर, उस सब को परित्याग भक्तगण करते हैं। चिर अविनश्वर, नित्य कमनीय श्रीभगवान् के चरणारविन्द को हृदय में धारण कर उनके माधुर्य्य स्निग्धत्व से मुग्ध होकर उनको त्याग करने में सक्षम नहीं होते हैं। उस समय दिव्य ज्ञानोदय होने से उनको ही एकमात्र सुहृद् जानकर अपर सब सौहार्द्द परित्याग पूर्वक उनमें ही सौहार्द्द स्थापन करते हैं, एवं उस वैष्णव पद को अर्थात् ब्रह्मस्वरूप वैकुण्ठलोक को जानने में सक्षम होता है। प्रेमलक्षण इस साधन से निराकाररूप अर्थान्तर निरस्त हुआ है।

मुक्ताफल टीकाकार निराकार वाद को मानने पर भी दैव प्रेरित उनकी वाणी इस प्रकार है—"तत्

पदानामपि विष्णुनाधिष्ठितत्वात् परमित्युक्तम्, विष्णुनैवाधिष्ठितमित्यर्थः" इति। अतएव श्रुतावपि तस्य स्वमहिमैकप्रतिष्ठितत्वम् (छा० ७।२४।१) "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति। अतएवोक्तम् (कठ० १।२।२५) "क इत्था वेद यत्र सः" इति ।। श्रीशुकः ।।

७१। "क इत्था" इत्यादि श्रुतेरर्थत्वेनापि स्पष्टमाह (भा० ४।२९।४९)—

"स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्द्दनः। आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः" ।।२५६।।

ये धूम्रधियो वेदं सकर्मकं कर्ममात्रप्रतिपादकमाहुस्ते जनार्द्दनस्य स्वं स्वरूपं लोकं न विदुः, किन्तु स्वर्गादिकमेव विदुः। यत्र लोके ।। श्रीनारदः प्राचीनर्वाहिषम् ।।

७२। एवञ्च (भा० ६।९।३२) "ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्" इत्यादि-गद्ये "परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावित-परिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकवाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्।"

सर्वसम्वादिनी

न्तर्वर्त्तित्वम्, तावतैव सर्वव्यापकत्वमचिन्त्यशक्ति विना न सम्भवति। न हि घटवर्त्याकाशो यावान्, तावदेव चन्द्रसूर्याद्याधारत्वं युज्यत इति। न च हृत्पुण्डरीके ब्रह्मणः प्रतिविम्वत्वात् सर्वसमावेशः सम्भवतीति। विभोः परिच्छिन्नोपाधौ सामस्त्येन प्रतिविम्वत्वमदृष्टचरम्। न हि घटादावाकाशः सामस्त्येन प्रतिविम्वत्वमापद्येतेति। तस्मादचिन्त्यैव शक्तिर्योगमायाख्या तत्राभ्युपगमनीया।

अनुवाद—

परं पदं वैष्णव मामनन्ति" उस परम पदको वैष्णव पद कहते हैं। अधिकृत राज्यादि सम्पद् में अधिष्ठित राजा का यद्रूप स्थिर अधिष्ठित धर्म है, तद्रूप ब्रह्मादि पद का भी विष्णु कर्त्तृक अधिष्ठितत्व निबन्धन ही परत्व उक्त हुआ है। अर्थात् ब्रह्मादि पद श्रीविष्णु कर्त्तृक अधिष्ठित है, यहाँ का तात्पर्य्य है। अतएव श्रुति उनकी स्वीय महिमा में प्रतिष्ठित वर्णना करती है। "वह भगवान् कुत्र अधिष्ठित हैं? स्वीय महिमा में।" कठोपनिषद् में उक्त है—"प्राकृत बुद्धियुक्त यथोक्त साधनरहित व्यक्ति उनको जान नहीं सकता है। शाङ्करभाष्य—"प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था-इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः। वेद विजानाति यत्र स आत्मेति।" उक्त भाष्य की टीका—"यत्र स्वे महिम्नि स विश्वोपसंहर्त्ता वर्त्तते तथाभूतं तं को वेदेति सम्बन्धः।।" (कठ, ३, १।२।२५) श्रीशुकदेव की उक्ति है ।।७०।।

"कौन उनको जान सकता है?" इत्यादि कठ श्रुति का अर्थरूप श्रीभागवत पद्य सुस्पष्ट रूपसे कहते हैं—"मलिन बुद्धिसम्पन्न अज्ञ जनगण वेदको स्वर्गादि लोक का साधनाङ्गभूत काम्यकर्मादि पर मानते हैं। वे सब वेदतत्त्वानभिज्ञ हैं, कारण—वे सब उनके स्वरूपभूत आत्मतत्त्वाख्य लोकपर अर्थ को नहीं जानते हैं, वहाँपर देव जनार्दन साक्षात् विराजित हैं। अर्थात् कर्मफल से स्वर्गादिका ज्ञान ही होता है, साध्यसारभूत वैकुण्ठादि दिव्य धाम का ज्ञान उन सब का नहीं होता है।

श्रीनारद महाशय प्राचीन वर्हिष को कहे थे ।।७१।।

अन्यत्र इस प्रकार विशेष उक्ति है—मिताक्षरता निबन्धन पद्य के द्वारा श्रीभगवान् के गुण योजन में अक्षम होकर "ओं नमस्ते भगवन्" इत्यादि गद्य अवलम्बन से देवगण भगवान् का स्तव करते हैं। एतत् सम्बन्ध में स्वामिपाद रचित श्लोक—

"मिताक्षराणि पद्यानि नमीयन्त हरेर्गुणाः। इति पद्यैरतुष्यन्तः सद्यो गद्येन तुष्टुवुः।।"

"परमहंस परिव्राजकगण के द्वारा आत्मयोगाख्य परमसमाधि में परिभावित एवं परिस्फुट पारमहंस्यधर्म रूप भगवद्भजन द्वारा तमः रूप हृदय कपाट उद्घाटित होने से स्वस्वरूप स्वतः अभिव्यक्त होता है। उक्त

तमः प्रकृतिरज्ञानं वा; आत्मलोके स्व-स्वरूपे लोके ; (वृ० ४।३।३२) **"एष आत्मलोक एष ब्रह्मलोकः" इति,** (मु० २।२।७) **"दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष परमात्मा प्रतिष्ठितः" इत्यादि श्रुतौ ;**

"यत्तत् सूक्ष्मं परमं वेदितव्यं, नित्यं पदं वैष्णवमामनन्ति ।
एतल्लोका न विदुर्लोकसारं, विदन्ति तत् कवयो योगनिष्ठा." ॥२५७॥

इति पिप्पलादशाखायाम्; (महा०ना० ८।१४) **"परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति" इति परस्याम् ;** (नृ०ता०पू० ५।१०) **"तद्वा एतत् परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न दुःखादि, न सूर्य्यो भाति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमास्तपति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दोषस्तदानन्दं शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयम्, यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते योगिनः ; तदेतदृचाभ्युक्तं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्" इति श्रीनृसिंहतापन्याम् । न त्वियमपि ब्रह्मपरत्वेनैव व्याख्येया, वन्दितत्वेन यत्र गत्वेत्यनेन च तदनङ्गीकारात् । यतः श्रीविष्णुपुराणे च श्रीविष्णुलोकमुद्दिश्य ऋगियमनुस्मृता; यथा** (वि०पु० २।८।९३-९८)—

सर्वसम्वादिनी

एवमेवैकैर्ब्रह्मसूत्रेषु वैश्वानराख्यस्य प्रादेश-मात्रत्वेन श्रुतस्य परमपुरुषस्य विचारे सिद्धान्तितम् ; (ब्र० सू० १।२।३१) "सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति" इत्यत्र यथा सम्पत्तिरचिन्त्यैश्वर्य्यम् । श्रुतिश्च तथा दर्शयति ;—(छा० ५।१८।१) "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति ;—मितत्वेन, सर्वतो विगतमानत्वेन च दर्शनात् । तत्रैव प्रादेशमात्रे– (छा० ५।१८।२) "तस्य ह वा

अनुवाद—

सुखानुभव रूप महिमा में अवस्थित श्रीभगवान् आप हैं ।" अर्थात् तमः प्रकृति से अज्ञान का बोध होता है । आत्मलोक – ब्रह्मलोक । श्रुति—"दिव्य ब्रह्म पुर में परमात्मा प्रतिष्ठित हैं ।" पिप्पलाद शाखामें उक्त है—"दिव्य ब्रह्म पुर में परमात्मा प्रतिष्ठित हैं ।" उक्त सूक्ष्म तत्त्व ही ज्ञातव्य है, समस्त विषयों में श्रेष्ठ है, एवं नित्य वैष्णव पदाख्या से अभिहित है । समस्त लोकों के सारभूत वैष्णव पद को 'वैकुण्ठादि को' सब लोक नहीं जान सकते हैं । योगनिष्ठ ज्ञानीगण ही जान सकते हैं ।" परवर्त्ती शाखामें उक्त है—"उक्त गुहानिहित परमेश्वर कर्त्तृक स्वर्गादि विभ्राजित हैं । जहाँ यतिगण गमन करते हैं ।" नृसिंह पूर्व तापनी में उक्त है—"मन्त्रराजाध्यापक का यह परम धाम है । जहाँ दुःखादि नहीं है, जहाँ सूर्य्य प्रकाशित नहीं होता, वायु प्रवाहित नहीं होता, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता, नक्षत्र की प्रभा दृष्ट नहीं होती, जहाँ मृत्यु का प्रवेशाधिकार नहीं है, अरिष्टादि षड़् दोष नहीं है । मङ्गलालय आनन्द, शाश्वत, शान्त, ब्रह्मादि वन्दित, योगिगण ध्येय, पुनरावृत्ति शून्य, ऋगादि मन्त्रोक्त विष्णु का परम पद है । योगिगण जहाँ जाकर फिर से लौट कर नहीं आते हैं ।"

"विद्वद्गण श्रीविष्णु के उत्कृष्ट स्थानों का दर्शन करते हैं, आकाशमें विस्तृत चक्षु जिस प्रकार अविरोध से प्रसृत होता है, तद्वत् वे सब अविरोध से दर्शन करते हैं । उक्त परमपद—मेधाविगण के द्वारा सम्यग् दीपित है । अर्थात् जो लोक अप्रमाद से श्रीहरि का ध्यानादि करते हैं, वे सब उस भास्वर लोक का दर्शन करते हैं ।" यह व्याख्या सायनाचार्य्यानुगत है । उक्त मन्त्र की महीधर कृत वेददीपाख्य व्याख्या का तात्पर्य्य भी उक्त व्याख्या के अनुरूप है ।

"वेदान्तपारग जनगण श्रीविष्णु का परमस्वरूप को आकाश में चक्षु के समान अथवा आदित्य मण्डल

"ऊर्द्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्र व्यवस्थितः। एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भास्वरम् ॥२५८॥
निर्धूतदोषपङ्कानां यतीनां संयतात्मनाम्। स्थानं तत् परमं विप्र पुण्यपापपरिक्षये ॥२५९॥
अपुण्यपुण्योपरमे क्षीणाशेषाप्तिहेतवः। यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६०॥
धर्मध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाक्षिणः। तत् साष्टर्योत्पन्नयोगर्द्धास्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६१॥
यत्रैतदोतं प्रोतञ्च यद्भूतं सचराचरम्। भव्यञ्च विश्वं मैत्रेय तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६२॥
दिवीव चक्षुराततं विततं तन्माहात्मनाम्। विवेकज्ञानवृद्धञ्च तद्विष्णोः परमं परम्" ॥२६३॥ इति;

तापनीश्रुतौ तु (नृ०ता०पू० ५।१०)**'यत्र न वायुर्वाति' इत्यादिकं प्राकृत-तत्तन्मात्रनिषेधात्मकम्, तत्तच्छ्रवणात्। यत्तु** (भा० ४।९।२९)—

"मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन्।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्तापमुपेयिवान्" ॥२६४॥ इति;

तथा (भा० ४।९।३१)—**"अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत।**
भवच्छिदः पादमूलं गत्वाऽयाचे यदन्तवत्" ॥२६५॥

इति श्रीध्रुवस्यापूर्णम्मन्यता श्रूयते, तदुच्चपदकामनयैव तत् प्रार्थितवता तेन लब्धमनोरथातीत-चरणेनापि स्वसङ्कल्पमेव तिरस्कर्त्तुमुक्तमिति घटते। तत्र ह्येवोक्तं श्रीविदुरेण (भा० ४।९।२८)

सर्वसम्वादिनी

एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः" इत्यादिना त्रैलोक्य-समावेशनाच्चेति।

अत्र श्रीविग्रहप्रसङ्गे सूत्रचतुष्टयस्य माध्वभाष्यं यथा—(१) (ब्र०सू० ३।२।१४) "अरूपवदेव हि तत्-प्रधानत्वात्" इत्यत्र,—"प्रकृत्यादि-प्रवर्त्तकत्वेन तदुत्तमत्वान्नैव रूपवद्ब्रह्म;—हि-शब्दात्, (बृ० ३।८।८) "अस्थूलमनणु" इत्यादि-श्रुतेश्च;

अनुवाद—

के समान तेजोमण्डल को सर्वदा देखते हैं। चक्षु शब्दका मण्डल अथवा आदित्य अर्थ, "तच्चक्षुर्देव हितम्" इत्यादि मन्त्र में उक्त है। उक्त मन्त्रसमूह की व्याख्या निर्विशेष ब्रह्मपर करना अतीव असङ्गत है। कारण—"ध्यान, स्तुति, पुनरागमन नहीं करते" इत्यादि शब्द से निर्विशेष ब्रह्मपर व्याख्या अस्वीकृत हुई है। इस ऋक् के अनुसरण से विष्णुपुराण में लिखित है—"सप्तर्षिगण के ऊर्द्धस्थ उत्तरांश में जहाँ ध्रुव अवस्थित है, उस ध्रुव का आश्रयभूत पृथिव्यादि से तृतीय स्थान परम भास्कर विष्णुपद है। हे विप्र! निर्द्धूत दोषपङ्क संयतात्मा यतिगण पाप-पुण्य के क्षय से उस परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं। विविध देह प्राप्ति का कारणभूत पाप-पुण्य का उपरम होने से अशेष दुःख का कारण समाप्त होता है, और उक्त स्थान लाभ होता है। जहाँ किसी प्रकार शोक नहीं है, वह ही विष्णु का परमपद है। आकाश मार्ग में आतत सर्व प्रकाश सूर्य्य के समान महात्मागण के अप्रापञ्चिक सर्वावभासक विवेक ज्ञान के द्वारा जो वर्द्धित होता है, वह ही विष्णु का परमपद है। अर्थात् वे लोक ही वैकुण्ठ लोक की अपरिच्छिन्नता को करते हैं।"

तापनी श्रुति की "जहाँ वायु प्रवाहित नहीं होता है", उक्ति—प्राकृत वायु आदि का निषेधपर ही है। कारण उक्त धाम में वायु प्रभृति की वर्णना है, वे सब परव्योमादि के समान अप्राकृत है।

ध्रुव विमाता का वाक्यबाण से विद्ध हृदय होकर मुक्तिपति श्रीहरि का स्मरण किए थे, उससे भगवत् साक्षात्कार हुआ। उनके समीप में मुक्ति कामना न करके अनुतप्त हुये थे। "अहो! मन्दभाग्य मेरी अनात्मता को देखो! भवच्छिद श्रीभगवान् के समीप में उपस्थित होकर भी नश्वर भोग की प्रार्थना मैंने की" यहाँ प्रार्थित वर लाभ करके भी अपूर्णता को दिखाया गया है। तदुच्च पद कामना के द्वारा तत् कर्तृक मनोरथातीत वर लाभ संघटित होने से भी सङ्कल्प तिरस्कार के लिए ही ईदृशी उक्ति है।

"सुदुर्लभं यत् परमं पदं हरेः" इति ; स्वयं श्रीध्रुवप्रियेण (भा० ४।६।२५)—

"ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्त्तते यतिः" ॥२६६॥ इति ;

श्रीपार्षदाभ्यामपि (भा० ४।१२।२६) **"आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम्" इति ; श्रीसूतेन च** (भा० ४।१३।१) **"ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम्" इति; पञ्चमे ज्योतिश्चक्र-वर्णने च** (भा० ५।२२।१७) **"विष्णोर्यत् परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रामन्ति" इति;**(भा० ५।२३।१) **"यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति" इति च । प्रपञ्चान्तर्गतत्वेऽपि तद्धर्म्ममुक्तत्वम् ;** (ब्र०सू० ४।४।२०-२१) **"विकारावर्त्ति च तथा हि" "स्थितिमाह" इति न्यायेन । अतोऽस्मिँल्लोके प्रापञ्चिकस्य वहिरंशस्यैव प्रलयो ज्ञेयः, तस्य तु तदानीमन्तर्द्धानमेव । एतदालम्ब्यैव हिरण्यकशिपुनोक्तम्**

सर्वसम्वादिनी

"भौतिकानीह रूपाणि भूतेभ्योऽसौ परो यतः । अरूपवानतः प्रोक्तः क्व तदव्यक्ततः परः" ॥६६॥
इति च मात्स्ये ।"

(२) (ब्र०सू० ३।२।१५) "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" इत्यत्र,— (मु० ३।१।३) "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" इति, (छा० ८।१३।१) "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये" इति, (तै० ३।१०।७) "सुवर्णज्योतिः" इत्यादि-श्रुतीनाञ्च न वैयर्थ्यम्,—विलक्षण-रूपत्वात् ; यथा चक्षुरादि-प्रकाशे विद्यमानेऽपि वैलक्षण्यादप्रकाशत्वादि-व्यवहारः ।"

अनुवाद—

विदुर महाशय कहे थे, "श्रीहरि का परमपद अति सुदुर्ल्लभ है ।" श्रीध्रुवप्रियावतार में स्वयं भगवान् कहे हैं—"पार्थिव राज्यादि भोग के अनन्तर, सर्वलोक नमस्कृत सप्तर्षिलोक के उपरिस्थित धाम को जाओगे। जो मेरा धाम है, जहाँ से यति की पुनरावृत्ति नहीं होती है ।" भगवत् पार्षद सुनन्दनन्दन की उक्ति में दृष्ट होता है—"जगद्वन्द्य विष्णु का परमपद में अवस्थान करो ।" सूत महाशय की उक्ति में—"ध्रुव का वैकुण्ठारोहण" । पञ्चमस्कन्ध के ज्योतिश्चक्र वर्णन में दर्शाया गया है—"जो विष्णु का परमपद है, उसकी प्रदक्षिणा सप्तर्षिगण करते रहते हैं ।" परवर्त्ती अध्याय में—"उसको विष्णु का परमपद कहा गया है" । पूर्वोक्त प्रमाणादि के द्वारा ध्रुवादि लोक के उपरिस्थित विष्णुलोक का वर्णन प्रपञ्चान्तर्गत रूप से होने से भी वह लोक प्रापञ्चिकता से मुक्त है ।

वेदान्त का गोविन्दभाष्य—"ननु मुक्तश्चेत् कार्य्यान्तिर्गतान् भुङ्क्ते तर्हि संसारितो न विशेषस्तेषां विनाशित्वात् इति चेत् तत्राह—"विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह" (वेदान्त सू० ४।४।१६) विकारे प्रपञ्चे जन्मादिषट्के वा न वर्त्तते इति विकारावर्त्ति निरवद्यं ब्रह्मस्वरूपं तद्गुणभूतं तद्धामादिकं च । तत्तद्विषया विद्यया तत्तदावृत्तिपरिक्षयान्मुक्तस्तदनुभवं तिष्ठतीति न किञ्चिदूनम् । हि—यतः कठश्रुतिर्मुक्तस्य तथास्थितिमाह ।" अर्थात् मुक्त पुरुष भी यदि कार्य्यान्तिर्गत भोग के वशवर्त्ती होता, तब संसारि से मुक्त पुरुष का पार्थक्य कहाँ है ? तदुत्तर में इस सूत्र की अवतारणा है । मुक्त पुरुषसमूह में प्रापञ्चिक षड़् विकार नहीं है । भगवद्विषया विद्यावृत्ति के द्वारा अविद्या का क्षय होने से मुक्त पुरुष निरवद्य ब्रह्मस्वरूप होकर तद्गुणभूत सच्चिदानन्दमय धामादि का आनन्द का उपभोग करते हैं । उससे उन सबकी कुछ भी क्षति नहीं होती है । कठोपनिषत् में मुक्ति का प्रसङ्ग उक्त है ।"

रामानुज भाष्यमें उक्त है—"यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तर्वर्त्तिनो भोगान् भुङ्क्ते, तर्हि बद्धस्येव मुक्तस्याप्यन्तवदेवभोग्यजातमल्पं च स्यात्" "तत्राह विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ।" "विकारे—जन्मादिकेन वर्त्तते इति विकारावर्त्ति; निर्धूत निखिलविकारं निखिलहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानं निरतिशयानन्दं परब्रह्म सविभूतिकं, सकलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः ।"

(भा० ७।३।११) **"किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः" इति। अतोऽद्यापि ये तथा वदन्ति, तेऽपि तत्तुल्या इति भावः। अथ श्रीमहावैकुण्ठ तादृशत्वन्तु सुतरामेव। यथा नानाश्रुतिपथोत्थापनेन पद्मोत्तरखण्डेऽपि** (६।१५४-७७) **प्रकृत्यन्तर्गतविभूतिवर्णनानन्तरं तादृशत्वमभिव्यञ्जितं श्रीशिवेन—**

"एवं प्राकृतरूपाया विभूते रूपमुत्तमम्। त्रिपाद्विभूतिरूपन्तु शृणु भूधरनन्दिनि।२६७॥
प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा॥२६८॥
तस्याः पारे परव्योम त्रिपाद्भूतं सनातनम्। अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम्॥२६९॥
शुद्धसत्त्वमयं दिव्यमक्षरं ब्रह्मणः पदम्। अनेककोटिसूर्य्याग्नितुल्यवर्च्चसमव्ययम्॥२७०॥
सर्व्ववेदमयं शुभ्रं सर्वप्रलयवर्ज्जितम्। असंख्यमजरं नित्यं जाग्रत्स्वप्नादिवर्ज्जितम्॥२७१॥
हिरण्मयं मोक्षपदं ब्रह्मानन्दसुखावहम्। समानाधिक्यरहितमाद्यन्तरहितं शुभम्॥२७२॥
तेजसात्यद्भुतं रम्यं नित्यमानन्दसागरम्। एवमादिगुणोपेतं तद्विष्णोः परमं पदम्॥२७३॥
न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं हरेः॥२७४॥
तद्विष्णोः परमं धाम शाश्वतं नित्यमच्युतम्। न हि वर्णयितुं शक्यं कल्पकोटिशतैरपि॥२७५॥
हरेः पदं वर्णयितुं न शक्यं, मया च धात्रा च मुनीन्द्रवर्य्यैः।
यस्मिन् पदे अच्युत ईश्वरो यः, सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद॥२७६॥

सर्वसम्वादिनी

(३) (ब्र०सू० ३।२।१६) "आह च तन्मात्रम्" इत्यत्र,—"वैलक्षण्यञ्चोच्यते,—रूपस्य विज्ञानानन्दमात्रत्वमैकात्म्यप्रत्ययसारमिति; (कठ० २।५।१२; (श्वे० ६।१२)

"आनन्दमात्रमजरं पुराण-,मेकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्।
तमात्मस्थं ये तु पश्यन्ति धीरा-,स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्"॥७०॥

अनुवाद—

अर्थात् मुक्तपुरुष, सविभूतिक सकलकल्याण गुणक परब्रह्म का निरतिशय आनन्दानुभव करते हैं। अतएव उक्त लोक के बाहर के प्रापञ्चिक अंश का लय होता है एवं तत्काल में धाम का अन्तर्धान होता है। हिरण्यकशिपु ने कहा था—"कल्पान्त में काल निर्धूत ध्रुवादि वैष्णव पद का प्रयोजन क्या है? आज उस प्रकार कथन जो लोक करता है, वह भी हिरण्यकशिपु के तुल्य ही है।

महावैकुण्ठ लोक की सच्चिदानन्दमयता है। जब वैकुण्ठलोक की सच्चिदानन्दमयता है, तब महावैकुण्ठ लोक को स्वतःसिद्ध सच्चिदानन्दमयता है। पाद्मोत्तर खण्ड में प्रकृत्यन्तर्गत विभूति की वर्णना करने के बाद श्रुति प्रमाण के द्वारा श्रीशिव कर्तृक भी वैकुण्ठ की सच्चिदानन्दमयता स्थापित हुई है। हे भूधरनन्दिनि! त्रिपाद विभूति का वर्णन श्रवण करो। प्रधान परम व्योम के मध्य में विरजा नाम्नी नदी है, जो वेदाङ्ग स्वेद जल से पूर्णा, प्रस्राविता, पवित्रा है। उसके परपार में परम व्योम है, वह त्रिपाद्भूत एवं नित्य है। अमृत शाश्वत, अनन्त है, वह ही विष्णु का परमपद है। शुद्ध सत्त्वमय, दिव्य, अक्षर, अनेक कोटि सूर्य्यप्रभा तुल्य जिसकी प्रभा एवं अव्यय है, उसको ब्रह्मपद कहते हैं। सर्ववेदमय, शुभ्र, सर्व प्रलय रहित, जाग्रत-स्वप्नादि वर्जित, असंख्य, अजर, नित्य है, जो हिरण्मय, ब्रह्मानन्द नाम से अभिहित है। जिसके समान, अधिक, आदि, अन्त नहीं है। जो स्वीय अद्भुत तेज से परम रमणीय, नित्य आनन्द सागरस्वरूप, अशेष गुणोपेत है, वह ही विष्णु का परमपद है।

जो सूर्य्य, चन्द्र, पावक के द्वारा उद्भासित नहीं होता, जहाँ गमन करने से पुनरागमन नहीं होता है, वह ही श्रीहरि का परम धाम है। इस धाम की वर्णना शतकोटि कल्पमें भी नहीं हो सकती है। मुनीन्द्र वर्य्यगण, ब्रह्मा एवं मैं भी श्रीहरि धाम का वर्णन करने में सक्षम नहीं हूँ। मैं नहीं जानता हूँ, श्रीहरि

"यदक्षरं वेदगुह्यं, यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति, य उ तद्विदुस्त इमे समासते ॥२७७॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । अक्षरं शाश्वतं नित्यं दिवीव चक्षुराततम् ॥२७८॥
आ प्रवेष्टुमशक्यं तद्ब्रह्म-रुद्रादिदैवतैः । ज्ञानेन शास्त्रमार्गेण वीक्ष्यते योगिपुङ्गवैः ॥२७९॥
अहं ब्रह्मा च देवाश्च न जानन्ति महर्षयः । सर्वोपनिषदामर्थं दृष्ट्वा वक्ष्यामि सुव्रते ॥२८०॥
विष्णोः पदे परमे तु मध्व उत्सः शुभाह्वयः । यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा आसते स्वसुखं प्रजाः ॥२८१॥
अत्र हि तत् परं धाम गीयमानस्य शार्ङ्गिणः । तद्भाति परमं धाम गोभिर्गेयैः शुभाह्वयैः ॥२८२॥
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ज्योतिरुत्तमम् । अथातो ब्रह्मणो लोकः शुद्धः स ह सनातनः ॥२८३॥
सामान्याबियुते दूरे अन्तेऽस्मिन् शाश्वते पदे । तस्थतुर्जागरूकेऽस्मिन् युवानौ श्रीसनातनौ ॥२८४॥
यतः स्वसारौ युवती भू-र्लीले विष्णुवल्लभे । अत्र पूर्वे ये च साध्या विश्वेदेवाः सनातनाः ॥२८५॥
ते ह नाकं महिमानः सचन्तः शुभदर्शनाः । तत्पदं ज्ञानिनो विप्रा जागृवांसः समिन्धते ॥२८६॥
तद्विष्णोः परमं धाम मोक्ष इत्यभिधीयते । तस्मिन् बन्धविनिर्मुक्ताः प्राप्यन्ते स्वसुखं पदम् ॥२८७॥
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तस्मान्मोक्ष उदाहृतः । मोक्षः परं पदं लिङ्गममृतं विष्णुमन्दिरम् ॥२८८॥
अक्षरं परमं धाम वैकुण्ठं शाश्वतं परम् । नित्यञ्च परमव्योम सर्वोत्कृष्टं सनातनम् ॥२८९॥
पर्यायवाचकान्यस्य परं धाम्नोऽच्युतस्य हि । तस्य त्रिपाद्विभूतेस्तु रूपं वक्ष्यामि विस्तरात्" ॥२९०॥ इत्यादि

सर्वसम्वादिनी

इति चतुर्वेदशिखायाम् ।"

(४) (ब्र०सू० ३।२।१७) "दर्शयति चाथोऽपि स्मर्य्यते" इत्यत्र,—"दर्शयति चानन्दरूपत्वम् (मु० २।२।८) "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः, आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" इति श्रुतिः ;

"शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवं निरञ्जनम् । चिन्तयीत यतिर्नान्यं ज्ञानरूपादृते हरेः" ॥७१॥

अनुवाद—

निज धाम की महिमा सम्पूर्ण ज्ञात हैं अथवा नहीं ? जो वेदगुह्य, अक्षय है, जिसको अवलम्बन कर देवतागण अवस्थान करते हैं, जो उनको नहीं जानता है । ऋक्मन्त्र उसका क्या करेगा ? जिसने वेदगुह्य महिमा को जाना है, उसका ही यथार्थ वेदार्थ बोध हुआ है, वह ही विष्णु पद का साक्षात्कार किया है। जो अक्षय, नित्य आकाशवत् वितत है, ब्रह्मा रुद्रादि जहाँ प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं, योगिश्रेष्ठगण शास्त्रोत्थ ज्ञान नेत्र से जिसका दर्शन करते हैं । ब्रह्मा, महर्षिगण, देवगण एवं मैं भी नहीं जानता हूँ । हे सुव्रत ! मैंने समस्त उपनिषद् का अर्थ तुम्हारे निकट कहा ! वह विष्णुपद है, जहाँ शुभावहविधिसमूह अवस्थित है । भूरिश्रृङ्ग गो समूह एवं प्रजा समूह सुख पूर्वक निवास करते हैं । वह ही कीर्त्तनीय शार्ङ्गी का परम धाम है । शुभावह गायत्री कर्त्तृक नियत गीत होकर दीप्त है, जो तमोऽतीत, आदित्यवर्ण, उत्तम ज्योतिः रूप है, अतएव जो शुद्ध एवं सनातन है । यहाँ श्री के सहित विष्णु नित्य विराजमान हैं । चिरयौवना विष्णुवल्लभा भूशक्ति, लीलाशक्ति जहाँ अवस्थित हैं । विश्वेदेवादि शुभदर्शन नित्यसिद्ध साधकगण जिनकी महिमा कीर्त्तन करते हैं । जागरूक ज्ञानिगण जिसकी प्रार्थना करते हैं । वह ही विष्णु का परम धाम, जिसका अपर नाम मोक्ष है ।

कर्म पाश विमुक्त जीवगण उक्त धाम में स्वसुख पद अर्थात् स्वीय स्वरूपसुख लाभ करते हैं । मोक्ष, परमपद, अमृत, विष्णुमन्दिर नाम उसका है । अक्षर, परमधाम, वैकुण्ठ, शाश्वत पद, नित्य, परव्योम सर्वोत्कृष्ट इत्यादि पद ही भगवान् अच्युत का परम धाम के पर्याय वाचक शब्द हैं ।

श्रीभगवान् की त्रिपाद्विभूति का वर्णन मैंने किया । "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इस मन्त्रमें परिदृश्यमान विश्व ब्रह्माण्ड, भगवान् के एकपाद विभूति रूपमें उल्लिखित है, उन भगवान् की त्रिपाद् विभूति महिमा—आधुनिक तर्कनिष्ठ के हृदयमें भी अतिरञ्जित रूपमें अनुभूत नहीं होती है । उसके

एतद्रीतिक-श्रुतयो वैदिकेषु प्रायः प्रसिद्धा इति नोदाह्रियन्ते। श्रीनारदपञ्चरात्रे च श्रीब्रह्मनारदसंवादे जितन्ते-स्तोत्रे—

लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यषड् गुणसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम् ॥२६१॥
नित्यसिद्धैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः। सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम् ॥२६२॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षषण्डैः सुमण्डितम्। अप्राकृतं सुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम्" ॥२६३॥ इति ;

ब्रह्माण्डपुराणे च—

तमनन्तगुणावासं महत्तेजो दुरासदम्। अप्रत्यक्षं निरुपमं परानन्दमतीन्द्रियम्" ॥२६४॥ इति ;

इतिहाससमुच्चये मुद्गलोपाख्याने—

"ब्रह्मणः सदनादूर्द्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम्। शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः ॥२६५॥
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा ये जितेन्द्रियाः। ध्यानयोगपराश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः ॥२६६॥
येऽर्च्चयन्ति हरिं विष्णुं कृष्णं जिष्णुं सनातनम्। नारायणमजं देवं विष्वक्सेनं चतुर्भुजम् ॥२६७॥
ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये। लभन्ते तेऽच्युतस्थानं श्रुतिरेषा सनातनी" ॥२६८॥ इति ;

स्कान्दे श्रीसनत्कुमारमार्कण्डेय-संवादे—

"यो विष्णुभक्तो विप्रेन्द्र शङ्ख-चक्रादिचिह्नितः। स याति विष्णुलोकं वै दाह-प्रलय-वर्जितम्" ॥२६९॥ इति।

अत्र पद-धामादि-शब्देन स्थान-वाचकेन स्वरूपे त्वरूढ़ेन यदि कश्चित् कथञ्चित् स्वरूपमेव वाचयति, तर्हंचन्यत्र तत्प्रसङ्गे "तेऽभिगच्छन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः" इत्यादौ

सर्वसम्वादिनी

इति च मात्स्ये" इति।

अत्र (तै० २।४।१) "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इति भेदनिर्द्देशश्च श्रूयते ; तथा (ब्र०सू० २।२।४१) माध्व-भाष्य एवोदाहृतं श्रुत्यन्तरञ्च—

"सद्देहः सुखगन्धश्च ज्ञानभाः सत्पराक्रमः। ज्ञानज्ञानः सुखसुखः स विष्णुः परमाक्षरः" ॥७२॥ इति।

अनुवाद—

पक्ष में वृथा तर्क का आपतन सम्भव नहीं है। इस प्रकार विभूतिद्योतक अनेक श्रुति वेद में सुप्रसिद्ध हैं।

श्रीनारदपञ्चरात्र के ब्रह्म-नारद संवाद में उक्त है,—"दिव्य षड् गुणसम्पन्न गुणत्रय विवर्जित, अवैष्णव अप्राप्य, नित्य कैशोरतन्मय सिद्धगण द्वारा परिवृत, सभा, प्रसाद, बन, उपवन, वापी, कूप, तड़ाग, वृक्ष समूह से परिशोभित, देवगण द्वारा वन्दित, अयुतार्क सम प्रभ वैकुण्ठलोक नामक दिव्य धाम है।"

ब्रह्माण्ड पुराण में उक्त है—"अनन्त गुणों का आवास, दुरासद, अप्रत्यक्ष, निरुपम, परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय वह तेजोमय धाम है।" इतिहास समुच्चय का मुद्गलोपाख्यान में उक्त है—"ब्रह्म लोक के ऊर्द्ध में विष्णु का परमपद, शुद्ध, सनातन, ज्योतिःस्वरूप वह लोक है, जिसको परब्रह्म कहते हैं। मायातीत, निरहङ्कार, निर्द्वन्द्व, जितेन्द्रिय, ध्यान योग परायण साधुगण उस लोक को जाते हैं। जो लोक हरि, कृष्ण, विष्णु, सनातन, अज, विश्वक्सेन, चतुर्भुज देव नारायण का ध्यान करते हैं, अथवा उन दिव्य पुरुष अच्युत का स्मरण करते हैं, वे सब ही उन अच्युत के नित्य स्थान को प्राप्त करते हैं। यह अविसम्बादित सत्य है।"

स्कन्दपुराण के श्रीसनत्कुमार मार्कण्डेय संवाद में उक्त है—"हे विप्रेन्द्र ! शङ्खचक्रादि चिह्नित वैष्णव ही दाह प्रलयादि वर्जित विष्णुलोक गमन करते हैं।"

पूर्वोक्त भगवद्धाम के वाचक रूपमें स्थान विशेष से पद-धाम इत्यादि शब्द का उल्लेख हुआ है। उक्त समूह ही स्थान वाचक हैं। वे सब ब्रह्म वाचक नहीं है। यदि ब्रह्मस्वरूप का वाचक होते तो उक्त प्रसङ्ग

साक्षादेव 'स्थान'-शब्दनिगदेन तन्निरसनीयम् । यदि तत्रापि चकाराद्यध्याहारादि-दैन्येन पूर्वदर्शितेतिहाससमुच्चयस्य "परं ब्रह्मेति यद् विदुः" इति विशेषणविरुद्धं वाक्यभेदमेवाङ्गीकरोति, तर्हि स्वमते तत्र तत्रोक्तलोक-शब्दः सहायीकर्त्तव्यः । ततश्च पद-धाम-स्थान-लोक-रूपाणां तेषां शब्दानामेकत्र वस्तुनि प्रयोगात् परस्परमन्यार्थं दूरीकुर्वन्तस्ते कं वा न बोधयन्ति स्वमर्थम्, यथा "भगवान् हरिर्विष्णुरयम्" इति । अथ हन्त तत्रापि चेत् स्वरूपमात्रवाचकतां भिक्ष्यते,तर्हि स्फुटमेव पाद्मवैष्णवादिवचनैर्विपक्षो ह्रेपणीयः। कर्माद्यप्राप्यत्वादि-प्रतिपादक-वाक्यानि तु विशेषतो वेत्रपाणिरूपाणि सन्त्येवेति वक्तव्यम्। तस्मात् (भा०६।६।३२)'ॐ नमस्ते' इत्यादिगद्यमपि साध्वेव व्याख्यातम् ।। देवाः श्रीहरिम् ।।

७३ । तदेतच्च श्रीवैकुण्ठस्य स्वरूपं निरूपितम् । तच्च यथा श्रीभगवानेव क्वचित् पूर्णत्वेन क्वचिदंशत्वेन च वर्त्तते, तथैवेति बहवस्तस्यापि भेदाः पाद्मोत्तरखण्डादौ द्रष्टव्याः, येषु श्रीमत्स्यदेवादीनामपि पदानि वर्त्तन्ते तदेव सूचयति (भा० ३।१६।३१)—

सर्वसम्वादिनी

श्रीरामानुजचरणाश्चैवं वदन्ति (ब्र०सू० १।१।२०) "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इत्यत्र,—"परस्यैव ब्रह्मणो निखिल-हेय-प्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानतिशयासंख्येय-कल्याण-गुणगणाश्च सन्ति । तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्य-दिव्याद्भुत-नित्य-निरवद्य निरतिशयौज्ज्वल्य-सौन्दर्य्य-सौगन्धच-सौकुमार्य्य-लावण्ययौवनाद्यनन्त गुणनिधि दिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति । तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोत्यपारकारुण्य-सौशील्य-वात्सल्यौदार्य्यजलनिधिनिरस्ताखिल-

अनुवाद—

में उस प्रकार उक्ति नहीं होती । "वे सब मेरा स्थान में अभिगमन करते हैं, जो जन उसको परब्रह्म नाम से जानते हैं ।" यहाँ साक्षात् 'स्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः स्वरूप वाचकता उक्त शब्दसमूह में नहीं है । यदि 'चकार' अध्याहारादि रूप दैन्य को मानकर पूर्वोक्त इतिहास समुच्चय का "यस्य परं ब्रह्म यद् विदुः" कथन में विशेषण विरुद्ध वाक्य का भेद ही स्वीकृत होता है । तथापि उक्त स्थल में "लोक" शब्द को सहायक करने से—स्वरूपवाचकत्व की विभीषिका नहीं रहेगी । सुतरां पद, धाम, लोक प्रभृति समस्त शब्द का प्रयोग एक वस्तु के उद्देश्य से होने से अन्यार्थ विदूरित होकर निर्बाध अभीप्सित अर्थ का बोध होता है । जैसे—भगवान्, हरि, विष्णु इत्यादि शब्द से विष्णु का ही बोध होता है । तथापि यदि कोई व्यक्ति उन सब शब्दों से स्वरूपार्थता को माँगता है, तब पाद्म-वैष्णवादि वचन के अवलम्बन अनायास उसे निरस्त किया जावेगा । कर्मादि द्वारा अप्रापकत्व प्रतिपादक वाक्यसमूह विशेष रूपसे ही स्वरूपार्थ-वादी का प्रतिषेधक हैं, अतएव "नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण-वासुदेवादिपुरुष, महानुभव, परममङ्गल, परम कल्याण, परमकारुणिक, केवल जगदाधारलौकिकनाथ सर्वेश्वर, लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्म-योगसमाधिना परिभावित परिस्फुटपारमहंस्य धर्मेणोद्घाटिततमः कवाटद्वारे चित्तेऽपावृतआत्मेलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ।" (भा० ६।६।३३) अर्थात् अशेष गुणाधार स्वीय लोक में स्वयं उपलब्ध निज सुखानुभव भगवान् आपको प्रणाम करता हूँ । इत्यादि पद्य में स्पष्ट ही श्रीभगवल्लोक की व्याख्या हुई है । श्रीहरि को देवतागण कहे थे ।।७२।।

उक्त प्रमाणों से श्रीवैकुण्ठस्वरूप का निरूपण हुआ । उक्त वैकुण्ठलोक के अनेक भेद हैं । अर्थात् भगवान् कहीं पर पूर्णरूप में, कहीं अंशरूपमें अवस्थित होते हैं, तद्रूप उक्त धाम का भी पूर्णत्व, अंशत्व है, पाद्मोत्तर खण्डादि में उसका वर्णन विस्तृत रूपसे हैं । जिसमें श्रीमत्स्यादि लीलावतार की स्थिति वर्णित

"एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं, स सादयित्वा हरिरादिशूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं, समीड़ितः पुष्करविष्टरादिभिः" ॥३००॥

सादयित्वा हत्वा। पवित्रारोपप्रसङ्गे चैवमाह बौधायनः—

"एवं यः कुरुते विद्वान् वर्षे वर्षे न संशयः। स याति परमं स्थानं यत्र देवो नृकेशरी"।३०१॥ इति।

वायुपुराणे तु शिवपुरमपि तद्वत् श्रूयते; यथा—

"अण्डौघस्य समन्तात्तु सन्निविष्टो घनोदधिः। समन्ताद् येन तोयेन धार्य्यमाणः स तिष्ठति ॥३०२॥
वाह्यतो घनतोयस्य तिर्य्यगूर्द्ध्वञ्च मण्डलम् धार्य्यमाणं समन्तात्तु तिष्ठते घनतेजसा ॥३०३॥
अयोगूढ़निभो वह्निः समन्तात् मण्डलाकृतिः। समन्तात्घनवातेन धार्य्यमाणः स तिष्ठति ॥३०४॥
घनवातं तथाकाशो धारयाणस्तु तिष्ठति। भूतादिश्च तथाकाशं भूतादिञ्च तथा महान् ॥३०५॥
महान् व्याप्तो ह्यनन्तेन अव्यक्तेन तु धार्य्यते। अनन्तमपरिव्यक्तमनादिनिधनञ्च तत् ॥३०६॥
तम एव निरालोकममर्य्यादमदेशिकम्। तमसोऽन्ते च विख्यातमाकाशान्ते च भास्वरम् ॥३०७॥
मर्य्यादायामतस्तस्य शिवस्यायतनं महत्। त्रिदशानामगम्यन्तु स्थानं दिव्यमिति श्रुतिः" ॥३०८॥ इति॥

श्रीमैत्रेयः॥

७४। एवञ्च यथा श्रीभगवद्वपुराविर्भवति लोके, तथैव क्वचित् कस्यचित्तत्पदस्याविर्भावः श्रूयते (भा० ८।५।४-५)—"पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम् ॥३०९॥

सर्वसम्वादिनी

हेयगन्धोऽपहतपाप्मा परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण इति। (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते", (छा० ६।२।१) "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्", (ऐत० १।१।१) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्", (महो० १।१) "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादिषु निखिल-जगदेक-कारणतयावगतस्य परस्य ब्रह्मणः (तै०२।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", (बृ०३।९।२८) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वेवम्भूतं स्वरूपमित्यवगम्यते। (आत्मोप० १) 'निर्गुण', (श्वे० ६।१९) 'निरञ्जनम्', (छा० ८।७।१) "अपहतपाप्मा विजरो

अनुवाद—

है। यथा—हिरण्याक्ष को बध करके भगवान् आदि शूकर निज लोक को गये थे, ईदृशी उक्ति है। "असह्य विक्रम हिरण्याक्ष को बध करके आदि शूकरमूर्त्ति—श्रीहरि, श्रीब्रह्मादि से स्तुत संपूजित होकर अखण्डितोत्सव स्वीय लोक को गये थे, स्वामिपाद ने सादयित्वा—'हत्वा' अर्थ किया है। बौधायन भी पवित्रारोपण प्रसङ्ग में इस प्रकार अर्थ किये हैं—"जो महात्मा, प्रति वत्सर इस व्रताचरण करता है, वह श्रीनृसिंह देव के धाम को प्राप्त करता है।"

वायुपुराणमें श्रीशिवलोक के सम्बन्ध में लिखित है—"अन्त ओघ के चतुर्दिक में जलप्रवाह प्रवाहित है, जिससे उक्त अन्त जलौघ अवस्थित है। घन तोय के बाहर ऊर्द्ध्व भाग में टेड़ा एक मण्डल है, जो निबिड़ तेज के द्वारा धृत है, जिसके चतुर्दिक में गोलाकार लौह के समान मण्डलाकृति वह्नि परिव्याप्त है। जिसके चारों ओर घन वायुमण्डल है। उसमें पञ्चम महाभूत, आकाशादि भूततन्मात्र, महत्तत्त्व, जो अनन्त अव्यक्त के द्वारा धृत है, जो अनादि निधन, अनन्त, अपरिव्यक्त, निरालोक, अमर्य्यादि, अपरिच्छिन्न तमः ही जिसका स्वरूप है, उस तमः के अभ्यन्तर में विख्यात आकाश में परम भास्वर विस्तृत महत् शिवलोक अवस्थित है, जो स्थान त्रिदशवृन्दों का अगम्य परमदिव्यस्वरूप है।"

यह उक्ति मैत्रेय महाशय की है ॥७३॥

श्रीभगवद् वपु का आविर्भाववत् भगवद्धाम का आविर्भाव है। श्रीभगवत् आविर्भाव के समान तदीय लीला का भी कभी-कभी आविर्भाव होता है। अर्थात् "रैवत मन्वन्तर में" शुभ्र की विकुण्ठा नाम्नी

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया" ।।३१०।।

यथा भगवत आविर्भावमात्रं जन्मेति भण्यते, तथैव वैकुण्ठस्यापि कल्पनमाविर्भावनमेव, न तु प्राकृतवत् कृत्रिमत्वम्। उभयत्रापि नित्यत्वादित्यभिप्रायेण तत्साम्येनाह—जज्ञ इति। श्रीविकुण्ठासुतस्यैवेदं वैकुण्ठम्। मूलवैकुण्ठन्तु सृष्टेः प्राक् श्रीब्रह्मणा दृष्टमिति द्वितीये (भा० २।९।९-१६) प्रसिद्धमेव; (भा० ८।१९।११) "स तन्निकेतं परिमृश्य शून्यमपश्यमानः कुपितो ननाद" इत्युक्तम्, तत्स्थानन्तु स्वर्गादिगतमेव ज्ञेयम् ।। श्रीशुकः ।।

७५। तदेवं श्रीवैकुण्ठस्य स्वरूपभूतत्वे सिद्धे तदङ्गभूतानां श्रीपार्षदानां तादृशत्वं सुतरां सिद्धमेव, युक्तञ्चैवं तत्सेवकानाम्—"नादेवो देवमर्च्चयेत्" इति तत्सदृशताभावनामन्तरेणोद्देशेनापि तत्सेवायामनधिकारात्, साक्षात्तु साक्षादेव सत्सदृशत्वमिति। तदेवं नित्यपार्षदानां कैमुत्यमेवापतितम्। अतएवाह (भा० ७।१।३४) "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" इति जन्महेतुभूतैः प्राकृतैर्देहेन्द्रियासुभिर्हीनानां शुद्धसत्त्वमयदेहानामित्यर्थः ।। युधिष्ठिरः श्रीनारदम् ।।

सर्वसम्वादिनी

विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः", (श्वे० ६।८)

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ।।७३।।

(श्वे० ६।७) "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तद्दैवतानां परमञ्च दैवतम्"; (श्वे० ६।९) "स कारणं करणाधि-

अनुवाद—

पत्नी में उनकी प्रार्थना से स्वयं भगवान् वैकुण्ठवासी सुरगण के सहित स्वीय अंश में आविर्भूत हुये थे। रमादेवी की प्रार्थना से उनको प्रसन्न करने के लिए लोकनमस्कृत वैकुण्ठलोक को भी आविर्भूत कराये थे।

श्रीभगवान् का आविर्भाव को जिस प्रकार जन्म कहा जाता है, तद्रूप वैकुण्ठ की कल्पना भी आविर्भाव है। प्राकृतवत् कृत्रिम नहीं है। श्रीभगवान् एवं तदीय धाम, उभय ही नित्य है। अतः 'जज्ञे' क्रिया पद का प्रयोग आविर्भाव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्रीविकुण्ठा सुत का यह है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वैकुण्ठ पद सिद्ध हुआ है। मूल वैकुण्ठ का दर्शन—ब्रह्मा ने सृष्टि के पहले किया था। यह प्रसङ्ग द्वितीय स्कन्द में है। "हिरण्यकशिपु—उनका निकेतन शून्य देखकर अत्यन्त कुपित होकर सिंहनाद किए थे।" यह मूल वैकुण्ठ लोक नहीं है। स्वर्ग के ऊर्द्ध्व में इसका अवस्थान है, स्वर्गादिगत स्थान को हिरण्यकशिपु ने देखा था। यह श्रीशुकदेव की उक्ति है।।७४।।

श्रीभगवत् स्वरूपभूत वैकुण्ठादि धाम एवं पार्षदगण भी भगवत् स्वरूपभूत हैं। पूर्वोक्त शास्त्र युक्त्यनुसार वैकुण्ठलोक की भगवत् स्वरूपभूतता सिद्ध होने से सुतरां तत्रत्य पार्षदगण भी श्रीभगवत्स्वरूपभूत हैं, इस में सन्देह नहीं है। सेवकगण के सम्बन्ध में श्रीभगवत्स्वरूपभूत होना एकान्त आवश्यक है। शास्त्रवाक्य है—"नाऽदेवो देवमर्च्चयेत्" "देवता न होकर देवार्चन न करें" इस प्रकार शास्त्र वाक्य से देवता की भावना व्यतीत देवता के उद्देश्य से भी सेवा नहीं होता है। साक्षात् उपासना में, सुतरां साक्षात् सेवा में साक्षात् सदृश होना अवश्यम्भावी है। अतएव नित्य पार्षदगणों की स्वरूपभूतता अवश्यम्भावी है, यह कैमुतिक न्याय सिद्ध है। अन्यत्र उक्त है—"देह इन्द्रिय प्राणादि हीन वैकुण्ठ पुरवासिगण का" उक्त श्लोक में स्वामिकृत व्याख्या—जन्म का हेतुभूत, प्राकृत देह, इन्द्रिय प्राण रहित शुद्धसत्त्वमय देह" यहाँ

७६ । तथा (भा० ६।९।२८)—

"आत्मतुल्यैः षोड़शभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ। पर्य्युपासितमुन्निद्र-शरदम्बुरुहेक्षणम्" ॥३११

षोड़शभिः श्रीसुनन्दादिभिः ॥ श्रीशुकः ॥

७७ । अतएव कालातीतास्ते परमभक्तानामपि परमपुरुषार्थ-सामीप्याश्चेत्याह (भा० ७।९।२४)—"तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ, आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्।

नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण, कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्" ॥३१२॥

स्पष्टम् ॥ श्रीप्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥

७८ । तथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

"त्रिपाद्विभूतेर्लोकास्तु असंख्या परिकीर्त्तिताः। शुद्धसत्त्वमया सर्वे ब्रह्मानन्दसुखाह्वयाः ॥३१३॥
सर्वे नित्या निर्विकारा हेयरागविवर्जिताः। सर्वे हिरण्मयाः शुद्धाः कोटिसूर्य्यसमप्रभाः ॥३१४॥
सर्वे वेदमया दिव्याः कामक्रोधादिवर्जिताः। नारायणपदाम्भोजभक्त्यैकरससेविनः ॥३१५॥
निरन्तरं सामगानपरिपूर्णसुखं श्रिताः। सर्वे पञ्चोपनिषत्स्वरूपा वेदवर्च्चसः" ॥३१६॥ इत्यादि ।

अत्र त्रिपाद्विभूति-शब्देन प्रपञ्चातीतलोकोऽभिधीयते, पादविभूति-शब्देन तु प्रपञ्च इति। यथोक्तं तत्रैव—

सर्वसम्वादिनी

पाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः"; (यजु०अ० ३।१२) "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो, नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते"; (श्वे० ३।८) "वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-,मादित्यवर्णं तमसस्तु पारे"; (महा०ना० १।८) "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणः प्राकृतः-हेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्म-वश्यता-सम्बन्धश्च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपञ्च वदन्ति। तदिदं

अनुवाद—

प्राण, इन्द्रिय रहित शुद्धसत्त्वमय देह कहने से, वह स्वरूपभूत नित्य पार्षद देह ही है।

श्रीयुधिष्ठिर महाशय श्रीनारद को कहे थे ॥७५॥

पार्षदगण के सम्बन्ध में कथित है—"श्रीवत्स कौस्तुभ व्यतीत श्रीभगवत् सदृश षोड़श शक्ति के द्वारा पर्य्युपासित शरदम्बुरुह तुल्य चक्षु पार्षदगण हैं।" षोड़श—सुनन्दादि द्वारा उपासित है।

यह श्रीशुकदेव की उक्ति है ॥७६॥

पार्षदगण कालातीत हैं, सामीप्य, भक्तगण का अभीष्ट है। श्रीप्रह्लाद महाशय कहते हैं—पार्षदगण कालातीत हैं, एवं भक्तगण निरन्तर श्रीभगवत् सान्निध्य चाहते हैं। "हे भगवन्! मैं शरीरधारिगण के प्रार्थित भोग, ज्ञान, आयु, ऐश्वर्य्य, इन्द्र का वैभव, ब्रह्मलोकगत ब्रह्मा का वैभव नहीं चाहता हूँ। आप कालात्मा हैं। आपके उरुविक्रम से जो विध्वस्त हो जाता है, ऐसी अणिमादि सिद्धि को भी नहीं चाहता हूँ। आप कृपा पूर्वक मुझे निज भृत्य के रूप में स्थान प्रदान करें।

श्रीप्रह्लाद महाशय श्रीनृसिंह देव को कहे थे ॥७७॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखित हैं—"श्रीभगवान् की त्रिपाद विभूति के मध्य में शुद्धसत्त्वमय, ब्रह्मानन्द सुखाख्य, नित्य निर्विकार, हेय राग वर्जित, हिरण्मय, शुद्ध, कोटि सूर्य्यसमप्रभ, वेदमय, काम क्रोधादिवर्जित। श्रीनारायण के पदाम्भोज में जिनकी प्रगाढ़ भक्ति है, ऐसे एकमात्र भक्ति रस देविगण के द्वारा व्याप्त, निरन्तर सामादि भगवन्महिमा गान से परिपूर्ण सुखश्रित, वेददीप्त पञ्चोपनिषत्स्वरूप असंख्य लोक (धाम) परिकीर्त्तित है।" अतएव त्रिपाद विभूति शब्द से प्रपञ्चातीत लोक ही अभिहित है, एवं

"त्रिपाद्व्याप्तिः परं धाम्नि पादोऽस्येहाभवत् पुनः। त्रिपाद्विभूतिर्नित्यं स्यादनित्यं पादमैश्वरम् ॥३१७॥
नित्यं तद्रूपमीशस्य परं धाम्नि स्थितं शुभम्। अच्युतं शाश्वतं दिव्यं सदा यौवनमाश्रितम्।
नित्यं सम्भोग्यमीश्वर्य्या श्रिया भूम्या च संवृतम्" ॥३१८॥ इति।

अतएव तदनुसारेण द्वितीयस्कन्धोऽप्येवं योजनीयः; तत्र (भा० २।६।१८)—
"सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्। महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः" ॥३१९

अमृताद्द्वयं तत्तृतीयत्वेन वक्ष्यमाणस्य क्षेमस्याप्युपलक्षणम्; श्रुतौ च (श्वे० ३।१५)—**"उतामृतत्वस्येशानः" इत्यत्रामृतत्वं तद्युगलोपलक्षणम्। अत्र धर्मिप्रधाननिर्देशः, श्रुतौ तु तत्र धर्ममात्रनिर्देशस्यापि तत्रैव तात्पर्य्यम्। तत्रामृतम्** (भा० २।९।९) **"स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्" इति,** (भा० २।९।९ **"परं न यत् परम्" इत्युक्तानुसारेण परमानन्दः; अतएव "अमृतं विष्णुमन्दिरम्" इति तत्पर्य्यायः; अभयम्** (भा० २।९।१०) **"न च कालविक्रमः" इत्याद्युक्तानुसारेण भयमात्राभावः; अतएव** (भा० १२।११।१९) **"द्विजा धामाकुतोभयम्" इत्युक्तम्; क्षेमम्** (भा० २।९।१०) **"न यत्र माया" इत्याद्युक्तानुसारेण भगवद्बहिर्मुखताकर-गुण-**

सर्वसम्वादिनी

स्वाभाविकमेव रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देव-मनुष्यादि-संस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान्। तदिदमाह श्रुतिः—(शुक्ल-यजुः-सं० ३१।१७; मुद्गल० ३।१) "अजायमानो बहुधा विजायते" इति; स्मृतिश्च,—(गी० ४।६) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानाम्" इति। (गी० ४।८) "परित्राणाय साधूनाम्" इत्यादौ साधवो ह्युपासकास्तत्परित्राणमेवोद्देश्यम्; आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतां

अनुवाद—

पाद विभूति शब्द से, प्रापञ्चिक विभूति अथवा पार्थिवादि जगत् का ऐश्वर्य्य को जानना होगा। जिसका विवरण उक्त स्थल में लिखित है उनका त्रिपाद् की व्याप्ति परम धाम में एवं एकपाद की व्याप्ति इस जगत् में जानना होगा। उक्त भगवत् सम्बन्धीय त्रिपाद विभूति नित्य है, एकपाद विभूति सुतरां अनित्य है। परमेश्वर का स्वरूप नित्य, शुभ, अच्युत, शाश्वत, (सर्वकाल समावस्था में अवस्थित) दिव्य, सर्वकाल ही यौवनवत् शोभासम्पन्न है। एवं उनका परम धाम में अवस्थित है, जो नित्य सम्भोग्य श्री, भू, प्रभृति ईश्वरीगण कर्त्तृक संवृत है।

अतएव श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कन्धस्थ वैकुण्ठलोक की वर्णना भी उक्त प्रकार योजनीय है। उक्त स्थल में वह लोक अमृत एवं अभय प्रदाता है, जहाँ से मर्त्य (मरण धर्मक) अन्न, (कर्मफल) अतिक्रान्त है। जन्म-मृत्यु हेतु यहाँ नहीं है, यह ही उन परमपुरुष की अचिन्त्य महिमा है।

यहाँ अमृत एवं क्षेमधाम, अभय, पदद्वय वक्ष्यमाण श्लोकोक्त क्षेम पदका उपलक्षण है, "उतामृतत्वस्येशान" श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्र से अमरणत्व धर्म को जानना होगा। भाष्य का लेख भी वह ही है। अतएव मन्त्र का अमृत शब्द—अमृत, अभय दोनों का उपलक्षण है। श्रुतिमें धर्म्म मात्र निर्देश होने पर भी उसे धर्म्मि प्रधान ही जानना होगा। जहाँ अमृत, आत्मदर्शि विबुधगण के द्वारा जो नित्य अभिवन्दितहै। "निज सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठलोक है, जिसकी अपेक्षा श्रेष्ठ लोक अपर नहीं है।" इत्यादि उक्ति के अनुसार जिनकी परमानन्दस्वरूपता अभिहित है।

अतएव "अमृतं विष्णुमन्दिरम्" यहाँ अमृत पद उक्त परमानन्द का पर्य्याय वाचक है। अभय—"जहाँ काल का प्रभाव नहीं है" इस उक्ति के अनुसार भयमात्र का ही अभाव बोधित है। "हे द्विजगण! अकुतोभय जो धाम" स्वामिपाद की टीका, यथा—"हे द्विजाः अकुतोभयं कैवलं धामगृहमभजत्, यद्वा

सम्बन्धाभावाद्भगवद्भजनमङ्गलाश्रयत्वं ज्ञेयम् । तथा च नारदीये—

"सर्वमङ्गलमूर्द्धन्या पूर्णानन्दमयी सदा। द्विजेन्द्र तव मय्यस्तु भक्तिरव्यभिचारिणी" ॥३२०॥ इति ।

अतएव (भा० ११।२०।३७) "क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानम्" इत्युक्तम् । तत्र तत्तच्छब्देन लक्षणामयकष्टकल्पनया जनलोकादिवाच्यतां निषेधन् हेतुं न्यस्यति । मर्त्त्यम् (भा०११।१०।३०) "ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः" इत्यादि-न्यायेन मरणधर्मकम् ; अन्नम्—कर्मादिफलं त्रिलोक्यादिकं यस्मादत्यगात्, अतिक्रम्यैव तत्र विराजत इति ; एषः—अमृताद्यैश्वर्य्यरूपः ; दुरत्ययो ब्रह्मचर्य्यादिभिः केनचिन्मनसाप्यवरोद्धुमशक्यः ।

तदेवम् "अमर्त्त्यमैश्वर्य्यं त्रिपात्, मर्त्त्यमेकपात्" इति तस्य चतुष्पादैश्वर्य्यं पुनर्विवृणोति (भा० २।६।१९)—"पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।

अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्द्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु" ॥३२१॥

तिष्ठन्त्यत्र सर्वभूतानीति स्थितयो मर्त्त्याद्यैश्वर्य्याणि तानि पादा इवाधिष्ठानभूतानि यस्य तस्य स्थितिपदः पादेषु चतुर्ष्वेव ऐश्वर्य्यभागेषु सर्वभूतानि पार्षदपर्य्यन्तानि । पादान् दर्शयति

सर्वसम्वादिनी

विनाशः;—सङ्कल्पमात्रेण तदुत्पत्तेः । (गी० ४।६) "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय" इत्यादौ 'प्रकृतिं स्वाम्' इति प्रकृतिः स्वभावः; स्वमेव स्वभावमास्थाय, न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः; आत्ममाययेति स्व-सङ्कल्प-रूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः । "माया वयुनं ज्ञानम्" इति ज्ञानपर्य्यायमपि माया-शब्दं नैघण्टुका अधीयते । आह च भगवान् पराशरः (वि०पु० ६।७।६९-७१)—

अनुवाद—

वैकुण्ठस्य विशेषं अकुतोभयं यद्धामेति ।" अतएव वैकुण्ठ धाम जो कैवल्यस्वरूप अभय है, उसका कथन हुआ है । क्षेम—"जहाँ माया नहीं है" इस उक्तिसे माया निर्मुक्तता प्रदर्शित हुई है, अर्थात् भगवद्बहिर्मुखता विधायक गुणसम्बन्ध के अभाव से जो भगवद्भजन रूप परममङ्गल का आश्रय है, वह ही प्रतिपादित हुआ है । नारदपुराण में उक्त है—"हे द्विजेन्द्र ! मुझ में आपकी सर्वमङ्गलोपरि अवस्थिता, सदा पूर्णानन्दमयी अव्यभिचारिणी भक्ति हो ।" अतएव श्रीभगवान् स्वयं ही कहे हैं - "काल मायादि रहित मेरा स्थान प्राप्त होता है ।" इत्यादि । "मर्त्यमन्नं पदत्यागात्" अर्थात् जहाँ से जन्म-मरण का कारण विदूरित हुआ है, इस श्लोक में लक्षणा के द्वारा तत् शब्द से जनलोक का ग्रहण नहीं, इसका निर्देश सुस्पष्ट हुआ है, मर्त्यं, अर्थात् मरणादि का कारण, एवं भय । द्विपरार्द्ध कालव्यापी आयु प्राप्त करके भी ब्रह्माका भय मेरे से है ।" श्रीभगवान् की इस उक्ति से ब्रह्मा, मृत्यु अथवा उसका भय शून्य न होने से, उक्त लोक भी मृत्यु धर्मयुक्त है, सूचित हुआ है । 'अन्न" कर्मादि फल है, अर्थात् त्रिलोकादि को अतिक्रम करके जो विराजित है । त्रिलोक का भोग कर्मजन्य होने से, त्रिलोक को अतिक्रम न करने से मनुष्य कर्ममुक्त नहीं होता है ।" एषः—अमृतादि ऐश्वर्य्यरूप यह लोक है । दुरत्ययः—अर्थात् ब्रह्मचर्य्य-तप आदि किसी भी साधनयुक्त मनोबल द्वारा जिसकी धारणा मन में नहीं की जा सकती है । सुतरां अचिन्त्य यह अमर्त्य ऐश्वर्य्य ही त्रिपाद्विभूति है, मर्त्य ऐश्वर्य्य एक पाद है । सम्प्रति पुनर्बार उनकी चतुष्पाद विभूति अथवा ऐश्वर्य्य के सम्बन्ध में मन्त्र के सहित एकवाक्य से श्रीमद्भागवत में जो वर्णित है, वह विवृत हो रहा है,—

"पुरुष पद में भूतसमूह अधिष्ठित होने से वे सब स्थिति पद से अभिहित होते हैं । त्रिमूर्द्धा प्रकृति के ऊपर विराजमान् लोक में क्षेम, अमृत अभय, नित्य विधृत हैं ।" अर्थात् यहाँ समस्त भूतगण अवस्थित हैं, अतः वह स्थिति है । मर्त्यादि लोकके ऐश्वर्य्यसमूह जिनके पादस्वरूप अधिष्ठान होने से स्थिति पद नाम से

त्रयाणां सात्त्विकादिपदार्थानां मूर्द्धेव मूर्द्धा प्रकृतिस्तस्य मूर्द्धसु तदुपरि विराजमानेषु श्रीवैकुण्ठलोकेषु अमृतं क्षेममभयञ्चाधायि नित्यं धृतमेव तिष्ठतीत्यर्थः। ततः पूर्वस्य मर्त्यान्नमात्रात्मकत्वादेकपात्त्वम्, उत्तरस्यामृतादित्रयात्मकत्वात् त्रिपात्त्वमिति भावः। तदनेन (ऋक्० १०।९०।३) "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यस्यार्थो दर्शितः। अस्य पादस्तथास्यैव दिवि वैकुण्ठे यदमृताद्यात्मकं त्रिपात्, तच्च विश्वाभूतानीत्यर्थः। अत्राधिष्ठानाधिष्ठेययोरैक्यचोक्तिः।

अथ चतुष्पात्त्वे त्रिलोकीव्यवस्थावत् पक्षान्तरं दर्शयति (भा० २।६।२०)—

"पादास्त्रयो वहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः। अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽवृहद्व्रतः"॥३२२

च-शब्द उक्तसमुच्चयार्थः। प्रपञ्चाद्वहिः पादास्त्रय आसन्नेव, प्रपञ्चात्मकस्य चतुर्थपादस्यैव विभागविवक्षायां तु त्रिलोक्या वहिश्चान्ये पादास्त्रय आसन्नित्येवं मन्त्रेऽपि हि तथैव (पुरुष-सूक्तम्, ४) 'पुनः' शब्दः। ते के? अप्रजानां ब्रह्मचारि-बनस्थ-यतीनाम्, आश्रमाः प्राप्या ये लोकाः; अतएव धर्मत्रयप्राप्यत्वात् चतुर्णामपि त्रिपात्त्वम्। अपरस्तु चतुर्थः पादस्त्रिलोक्या

सर्वसम्वादिनी

"समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः। तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥७४॥
समस्तशक्तिरूपाणि तत् करोति जनेश्वर। देव-तिर्य्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया ॥७५॥
जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा" ॥७६॥ इति;

महाभारते (उद्यम-प० ?) चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते,— "न भूतसङ्घ-संस्थानोऽदेहोऽस्य परमात्मनः" इति। अतः परस्यैव ब्रह्मण एवंरूप-रूपवत्त्वादयमपि तस्यैव धर्मः" इति।

अनुवाद—

अभिहितहै। उक्त महापुरुष के चतुष्पाद ऐश्वर्य्य के मध्यमें स्वीय पार्षद से समस्त भूतसमूह अवस्थित हैं।

सात्त्विक, राजसिक, तामसिक जो कुछ पदार्थ हैं, उक्त पदार्थसमूह की मस्तकरूप प्रकृति है। तदुपरि अर्थात् तत्सम्बन्ध परिशून्य होकर नित्य विराजमान श्रीवैकुण्ठलोक में अमृत, क्षेम, अभय नित्य विधृत हैं। अधिष्ठान एवं अधिष्ठेय अमृतादि को शब्द से कहा गया है। "मर्त्यमन्नयदत्यगात्" इत्यादि श्लोक के पूर्व में जो सब उक्ति हैं, वे सब मरणधर्मात्मकतापन्न होने से उन सबको एकपाद कहा गया है। तत् परवर्त्ति लोकसमूह, अभय, अमृतापन्न होने से त्रिपाद शब्द से अभिहित होते हैं। इससे "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" मन्त्र का अर्थ प्रदर्शित हुआ है। श्रीभगवान् की महिमा अथवा पाद विभूति, उनके ही वैकुण्ठलोक में है, जो अमृत, क्षेम, अभयात्मक रूपमें त्रिपाद है। विश्वभूत एकपाद का कथन पूर्व में हुआ है। यहाँ अधिष्ठान, अधिष्ठेय की ऐक्योक्ति है।

यहाँ चतुष्पाद् के सम्बन्ध में जिस प्रकार त्रिलोक व्यवस्थापित है, उसका प्रदर्शन पक्षान्तर में भी है। "प्रपञ्च के बाहर त्रिपाद अवस्थित है। यह लोक अप्रजागण का प्राप्य है। त्रिलोक के मध्य में अपर पाद गृहमेधी अवृहद्व्रतियों का प्राप्य है।" यहाँ पादाश्रयो वहिश्च यह चकार का प्रयोग; उक्त समुच्चयार्थ में है। अर्थात् प्रपञ्च के बाहर त्रिपाद अवस्थित है ही, कारण प्रपञ्चात्मक चतुर्थ पाद का विभाग को कहने का अभिप्राय से प्रापञ्चिक लोक के बाहर त्रिपाद विद्यमान है। यहाँ का तात्पर्य्य यह ही है। पुरुष सूक्तस्थ "पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (पुरुष सू० ४) यह पुनः शब्द—उसका ही निर्देशक है। उक्त त्रिपाद विभूति,—किसके प्राप्य हैं? उत्तरस्वरूप मूल श्लोक में "अप्रजानां य आश्रमाः" यह अप्रजा शब्द से ब्रह्मचारी, बानप्रस्थी, यतिगण का बोध होता है। अपर चतुर्थ—त्रिलोक के अन्तर्भूत—अब्रह्मचारी

अन्तरिति गृहमेधस्तत्प्राप्यः, यस्मात् अवृहद्व्रतो ब्रह्मचर्य्यरहित इति। अतएवोभयथापि पुरुषश्चतुष्पादित्याह (भा० २।६।२१—

"सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे। यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः"॥३२३

विष्वङ्सर्वव्यापी, पुरुषः पुरुषोत्तमः; एते सृती प्रपञ्चाप्रपञ्चलक्षणे जीवस्य गती, विचक्रमे आक्रम्य स्थितः। कथम्भूते? साशनानशने कर्मादिफलभोग-तदतिक्रमयुक्ते। तस्यैव तत्तदाक्रमणे हेतुः—यद् ययोर्जीवस्य सृत्योः, अविद्या मायैकत्र, विद्या चिच्छक्तिरन्यत्राश्रय इत्यर्थः। पुरुषोत्तमस्तु तयोर्द्वयोरप्याश्रयः। वक्ष्यते च (भा० २।६।२२) 'यस्मादण्डं विराड् जज्ञे' इत्यादिना। तस्मात् सर्वैश्वर्य्येणैकदेशैश्वर्य्येण च चतुष्पात्त्वमिति भावः ।।श्रीब्रह्मा श्रीनारदम्॥

७८। एवं सान्तरङ्गवैभवस्य भगवतः स्वरूपभूतयैव शक्त्या प्रकाशमानत्वात् स्वरूपभूतत्वम्। सा च शक्तिविशिष्टस्यैव स्वरूपत्वात् स्वरूपान्तःपातेऽपि भेदलक्षणां वृत्तिं भजन्ती तत्र प्रकाशविशेषं वैचित्रीवृन्दञ्च प्रकटयति। तत्र तत्र तादृशत्वे ब्रह्मोपासनासिद्धगुरव

सर्वसम्वादिनी

तत्र तैरपि विश्वरूपाद्वैलक्षण्यवत्त्वेन [स्वरूपान्तरङ्गधर्मत्वेन] स्वरूपान्तरङ्गधर्माणां तत्तदवयवसन्निवेशानां स्वरूपमेव धर्मि भवेदित्येनं तदेवावयवी देह इत्यागतत्वेन, युगपदपि समस्तशक्ति-प्रादुर्भावकर्त्तृत्वेन च स्वरूपत्वमेवाङ्गीकृतं पूर्णत्वञ्च। ताश्च शक्तयो निजेच्छात्मक-स्वाभाविक-शक्तिमय्य इति तासामपि तद्रूपत्वं ध्वनितम्। अतः कर्त्तृत्वमप्यत्र प्रादुर्भावयितृत्वमेव, न तु कल्पयितृत्वमिति।

अनुवाद—

गृहस्थगणों का प्राप्य है।

अतएव जितने प्रकार से देखें,—पुरुष की चतुष्पात् विभूति का उल्लेख सुस्पष्ट है। यथा—"सर्वव्यापी श्रीभगवान् जीव को भोग, अपवर्ग सम्बन्धीया उभयविधा गति प्रदान करते हैं। कारण पुरुष अविद्या एवं विद्या उभय का ही आश्रय है।" अर्थात् सर्वव्यापी परमपुरुष श्रीभगवान्, जीव की प्रापञ्चिक-अप्रापञ्चिक गति को स्वायत्व में रखकर अवस्थित हैं। कर्मादि फलभोग एवं कर्मादिफलभोगातीत है। उभय के मध्य में एक अविद्यारूपा है, अपर विद्यारूपा है, चिच्छक्तिरूपा है। पुरुषोत्तम श्रीभगवान् मायाशक्ति एवं चिच्छक्ति, एतदुभय का ही आश्रय हैं। "जिनसे विराट् ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ" यहाँ सर्वैश्वर्य्य एवं एकदेश, ऐश्वर्य्य के द्वारा भी चतुष्पादत्व सिद्ध होता है।

उक्त विद्या एवं अविद्या की गति के सम्बन्ध में स्वामिपाद लिखते हैं—"यद् यतः अविद्या कर्मरूपा एका, विद्या च तत्साधनोपासनारूपान्या" "विद्यैव तन्निर्द्धारणात्" (वेदान्त सू०, ३।३ ४८) इत्यादि सूत्र में उसका ही प्रतिपादन हुआ है। "विद्यैव मोक्षहेतुः, नतु कर्म। तमेवविदित्वेत्यादौ तस्यास्तत्त्वावधारणात्। विद्या शब्देनेह ज्ञानपूर्विका भक्तिरुच्यते। विद्याकुठारेण शितेन धीर इति।"

अर्थात् विद्या साधन उपासनारूपा होने से ही स्वामिपाद श्रुत्यादि के सहित एकवाक्य से परमागति का हेतु निर्देश किए हैं। पूज्यपाद श्रीरामानुज भी उक्त सूत्र के भाष्य में लिखे हैं—"यदुक्तं मनश्चितादयः क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति, नैतदस्ति; विद्यारूपा एवैते—विद्यारूपकत्वान्वयिनः" इत्यर्थः॥

श्रीब्रह्मा नारद को बोले थे ॥७८॥

श्रीभगवान् की त्रिपादविभूति की जो कथा कही गई है, वह अन्तरङ्ग वैभवशाली श्रीभगवान् के स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा प्रकाशित होने से उक्त वैभव की भी स्वरूपभूतता सिद्ध हुई है। उक्त विभूति, शक्तिविशिष्ट श्रीभगवान् का स्वरूपत्व निबन्धन स्वरूपान्तःपाति होने पर भी विभिन्न प्रकार वृत्ति उसमें होने से उससे

एवास्माकं प्रमाणम् । तदेतदाह चतुर्दशभिः (भा० ३।१५।३७-५०)—

"एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः, स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्य्यहृद्यः ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना,-मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥३२४॥
तन्त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि,-स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल,-शुभ्रातपत्रशशिकेशरशीकराम्बुम् ॥३२५॥
कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम, स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व,-श्चूड़ामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ।।३२६
पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या, काञ्च्यालिभिर्विरुतया बनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठबलयं विनतासुतांसे, विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥३२७॥
विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह,-गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्द्दण्डषण्डविवरे हरता परार्द्ध्य,-हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥३२८॥

सर्वसम्वादिनी

तथा (छा०३।१४।२) "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाकचनादरः" इत्यपि । त इदमाहुः,—"मनोमयः" परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्यः; "प्राणशरीरः" इति जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः; "भारूपः" भा-स्वरूपोऽप्राकृत-स्वासाधारण-निरतिशय-कल्याण-दिव्यरूपत्वेन निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः; "आकाशात्मा" आकाशवत्

अनुवाद—

प्रकाशविशेष वैचित्रीसमूह प्रकटित होते हैं । उक्त वैशिष्ट्य वर्णन में ब्रह्मोपासनासिद्ध चतुःसनादि गुरुगण ही प्रमाण हैं, अर्थात् उन्होंने उक्त विभूति की महिमा का दर्शन निज नेत्रों से किया था । अतः उनके अनुभूत पथ को अवलम्बन करके ही उक्त विभूति का वर्णन करेंगे । श्रीमद्भागवत के चतुर्द्दश श्लोक द्वारा उसका वर्णन हुआ है ।

"आर्य्यगण के परम हृद्य अरविन्दनाभ श्रीभगवान् तत्क्षणात् स्वीय पार्षदों के द्वारा महदतिक्रम वृत्तान्त को जानकर, परमहंस मुनीन्द्रगण के चिर अन्वेषणीय चरण होकर भी श्रीलक्ष्मीदेवी के साथ पैदल चल कर वहाँ पहुँच गए ।

श्रीप्रभु को अकस्मात् उस प्रकार गमनोद्यत देखकर, सेवाकार्य्यरत पुरुषगण, गमनोचित छत्र-पादुकादि का आनयन करने में व्यस्त हो गए, कोई सेवक हंसवत् शुभ्र चामर वीजन करने लगा, कोई तो स्निग्ध शीतल अम्बुकण वर्षी मुक्ता कलापयुक्त श्वेत छत्र लेकर उपस्थित हुआ । कुमारगण, उनके समाधिभाग्य भजनीयस्वरूप ब्रह्म को उस प्रकार अवलोकन किए थे । कुमारों ने देखा श्रीभगवान् सबके प्रति प्रसन्नानन हैं । स्पृहणीय गुणगण का आश्रय, प्रसाद दृष्टि से सस्नेह कटाक्षपात करके सबके हृदय को विमलानन्द से उच्छलित करते हैं । श्यामवर्ण विशाल वक्षःस्थल में परिशोभित श्रीवत्स चिह्न की प्रभासे स्वर्ग, सत्यलोक एवं उसके चूड़ामणिस्वरूप में अवस्थित वैकुण्ठलोक को शोभित कर रहें हैं । पीत वस्त्र के ऊपरिभाग में पृथु नितम्ब में उज्ज्वल मेखला है, एवं अलिगण गुञ्जित लम्बमान बनमाला गलदेश में शोभित है । रमणीय रत्न वलय से शोभित एक हस्त पार्षदोत्तम गरुड़ के स्कन्धदेश में अर्पित है, अपर हस्त में लीला-कमल को घुमा रहें हैं । निज प्रभा से विद्युत को भी लज्जितकारी मकरकुण्डल से एवं मस्तक स्थित प्रोज्ज्वल मणिमय किरीट से परिस्फुरित गण्डद्वय एवं समुन्नत नासिका मुख कमल की शोभा वर्द्धित कर रहे हैं । कौस्तुभमणि एवं मनोहर भुजचतुष्टय के मध्यदेश में लम्बित हार, विशाल वक्षःस्थल का सौन्दर्य

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः, स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवताञ्च भजन्तमङ्गं, नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः ॥३२९॥
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द,-किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥३३०॥
ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश,-मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि,-द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥३३१॥
पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै,-र्ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै,-रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः" ३३२॥

श्रीकुमारा ऊचुः—

"योऽन्तर्हितो हृदिगतोऽपि दुरात्मनां त्वं, नाद्यैव नो नयनमूलमनन्तराद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः, पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥३३३॥
तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं, सत्त्वेन सम्प्रतिरतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै,-रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥३३४॥

सर्वसम्वादिनी

सूक्ष्मस्वच्छरूपः; सकलेतर-कारणस्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा; स्वयञ्च प्रकाशतेऽन्यांश्च प्रकाशयतीति वाकाशात्मा; एवं "सर्वकर्मा" क्रियते इति कर्म, सर्वं जगदस्य कर्म सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा; 'सर्वकामः' काम्यन्त इति कामा भोग्यभोगोपकरणादयस्ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः; 'सर्वगन्धः' "सर्वरसः"—(कठ० १।३।१५) "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्राकृत-गन्धादि-निषेधादप्राकृतस्यासाधारण।

अनुवाद —

वर्द्धन कर रहे हैं।

श्रीभगवन्मूर्त्ति का सर्वतोभावेन सौन्दर्य्य वर्णन करना सम्भव नहीं है। तब भक्तगण देखे थे कि— सर्वविध सौन्दर्य्य एवं सम्पद् की निदानभूता श्रीलक्ष्मी देवी स्वयं जिस सौन्दर्य्य के गर्व से गर्विता थी। श्रीभगवत् सौन्दर्य्य को देखकर उनका गर्व तिरोहित हो गया था। ब्रह्मा एवं भव प्रभृति भक्तगण के सम्बन्ध में प्रकटित मूर्त्ति श्रीभगवान् को अवितृप्त नयनों से बारम्बार अवलोकन करके भी आनन्दोच्छ्वसित हृदय से अवनत मस्तक होकर प्रणाम किए थे। उस समय उन सबकी नासिका में, अम्बुजाक्ष श्रीभगवान् के पदारविन्द में अर्पित सकेशर तुलसी का सुघ्राण प्रविष्ट होने से, ब्रह्मानन्द में निमग्न कुमारगण के चित्त आनन्दाप्लुत हुये थे, एवं शरीर रोमाञ्चित हुये थे।

सिद्धकाम कुमारगण श्रीभगवान् के अरुण अधर में कुन्द विनिन्दित हास्ययुक्त नीलोत्पल निभ वदन मण्डल को उर्द्ध मुख से अवलोकन कर एवं नखरूप अरुणमणियों के आश्रय पदयुगल को बारम्बार दर्शन एवं प्रणाम करके भी, युगपत् सर्वाङ्गिक लावण्य ग्रहण करने में असमर्थ एवं अतृप्त होकर श्रीमूर्त्ति का ध्यान वे सब किये थे। योगमार्ग में परम गति का भी योगिगणों का ध्यान का आस्पद, अन्य के लिए चिर असिद्ध, अणिमादि अष्टैश्वर्य्य सम्बलित जिस मूर्त्ति का ध्यान कुमारगण करते हैं, उन नयनाभिराम पौरुष मूर्त्ति का दर्शन कर कुमारगण वक्ष्यमाण रीति से स्तव किए थे।

चतुःसन कृत स्तव। "आप नित्य ब्रह्मरूप में प्रकाशित हो, यह कुछ भी विचित्र नहीं है। किन्तु हमारे भाग्य की बात को कह नहीं सकते हैं। हे अनन्त ! आप दुरात्मागण के हृदय में अवस्थित होकर भी प्रकाशित नहीं होते हैं। हमारे अन्तरस्थित आप आज कृपया दर्शन देने के लिए चाक्षुष प्रत्यक्ष का

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं, किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथाया, कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ।।३३५।।
कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्ता,-च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः, पूर्य्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ।।३३६।।
प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूतरूपं, तेनेश निर्वृ तिमवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम, योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः" ।।३३७।।

अथ क्रमेण व्याख्यायते—"एवं तदैव" इति । टीका च—"एवं स्वानां महत्सु अतिक्रममपराधं तत्क्षणमेव विबुध्य, तस्मिन् यत्र ते सनकादयस्ताभ्यां जयविजयाभ्यां रुद्धाः, तं देशं ययौ । आर्य्याणां हृद्यो मनोज्ञः; चरणौ चलयन्नित्ययं भावः—मच्चरणदर्शनप्रतिघातजं क्रोधं तौ दर्शयन् शमयिष्यामीति त्वराव्याजेन पद्भ्यामेव ययौ । श्रीसाहित्यश्च निष्कामानपि

सर्वसम्वादिनी

निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूताः सर्वविधा गन्धरसास्तस्य सन्तीत्यर्थः; "सर्वमिदमभ्यात्तः" उक्तमिदं पर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान्; "अभ्यात्तः" इति "भुक्ता ब्राह्मणाः" इतिवत् कर्त्तरि क्तः प्रतिपत्तव्यः; अवाकी—वागुक्तिः, सास्य नास्तीत्यवाकी; कुत इत्याह,—"अनादरः" इति; अवाप्त-समस्तकामत्वेनादर्त्तव्याभावादादर-रहितोऽतएवावाकी—अजल्पाक इति । अत्र "प्राणशरीरः" इति प्राणवदुपासकानां परमप्रेष्ठशरीर इत्यर्थ इत्यपि; तथा प्राणयति सर्वमिति प्राणं परं ब्रह्मैव शरीरं

अनुवाद—

विषय हुए हैं । आपके नाभिकमलोद्भूत लोकस्रष्टा अस्मदीय जनक ब्रह्मा कर्त्तृक जब आपकी महिमा अनुवर्णित हुई, तत्काल ही आप कर्ण पथ से हमारे हृदयगुहा में प्रविष्ट हुए थे । हे भगवन् ! पितृ वर्णित श्रेष्ठ परमात्म तत्त्व ही जो आप हैं, उसको हम जान गये हैं । आपकी इस विशुद्ध सत्त्व श्रीमूर्त्ति में ही आप प्रतिक्षण भक्तगणों की प्रीति को वर्द्धित कर रहें हैं ।

अहं ममता परिशून्य विगतराग मुनिगण त्वदीय कृपालब्ध श्रवणादि भक्ति से आपको जानते हैं । जब वे सब मुनिगण मोक्षाख्य कृपा को भी बहुमान प्रदान नहीं करते हैं । तब, आपके भ्रू भङ्गरूप काल के भय से सतत भीत (नश्वर) इन्द्रादि पद जो अतीव तुच्छ है, उसकी बात क्या करनी है ? अशेष मङ्गलनिदान कीर्त्तनार्ह आपकी कथा ही परम पवित्र एवं रमणीय है, अतः इसके आस्वादन में वे सब विभोर होते हैं ।

हे भगवन् अतःपर पुनर्बार जैसे हमें भक्तापराधरूप पाप से लिप्त होना न पड़े । भक्तापराध पाप से सब पाप ही सम्भावित होते हैं । उसके फल से अधोगति अवश्यम्भावी है । किन्तु हमारे चित्त जिस प्रकार आपके पादपद्म में अलिवत् आसक्त हो जाय, वाक्य – तुलसी के समान आपकी अङ्घ्रि शोभा को वर्द्धित करे । कर्णविवर—नियत आपके गुणगणों से अपने को पूर्ण करे । हे विपुल कीर्त्तिशालिन् ! आज आपने जो रूप हमें दिखलाया है, हे ईश ! उससे हमारी दृष्टि, परम निर्वृ ति को प्राप्त कर चूकी है । अनात्मगण के सर्वथा अप्राप्य, आज हमने जो कृपालाभ किया है, उसके विनिमय में आपको देने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है । हम सब आपको प्रणाम करते हैं ।

सनकादि के द्वारा जयविजय अभिशप्त होने से श्रीभगवान् तत्क्षणात् घटनास्थल में आये थे । सम्प्रति उसकी व्याख्या क्रमान्वय से विशद् रूपसे करते हैं । "तदैव" श्लोक की टीका में स्वामिपाद लिखे हैं—"भगवान् स्वीय पार्षद जय विजय के द्वारा महदतिक्रमरूप अपराध को जानकर घटनास्थल को गए थे । कारण—आप आर्य्यगण के मनोज्ञ चरणद्वय को परिचालित करके ही गये थे । चरणदर्शन के द्वारा क्रोधित

विभूतिभिः पूरयित्वा क्षमापयितुमिति" इत्येषा । अत्र तेषामात्मारामाणामप्यानन्ददानार्थं चरणदर्शनेन तस्य सच्चिदानन्दघनत्वम्; श्रीसाहित्येन तच्छक्तिविलासस्यापि स्वरूपानितरत्वं विवक्षितम् । स्वानामिति बहुवचनं द्वयोरप्यपराधः सर्वेष्वेव परिवारेष्वापततीत्यपेक्षया तयोर्बहुमानाद्वा । स्व-शब्देन मुनीनां न तादृशं तदात्मीयत्वमिति विवक्षितम् ।

तत्र तैर्दृष्टं देवमनुवर्णयति पञ्चभिः । "तं त्वागतम्" इति ते सनकादयः स्वसमाधिना भाग्यं भजनीयं फलं यद्ब्रह्म तदेवाक्षविषयम्; यद्वा, स्वसमाधेः स्वस्य हृदि ब्रह्माकारेण परतत्त्वस्फूर्त्तेर्भाग्यं फलरूपम्; यतोऽक्षविषयं तदीयस्वप्रकाशकताशक्ति-संस्कृत-निखिल-धीन्द्रियस्फुरितत्वेन सम्प्रति विस्पष्टमेवानुभूयमानम् । अनेन पूर्ववत्तस्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाख्यानां सर्वेषामेव धर्माणां सच्चिदानन्दघनात्मत्वं साधितम् । तथा नित्यमेव तथाविध-

सर्वसम्वादिनी

यस्य स इत्यर्थ इत्यपि च व्याख्यानं घटते ।

(मूले ७३तम-अनु०) (भा० ६।६।३३) "ॐ नमस्ते" इत्यादि; [अनु० शेषे] "देवाः श्रीहरिम्" इत्यत्र तस्य हरित्वं (भा० ११।४।१८) "ग्राहात् प्रपन्नम्" इत्यादौ "मुक्ताफल"-व्याख्यानुसृतैकादशस्कन्धवाक्य-स्वारस्याल्लभ्यते । अतएवात्रापि (भा० ६।६।४६) "अथैवमीड़ितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः" इत्यत्र हरि-शब्देनैवोक्तोऽसाविति ।

अनुवाद—

ऋषियों को शान्त करना ही अभिप्राय था सत्वर पैदल ही घटनास्थल पर पँहुचे थे । लक्ष्मीदेवी को साथ ले जाने का तात्पर्य्य है कि— निष्कामिगण को स्वीया विभूति के द्वारा पूर्ण करता, तथा क्षमा करना ।" स्वामिपाद की इस व्याख्या से स्पष्ट ही प्रतीति होती है कि—आत्मारामगण को आनन्द प्रदानार्थ एवं चरण दर्शन करा कर श्रीविग्रह की सच्चिदानन्दमयता की उपलब्धि कराना ही श्रीभगवान् का अभिप्राय था, एवं लक्ष्मीदेवी के साहित्य से विभूति के द्वारा परिपूरित होंगे, उक्त चित्शक्ति का विलास, उनके स्वरूप से अभिन्ना है, वह ही यहाँ विवक्षित है ।

"स्वानां" पद में बहुवचन है । दो व्यक्ति के लिए द्विवचन ही यथेष्ट था । किन्तु बहुवचन से उल्लेख करने से प्रतीत होता कि जय-विजय दो जन का अपराध, सबके उपर आपतित हो सकता है । उसको दर्शाने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग हुआ है, अथवा आत्मीयता रूप गौरव को प्रकट करने के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है । 'स्व' पद से बोध होता है, मुनिगण तादृश निजजन, उस समय भी नहीं हुये थे । अर्थात् आत्माराम की अपेक्षा भी भक्तश्रेष्ठ होते हैं, यह ही 'स्व' पद से परिस्फुट हुआ है ।

ब्रह्मानन्द की भी सेवास्पृहा । सनकादि मुनिगण श्रीभगवान् को जिस प्रकार देखे थे, पाँच श्लोकों में उसका वर्णन करते हैं । "तं त्वागतं" इस श्लोक में सनकादि ने निज समाधि द्वारा भजनीय फलस्वरूप ब्रह्म को आज नेत्रों से देखा । अथवा 'स्व-समाधेः स्वस्य' निज हृदय में ब्रह्माकार से स्फूर्त्ति का जो भाग्य है, वह ही फल है । अर्थात् उस फल से ही श्रीमूर्त्ति का सन्दर्शन हुआ । तदीय स्वप्रकाशता के द्वारा संस्कृत, बुद्धि प्रभृति निखिल इन्द्रियों में स्फुरित जो तत्त्व, वह ही सम्प्रति विस्पष्ट रूपसे अनुभूयमान है । "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इस मन्त्र के अनुमनन से सोऽहं भावावस्था में जो बृहत् चैतन्य केवल बुद्धि वेद्य रहा, उक्त वेद्यावस्था में साधक की सच्चिदानन्द स्वरूपापन्ना अवस्था रही । सम्प्रति उक्तानुभव के फलसे उक्त धी मात्र वेद्य सच्चिदानन्दमय, स्वीय प्रकाशता शक्ति से धी एवं इन्द्रिय उभय के वेद्यावस्था में उपनीत होकर, सच्चिदानन्दस्वरूपावस्था, सच्चिदानन्द स्वरूप की आस्वादावस्था में उपनीत हुई है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि समस्त इन्द्रियधर्म का (तदनुभूत विषय का) सच्चिदानन्दघनत्व, साधित हुआ है ।

सततोदित्वर-माधुरीवैचित्र्यानुभवपूर्वक-परमप्रेमानन्द-सन्दोहेन सेवमानैस्तस्यात्मायैः पुरुषैरानीत-सेवौपयिक-नानावस्तुभिः सेव्यमानं भगवन्तं कथञ्चित् क्वचित् कदाचिदेव तदानीं केनापि समाधिज-भाग्योदयेन केवलमपश्यन्निति तेषां परमविदुषां स्पृहास्पदावस्थेषु तेषु श्रीवैकुण्ठपुरुषेषु कस्या अपि भगवदानन्दशक्तेर्विलासमयत्वं दर्शितम्। अथ तेषां भगवद्रतेरुद्दीपनत्वेन चित्तक्षोभकत्वात्तत्परिच्छदादीनामपि तादृशत्वमाह— हंसेति सार्द्धैस्त्रिभिः। केशरा मुक्तामयप्रालम्बाः।

"कृत्स्नप्रसाद-" इति कृत्स्नस्य द्वारपालमुनिवृन्दस्य प्रसादे सुमुखमिति स्पृहणीयानां गुणानां धाम स्थानमिति च तत्तद्गुणानां तादृशत्वं दर्शितम्। स्नेहावलोकेति विलासस्य स्वः सुखभोगस्थानानि नित्यानन्तानन्दरूपित्वात्, तेषां चूड़ामणिमात्मधिष्ण्यं च स्व-स्वरूपं स्थानं श्रीवैकुण्ठम्, तादृशेऽप्युरसि शोभितया श्रिया कृत्वा सुभगयन्तमिव तत्र भूषणविशेषं निदधानमिव। इवेति वाक्यालङ्कारे। अनेन श्रीवैकुण्ठस्य सच्चिदानन्दघनत्वम्; उक्तञ्च (भा०३।१५।२६) "तद्विश्वगुरु"-" इत्यादौ "आपुः परां मुदम्" इत्यादि; वक्ष्यते च (भा० ३।१६।२७।२८)—

"अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम्। वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठञ्च स्वयंप्रभम्॥३३८॥

सर्वसम्वादिनी

अथ (मूले ६४तम-अनु०) (भा० ११।१६।३७) "पृथिवी" इत्यादौ "परम्" इत्यत्र (श्रीमद्यामुनाचार्य्यपाद कृत-'स्तोत्ररत्ने') 'यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च' इत्यादिपद्य एवं विवेचनीयम्।—यद्यपि श्रीरामानुजीयैर्निर्विशेषं ब्रह्म न मन्यते, तथापि सविशेषं मन्यमानैर्विशेषातिरिक्तं मन्तव्यमेव; तच्च ब्रह्म-शब्देनोक्तं विशिष्टब्रह्मणो गुणभूतमिति (तै० २।१।२) "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यत्र सह-शब्दबलेन तैरेव

अनुवाद—

एवं उससे ही श्रीभगवत् श्रीमूर्त्ति का सन्दर्शन हुआ है। इसको ही 'स्व समाधि भाग्य' शब्द से आप सबने कहा है। सनकादि ऋषिगणों ने श्रीभगवान् का दर्शन किया, श्रीभगवान् की माधुर्य्य मूर्त्ति का दर्शन किया, तथाविध प्रोज्ज्वलतर माधुर्य्यानुभवजनित परमप्रेमानन्द में निमग्न सेवकगण को देखा, सेवकगण श्रीभगवान् के परम आत्मीय हैं। वे सब सेवोपयोगी छत्र-चामरादि के द्वारा नित्य सेवा करते रहते हैं। इस प्रकार सेवकगण के द्वारा नित्य सेवित श्रीभगवान् का दर्शन तो सनकादि मुनियों ने किया, किन्तु सेवा करने का सौभाग्य उन सब का नहीं हुआ। इससे परमविज्ञ सनकादि मुनियों की स्पृहणीया श्रीवैकुण्ठ के पुरुषों में श्रीभगवान् की किसी अनिर्वचनीय आनन्दशक्ति की विलासमयता है; दर्शाया गया है। यह सेवानन्द से सनकादि का ब्रह्मानन्द पराभूत हो गया था, यह ही अभिव्यञ्जित हुआ। सनकादि की चित्त क्षोभ विधायिनी भगवद्रति का उद्दीपक श्रीभगवान् के परिच्छदादि का भी सच्चिदानन्दमयता उक्त है। "हंसश्रियो" इत्यादि वाक्य के द्वारा वर्णित है। "छत्र की मुक्तामय वेष्टनी प्रभृति" जिसको देख कर मुनिगण मुग्ध हो गये थे। अतएव उन सब के अप्राकृतत्व में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता है।

"कृत्स्नप्रसाद-" इत्यादि वाक्य से द्वारपाल, एवं मुनिवृन्द के प्रति प्रसाद-स्मित शोभित आनन एवं स्पृहणीय गुण का आश्रय का वर्णन हुआ है, इससे गुणों की सच्चिदानन्दमयता व्यञ्जित हुई है। 'स्व-' सुखभोग का स्थान है, समस्त वस्तु की नित्य आनन्दमयता हेतु समस्त स्थानों की चूड़ामणिवत् स्थित, स्व-स्वरूप स्थान श्रीवैकुण्ठ है। उक्त वैकुण्ठलोक भी स्वीय वक्षःस्थलस्थिता श्री के द्वारा विशेष रूपसे आनन्दविधायक है। इससे श्रीवैकुण्ठ की सच्चिदानन्दमयता प्रदर्शित हुई है। "तद्विश्वगुरु-" "आपुः परां मुदं" तत् पश्चात् "अनन्तर मुनिगण, नेत्रोत्सव जनक स्व प्रकाश श्रीहरि को एवं उनके धाम को देख कर,

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्" ॥३३९॥ इति ।

"पीतांशुके" इति, "काञ्च्या बनमालया च" इत्यत्र इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया; "विद्युत्-" इति, हरता मनोहरेण । तदेवं परिच्छदादीनामपि तादृशं वर्णयित्वा पुनस्तस्यैवाति-मनोहरत्वमाह—"अत्रोपसृष्टम्" इति, इन्दिराया उत्स्मितं गर्वः, अत्र भगवति उपसृष्टमस्य मदनार्वुदसुन्दरकान्तस्य नित्येन लाभेन नित्यमेवाधिकमाविर्भावितमिति तदीयानां धिया वितर्कितम्। अत्र हेतुः बहुसौष्ठवाढ्यमनन्तस्वरूप-रूपगुणसम्पद्भिर्युक्तं बहुसौन्दर्य्यसम्पन्नमिति । नन्वेवम्भूतस्य लक्ष्म्या अपि रहस्यमहानिधिरूपस्य परमवस्तुनः कथं प्रकाशः सम्भवतीत्यत आह—मह्यमिति; मदादीनां भक्तानां कृते अङ्गं भजन्तं मूर्त्ति प्रकटयन्तम्, अस्मद्विषयकमङ्गी-कारं भजन्तमित्यर्थः; (श्रीयमुनाचार्य्यविरचित-स्तोत्ररत्ने १३)—

"उल्लङ्घितत्रिविधसीमसमातिशायि,-सम्भावनं तव परिव्रढ़िमस्वभावम् ।
मायाबलेन भवतापि निगुह्यमानं, पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः" ॥३४०॥

इतिवत्; (ब्र०सू० ३।३।५४,मध्वभाष्यधृत-माठरश्रुतिः) "भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति" इत्यादि श्रुतेः; तथाभूतं तमचक्षतेति । निरीक्ष्य च मुदा कैः शिरोभिर्नेमुः; न विशेषेण तृप्ता दृशो नेत्राणि येषां ते । 'तस्य' इति;टीका च—"स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यमाह—

सर्वसम्वादिनी

(८३तम-अनु०) व्याख्यातम् । तच्चाग्रे मूल एव विवेचनीयम् ।

अथ (मूले ९६तम-अनु०) षण्णवतितम-वाक्य-व्याख्यान्ते (तै० २।१।३) "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यादिका श्रुतिर्विवृत्य व्याख्यायते ।—यथा,

(तै०२।१।३)"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेव शिरः,अयं दक्षिणः पक्षः,अयमुत्तरः पक्षः,अयमात्मा,

अनुवाद—

श्रीहरि को प्रदक्षिण एवं प्रणाम कर, उनकी अनुज्ञा ग्रहण कर प्रहृष्ट चित्त से वैष्णवी श्री की प्रशंसा करते करते प्रत्यागमन किये थे । इत्यादि वाक्यों से धाम को सच्चिदानन्दमयता सुस्पष्ट ही अभिहित है ।

"काञ्च्या, बनमालया"— यहाँ इत्थम्भूतार्थ में तृतीया है । "विद्युत्" हरता—मनोहर, इस प्रकार परिच्छदादि की सच्चिदानन्दमयता का वर्णन करके अति मनोहरत्व के सम्बन्धमें कहते हैं । अत्रोपसृष्टम्—इस शब्द से इन्दिरा का गर्व, श्रीभगवान् के सहित नित्य मिलित होने से अत्यधिक शोभा वर्णित हुई । इस प्रकार तदीय पार्षदगणों के चित्त में वितर्क हुआ । तत् पक्ष में—बहु सौष्ठवाढ्यम्" शब्द को हेतु कहा जा सकता है । कारण—अनन्त स्वरूपभूत रूप, गुण, सम्पत्ति के द्वारा नित्य युक्त है । यहाँ आशङ्का हो सकती है,—यह रहस्य महानिधिरूप वस्तु का भी प्रकाश, लक्ष्मीदेवी के द्वारा कैसे सम्भव हो ? उत्तर वहाँ पर ही है । "मह्यम्" अर्थात् अस्मदादि भक्तगण के निमित्त जो श्रीमूर्त्ति को प्रकट करके हमारे प्रार्थित अभिलाष की पूर्त्ति करते हैं । कारण उनका स्वभाव ही उस प्रकार है ।

श्रीयामुनाचार्य्य निजकृत स्तोत्र में कहे हैं—"सम अतिशयादि सम्भावना को उल्लङ्घन करके आपका स्वभाव सर्वदा परिवर्द्धित हो रहा है, आप स्वीय माया के बल से उसको गोपन करने से भी आपके कोई कोई अनन्यपरायण भक्त उसका नियत दर्शन करते हैं ।" "भक्ति,—आपको प्राप्त करवाती है, भक्ति—आपको दिखलाती है ।" इत्यादि श्रुति से कथित है कि—आप भक्त के निकट नित्य प्रकट रहते हैं । अतएव श्रीभगवान् को अतृप्त नयनों से बारम्बार दर्शन करके अवनत मस्तक से सनकादि मुनिगण प्रणाम किए थे ।

तस्य पदारविन्दकिञ्जल्कैः केशरैर्मिश्रा या तुलसी तस्या मकरन्देन युक्तो यो वायुः, स्वविवरेण नासाच्छिद्रेण, अक्षरजुषां ब्रह्मानन्दसेविनामपि संक्षोभं चित्तेऽतिहर्षम्, तनौ रोमाञ्चम्" इत्येषा। अत्र पदयोररविन्दकिञ्जल्कमिश्रा या तुलसीति व्याख्येयम्। अरविन्द-किञ्जल्कतुलस्यौ च तदानीं बनमालास्थिते एव ज्ञेये। अस्तु तावद्भगवदात्मभूतानां तेषामङ्गोपाङ्गानां तेषु क्षोभकारित्वम्, तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनो वायोरपीति भावः। अत्र (ब्र०सू०१।१।१) श्रीरामानुज-शारीरके हि दर्शितमिदम् (तै० २।१।२)—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति ब्रह्मवेदन-फलमवगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति; विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामानश्नुते; काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः परब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वानश्नुत इत्यर्थः। दहरविद्यायां (छा० ८।१।१) "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इतिवद्गुणप्राधान्यं वक्तुं सह-शब्दः।" इति।

हर्षकारितं सम्भ्रममाह—द्वाभ्याम्; 'ते वा' इति; ते, वै किल, वदनमेव असितपद्मकोष ईषद्विकसितं नीलाम्बुजं तम्, उत् ऊर्द्ध्वं वीक्ष्य, लब्धमनोरथाः सन्तः, नखा एवारुणमणयस्तेषां श्रयणमाश्रयभूतमङ्घ्रिद्वन्द्वं पुनरवेक्ष्य अधोदृष्ट्या वीक्ष्य पुनःपुनरेवं वीक्ष्य युगपत् सर्वाङ्ग-लावण्यग्रहणाशक्तेः पश्चान्निदध्युश्चिन्तयामासुः, युगपदेव कथमिदमिदं सर्वं पश्येमेत्युत्कण्ठाभिः स्थायिभावपोषकं चिन्ताख्यं भावमवापुरित्यर्थः।

'पुंसाम्' इति,बहुमतं ब्रह्मणोऽपि घनप्रकाशत्वादत्यादरास्पदं बहूनां तत्त्वदृशां सम्मतमिति वा। पौंस्नं वपुर्दर्शयानमिति, पुरुषस्य गर्भोदशायिनो गुणावताररूपं श्रीविष्णवाख्यं यद्वपु-

सर्वसम्वादिनी

इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।"; (तै० २।२।३) "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयस्तेनैष पूर्णः; स वा एष पुरुषविध एव; तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य प्राणमेव शिरः, व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपान उत्तरः पक्षः, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा"; (तै० २।३।१-२) "तस्यैष एव शारीर आत्मा

अनुवाद—

स्वरूपानन्द से भजनानन्द की श्रेष्ठता। इस प्रकरण की टीकामें स्वामिपाद—स्वरूपानन्द से भजनानन्द का आधिक्य का वर्णन किए हैं। श्रीभगवान् के पादपद्म में अर्पित केशरादि विमिश्रित जो तुलसीपत्र, उसका मकरन्द से सुगन्धित वायु नासा पथ से प्रविष्ट होकर ब्रह्मानन्दानुभविगण के चित्त में अति हर्ष, एवं शरीर में रोमाञ्च आनयन किया था। यहाँ पर 'पदारविन्द में' 'अरविन्द तुलसी' से जानना होगा कि—उस समय आपादलम्बित बनमाला में वह ग्रथित रही। श्रीभगवान् के आत्मभूत अङ्ग उपाङ्गादि का क्षोभकारित्व सम्भावित होने पर भी यहाँ तत् सम्पर्कित वायु का भी क्षोभकारित्व शक्ति का प्रख्यापन से से महिमाधिक्य प्रकटित हुआ है। श्रीसनकादि का अति हर्ष जनित सम्भ्रम का वर्णन परवर्त्ति श्लोकद्वय में विवृत है। "सनकादि मुनिगण—श्रीभगवान् के ईषत् विकशित नीलाब्ज सदृश अक्षि शोभित मुखकमल को ऊर्द्ध्वमुख से सन्दर्शन कर कृतार्थ हुए थे। नखरूप अरुण मणि का आश्रय अङ्घ्रि की शोभा को युगपत् दर्शन करने में अक्षम होकर चिन्ता करने लगे। "किस रूपसे सर्वाङ्ग का दर्शन करेंगे।" ईदृशी चिन्ता से स्थायीभाव का पोषक चिन्ताख्य भाव प्रकटित हुआ है।" "पुंसां" इस श्लोक में "बहुमतं" पद का प्रयोग है। इससे ब्रह्म का घनप्रकाशत्व निबन्धन परम आदरास्पदत्व सूचित हुआ है। अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप केवल ब्रह्मरूप में एतावत् वह अनुभव का विषयमात्र था, सम्प्रति उक्त सच्चिदानन्दघन मूर्त्ति का

स्तदभिन्नतया स्वं वपुर्दर्शयन्तम् न तु ब्रह्मादिवदन्यथात्वेनेत्यर्थः। अनन्येन स्वेनैव सिद्धैः स्वरूपभूतैरित्यर्थः। अतएव औत्पत्तिकैस्तद्वदेवानादिसिद्धैरित्यर्थः। अणिमाद्यष्टैश्वर्य्यैर्युतं विशिष्टम्,न तूपलक्षितम्। अनेन तेषां स्तुत्यास्पदविशेषणत्वेन ऐश्वर्य्योपलक्षितसमस्तभगानां तादृशत्वं व्यञ्जितम्। समगृणन् सम्यगस्तुवन्नित्यर्थः।

अथ श्रीभगवतस्तादृशभावव्यञ्जिनीं निजामुक्तिं तेषामेव स्वहार्द्दाभिव्यक्तिकरेण स्तुतिवाक्येन प्रमाणयति–श्रीकुमारा ऊचुरिति। स्तुतिमाह–'यः' इति पञ्चभिः। अत्र "अक्षरजुषामपि" इत्यनुसृत्य व्याख्यायते। नित्यं ब्रह्मस्वरूपेण प्रकाशसे, न तच्चित्रम्; इदानीन्तु विशुद्धसत्त्वलक्षणेन स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषेण प्रकाशितया घनप्रकाशपरतत्त्वैकरूपया मूर्त्त्या प्रत्यक्षोऽसि, अहो भाग्यमस्माकमित्याहुः–हे अनन्त! यस्त्वं हृद्गतोऽपि दुरात्मनामन्तर्हितो न स्फुरसि, स नोऽस्माकमन्तर्हितो न भवसि, नयनमूलं त्वद्यैव राद्धः प्राप्तोऽसि; तथा च (ब्र०सू० ३।२।२४) "अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इत्यस्य विषयवाक्यम्, (कठ० २।१।१)—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू,-स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,-दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥३४१॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

यः पूर्वस्य; तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयस्तेनैष पूर्णः; स वा एष पुरुषविध एव; तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा"; (तै० २।४।१) "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य; तस्माद्वा

अनुवाद—

सन्दर्शन सह अनुभव से मुनिगण कृतार्थ हो गए। तज्जन्य श्रीभगवान् अत्यादरास्पद हुए थे।

"पौंस्नं वपुर्दर्शयानं" यहाँ गर्भोदकशायी पुरुष का गुणावताररूप श्रीविष्ण्वाख्य जो मूर्त्ति, उनके सहित अभिन्न स्वीय मूर्त्ति को जिन्होंने दिखाया, वह ब्रह्मादि मूर्त्तिवत् अपर कुछ नहीं है, किन्तु स्वतःसिद्ध है। अर्थात् अनादि सिद्ध स्वरूपभूता एवं जो अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य्य समन्विता है, उपलक्षिता नहीं है, यह ही तात्पर्य्य है। सुतरां स्तुति का आस्पद,—विशेषण से ऐश्वर्य्योपलक्षित षड् भग का ही अनादि सिद्ध स्वरूपभूतता व्यञ्जित हुई है। अतएव सनकादि ऋषिगण,—श्रीवैकुण्ठ एवं वैकुण्ठाधीश के तावत् अनिर्वचनीय सौन्दर्य्य में मुग्ध होकर सम्यक् स्तुति किए थे। श्रीभगवान् के प्रति उन सबका जो भाव हुआ था, ये सब उन सबकी हृदय भावाभिव्यक्तिकारिणी उक्ति से प्रमाणीकृत हुए हैं।

"कुमारगण स्तुति वाक्य से कहे थे, हे भगवन्! आप नित्य ब्रह्मरूप में प्रकाशित होते हैं, यह कुछ भी विचित्र नहीं है। इदानीं विशुद्ध सत्त्व लक्षणस्वरूप शक्ति की विशेष वृत्ति के द्वारा प्रकाशित घन प्रकाश परतत्त्वैकरूप श्रीमूर्त्ति में उसका दर्शन हम सब ने किया है। हम सब का परम सौभाग्य यह ही है। इस विषय में उक्ति—"हे अनन्त! आप सबके हृदय में अवस्थित होकर भी दुरात्मस्वभाव जनगण के निकट अन्तर्हित होते हैं, अर्थात् उन सबके हृदय में स्फुरित नहीं होते हैं। किन्तु आज आप हमारे अन्तर-बाहर में स्फुरित होकर प्रत्यक्ष का विषय हुए हैं।

ब्रह्मसूत्र का गोविन्दभाष्य—"अथ प्रतीचोऽपि तस्य ज्ञानभक्तिलभ्यत्वं दर्शयति। सर्वथा दौर्लभ्येनैराश्येन भक्तेरनुदयः, तथाहि श्रूयते कैवल्योपनिषदि; श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति।" अत्र श्रद्धालुर्भक्तिमान् हरिं ध्यायन् प्राप्नोति, इति प्रतीयते। इह मानसेन प्रत्यक्षेण ग्राह्यो हरिरुत चक्षुरादिना वेति वीक्षायां "मनसैवेदमाप्तव्यं, मनसैवानुद्रष्टव्यमिति सावधारणाद् वृहदारण्यक वाक्यान्मानसेनैव तेन ग्राह्य इति प्राप्ते

अन्तर्द्धानाभावे हेतुः—भवदुद्भवेन ब्रह्मणा तेनास्मत्पित्रा यर्हि यदैवानुवर्णितरहा उद्दिष्ट-

सर्वसम्वादिनी

एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः; स वा एष पुरुषविध एव; तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्ष, योग आत्मा, महः पुच्छं

अनुवाद—

"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र० सू० ३।२।२४) अपिरत्र गर्हायाम्। गर्हितोऽयं पूर्वपक्षः। संराधने—सम्यक् भक्तौ सत्यां चक्षुरादिना प्रत्यक्षेण ग्राह्योऽसौ भवति। कुतः प्रत्यक्षेति। श्रुतिस्मृतिभ्याम् इत्यर्थः।" पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भुस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमृच्छन्निति काठके। "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान", इति मुण्डके च विद्वद्भुक्त दृश्यत्वश्रवणात्।

नाहं वेदै र्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्ज्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप!॥

इति स्मरणाच्च। तस्मात् सम्यग् भक्त्या ग्राह्यः श्रीहरिरिति सिद्धम्। चक्षुरादिनी तु तदा भावितानि। अतस्तैः स वेद्यः। एवं सति एवकारोऽयोगव्यवच्छेदी भवेत्।"

अर्थात् प्रत्यक् ब्रह्म व्यापक होने से भी, ज्ञान एवं भक्ति ग्राह्य है, यह प्रदर्शित हो रहा है। सर्वथा दुर्लभ वस्तु में नैराश्य वशतः भक्ति का उदय नहीं हो सकता है। कैवल्योपनिषद् में उक्त है,—ब्रह्म वस्तु की प्राप्ति, श्रद्धा, भक्ति, ध्यानयोग से होती है। श्रद्धा सम्पन्न व्यक्ति श्रीहरि को प्राप्त करते हैं। उक्त प्राप्ति मानस प्रत्यक्ष अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष? उत्तर—ब्रह्म का लाभ मन से ही होता है, मन से उनका दर्शन होता है, वृहदारण्यक के वाक्य से प्रतिपन्न होता है कि—ब्रह्म मनोग्राह्य हैं। मीमांसा हेतु सूत्र का उपन्यास हुआ है,—"सम्यक् भक्ति लाभ होने से परमेश्वर का चाक्षुषादि प्रत्यक्ष होता है।"

अपि शब्द निन्दार्थ में प्रयुक्त है, उपरि उक्त पूर्वपक्ष गर्हित है। सम्यक् भक्ति लाभ होने से परमेश्वर चक्षु प्रभृति इन्द्रियग्राह्य होते हैं। कठोपनिषद् में उक्त है—"ब्रह्मा समस्तेन्द्रिय को संयत करके आत्मविग्रह भगवान् को देख नहीं पाये। किन्तु अमृत का अभिलाषी होकर आवृत चक्षु से ही प्रत्यगात्मा श्रीभगवान् का दर्शन किए थे।" इसका तात्पर्य्य—जीव की इन्द्रियसमूह विषय ग्रहणाभिमुखी हैं। विषय का प्राबल्य से ही सृष्टि है। विषयासक्त जीव अन्तरात्मा परमेश्वर को देख नहीं पाते। सुतरां जीव का अनिर्मोक्ष होता है। तज्जन्य कहते हैं—कोई धीर व्यक्ति सत्प्रसङ्ग से हरिभक्ति प्राप्त कर प्रत्यगात्मा श्रीहरि का दर्शन करता है। कारण धीर उसे कहते हैं, जिस व्यक्ति की बुद्धि की परिचालना श्रीहरि करते हैं, अथवा पालन करते हैं। श्रुतिमें सुस्पष्ट उल्लेख है,—"आनन्दमात्रमजरं पुराणमेकं सन्तं बहुमानं तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" अर्थात् जो धीर व्यक्ति श्रीहरि का दर्शन करता है, वह ही शाश्वत सुखी होता है। दूसरे के भाग्य में वैसा नहीं होता है। मण्डकोपनिषद् में उक्त है—"ध्यानशील विशुद्ध सत्त्व पुरुष ही निष्कल ब्रह्म का सम्यक् दर्शन करता है। अतएव ज्ञान परिष्कृत भक्ति द्वारा ही परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। श्रीभगवद्गीता में उक्त है—"हे अर्ज्जुन! तुमने जिस रूपमें मुझको देखा, वेद, तपस्या, दान पूजा से कोई भी व्यक्ति वैसा मुझको देख नहीं सकता। अर्थात् नराकार चतुर्भुज तुम्हारे सखा देवकी नन्दन रूपमें वेदादि के द्वारा दृष्ट नहीं होता हूँ। उक्त साधन से कोई भी मुझ को देखने में सक्षम नहीं होता है। किन्तु अनन्य भक्ति से ही मैं दृष्ट होता हूँ। जीव मुझको अनन्य भक्ति से सम्यक् जान सकता है, दर्शन भी कर सकता है। सुतरां श्रीहरि भक्तिभावित वचन प्रभृति इन्द्रियों का वेद्य हैं। अतएव "मनसैवानुद्रष्टव्य" इस श्रुत्यभिहित एवकार अयोग व्यवच्छेदी है। अर्थात् मानस प्रत्यक्षत्व का अयोग व्यवच्छेद हुआ है। चाक्षुषादि प्रत्यक्षत्व का योग व्यवच्छेद उससे नहीं हुआ है।"

हम सबको दर्शन देने का एक हेतु है—अस्मद् पिता भवदुद्भूत ब्रह्मा जब हमे ब्रह्माख्य तत्त्व का रहस्य

ब्रह्माख्यरहस्यः,तदैव नः कर्णमार्गेण तद्रूपतया गुहां बुद्धिं गतोऽसीति तदुक्तम् अक्षरजुषामपीति ।

ननु पित्रोपदिष्टं भवतामदृश्यमात्मतत्त्वाख्यं रहः, अहं त्वन्य एव स्याम्, दृश्यत्वात् ? नैवम्; अस्मत्प्रत्यभिज्ञया भेदनिरासादित्याहुः—'तं त्वाम्' इति; हे भगवन् ! परं केवलमात्मतत्त्वं ब्रह्मस्वरूपं त्वां विदाम विद्मः प्रत्यभिजानीमः । केन प्रत्यभिजानीथ ? सम्प्रति अधुना सत्त्वेन अस्मास्वेतद्रूपाविर्भावेन ; एतावन्तं कालं न ज्ञानवन्तो वयम्, अधुना तु साक्षादनुभवेन निश्चितवन्तः स्म इत्यर्थः । त्वं शुद्धचित्तवृत्तौ ब्रह्मवत् नेत्रेऽप्यस्माकं स्फुरसि, न तु दृश्यत्वेनेति भावः । न केवलं प्रत्यभिज्ञामात्रमित्याहुः—एषामस्माकं रतिं रचयन्तम्, अन्यथा रतिरपि त्वय्यस्माकं नोद्भवेदिति भावः । निरहंमानादित्वेनान्येषामप्यात्मारामाणामन्यतो रत्यभावमेव द्योतयन्तस्तदात्मतत्त्वमाहुः, तत्रैव साधनवैशिष्ट्यात् किमपि वैशिष्ट्यञ्चाहुः—यत् त्वद्रूपत्वेनाविर्भवदात्मतत्त्वम्, तेऽनुतापः कृपा, तेनैव विदितैर्दृढभक्तियोगैर्विदुः; यद्वा, अनुतापो दैन्यं तेन विदितैस्ते तव दृढभक्तियोगैः । कीदृशः ? उद्ग्रन्थयो निरहंमानाः, अतएव विरागाः । तदेवम् "पित्रानुवर्णितरहाः" इत्यत्र रहः-शब्दश्चतुःश्लोकीरीत्या प्रेमभक्तेरेव वाचक इति

सर्वसम्वादिनी

प्रतिष्ठा"; (तै० २।५।१) "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ; तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तेनैष पूर्णः ; स वा एष पुरुषविध एव ; तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति ।

अनुवाद—

उपदेश दिये थे । उस समय ही आप हमारे कर्ण रन्ध्र से हृदय में प्रविष्ट हुये थे ।

यदि कहो कि—तुम्हारे पिता ने तुम्हें जो तत्त्व उपदेश दिया था, वह तो अदृश्य आत्मतत्त्वाख्य रहस्य था, मैं उससे पृथक् दृश्य तत्त्व हूँ ? ऐसा कह नहीं सकते । कारण हमारी प्रत्यभिज्ञा से दृश्य तत्त्व का भेद निरस्त हो गया है ।

"तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वम्" इस श्लोक में आप ही वह ब्रह्मतत्त्व हो, इसका सुस्पष्ट प्रकाश हुआ है । हे भगवन् ! हमने आपको परब्रह्मस्वरूप में ही प्राप्त किया है, कैसे ? उत्तर, हमारे सम्बन्ध में आपने जिस रूप का आविर्भाव किया है, उक्त मूर्त्ति का दर्शन से ही हम सब जान गए हैं । एतावत् काल पर्य्यन्त उपदिष्ट रहस्य के सम्बन्ध में हमारी अपरोक्षानुभूति नहीं थी, एकक्षण में उसका अनुभव, साक्षात् निश्चय से हमने किया है । अधुना शुद्धचित्तवृत्ति में ब्रह्मस्वरूपवत् आप हमारे नयनगोचर हो गये हो, यह प्रापञ्चिक अथवा औपाधिक दृश्य विषयवत् नहीं है । हमसब अभीतक चित्त आपको अनुभव करके ब्रह्मानन्दी थे । आज आपकी कृपा से जान गए, यह ही नहीं, किन्तु आपकी श्रीमूर्त्ति हमें प्रीति दान कर उसे वर्द्धित कर रही है । उसके फलस्वरूप हमारे पूर्वानुभूत ब्रह्म ही आप हैं, इसका विशदीकरण हुआ है । यदि आप उस तत्त्व नहीं होते तो हमारी प्रीति आपकी श्रीमूर्त्तिमें कभी भी उद्भूता नहीं होती । कारण निरहंमान अपर आत्मारामगण की भी अन्यत्र प्रीति देखी नहीं जाती है ।

"परमात्मतत्त्वं" इस पद से उक्त तत्त्व के सम्बन्ध में कहते हैं,—उक्त ब्रह्मतत्त्व में साधन वैशिष्ट्य से तत्त्व का वैशिष्ट्य कहा गया है । अर्थात् आपकी कृपा के द्वारा विदित भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्तव्य है । अथवा, अनुताप शब्द का अर्थ दैन्य है, उक्त दैन्य से विदित अथवा लब्ध भक्तियोग के द्वारा आपको जान सकते हैं, कीदृश व्यक्ति जानने में सक्षम होते हैं ? कहा गया है । "उद्ग्रन्थयः" अर्थात् जिन्होंने अहं ममता परिशून्य होकर विराग को प्राप्त किए हैं । अतएव "पित्रानुवर्णितरहाः" यहाँ "रह" शब्द का अर्थ—

व्यञ्जितम्। तथ पूर्वमभेदमतयोऽपि सम्प्रति स्वरूपानन्दशक्तिविलासैर्विचित्रित-मतयो भूयोऽपि भेदात्मिकां भक्तिमेव प्रार्थयितुं भक्तानां सुखातिशयमाहुः—'नात्यन्तिकम्' इति; आत्यन्तिकं मोक्षलक्षणं तव प्रसादमपि, किमुतान्यदिन्द्रादिपदम्।

इदानीं स्वापराधं द्योतयन्तो भक्तिं प्रार्थयन्ते—'कामम्' इति। हे भगवन्! अतः पूर्वमस्माकं वृजिनं नाभवत्, इदानीन्तु सर्वाण्यपि जातानि, यतस्त्वद्भक्तौ शप्तौ, अतस्तैर्वृजिनैर्निरयेषु कामं नोऽस्माकं भवो जन्म स्तात्। अनेन, (ब्र०सू० ४।१।१३) "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद्व्यपदेशात्" इति न्यायेनासम्भव-मद्भावानां ब्रह्मज्ञानिनामपि स्वेषां बहुनरककारि-

सर्वसम्वादिनी

अयमर्थः।—'स वै'-शब्दः प्रसिद्धौ निश्चये वा; एष मृज्जलाग्निपिण्ड-लक्षणः पुरुषोऽन्नरसमयः—अन्नरसप्राचुर्य्यवान्; यद्वा, अन्नरसो नामान्नविकारस्तेन त्वगादिरूपः सर्वोऽपि तद्विकारो गृह्यते। ततश्च जलविकारादिभिरीषन्मिश्रत्वात्तत्प्रचुरः कैवल्याभावेनांशस्यैवान्नरस-विकारत्वे सत्यंशिनस्तद्विकारत्व-

अनुवाद—

चतुःश्लोकी की रीति के अनुसार प्रेमभक्ति ही है।

चतुःश्लोकी में "रहः" शब्द का अर्थ—

"ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्। स रहस्यं तदङ्गञ्च गृहाणगदितं मया।।" (भा० २।९।३०)

इस श्लोक की स्वामिकृत व्याख्या—"ज्ञानं—शास्त्रोत्थम्, विज्ञानं—अनुभवः। रहस्यं—भक्तिः, सुगोप्यमपि वक्ष्यामि, इत्यादि निर्देशात् तस्याङ्गं साधनम्।" यहाँ रहस्य शब्द का सुगोप्य भक्ति अर्थ होने से वह साधन को अतिक्रम कर प्रेमभक्ति को व्यञ्जित करता है।

श्रीसनकादि की भक्ति प्रार्थना। श्रीसनकादि अभेदवादी थे। सम्प्रति स्वरूपभूत आनन्दशक्ति विलास के द्वारा चमत्कृत होकर भेदात्मिका भक्ति लाभ करने के लिए भक्त के सुखातिशय का वर्णन करते हैं। "नात्यन्तिकं" भक्तगण मोक्ष प्राप्तिरूप आपकी कृपा को अतिशय कृपा नहीं मानते हैं। सुतरां कैमुतिक न्याय से उन सबके निकट इन्द्रादि पद की अतीव तुच्छता सिद्ध हुई है।

निज अपराध को उल्लेख कर कहते हैं—"कामम्" श्लोक से भक्ति प्रार्थना करते हैं—हे भगवन्! हम सबका पुनर्बार भक्तापराध न हो, इतिपूर्व में हम सबोंका कोई पाप नहीं था, सम्प्रति भक्त को अभिसम्पात करने से समस्त पाप ही हुए हैं। तज्जन्य सम्भावित निरय गमन को तुच्छ करके भक्ति प्रार्थना करते हैं। इस प्रार्थना से भक्ति का ब्रह्मसूत्रोक्त पूर्वोत्तर पापविनाशकारित्व सूचित हुआ है। भक्ति का पापराहित्व।

गोविन्दभाष्य—"एवं विद्यासाधनं विचार्य्य तत्फलं इदानीं विचारयति। छान्दोग्ये—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेव विदिपापं कर्म न श्लिष्येत" इति। तद्यथैषीकातुलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानं प्रदूयन्त इति च श्रूयते। इह संशयः। क्रियमाण सञ्चितपापे भोगेन क्षपणीये उत विद्या प्रभावात् तयोरश्लेषविनाशौ स्यातामिति।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभं।।" इति स्मृते स्तेनापि ते भोगेन क्षपणीये। एवं सति श्रुत्यर्थस्तु तद्विदां प्राशस्त्यं लक्षयतीति प्राप्ते—

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१३) "तस्य ब्रह्मणोऽधिगमः। ब्रह्म विद्येत्यर्थः।" तस्यां सत्यामुत्तरस्य क्रियमाणस्य पापस्याश्लेषः, पूर्वस्य तु सञ्चितस्य विनाशो भवति। कुतः, तदिति। यथेत्यादिभ्यां वाक्याभ्यां तयोस्तथाभिधानादित्यर्थः नहि श्रुतेऽर्थे सङ्कोचः, शक्यः कर्त्तुम्। नाभुक्तमित्यादिकं त्वज्ञविषयतया युक्तिमत्।"

अर्थात् विद्या साधन विचार को दर्शा कर सम्प्रति उसका फल का विचार करते हैं। श्रुति कहती है—

बहुवृजिनापातक्षमापणेन तयोः(भा० १।७।१०)"इत्थम्भूतगुणो हरिः" इतिवत् सर्वाद्भुतमहत्तमत्वं सूचितम्। अहो निरया अपि भवेयुरेव, न तावतापि पर्य्याप्तम्, तेभ्यश्च नास्माकमपि भयम्, अत्र तु मूलं दुष्फलं भगवत्पराङ्मुखीभाव एव, स त्वस्माकं मा भूदिति सकाकु प्रार्थयन्ते। नु वितर्के यदि तु नश्चेतस्ते पदयो रमेत, तत्राप्यलिवदेव केवल-तन्माधुर्य्यास्वादापेक्षया, न तु ब्रह्मात्मानुभवापेक्षया ; एवं वाचश्चेत्यादि। अत्र भक्तापराधस्य भगवता क्षमा

सर्वसम्वादिनी

विवक्षानर्हत्वात् प्राणमयादावपि शुद्ध-वायुविग्रहादीनां रूपान्तर-प्राप्तत्वदर्शनात् पृथिव्यभिमानि-देवतादि-लक्षण-तत्-पुच्छादीनां तद्विकारत्वाभावात्, (ब्र०सू० १।१।१३) "विकारशब्दात्" इत्यादौ सूत्रकाराणाम-स्वारस्यात्, (पाणिनि-सू० ४।३।१५०) 'न द्व्यचश्छन्दसि' इति निषेधाच्च ; न तु तद्विकार इति। इदं प्रसिद्धं

अनुवाद—

"पद्मपत्र जिस प्रकार जल से निर्लिप्त रहता है, उस प्रकार तत्त्वज्ञानी को पाप स्पर्श नहीं करता है। रूई जिस प्रकार अग्नि के संस्पर्श से भष्मीभूत हो जाती है, तद्रूप तत्त्वज्ञानियों के पापसमूह ज्ञानानल से भस्मीभूत हो जाते हैं।" यहाँ संशय, आरब्ध पाप एवं सञ्चित पाप भोग द्वारा नष्ट होगा अथवा, विद्या प्रभाव से विनष्ट होगा? शास्त्रीय विधान से भोग व्यतीत कृतकर्म विनष्ट नहीं होता। कृतकर्म जनित शुभाशुभ फल का भोग अवश्य करना है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—"श्रुति व्यपदेश हेतु ब्रह्मविद्या के प्रभावसे क्रियमाण पाप का अश्लेष एवं सञ्चित पाप का क्षय, अवश्य स्वीकार्य्य है। "छान्दोग्य उपनिषत् में लिखित है—"पुष्करपत्रवत्" इस वाक्य से पाप विनष्ट बात ही कही गई है। श्रुत्यर्थ का सङ्कोच करना उचित नहीं है। "नाभुक्तम्" कथन, अज्ञ व्यक्ति के लिए होने से इसके साथ असङ्गति नहीं होती है।"

श्री भाष्य—"एवं प्राप्तेऽभिधीयते तदधिगमे इति। विद्या प्राप्तौ पुरुषस्य विद्यामाहात्म्यादुत्तरपूर्वाधयो रश्लेषविनाशावुपपद्येते, एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यं अवगम्यते·· वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृताघ-सञ्चयजनित परपुरुषाप्रीतिं विनाशयति सैव विद्यास्वोत्पत्युत्तरकालभाव्यघनिमित्त परमपुरुषाप्रीत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति।"

विद्या का पापहारित्व सम्बन्ध में वेदान्त का अभिमत। अर्थात् विद्याधिगमे—इत्यादि उक्ति से प्राप्तविद्य पुरुष का विद्या का प्रभाव से उत्तरपूर्व पापों के अश्लेष विनाश होते हैं। वेद्यभूत परमपुरुष की आराधनारूपा विद्या पूर्वकृत अघसञ्चय जनित परमपुरुष की अप्रीति को नष्ट करती है, एवं उत्तर काल में भावी अघ निमित्त परमपुरुष के प्रति अप्रीति का भी प्रतिषेध करती है।

इस नियम के अनुसार ज्ञानिगुरुगण में वृजिनापात असम्भव होने से भी कुमारगण बहुविध नरकजनक स्वीय पापों का आपतन से भीत होकर क्षमा प्रार्थना करने से सूचित होता है कि—"श्रीहरि का गुण ही ईदृश है" वाक्यवत् आत्माराम एवं श्रीभगवान् की सर्वाद्भुत महत्तमता है।

कुमारगण सखेद से कहते हैं,—हमारी निकृष्ट गति हो, वह ही हम सबका अपराध के पक्ष में पर्य्याप्त दण्ड नहीं है, किन्तु अब तक हम सब श्रीभगवान् को भूले थे, उक्त विस्मृतिमूलक दुष्फल ही हमारी आशङ्का है। सुतरां भगवत् पराङ्मुखी भाव जैसे हम सब का पुनर्बार न हो, कातरता के साथ उस की प्रार्थना करते हैं।

अर्थात् आपकी स्मृति रहने से हम सब नरक का वरण सादर से कर सकते हैं। "नु" वितर्क अर्थ में। हमारे चित्त आपके पादपद्म में रमित हो, वह अलिवत्। केवल श्रीचरणों का माधुर्य्यास्वाद के निमित्त ही, किन्तु ब्रह्म एवं जीवात्मा का ऐक्य अनुभव के लिए नहीं। वागादि इन्द्रियसमूह आपका माधुर्य्यास्वाद

तदिच्छामात्रकृत-तत्क्रोधजननात्तेषामपराधाभासत्वेनेति ज्ञेयम् ।

श्लोकद्वयेऽस्मिन् कैवल्यान्नरकोऽपि त्वद्भक्तिमात्रं कामयमानानामस्माकं तदविरोधित्वात् श्रेयानिति स्वारस्यलब्धम्, तथापीत्थं कृतार्थत्वमस्माकमतिचित्रमित्याहुः—"प्रादुः" इति । अनात्मनामात्मनस्तव एकान्तभक्तिरहितानामप्रकटोऽपि इत् इत्थं यः प्रतीतोऽसि, तस्मै तुभ्यं नम इदं विधेमेति ।

अत्रैतदुक्तं भवति—एते ब्रह्मविद्यासिद्धानां परावरगुरूणामपि गुरवः, अतएव "परमहंस-महामुनीनाम्" इत्युक्तम्,(भा० ८।८।२३)"तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव,-प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः। सनन्दनाद्यैर्हृदि संविभाव्यम्" इति श्रीमदंशुमद्वाक्यादौ, (भा० २।७।५) "इहात्मतत्त्वं, सम्यग्-जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्" इति ब्रह्मवाक्यादौ, (छा० २।२६।२) "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः"इत्यादि श्रुतौ च तथा प्रसिद्धम् । आसन्नानुभवस्यैव तु सिद्धस्याणिमादिभिर्विघ्नोऽपि सम्भाव्यः, न तु सिद्धानुभवस्य, (भा० ३।२८।३८) "तं सप्रपञ्चमधिरूढ़समाधियोगः, स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः" इति श्रीकपिलदेववाक्यात् । अतएव तेषां प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहानां क्रोधादिकमपि दुर्घटघटनाकारिण्या श्रीभगवदिच्छयैव जातमिति तैरपि व्याख्यातम् । तदेवं तेषां सततब्रह्मानन्दमग्नत्वं सिद्धम् । तदुक्तम्—"अक्षर-

सर्वसम्वादिनी

शिर एव शिरः, न तूत्तरोत्तरत्रैवात्रापि कल्पनामयम् ।

एवं पक्षादिष्वपि व्याख्येयम्;—पक्षो बाहुः, उत्तरो वामः, मध्यमदेहभाग आत्माङ्गानाम्;—"मध्यं ह्येषामात्मा" इति श्रुतेः । इदमिति नाभेरधस्तात् यदङ्गम्, तत् पुच्छमिव पुच्छम्; अधोलम्बन-साम्यात् ।

अनुवाद—

करने में सक्षम हो, यहाँ कुमारों का क्रोध, भक्तापराधजनित भगवान् कर्त्तृक क्षमा, प्रभृति—श्रीभगवान् की इच्छा से होने पर कुमारों का अपराधाभास ही था। सेवाप्रार्थना द्योतक श्लोकद्वय में वर्णित है—त्वदीय भक्ति मात्राभिलाषी हम सबके पक्षमें भक्ति का अविरोधित्व निबन्धन कैवल्य से नरक भी श्रेयस्कर है। तथापि ईदृश कृतार्थता अति विचित्र है। इसका प्रकाश "प्रादुश्चकर्थ" श्लोक से हुआ है, "आप, अपनी एकान्त भक्तिरहित अनात्मगण के सम्बन्धमें मूर्त्तिको प्रकट नहीं करते हैं, किन्तु हम सबको साक्षात् दर्शन प्रदान किए हैं, आपको हम सब प्रणाम करते हैं।

यहाँ यह ही सुव्यक्त हुआ है कि—ब्रह्मविद्यसिद्ध परावर गुरुगणों के गुरु, अतएव "परमहंसमहामुनिगण अन्वेषणीय चरण" अष्टम स्कन्ध में अंशुमत् के वाक्य में वर्णित है, "उन ज्ञानघनप्रभु, स्वीय स्वभाव से प्रध्वस्त मायिक गुण भेदमोह सनकादि कर्त्तृक हृदयमें सम्यक् अनुभूत हैं।" सनकादि मुनिगण, आत्मतत्त्व का दर्शन स्वीय चित्त में साक्षात् रूपसे किए थे।" इत्यादि वर्णन, द्वितीय स्कन्धोक्त ब्रह्मा के वाक्य में है। "भगवान् सनत्कुमार मृदित कषाय थे, उनको तमोऽतीत मार्ग को दिखाये थे।" सनत् सुजातीय श्रुति में भी वर्णित है, उक्त दर्शन से सिद्धानुभव का किसी प्रकार विघ्न नहीं हुआ। किन्तु आसन्नानुभव सिद्ध व्यक्तियों का विघ्न अणिमादि सिद्धि से होता है। श्रीकपिल देव ने कहा है—"प्राप्त समाधियोग आत्मज्ञ पुरुष स्वाप्निक देहादि तुल्य सप्रपञ्च देहादि का भजन नहीं करते हैं।"

अतएव मायागुण जनित भेदमोह का विनाश प्रकृष्टरूपसे जिन सबों का हुआ है, एवमवस्थापन्न कुमारों के क्रोधादि का सम्पादन—श्रीभगवान् की दुर्घटघटनाकारिणी इच्छाशक्ति से हुआ था। यह भी स्वामि का अभिमत है। सुतरां तदवस्था में भी उन सब की ब्रह्मानन्द निमग्नता सुसिद्ध ही है। "अक्षरजुषां"

जुषामपि" इति, "योऽन्तर्हितः" इत्यादि च। श्रूयते चान्यत्र ब्रह्मजुषामविक्षिप्तचित्तत्वम्। तथा सप्तमे (भा० ७।१५।३५) श्रीनारदवाक्यम्—

"कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्" ॥३४२॥ इति।

तथापि तेषां श्रीभगवदानन्दाकृष्टचित्तत्वमुच्यते। एवमन्येषामप्यात्मारामाणां तादृशत्वं श्रूयते, (भा० १२।१२।६९) "स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ,—प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः" इत्यादिषु। अथ लोकसंग्रहार्थैवैषा तेषां भक्तिप्रक्रिया, प्राचीनसंस्कारवशात् वा? नैवम्। उभयत्रापि (भा० ३।२८।३७)"वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः" इतिवत् तत्रावेशासम्भवात्। दृश्यते त्वन्यत्रानावेशः, (भा० ३।१५।१२)—

"मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहा" ॥३४३॥

इत्यभिधानात्; भगवति त्वावेशः,"परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ"इत्यत्र यादृच्छिकताविरोध्यन्वेषणीयत्वाभिधानात्; पञ्चमे तु (भा० ५।३।११) "असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण-" इत्यत्र गद्ये

सर्वसम्वादिनी

तदेव प्रकर्षेण तिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठाश्रयः। 'शाखाचन्द्रदर्शन' वदन्तरतमत्व-ज्ञानार्थं लोकप्रसिद्धमात्मानमनूद्य तस्यान्तरमन्तरात्मानं शास्त्रप्रसिद्ध-साधनादिक्रमेण प्रवेशयन् प्राणमयादीनप्याह। तत्र मनसो धारणार्थं तदाधारः प्राणो धार्य्य इति प्रथमं प्राणमयमाह,—तस्मादिति। अन्तरस्तदपगमादन्नरसमयस्य

अनुवाद—

से उसका प्रकाशन हुआ है। "योऽन्तर्हित" इत्यादि श्लोक में सर्वत्र ही उन सबकी अविक्षिप्तचित्तता का वर्णन है। अन्य स्थान की उक्ति है—"ब्रह्मानन्दी अविक्षिप्त चित्त होते हैं"। श्रीनारद महाशय का कथन है—"कामादि के द्वारा अनाविद्ध प्रशान्ताखिलवृत्ति ब्रह्मसुखस्पृष्ट व्यक्ति का चित्त, अन्यत्र विषयादि में आकृष्ट नहीं होता है।" किन्तु तदवस्था में भी भगवदानन्द में आकृष्ट होता है, इस विषयमें अनेक उक्ति हैं। केवल सनकादि की ही ईदृशी उक्ति है, यह नहीं, अन्यान्य आत्मारामगण के सम्बन्ध भी तादृशी उक्ति वार्त्ता सुप्रसिद्ध है। शुकदेव का वृत्तान्त—"स्व-सुखनिमग्नता से जिनका अन्यभाव विदूरित हो गया है, वे सब भी अजित श्रीभगवान् की मनोहर लीला में आकृष्टचित्त होते हैं।" सम्प्रति सनकादि की ईदृशी भक्ति प्रक्रिया क्यों हुई? क्या लोकसंग्रहार्थ? अथवा प्राचीन संस्कारजनित? आशङ्काद्वय की सम्भावना ही यहाँ नहीं है। मदिरामदान्ध व्यक्ति जिस प्रकार परिधेय वास के प्रति लक्ष्यशून्य होता है", तद्रूप उन सबकी सर्वथा आवेश की सम्भावना सुसिद्ध है। विशेषतः स्पष्टतः ही उन सबका अन्यत्र अनावेश दृष्ट होता है। ब्रह्म देवतागण को कहे थे—"तुम्हारे पूर्वज मेरे मानसपुत्र सनकादि ऋषिगण, भूरादि लोक में विगतस्पृह होकर आकाशमार्ग से तदूर्द्ध लोकादि में विचरण करते रहते हैं।" इस वाक्य में, अन्यत्र आवेश न होने से भी श्रीभगवान् में आवेश अभिहित हुआ है। एवं "श्रीहरि के श्रीचरणयुगल, महामुनियों के भी अन्वेषणीय हैं" इस विशेषण से यादृच्छिकता का अविरोध से अन्वेषणीयता का अभिधान है, अतः परमहंसगण का श्रीभगवत् चरणावेश ही अभिहित होता है। "असङ्गरूप तीक्ष्ण ज्ञानानल के द्वारा जिन सब के अशेषविध मालिन्य दूरीभूत हो गये हैं, अतएव आप सब जैसे विशुद्ध स्वभाव आत्माराम मुनिगण

तदेकनिष्ठत्वमप्युक्तम्; (भा० १२।१२।६९) "अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः" इत्यत्रैव च। अत्रापि "तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः" इत्यादौ सुखदत्वमपि साक्षादेवोक्तम्। अत्र पूर्वोक्तहेतोश्च, स्तुतौ प्रत्युतोपालम्भप्रसङ्गाच्च, (भा० ३।१५।३९) "स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्" इति साक्षादुक्तेश्च दृशामेव सुखं जातमित्यनासक्तिरेव व्यञ्जितेत्यपि न व्याख्येयम्।

तस्मादात्मारामाणां रमणास्पदत्वाद्ब्रह्माख्यमात्मवस्त्वेव श्रीभगवान्;तत्रापि (भा० ३।१५।४३) "चकार तेषां,संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः" इति श्रवणात् ततोऽपि घनप्रकाशः,तत्तद्विचित्र श्रीभगवदङ्गोपाङ्गाद्यभिनिवेश-दर्शनानन्दवैचित्री चोपलभ्यते, सा चान्यथानुपपत्त्या स्वरूप-शक्तिविलासरूपैवेति। ननु भवतु तेषामानन्दाधिक्यात्तस्मिन् निर्विशेषस्वरूपानन्दस्यैव घनप्रकाशता, उपाधिवैशिष्ट्यात्; यतः, विशुद्धसत्त्वांशभावितायां चित्तवृत्तौ यद्ब्रह्म स्फुरति, तदेव घनीभूताखण्डविशुद्धसत्त्वमये भगवति स्फुरत्तदध्यस्ततया तदैक्यमापन्नायां तस्यां विशेषत एव स्फुरति। अतएव श्रीविग्रहादि-परब्रह्मणोरभेदवाक्यमपि तदत्यन्ततादात्म्या-पत्त्यपेक्षयैव। अतएव तत्र तत्रोपाधावेक एव निर्भेदपरमानन्दः समुपलभ्यते,न तु विशेषाकार-

सर्वसम्वादिनी

दृतेः एषोऽन्नरसमयस्तेन पूर्णो वायुनेव दृतिः; स च पुरुषविधः पुरुषाकारः। कथं तस्य पूर्वस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतामेव लक्षीकृत्य विशेषं बोधयितुमयमपि रूपक-कल्पितैः शिरःपक्षादिभिः पुरुषाकार एव वर्ण्यत इति।

अनुवाद—

के सम्बन्ध में भी जिनकी गुणगान कथा ही परममङ्गल विधायक है। उन आत्मारामगण, श्रीहरि का दर्शन प्राप्त न होकर भी जिनकी गुणालोचना में आपने को निमग्न करते हैं, अर्थात् नियत श्रीहरि के गुणों की आलोचना करते रहते हैं।" पञ्चम स्कन्धोक्त गद्य में भी आत्मारामगण की एकमात्र भगवन्निष्ठता अभिहित है।

"अजित भगवान् की मनोहर लीला में जो आकृष्ट हैं" यहाँ भी भगवन्निष्ठा का प्रदर्शन हुआ है। सनकादि की निजी उक्ति—"हमारी दृष्टि परम निर्वृति को प्राप्त कर चुकी है।" यहाँ भी परमसुखदत्व अभिहित हुआ है। "आपकी हृदयस्पर्शी स्नेहावलोकन परम्परा से" इत्यादि स्तुति एवं साक्षात् भक्ति से सनकादि आत्मारामगण की भगवदासक्ति स्पष्टतः ही व्यञ्जित हुई है। अक्षरब्रह्म सेवियों का श्रीभगवद् दर्शन, तदीय श्रीचरणार्पित तुलसी के आघ्राण से शरीर एवं चित्त में क्षोभ होने से लब्ध अक्षर ब्रह्म से श्रीभगवान् में सच्चिदानन्द का घन प्रकाश, अवश्य वक्तव्य है। उन श्रीभगवान् के विचित्र माधुर्य्यमय अङ्ग-उपाङ्गादि में अभिनिवेश से श्रीभगवद् दर्शनजनित आनन्द वैचित्री, अर्थात् विचित्र आनन्दानुभूति देखी जाती है। अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाण से उक्तानुभूति, सुनिश्चित स्वरूपशक्ति की विलासरूपा है।

श्रीभगवद् विग्रह में निर्विशेषवादि का आक्षेप। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—भगवद् विग्रह दर्शन से आत्मारामगण का आनन्दाधिक्य हो, उस आनन्दाधिक्य निर्विशेष स्वरूपानन्द की ही उपाधिवैशिष्ट्य वशतः यह घन प्रकाशता (घनीभूतता) है। अर्थात् विशुद्ध सत्त्वांश द्वारा चित्तवृत्ति में जो ब्रह्म स्फुरित होते हैं, वह ही घनीभूत अखण्ड विशुद्ध सत्त्वमय भगवन्मूर्त्ति में स्फुरित होकर भगवदध्यस्तता वशतः तदैक्य आपन्न चित्त में विशेषाकार से स्फुरित होते हैं, अर्थात् तब ही आत्माराम की परिपूर्णता होती है।

अतएव श्रीविग्रहादि एवं परमब्रह्म का अभेदवाक्य भी अत्यन्त तादात्म्य की अपेक्षा से ही उक्त है। सुतरां उस-उस उपाधि में एक निर्भेद परमानन्द लाभ ही होता है, किसी आकारविशेष की उपलब्धि नहीं

गन्धोऽपि, तत्तदुपाधेरपेक्षणन्तु प्रतिपद-तदानन्दसमाधिगतकौतुकनिबन्धनम्, तस्मात् कथमनेन प्रमाणेन तत्तदुपाधीनामपि परतत्त्वाकारत्वं साध्यत इति ? उच्यते—भवन्मते तावद् यत् शुद्धचित्तवृत्तौ परब्रह्म स्फुरति, तत् सम्यगेव स्फुरति, भेदांशलेशपरित्यागेनैव ब्रह्मविद्यात्वाङ्गीकारात्, असम्यग्ज्ञानस्य तत्त्वानङ्गीकारात्, तेन कैवल्यासम्भवाच्च । अतो न श्रीविग्रहादावधिकाविर्भावाङ्गीकारो युज्यते । किञ्च, शुद्धसत्त्वमया विग्रहादिलक्षणोपाधय इति वदतस्तव कोऽभिप्रायः ? किं तत्परिणामास्ते तत्प्रचुरा वा ? नाद्यः, रजोऽसद्भावेन परिणामासम्भव इति ह्युक्तम्; न चान्त्यः, येषु विग्रहादिषु तत्प्राचुर्य्यं ते मिश्रसत्त्वस्य कार्य्यभूता इत्यर्थापत्तौ (भा० १०।२।३४) "सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ" इत्यादिवचनजाते विशुद्धपदवैयर्थ्यमिति चोक्तमेव । अस्तु वा विमिश्रत्वम्, तथापि तादृशे ब्रह्मस्फुरणयोग्यतैव न सम्भवेत्, किं पुनर्विशेषेणेत्युद्देश्यविस्मृतिश्च स्यात् । अथाखण्डविशुद्धसत्त्वाश्रयत्वेन तेऽपि तद्रूपतयैवोच्यन्ते। ततश्च ते स्वनुभूताखण्डशुद्धसत्त्वे तस्मिन् ब्रह्मानुभवन्तीति चेत्, तदयुक्तम्, कल्पनागौरवात्, "तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्" इति साक्षादेव गोचरीकृतत्वेन उक्ततया परम्परादृष्टत्वप्रतिघाताच्च । तस्मात्तस्य शुद्धसत्त्वस्य प्राकृतत्वन्तु निषिद्धमेव, तस्मान्न ते प्राकृतसत्त्व-

सर्वसम्वादिनी

तदेव रूपकं दर्शयति ।—तस्य प्राणमयस्य प्राणो हृदिस्थो वायुरेव प्रथमधार्य्यत्वेन शिरः कल्पते । एवं साधनक्रमेणैव दक्षिणपक्षत्वादि-क्रमो ज्ञेयः । आकाश आकाशस्थ-वृत्तिविशेषः समानाख्यः,—प्राण-वृत्त्याधिकारात् । मध्यस्थत्वादितरा-पर्य्यन्त-वृत्तीरपेक्ष्यात्मा पृथिवी तदभिमानिनी देवताध्यात्मिकस्य

अनुवाद—

होती है । प्रति पदमें आनन्दसमाधि कौतुक निबन्धन उस-उस उपाधि की (निर्भेद ब्रह्मानन्द उपाधि की) अपेक्षा है । सुतरां उस-उस उपाधि के द्वारा उक्त उपाधि का परतत्त्वाकारत्व कैसे साधित हो सकता है ?

एवम्विध आक्षेप परिहरणार्थ कहते हैं,—तुम्हारे मतमें शुद्ध चित्तवृत्ति में जो परमब्रह्म स्फुरित होते हैं, वह ही ब्रह्मविद्यारूपमें स्वीकृत है । कारण असम्यक् ज्ञान को तत्त्व कहा नहीं गया है । विशेषतः उससे मुक्ति भी नहीं होती है । पुनश्च शुद्ध सत्त्वमयी विग्रहादि लक्षण उपाधि है । ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है ? क्या वह शुद्ध सत्त्व का परिणाम अथवा शुद्ध प्रचुर है ? वह परिणाम नहीं है । कारण रजो गुण का असद्भाव के कारण परिणाम की भी सम्भावना नहीं है । यह उक्ति आपकी ही है । द्वितीयतः प्राचुर्य्य की बात भी नहीं कह सकते । कारण विग्रहादि का प्राचुर्य्य जहाँ स्वीकृत है । वह मिश्र सत्त्व का ही कार्य्य है । सुतरां प्राचुर्य्य मानने पर अर्थापत्ति प्रमाण से शुद्धसत्त्वता का परिहार होकर मिश्र सत्त्वतापत्ति होती है । एवं "आप स्थिति के लिए विशुद्धसत्त्व को अवलम्बन करते हैं ।" इत्यादि अनेक स्थलों में विशुद्ध पद की व्यर्थतापत्ति ही होगी । इसका कथन पहले ही हो चुका है ।

विमिश्र सत्त्व को मान लेने से ब्रह्मस्फुरण की योग्यता ही नहीं रहेगी । विशेषानन्द की कथा तो दूर है, एवं उद्देश्य की विस्मृति भी होगी । अखण्ड विशुद्ध सत्त्वरूप हैं । अनन्तर उसमें अनुभूत, अखण्ड शुद्धसत्त्वस्वरूप जो उपाधि है, उक्त उपाधि में ब्रह्मानुभव होता है । यदि ऐसा कहो, तो वह भी अयुक्त ही होगा । कारण उसमें कल्पना गौरव होगा । एक नित्य विग्रह के बदले में अनेक प्रकार उपाधि की कल्पना ही गौरव दोष दुष्टता है । विशेषतः "सनकादि ने उनके समाधि भाग्यरूप साक्षात् चक्षु प्रत्यक्ष कर कहे थे ।" तब तो परम्परा क्रम से दृष्ट प्रसङ्ग प्रतिहत ही हो गया । विमिश्र सत्त्व कहने के लिए उद्यत होना तो असम्भव प्रतीत होता है । कारण उसका प्राकृतत्त्व पहले से ही प्रतिसिद्ध हो गया है ।

परिणामः, न वा तत्प्रचुराः, किन्तु स्वप्रकाशतालक्षणशुद्धसत्त्वप्रकाशिता इति प्राक्तनमेवोक्तं व्यक्तम्। अतएव तेषामुपाधित्वनिराकृतेस्तत्तदनुभवानन्दवैचित्री च सम्पद्यते। तथैव तमेवमेवम्भूतमचक्षतेति तत्तद्विषयसौन्दर्य्यवर्णनं प्रस्तुतोपकारित्वात् सार्थकं स्यात्, अखण्ड-शुद्धसत्त्वमयत्वकथनमात्रेणैवाभिप्रेतसिद्धेः। अतएव "निरीक्ष्य न वितृप्तदृशः" इति दृक्-सम्बन्धित्वाद्रूपकृतैवातृप्तिरुक्ता। तथैव च-शब्देनैवाक्षरजयित्वं पदारविन्दपरिमलात्मकवायु-लक्षणस्य तद्विशेषस्य दर्शितम्। अन्यथोभयत्रापि ब्रह्मानन्दस्यैव निर्विशेषतयोपलभ्यमानत्वे विद्याजुषामपीत्युपाधिप्रधानमेवोच्येत,उपाधियुगलस्यैव मिथः स्पर्द्धित्वप्राप्तेः। अनेनाक्षरानु-भवसुखजयित्वकथनेन वसिष्ठादीनां पुत्रशोकादिकमिव तदावेशाभास एवायमित्यपि निरस्तम्। अतएवमेवोक्तं श्रीस्वामिभिरपि(भा०दी० ३।१५।४३)'स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यमाह' इति। तस्मादस्ति वैचित्र्यमपि; अतएव तैरपि विचित्रतयैव प्रार्थितम्—"चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत" इत्यादौ; "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" इति न्यायेन तदुपाध्यन्तरा-न्वेषणवैयर्थ्यात् तेषामतदन्वेषणकौतुकाभावाच्च। किञ्च, न तेषामभेदात्मकोऽनुभवो वा दृश्यते, प्रत्युत "नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः", "कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्"

सर्वसम्वादिनी

प्राणस्य धारयित्री, स्थिति-हेतुत्वात्,— (प्रश्न० २।८) "सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य" इति श्रुत्यन्तरात्। तस्य प्राणमयस्य एष (तै० २।१।३) "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यत्रोपक्रान्त एवात्मा शारीर आत्मा तद्रूपशारीरान्तर्यामी। कथम्भूतः? यः पूर्वस्यान्नमयस्यापि शारीर आत्मा। एवं यः पूर्वस्य

अनुवाद—

सुतरां वह प्राकृत सत्त्व का परिणाम अथवा प्राचुर्य्य नहीं है। अतएव स्वयं प्रकाशता लक्षण शुद्धसत्त्व के द्वारा प्रकाशित है, इसका कथन पहले ही हुआ है। इससे कुमारगण श्रीहरि को एवम्प्रकार से दर्शन कर जिस सौन्दर्य्य माधुर्य्य का वर्णन किए हैं। वह वर्णन प्रस्तुत विषय की (स्व-प्रकाश अखण्ड शुद्धसत्त्व की) उपकारिता में सार्थक है। कारण, अखण्ड शुद्धसत्त्वमय के द्वारा ही उनके अभिप्रेत विषय की सिद्धि होती है। अतएव "उन सबकी भगवान् का दर्शन करके भी, दर्शनेन्द्रिय की तृप्ति नहीं हुई।" यहाँ चाक्षुष सम्बन्ध का अभिधान से रूपकृत ही अतृप्ति उद्‌घोषित हुई है। तथा "अक्षरजुषां" शब्द से अक्षर जयित्व "पदारविन्दकिञ्जल्क" है। यहाँ पदारविन्दपरिमलात्मक वायु का वैशिष्ट्य दर्शाया गया है।

एतदुभय स्थल में ब्रह्मानन्द की ही निर्विशेष रूपमें उपलभ्यमानता यदि अभिप्रेत होती तो, उभयविध उपाधि का परस्पर स्पर्धित्व प्राप्त होने से मूल श्लोकस्थ "अक्षरजुषां" इसके परिवर्त्त में "विद्याजुषाम्" इस प्रकार उपाधि प्रधान भाव की उक्ति होती। यहाँ अविनश्वर ब्रह्मानुभव जनित सुख जय की उक्ति से वशिष्ठादि के पुत्रशोकादिवत्, यह आवेशाभास नहीं है, वह ही प्रतिपादित हुआ है।

एतदभिप्राय से ही स्वामिपाद की उक्ति है—"स्वरूपानन्द से उन सबका भजनानन्द अधिक है।" सुतरां यहाँ आनन्द वैचित्र्य है, वह सुसिद्धान्तित हुआ है। अतएव कुमारगण—"चेतोऽलिवत्" इत्यादि श्लोक में विचित्रानुभवानन्द जनित विचित्र सेवा प्रार्थना ही किए थे। गृह कोण में यदि मधु की प्राप्ति हो तो तज्जन्य पर्वत गमनायास कोई नहीं करता है।" इस न्याय के अनुसार पृथक् उपाधि की व्यर्थता ही घोषित हुई है। एवं उन सबका ब्रह्मातिरिक्त वस्त्वन्तर का अन्वेषण कौतुक भी नहीं था।

विशेषतः यहाँ सनकादि कुमारों का अभेदात्मक अनुभव दिखाई नहीं देता है। प्रत्युत, नेमुर्निरीक्ष्य

इत्यादावभेदस्य तत्प्रतियोगिनमस्काराद्युपलक्षित-भेदात्मक-भक्तिसुखमेव दृश्यते। तस्मान्-मायिकोपाधिनिर्हीनत्वाद्धेयांशतया प्रतिभातत्वाच्च न तज्जातीयं सुखमप्यन्यजातीयं कर्त्तुं शक्नोतीति सन्त्येवान्यथानुपपत्तिसिद्धायाः स्वरूपशक्तेरेव विलासाः; अपि च, अस्तु तावज्जीवन्मुक्तदशायां तन्मते विद्योपाधिप्रतिफलितस्यैव सतो ब्रह्मणः सकाशात् श्रीभगवतो घनप्रकाशता सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमुक्तिदशायामपि साक्षात्तादृशतास्त्येवेति सुव्यक्तम् 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्' इत्यादौ। अतएव यः कश्चिदिदं जल्पति—ज्ञानाकारायां प्रेमाकारायाञ्च चित्तवृत्तौ ब्रह्म प्रकाशते, तत्र तूत्तरस्यामुपाधिवैशिष्ट्यात् प्रकाशवैशिष्ट्यमित्यत्रैव पुरुषार्थसारत्वं तत्र तत्रोच्यत इति तदपि स्वयमेव वहिष्कृतम्। तस्मान्नोपाधितारतम्यचिन्ता; "भवतः कथायाः" इत्यनेन निरुपाधिब्रह्मभूयादुपरि च वैचित्री स्फुटमेवासौ स्वीकृता। तस्मात् सान्तरङ्गवैभवस्य भगवतः सुखैकरूपत्वम्, तद्रूपत्वेऽपि ब्रह्मतोऽपि घनप्रकाशत्वम्, स्वरूपशक्तिविलासवैचित्री चेति विद्वदनुभवप्रमाणेन निर्णीतम्। तत्र (भा०दी० १०।८७।२१ भाष्यकृतः सर्वज्ञस्य वचनम्)—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते" इति। (नृ०ता०पू० २।४) "यं सर्वे देवा आमनन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" इत्यत्र श्रुतावद्वैतवादगुरवोऽपि; "कृष्णो मुक्तैरीज्यते वीतमोहैः" इति महाभारते; (गी० १८।५४)—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति ना काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" ॥३४॥

सर्वसम्वादिनी

प्राणमयस्येत्यादिकमुत्तरत्रापि योज्यम्;—(वृ० ३।७।३,४,७,१४) "यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्यापः शरीरम्, यस्य तेजः शरीरम्, यस्य वायुः शरीरम्" इत्याद्यन्तर्यामि-श्रुतेः।

यत्त्वानन्दमयान्तेऽपि तस्यैष एव शारीर आत्मेति श्रूयते, तत्तु तस्यौपचारिकभेद-निर्द्देशेनानन्यात्मत्वमेव

अनुवाद—

"कामं भवः स्ववृजिनैः" इत्यादि श्लोक में अभेदानुभव का प्रतियोगी नमस्कारादि की प्रार्थना से भेदात्मक भक्तिसुख लाभ को ही दिखाया गया है। सुतरां मायिक उपाधि की निकृष्टता वशतः, हेय बुद्धि से वह परित्यक्त होने से, भगवत् साक्षात्कारजनित आनन्द को आनन्द जातीय कहा नहीं जा सकता है। अतएव अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाणलब्ध स्वरूपशक्ति का ही विलास जनित मूर्त्यादि का साक्षात्कार है। एवं तज्जनित आनन्दानुभवादि भी सुसिद्ध होते हैं। अपि च, आप सबके मत में जीवन्मुक्त दशा में विद्यारूप उपाधि में प्रतिफलित ब्रह्म, एवं मुक्ति दशा में सर्वविध उपाधि से निर्म्मुक्त शुद्ध ब्रह्मवत्, यहाँ पर भी शुद्ध ब्रह्म से श्रीभगवान् की घन प्रकाशता एवं सर्वोपाधि विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द विलास मूर्त्तिमत्त्वा "नात्यन्तिकं" इत्यादि श्लोक के द्वारा सुव्यक्त होने से उपाधि तारतम्य चिन्ता का अवकाश नहीं होता है। "भवतः कथायाः" अर्थात् "आपका परमपावन रमणीय कीर्त्तनार्ह कथा रसज्ञ" इस श्लोक से बोध होता है कि—कुमारगण अनुभव किए थे—निरुपाधि ब्रह्म होना, अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि, अथवा सोऽहं ब्रह्म" भाव के ऊपर भी एक अनिर्वचनीय वैचित्र्यानुभव है। सुतरां श्रीभगवान् की स्वीयान्तरङ्गवैभव की सुखैक रूपता है। उक्त सुखरूपता से भी, ब्रह्म से घन प्रकाशता, स्वरूपशक्ति की विलास विचित्रता,—विद्वद् अनुभव के द्वारा निर्णीत हुई है। उक्त सुख विलासवैचित्र्याधीश श्रीभगवान् का भजन, मुक्त पुरुषगण विग्रहधारणकर (भजनोपयोगी शरीर धारण कर) करते हैं। "जिनका भजन देवतागण, मुमुक्षु ब्रह्मवादी गण भी करते हैं। इत्यादि श्रुत्युक्त भजन को अद्वैतवादगुरु ने भी स्वयं मान लिया है। महाभारत में

इति श्रीभगवद्गीतोपनिषत्सु; "मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी" इति भारत-तात्पर्य्ये प्रमाणिता श्रुतिश्च; तथा (ब्र०सू० ४।१।१२) "आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्" इत्यत्र च मध्वभाष्य-प्रमाणिता सौपर्णश्रुति-"सर्वदैनमुपासीत यावन्मुक्ति मुक्ता ह्येनमुपासते" इति। अतएव श्रीप्रह्लाद-बलि-प्रभृति-महाभागवतसम्बन्धमभिप्रेत्य श्रीविष्णुपुराणेऽप्युक्तम् (वि० पु० २।५।७)—"पाताले कस्य न प्रीतिर्विमुक्तस्यापि जायते" इति ॥ श्रीब्रह्मा देवान् ॥

८०। अतएवाशेषपुरुषार्थस्वरूप एवासाविति स्फुटमेवाहुर्गद्येन (भा० ५।३।७-८)—"अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे। आत्मन एवानुसवन-मञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेष पुरुषार्थ-स्वरूपस्य।"

टीका च—"आत्मनः स्वत एवानुसवनं सर्वदा अञ्जसा साक्षात् बोभूयमाना अतिशयेन भवन्तो ये अशेषाः पुरुषार्थास्ते स्वरूपं यस्य परमानन्दस्य" इत्येषा। श्रुतिश्च (छा० ३।१४।२) "सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्याद्या ॥ ऋत्विगादयः श्रीयज्ञपुरुषम् ॥

८१। तदेवं ब्रह्मणोऽपि यत् श्रीभगवति प्रकाशसम्यक्त्वं व्यञ्जितम्, तत् पूर्वमेव विद्वदनुभववचनप्रचयेन सिद्धमपि विशेषतो विचार्य्यते। तत्रैकमेव तत्त्वं द्विधा शब्द्यत इति न वस्तुनो भेद उपपद्यते, आविर्भावस्यापि भेददर्शनात्; न च संज्ञामात्रस्य, किन्तु स्वस्व-

सर्वसम्वादिनी

बोधयति, नात्मान्तरम्;—विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मेतिवदन्याप्रस्तावात्,—प्राणमयान्तोक्ते यः पूर्वस्येत्यत्रान्यैरपि तथाभ्युपगमात्। ततश्च एष पूर्वोक्त आनन्दमय-तात्पर्यावसान-विवेक आत्मैव, तस्य शारीर आत्मेति योज्यम्।

अनुवाद—

उक्त है—"वीतमोह मुक्त पुरुषगण के द्वारा श्रीकृष्ण पूजित होते हैं।" श्रीभगवद्गीता में उक्त है—"ब्रह्म भूत प्रसन्नात्मा, जो शोक नहीं करता है, जो आकाङ्क्षा नहीं करता है। जो व्यक्ति,—सर्वभूत में सम भावापन्न है, वह व्यक्ति मेरी पराभक्ति लाभ करता है।" मुक्तगणों की भी नित्यानन्द स्वरूपिणी भक्ति है।" भारततात्पर्य्य प्रमाणित श्रुति में भी मुक्ति के बाद भक्ति का उल्लेख है। एवं ब्रह्मसूत्र में "आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्" (ब्र० सू० ४।१।१२) सूत्र में "सर्वदा उनकी उपासना करें। मुक्तगण मुक्ति के उत्तरकाल उनकी उपासना करते हैं।" अतएव श्रीप्रह्लाद बलि प्रभृति महाभागवतगण के सम्बन्ध में श्रीविष्णुपुराण में लिखित है—"पाताल में किस विमुक्त व्यक्ति की प्रीति नहीं होती है।"

श्रीब्रह्मा देवगण को कहे थे ॥७६॥

अतएव अशेष पुरुषार्थरूप श्रीभगवान् हैं, इसका प्रतिपादन पूर्व पूर्व वाक्यानुसार विद्वत्कुलवरेण्यगण के अनुभव से प्रतिपादित हुआ है। पञ्चम स्कन्ध की ऋत्विकगण की उक्ति इस प्रकार है—"अनेकाङ्ग से सुसमृद्ध इज्या के द्वारा भी आपका समुचित प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। आप इससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं।" आपका रूप—"स्वतःसिद्ध निरत शायित अशेष पुरुषार्थस्वरूप आनन्दमय है।" स्वामिपाद की व्याख्या—"स्वतः ही सर्वदा साक्षात् अतिशय जिनका परमानन्द ही अशेष पुरुषार्थस्वरूप है। श्रुति में जो सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस रूपमें अभिहित हैं। ऋत्विकगण श्रीयज्ञपुरुष भगवान् को कहे थे ॥८०॥

अतएव ब्रह्म का सम्यक् प्रकाशत्व ही श्रीभगवान् हैं। पहले विद्वदनुभव के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी विशेष रूपसे विचार करते है। दिखाया गया है—एक ही तत्त्व द्विविध रूपमें शब्दित हुए हैं, वस्तुतः

दर्शनयोग्यताभेदेन द्विविधोऽधिकारी द्विधा दृष्टं तदुपास्त इति। तत्राप्येकस्य दर्शनस्य वास्तवत्वमन्यस्य भ्रमजत्वमिति न मन्तव्यम्—उभयोरपि याथार्थ्येन दर्शितत्वात्। न चैकस्य वस्तुनः शक्त्या विक्रियमाणांशकत्वादंशतो भेदः, विकृतत्वनिषेधात्तयोः। तस्माद्दृष्टेरसम्यक्-सम्यक्त्वात् सत्यपि सम्यक्त्वे तदननुसन्धानाद्वा एकस्मिन्नधिकारिण्येकदेशेन स्फुरदेको भेदः, परस्मिन्नखण्डतया द्वितीयो भेदः। एवं सति यत्र विशेषं विनैव वस्तुनः स्फूर्त्तिः, सा दृष्टिर-सम्पूर्णा, यथा ब्रह्माकारेण; यत्र स्वरूपभूतनानावैचित्रीविशेषवदाकारेण, सा सम्पूर्णा, यथा श्रीभगवदाकारेणेति लभ्यते।

तदेतदभिप्रेत्य प्रथमं दृष्टितारतम्येन तदभिव्यक्तितारतम्यं तन्महापुराणाविर्भावकारणाभ्यां प्रश्नोत्तराभ्यां प्रतिपाद्यते षड्भिः।

"श्रीनारद उवाच (भा० १।५।४)—

"जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्। तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो"॥३४५

"श्रीव्यास उवाच (भा० १।५।७)—

"त्वं पर्य्यटन्नर्क इव त्रिलोकी,-मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः, स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व" ॥३४६॥

सर्वसम्वादिनी

एवं प्राणधारणया मनो वशं कृत्वा तच्च मनो वैदिक-निष्कामकर्मात्मकतया धारणीयमित्याशयेन मनोमयमाह,—मनः सङ्कल्पाद्यात्मकमन्तःकरणम्; यजुरित्यनियताक्षर-पाद-विशेषो मन्त्रविशेषस्तज्जाति-

अनुवाद—

उनकी पार्थक्य उपलब्धि नहीं होती है। केवल नाम मात्र से ही भेद है, यह नहीं किन्तु ब्रह्म भगवान् के आविर्भाव में ही भेद है। निज निज दर्शन की योग्यता भेद से अधिकारी दो प्रकार होते हैं। एक ही वस्तुको द्विविध प्रकार से आविर्भूत देख कर दो प्रकार अधिकारी उपासना करते हैं। तन्मध्य में एक का दर्शन की वास्तवता है। अपर की भ्रमजन्यता नहीं कही जा सकती है। कारण उभय के सम्बन्ध में ही (स्वीय स्वीय योग्यतानुसार)यथार्थ दर्शित है। एवं वस्तु की शक्ति के द्वारा विक्रियमाण अंशरूप में आंशिक भेद है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। कारण,—उक्त आविर्भावद्वय की ही याथार्थ्यता वशतः विकृतता निराकृता हुई है।

सुतरां दृष्टि की असम्यक् सम्यक्ता निबन्धन अथवा सम्यक्ता होने पर भी अनुसन्धान के अभाव से एक अधिकारी में एकदेश स्फूर्त्ति होकर एक भेद बनता है। अपर अधिकारी में सम्पूर्ण स्फूर्त्ति प्राप्त होकर द्वितीय भेद होता है, यह अवश्य ही स्वीकार्य्य है। अतएव जहाँ विशेष व्यतीत वस्तु की स्फूर्त्ति होती है, वह ही असम्पूर्णा दृष्टि है, जैसे ब्रह्माकार में स्फूर्त्ति। जहाँ स्वरूपभूत नानाविध वैचित्री विशेषविशिष्टाकार में स्फूर्त्ति है, वह ही सम्पूर्णा दृष्टि है, जिस प्रकार श्रीभगवदाकार में लाभ होता है। तज्जन्य एतदभिप्राय से दृष्टि के तारतम्य से अभिव्यक्ति का तारतम्य को मान कर एवं महापुराण आविर्भाव के कारण के द्वारा निम्नोद्धृत श्लोक षट्क में वह प्रतिपादित हो रहा है।

श्रीनारद महाशय महर्षि वेदव्यास को कहते हैं—"हे महाप्रभावसम्पन्न! जो सनातन ब्रह्म से अभिहित हैं, आपने उस तत्त्व को जाना है, एवं आयत्त भी किया है। तथापि अकृतार्थवत् आत्मानुशोचना क्यों कर रहे हो?"

व्यासदेव ने बोला—"हे देवर्षे! आप तो सूर्य्यवत् त्रिलोक पर्य्यटन करके सर्वदर्शी हुए हैं। एवं वायु

"श्रीनारद उवाच (भा० १।५।८,१२,३७-३८)—

"भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्। येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥३४७॥

नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥३४८॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥३४९॥

इति मूर्त्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्। यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३५०॥

श्लोका अमी बहुभिः संमिश्रा अप्यविस्तरत्वाय झटित्यर्थप्रत्ययाय च संक्षिप्यैव समुद्धृताः। क्रमेणार्थो यथा—"जिज्ञासितम्" इति। टीका च—"यत् सनातनं नित्यं परं ब्रह्म, तच्च त्वया जिज्ञासितं विचारितम्, अधीतमधिगतं प्राप्तञ्चेत्यर्थः। तथापि शोचसि, तत् किमर्थमिति शेषः" इत्येषा। 'त्वम्' इति; त्वमर्क इव त्रिलोकीं पर्य्यटन् तथा वैष्णवयोगबलांशेन च प्राणवायुरिव सर्वप्राणिनामन्तश्चरः सन् आत्मनां सर्वेषामेव साक्षी बहिरन्तर्वृत्तिज्ञः। अतः परे ब्रह्मणि धर्मतो योगेन निष्णातस्य; तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

"इज्याचार-दया-हिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्। अयं हि परमो लाभो यद्योगेनात्मदर्शनम्" ॥३५१॥ इति।

अवरे च ब्रह्मणि वेदाख्ये व्रतैः स्वाध्यायनियमैर्निष्णातस्यापि मे अलमत्यर्थं यन्न्यूनं तत्

सर्वसम्वादिनी

वचनोऽपि यजुः-शब्दः। तस्य शिरस्त्वं प्राथम्याद्यजुषा हि हविर्दीयते।

एवं ऋक्सामयोरपि वैशिष्ट्यं ज्ञेयम्। आदेशोऽत्र ब्राह्मणमादेष्टव्य-विशेषान्निर्दिशति ;—अस्यात्मत्वं प्रवर्त्तकत्वात्। अथर्वणाङ्गिरसा दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणञ्च शान्त्यादि-प्रतिष्ठा-हेतु-कर्मप्रधानत्वात् पुच्छं प्रतिष्ठा।

अनुवाद—

के समान अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर साक्षिस्वरूप में सबकी बुद्धिवृत्ति को जानते हैं। अतएव स्वाध्यायादि नियम पालन के द्वारा वेदपारदर्शी एवं योगबल से परमब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करने पर भी मेरी इस न्यूनता का कारण क्या है, आप विचार कर कहें। नारद महाशय बोले,—महर्षे! आपने श्रीभगवान् के निर्म्मल यश का कीर्त्तन नहीं किया है। सुतरां भगवान् की प्रीति सम्पादित न होने से ही आपकी आत्मा का अपरितोष हुआ है। निरुपाधिक अभेदात्मक ब्रह्मज्ञान भी भगवद्भाव वर्जित होने से सम्यक् शोभित नहीं होता है। सुतरां दुःखबहुल काम्यकर्म, अथवा अकाम्यकर्म, ईश्वर में अनर्पित होने से कैसे शोभित हो सकता है? हे भगवन्! आप वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूपी चतुर्व्यूहात्मक हैं, आपका ध्यान, एवं आपको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार वासुदेवादि मूर्त्ति वाचक मन्त्र का उच्चारण करके मन्त्रमूर्त्ति होने पर भी प्राकृतमूर्त्ति रहित यज्ञपुरुष की जो पूजा करता है, वह सम्यक्दर्शी होता है।"

ये श्लोकसमूह विक्षिप्तरूप से अनेक वाक्य के मध्य में संमिश्रित होने पर भी सत्वर अर्थबोध के लिए संक्षेप में उद्धृत हुए हैं। स्वामिपाद के व्याख्यानुसार अर्थ इस प्रकार है—"जिज्ञासितं" जो सनातन नित्य परब्रह्म हैं, आपने उनका विश्लेषण किया है। एवं अनुभव भी किया है, तथापि आप किस लिए शोक कर रहे हैं?"

"त्वम्" आप सूर्य्य के समान त्रिलोकमें पर्य्यटन करते रहते हैं। एवं वैष्णवयोग से प्राणवायु के समान समस्त प्राणियों के अन्तश्चर होकर समस्त आत्मा की वहिरन्तर वृत्ति को जान गए हैं। अतएव परब्रह्म में योगनिष्णात मैं हूँ। मेरी न्यूनता का कारण क्या है? उसे जान कर प्रकट करें।

याज्ञवल्क्य संहिता में उक्त है—"योग द्वारा आत्मदर्शन ही यज्ञ है। आचार, दया, अहिंसा, दान,

स्वयमेव विचक्ष्व वितर्कय। 'भवता' इति भगवद्यशोवर्णनोपलक्षणं भजनं विना येनैव रूक्षब्रह्मज्ञानेन असौ श्रीभगवान् न तुष्येत, तदेव दर्शनं ज्ञानं खिलं न्यूनं मन्ये।

तदेव स्पष्टयति—'नैष्कर्म्यम्' इति। टीका च—"निष्कर्म ब्रह्म, तदेकाकारत्वान्निष्कर्मता-रूपं नैष्कर्म्यम्; अज्यतेऽनेनेत्यञ्जनमुपाधिस्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनम्। एवम्भूतमपि ज्ञानम्, अच्युते भावो भक्तिस्तद्वर्जितं चेत्, अलमत्यर्थं न शोभते, सम्यगपरोक्षत्वाय न कल्पत इत्यर्थः। तदा शश्वत् साधनकाले फलकाले च अभद्रं दुःखस्वरूपं यत् काम्यं कर्म, यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति च-कारस्यान्वयः, तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते? बहिर्मुखत्वेन सत्त्वशोधकत्वाभावात्" इत्येषा। यद्वा, निरञ्जनमिति निरुपाधिकमपीत्यर्थः। परमादरणीय-त्वादेव द्वादशान्ते (भा० १२।१२।५३) श्रीसूतेनापि पुनः स्मृतमिदं पद्यम्।

तस्माद्भक्तिरेव सम्यग्दर्शनहेतुरित्युपसंहरति द्वाभ्याम्—'नमः' इति। मन्त्रमूर्त्ति मन्त्रोक्त-मूर्त्तिम्, मन्त्रोऽपि मूर्त्तिर्यस्येति वा; अमूर्त्तिकं मन्त्रोक्तव्यतिरिक्तमूर्त्तिशून्यम्, प्राकृतमूर्त्ति-रहितं वा, मूर्त्ति-स्वरूपयोरेकत्वात् प्राकृतवन्न विद्यते पृथक्त्वेन मूर्त्तिर्यस्य तथाभूतं वा। स

सर्वसम्वादिनी

मनोमयत्वं चैषां मनोवृत्तावाविर्भावत्वेन तत्प्राचुर्य्यात्। तद्विकारत्वे तु पौरुषेयत्वापातः स्यात्। अत्र पारमार्थिक-पथस्यैव प्रकृतत्वाद्व्यवहारिक-सङ्कल्पाद्यात्मक-मनोमयत्वं न प्रयुज्यते;—प्राणधारणाया: पूर्वमेव हि त्यक्तं तत्। एवमुत्तरत्रापि।

अनुवाद—

स्वाध्यायादि कर्म का परमफल है।" अवर में—अर्थात् परावर ब्रह्म शब्द से परब्रह्म तत्त्व को जानना होगा। अवर ब्रह्म शब्द से वेदाख्य शब्दब्रह्म में निष्णात हूँ। स्वाध्याय नियमादि व्रत परायण हूँ। मेरी न्यूनता का कारण आप निर्द्धारण करें। "भवता" श्रीभगवान् के यशो वर्णनरूप भजन व्यतीत शुष्क ब्रह्म ज्ञान से श्रीभगवान् परितुष्ट नहीं होते हैं, यह ही आपकी न्यूनता एवं अतृप्ति का कारण है। मैं इसको मानता हूँ।

इसका स्पष्टीकरण हुआ है, "नैष्कर्म्य" श्लोक में। टीका—"निष्कर्म—ब्रह्मतदेकाकारता, अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म के सहित, जीव की एकाकारता रूप निष्कर्म का भाव ही नैष्कर्म्य है। अज्यते—अर्थात् संमिलित होता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अञ्जन' शब्द का अर्थ उपाधि है। उसका निवर्त्तक निरञ्जन है। एवम्भूत ज्ञान भी, यदि अच्युत, अर्थात् सर्वप्रकार च्युति रहित, अतः सर्वप्रकार से, सर्व शक्ति से, सर्व गुण से परिपूर्ण श्रीभगवान् में भक्ति वर्जित है, तब उसका सम्यक् विकाश नहीं होता है। अर्थात् वह पूर्ण अपरोक्षानुभव नाम से अभिहित नहीं हो सकता है। उस समय, अथवा साधन समय में, फल के समय अभद्र अर्थात् दुःखस्वरूप जो काम्य कर्म है, अथवा निष्काम कर्म है, एतदुभयविध कर्म ही यदि ईश्वरार्पित नहीं होता है, तब उससे वहिर्मुखता बढ़ती है, एवं सत्त्व शोधक न होने से वह वृथा होती है।"

अथवा निरञ्जन शब्द का निरञ्जन अर्थ मानने से भी उक्त प्रकार ही अर्थ होता है। यह परम आदरणीय होने से ही श्रीसूतदेव ने द्वादशस्कन्ध के अन्तिम में इसका पुनरुल्लेख करके ग्रन्थोपसंहार किया है।

अतएव एकमात्र भक्ति ही सम्यक् दर्शन का उपाय है, उसका कथन हुआ है। "नमः" इस श्लोक में मन्त्रमूर्त्ति, अर्थात् मन्त्रोक्त मूर्त्ति, मन्त्र में उनकी जो मूर्त्ति अभिहित है। अथवा मन्त्र ही जिनकी एक मूर्त्ति है। "अमूर्त्तिकं-" मन्त्रोक्त मूर्त्ति व्यतीत मूर्त्तिशून्य। अथवा प्राकृत मूर्त्तिशून्य। अर्थात् अस्मदादि जीव की मूर्त्ति के समान जिनकी प्राकृत मूर्त्ति नहीं है। हम सब के देह-देही भेद जिस प्रकार है, आत्मा

पुमान् सम्यग्दर्शनः, साक्षाच्छ्रीभगवतः साक्षात्कर्त्तृत्वादिति भावः ॥ श्रीसूतः ॥

८२। तदेवं दृष्टितारतम्यद्वारा तदभिव्यक्तितारतम्येन श्रीभगवत उत्कर्ष उक्तः। अथ लिङ्गान्तरैरपि दर्शयते। तत्रात्मारामजनाकर्षलिङ्गेन गुणोत्कर्षविशेषेण तस्यैव पूर्णतामाह (भा० १।७।१०)—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः" ॥३५२॥

टीका च—"निर्ग्रन्था ग्रन्थेभ्यो निर्गताः; तदुक्तं गीतासु (गी० २।५२)—

"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" ॥३५३॥इति; यद्वा, ग्रन्थिरेव ग्रन्थः, निवृत्तहृदयग्रन्थय इत्यर्थः। ननु मुक्तानां किं भक्त्येत्यादि-सर्वाक्षेप-परिहारार्थमाह—इत्थम्भूतगुणः" इत्येषा ॥ श्रीसूतः ॥

सर्वसम्वादिनी

तथैव विज्ञानमयमाह—'श्रद्धा' अध्यात्मशास्त्रे याथार्थ्य-प्रतीतिः; 'ऋतम्' शास्त्रार्थ-निश्चिता बुद्धिः; 'सत्यम्' तदर्थानुभव-प्रयत्नः; 'योगो' युक्तिः; समाधानमात्मा,—श्रद्धादीनामेतत्साक्षात्काराङ्गत्वात्; 'महः' तत्तत्सर्वप्रकाशहेतुत्वेनोत्तमतरं शुद्धजीवरूपम्;—यस्यैव प्रसिद्धेन विज्ञानात्मत्वेनास्य विज्ञानमयत्व-

अनुवाद—

कर्मानुगत है, देह—सुख-दुःखादि भोग का आयतन है। तद्रूप ईश्वर का शरीर नहीं, कारण उनकी मूर्त्ति एवं स्वरूप अभिन्न है, अतः अमूर्त्ति हैं। अमूर्त्ति शब्द का अर्थ—मूर्त्तिरहित नहीं है। सच्चिदानन्द की मूर्त्ति भी सच्चिदानन्दात्मिका है। "यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः"। उस पुरुष ही सम्यक् दर्शी है। अर्थात् जो व्यक्ति इस प्रकार यज्ञ पुरुष श्रीभगवान् का भजन करता है, वह ही सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है। अतएव साक्षात् भगवान् का ही साक्षात् कर्त्तृत्व अभिहित हुआ है।

"तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां" यह श्रुति उसका परिस्फुट प्रमाण है।

यह वृत्तान्त श्रीसूत महाशय श्रीशौनकादि ऋषिगण को कहे थे ॥८१॥

साधक दृष्टि के तारतम्यानुसार परतत्त्व का आविर्भाव में तारतम्य होता है, उस क्रम से श्रीभगवान् का उत्कर्ष साधित हुआ है। सम्प्रति अन्य प्रकार से भी श्रीभगवान् का उत्कर्ष प्रदर्शित हो रहा है। तन्मध्य में प्रथमतः आत्मारामगणों की आकर्षण सामर्थ्य से श्रीभगवान् में उत्कर्षाधिक्य है, उनमें गुणों की उत्कर्षता के कारण ही श्रीभगवान् में परिपूर्णता है।

"जिनका अहङ्कार बन्धन विच्छिन्न हो गया है, जो विधिनिषेधातीत है, उन आत्माराम मुनिगण भी विपुल विक्रम श्रीभगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं, श्रीहरि के गुण ही ईदृश है।" स्वामिपाद लिखते हैं—"निर्ग्रन्थाः" अर्थात् जो लोक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् विधिनिषेधातीत हो गये हैं। श्रीगीता में उक्त है—"जब मोहकलिल बुद्धि विदूरित होगी, तब श्रोतव्य, श्रुत विषय में निर्वेद प्राप्त करोगे ॥" अथवा ग्रन्थी ही ग्रन्थ, हृदय के ग्रन्थिसमूह विदूरित हुए हैं, अर्थात् बन्धन के हेतुभूत हृदय के भाव समूह विदूरित हुए हैं। यहाँ आशङ्का हो सकती है, मुक्त पुरुषों का भक्ति से प्रयोजन क्या है? भक्ति क्रिया है, जिसमें निरन्तर दूसरे के सुख के लिए ही अपने को निरन्तर नियुक्त कर दिया जाता है। यह तो साधुता का विरोधी है, निखिल कर्त्तव्य से छुटकारा पाना, मस्त रहना ही साधुता है, इत्याकार सकल आक्षेप परिहारार्थ उक्त हुआ है, श्रीहरि के गुण ही ईदृश है, श्रीहरि आत्माराम को आकर्षण करके सक्रिय रूपसे परिचर्य्या कार्य्य में नियुक्त करते हैं। यहाँ स्वामिपाद ने व्याख्या की कि—"आत्मारामगणों को आकर्षण करने का स्वभाव ही श्रीभगवान् में है।" इससे स्पष्टतः ही व्यक्त हुआ है कि, ब्रह्म से श्रीभगवान् का उत्कर्ष सर्वाधिक है। यह उक्ति श्रीसूत महाशय की है ॥८२॥

८३। आरोहभूमिकाक्रमेणापि तस्यैवाधिकचमाह (भा० ३।२४।४३-४७)—

"मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत् सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥३५४॥
निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक्।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥३५५॥

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि। परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥३५६॥
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्। अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥३५७॥
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा। भगवद्भक्तियोगेन प्राप्ता भागवती गतिः" ॥३५८॥

एकभक्त्या अव्यभिचारिण्या साधनलक्षणया भक्त्या, अनुभाविते निरन्तरमपरोक्षीकृते, तां विना कस्यचिदप्यर्थस्यासिद्धेः। निरहङ्कृतित्वादेव निर्ममः; तद्द्वयाभावादेव मनआदीनामप्यभावः सिध्यति। समदृक् भेदाग्राहकः; स्वदृक्त्व-स्वरूपाभेदेन ब्रह्मैव पश्यन्, प्रत्यक् अन्तर्मुखी प्रशान्ता विक्षेपरहिता धीर्ज्ञानं यस्य सः। तदेवं ब्रह्मज्ञानमिश्रभक्तिसाधनवशेन ब्रह्मानुभवे जातेऽपि भक्तिसंस्कारबलेन लब्धप्रेमादेस्तदूर्द्ध्वमपि श्रीभगवदनुभवमाह—'वासुदेवे' इति। प्रत्यागात्मनि सर्वेषामाश्रयभूते, परेण प्रेमलक्षणेन भक्तिभावेन तत्सत्तयैव लब्धा

सर्वसम्वादिनी

मुच्यते;-(बृ० ३।७।२२) "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरोऽयम्, यस्य विज्ञानं शरीरम्' इति जीवान्तर्यामिप्रतिपादक-श्रुतेः। अत्र स्थानएव (शतपथ-ब्रा० १४।५।३०) "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात् प्रतिष्ठा तेषां सर्वेषामाश्रयः।

अनुवाद—

साधक के तारतम्य से तत्त्व का तारतम्य। आरोहभूमिका क्रम से अर्थात् अधिकारी की अवस्था का उत्तरोत्तर उत्कर्ष से उपलभ्य तत्त्व का भी तारतम्य होता है। "निर्गुण सदसदतीत ब्रह्म में अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा चित्त परिभावित होने से, साधक, निरहङ्कार निर्म्मम द्वन्द्वातीत समदर्शी होकर आत्मदर्शन करता है, एवं प्रशान्तोर्म्मि उदधिवत् प्रत्यक् प्रवण प्रशान्त बुद्धि को प्राप्त करता है। अनन्तर पराभक्ति के आचरण से प्रत्यगात्मा सर्वज्ञ भगवान् वासुदेव में अर्पित चित्त होकर निर्म्मुक्त बन्धन होता है। उस समय सर्वभूत में अवस्थित आत्मस्वरूप भगवान् की एवं आत्मरूप भगवान् में सर्वभूत को अवस्थित देखता है। अनन्तर इच्छाद्वेष विहीन सर्वत्र समचित्त साधक को भगवद्भक्ति के द्वारा भागवती गति मिल जाती है।"

अर्थात् अव्यभिचारिणी साधन लक्षणाभक्ति के द्वारा अनुभावित (निरन्तर अपरोक्षानुभव) होता है। उस समय उक्त ब्रह्मानुभव व्यतीत अपर किसी प्रकार अनुभूति नहीं रहती है। अहं अभिमानशून्यता वशतः ही निर्म्ममावस्था है। अहं ममता रूप उभय का अभाव से मन आदि का भी अभाव सिद्ध होता है। समदर्शी—भेद का अग्राहक, अर्थात् भेदज्ञान परिशून्य। आत्मदर्शी—आत्मा के सहित अभिन्न ब्रह्मदर्शन। प्रत्यक्—अन्तर्मुखी, प्रशान्ता—विक्षेप रहिता धी; ज्ञान जिसका है, वह ही प्रशान्त धी। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान मिश्रित साधक का ब्रह्मानुभव होने से भी भक्तिसंस्कार के प्राबल्य से जिस प्रेमादि एवं तदूर्द्ध श्रीभगवद् विषयक अनुभव होता है, उसका वर्णन करते हैं।

वासुदेव में—प्रत्यगात्मा, अर्थात् सबके आश्रयभूत आत्मा में प्रेमलक्षणा पराभक्ति भाव के फल से प्राकृताहङ्कारादि का लय होने के बाद भक्ति संस्कार वशतः आविर्भूत प्रेमाख्या पराभक्ति के द्वारा साधक

आत्मानस्तदीयात्मका अहङ्कारादयो येनेति। ब्रह्मज्ञानेन प्राकृताहङ्कारादिलयानन्तरमाविर्भूतान् प्रेमानन्दात्मकशुद्धसत्त्वमयान् तान् लब्धवानित्यर्थः। ननु त एव प्रत्यावर्त्तन्ताम्,किंवा पूर्ववदमी अपि बन्धहेतवो भवन्तु ? नेत्याह—मुक्तबन्धनः; (ब्र० सू० ४।४।२३) "अनावृत्तिः शब्दात्" इति न्यायात् भक्त्यतिशयेन लब्धात्मत्वमेव प्रतिपादयति—"आत्मानम्" इति।

सर्वसम्वादिनी

तदेवं शुद्धजीवपर्य्यन्तमुक्त्वा तथा तथा लब्धान्तराणां पुनः सर्वान्तरतमत्वेन तत्रैव पूर्वोपक्रान्तमुख्यात्मत्वं पर्य्यवसाययन्नानन्दमयमुपदिशति। एवं पूर्वपूर्वं शास्त्रीय-परमार्थप्रक्रियैव लब्धा, न तु व्यवहारिकी। ततो नेष्टपुत्र-दर्शनजानन्दादिकं प्रियादि-शब्दैर्व्याख्येयम्; किन्त्वेकस्यैव परमानन्दस्य ब्रह्मण

अनुवाद—

उस समय आत्मा को एवं तदीयात्मक—प्रेमानन्दात्मक शुद्धसत्त्वमय अहङ्कार को प्राप्त करता है। अर्थात् उनके चित्तमें अहङ्कारादि इन्द्रियसमूह की विद्यमानता होने पर भी वे सब प्राकृत वृत्ति से मुक्त हो जाते हैं। शुद्धसत्त्वमयी वृत्ति को प्राप्त करते हैं, फलस्वरूप उस समय साधक की निखिल इन्द्रियों में श्रीभगवत् स्फूर्त्ति होती है।

यहाँ आशङ्का हो सकती है कि—भक्ति प्रवृत्त हो, अथवा पूर्ववत् इन्द्रियादि बन्धन का हेतु बन जाये ? उत्तर में कहा जाता है—वैसा नहीं हो सकता है। "अनावृत्तिः शब्दात्" इस ब्रह्मसूत्र में "भक्ति के आतिशय्य से आत्मसाक्षात्कार होता है", इसका प्रतिपादन हुआ है।

गोविन्दभाष्य—"अत्र भगवल्लोकप्राप्ति वाक्यानि विषयः, तत्रैवं संशयः। तत् प्राप्तिलक्षणा मुक्तिः क्षय्या स्यादक्षय्या वेति ? लोकत्वाविशेषात् स्वर्गादिव तस्मात् पातसम्भवात् क्षय्या स्यादिति प्राप्ते—"अनावृत्तिशब्दात्" ब्र० सू० ४।४।२२ भगवदुपासनया तदवगतिपूर्वया तल्लोकं गतस्य न तस्मादावृत्तिर्भवति। कुतः शब्दात्। एतेन प्रतिपाद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते। स खल्वेवंवर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति श्रुतेः॥ मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतं। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः। आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। इति स्मृतेश्च। न च सर्वेश्वरः श्रीहरि स्वाधीनमुक्तं स्वलोकं कदाचित् पातयितुमिच्छेत्, मुक्तो वा कदाचित् तं जिहासेदिति शक्यं शङ्कितुं।……द्वयोर्मिथः स्नेहातिशयाभिधानात्।

"धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति। मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥

इत्यादिषु भजदत्यागसंकल्प भजनीयैक संरति स्मरणात् निर्दोषाच्च। स्वाश्रितवात्सल्यवारिधिः सर्वेश्वरः स्वभक्तानां स्वनिमित्तपरित्यक्तसर्वविषयाणां स्ववैमुख्यकरीमविद्यां निर्धूय तानतिप्रियान् निजांशान् स्वान्तिकमुपानीयकदाचिदपि न जिहासति।…… विदित निजांशिस्वरूपस्तदितरनिस्पृह स्तदनुवृत्तिपरिशुद्धस्तमनन्तानन्द चित्स्वरूपं प्रसादाभिमुखं सुहृत्तमं निजस्वामिनं प्राप्य कदाचिदपि तद्विच्युतिं नेच्छतीति शास्त्रादेवाधिगतमतः शास्त्रैकशरणैस्तथैव तत्तदास्थेयमिति।"

भगवदुपासना एवं भगवत्तत्त्वज्ञान प्राप्त कर भगवल्लोक प्राप्त होने पर उस जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती है। "प्रतिपद्यमाना" "मामुपेत्य पुनर्जन्म" इत्यादि श्रुतिवाक्य में मुक्त की पुनरावृत्ति का निषेध ही दृष्ट होता है। सर्वेश्वर श्रीहरि, स्वाधीन मुक्त जीव को निज लोक से कभी भी पातित करने की इच्छा नहीं करते हैं, एवं मुक्त जीव भी कदाचित् श्रीभगवान् को परित्याग करना नहीं चाहता है। क्लेश परिमुक्त पथिक जैसे निज गृह को परित्याग नहीं करता है, तद्रूप शुद्धसत्त्वावेशित चित्त पुरुष, कभी भी श्रीकृष्ण पादमूल को नहीं छोड़ता है।" शास्त्र में भक्त एवं भगवान् का पारस्परिक अपरित्याग का विषय सुस्पष्ट वर्णित है। विशेषतः श्रीभगवान् भक्त के प्रति प्रीति करते हैं, भक्तगण भी भजन को छोड़ कर नहीं रहते हैं। सत्यवाक्, सत्यसंकल्प, स्वाश्रित वात्सल्य वारिधि सर्वेश्वर श्रीभगवान् के सन्तोष के लिए परित्यक्त

आत्मात्र परमात्मा, सर्वथा तस्य भगवानेवास्फुरदिति वाक्यार्थः। ततः साक्षादेव तत्प्राप्तिमाह "इच्छाद्वेष-" इति। तदेवं तेन भागवती गतिः प्राप्ता। हेयत्वादन्यत्रेच्छाद्वेषविहीनेन, तस्मादेव हेतोः सर्वत्र समचेतसा; तदुक्तम् (६।१७।२८)—

"नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः"॥३५९॥इति

यद्वा, "मया लक्ष्म्या सह वर्त्तत इति समः" इति सहस्रनामभाष्यात् (शाङ्कर० २५) भगवच्चेतसेति। प्राप्तो भागवतीं गतिमिति पाठे—स कर्द्दम एव तां गतिं प्राप्तः। अत्र भगवद्भक्तियोगेनेत्येव विशेष्यमिति। एवमेवोक्तं श्रीभगवदुपनिषत्सु (गी० १८।५१-५५)—

"बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥३६०
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥३६१॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥३६२॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥३६३॥

सर्वसम्वादिनी

उत्तरोत्तरोदयोत्कर्ष-तारतम्यात् तत्तन्नाम-भेदः आनन्दस्य सामान्यत्वेन प्रियादिषु व्याप्त्यपेक्षयात्मस्वरूपकम्, ब्रह्मणस्तु सर्वोत्तरोदितत्वेन पुच्छत्व-रूपकमिति। तदेव च सर्वोत्कृष्टत्वात् प्रियादि-लक्षण-स्वप्रकाश-विशेषाणामन्नमयादीनामप्याश्रयः। एतदेव प्रियादि-स्वप्रकाशविशेषवच्चेति। एतदप्युपलक्षणम्। तत्तदशेष-

अनुवाद—

समस्त विषय, भक्त के सम्बन्ध में वैमुख्यकारिणी अविद्या को अपसारित करके अतिप्रिय निज भक्तगण को निज समीप में आनयन करके उन सबको परित्याग करना नहीं चाहते हैं। जीव भी भाग्यक्रम से श्रीगुरु प्रसाद प्राप्त कर निज अंशीस्वरूप श्रीभगवत्तत्त्व को जान कर तदितर विषय में निस्पृह होकर श्रीभगवत् अनुवृत्ति के द्वारा अपने को शुद्ध करते हैं। तब उन अनन्तानन्द चित्स्वरूप प्रसादाभिमुख सुहृत्तम निजस्वामि को प्राप्त कर, परम रमणीय अखिल रसस्वरूप वस्तु का आस्वादन में जीव विभोर हो जाते हैं। उनसे विच्युति होने की इच्छा उन सब की कभी भी नहीं होती है।

यहाँ के मूल में "आत्मानं" वाक्य में उक्त है,—आत्मा—परमात्मा, सर्व प्रकार से यहाँ साधक की श्रीभगवत् स्फूर्त्ति होती है, यह ही तात्पर्य्य है। अनन्तर साक्षात्रूप से श्रीभगवत् प्राप्ति होती है। इच्छा-द्वेष इत्यादि श्लोक में—उत्तर काल में भागवती गति प्राप्ति का विषय वर्णित है। अन्यत्र हेयतावशतः, अन्यत्र इच्छा, द्वेष परिशून्य होना ही समचित्तता है। उक्त समचित्तता ही श्रीभगवत् प्राप्ति का हेतु है।

अन्यत्र उक्त है—"नारायण परायण जनगण किसी से भीत नहीं होते हैं। स्वर्ग, मोक्ष, नरक को सम नेत्र से ही देखते हैं।" अथवा समचेतसा—सहस्रनाम भाष्य में इसका अर्थ—लक्ष्मी के सहित वर्त्तमान। मया लक्ष्म्या सह वर्त्तते इति सम। इस व्युत्पत्ति के अनुसार—भगवच्चित्तता की सिद्धि होती है। "प्राप्ता भागवतीं गतिं" यहाँ "प्राप्तो भागवतीं गतिं" पाठान्तर स्वीकार करने से—श्रीकर्दम भागवती गति को प्राप्त किए थे, अर्थ होगा। एवं भगवत् भक्तियोग से ही उक्त गति हुई थी, यह ही यहाँ का विशेष अभिप्राय है। गीता में श्रीभगवान् कहें हैं—"विशुद्ध बुद्धिसम्पन्न होकर धारणा द्वारा अपने को नियमित करें, शब्दादि विषयों का परित्याग करें, अनन्तर राग-द्वेषादि का वर्जनपूर्वक निर्जन पवित्र देश में निवास करें, लघु भोजन, देह-वाक्य-मन का संयम करें, पश्चात् श्रीहरि चिन्ता निरत होकर वैराग्याश्रय करें। अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह का त्याग कर निस्तरङ्ग सिन्धुवत् शान्त एवं निर्म्मलावस्था में ब्रह्म साक्षात्कार होती है। ब्रह्मस्वरूप सम्प्राप्त प्रसन्नात्मा व्यक्ति, मदन्य विषय में शोक एवं आकाङ्क्षा नहीं करता है, क्रमशः समस्त भूतों में समत्व उपस्थित होने से पराभक्ति का लाभ होता है। ईदृशी भक्ति के प्रभाव

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'"॥३६४॥ इति
अत्र विशर्तिमिलनार्थः, यथा— 'दुर्य्योधनं परित्यज्य युधिष्ठिरं प्रविष्टवानयं राजा" इति श्रीदशमेऽपि (भा० १०।२८।१७) श्रीगोपैर्ब्रह्मसम्पत्त्यनन्तरमेव वैकुण्ठो दृष्ट इति श्रीस्वामिभिरेव च व्याख्यातम् ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

८४ । तथा (भा० ११।१९।५)—
"तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः"॥३६५

स्वात्मानं जीवस्वरूपम्; ज्ञानं विज्ञानं च ब्राह्मचम् । किं बहुना ? अत्र श्रीचतुःसनशुकादय एवोदाहरणमिति ॥ श्रीभगवान् उद्धवम् ॥

८५ । श्रीभगवता शब्दब्रह्ममयकम्बुस्पृष्टकपोलस्तत्प्रकाशितयथार्थनिगदो ध्रुवो बालकोऽपि तथा विवृतवानित्येवमानन्दचमत्कार-विशेषश्रवणादपि तस्यैव पूर्णत्वमाह (भा०४।९।१०)—
"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किम्वन्तकासि-लुलितात् पततां विमानात्"॥३६६

सर्वसम्वादिनी

शक्तिविशेषवच्चेत्, तर्ह्यानन्दमय आत्मेत्युच्यते । सोऽखण्डोऽपि परब्रह्मैव । तदुक्तम्—(ब्र०सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इति । ततस्तस्य तु तत्तद्विशेषवत्त्वे परमाखण्डत्वमिति (गी० १४।२७) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्येतद्गीतार्थोऽपि श्रुतिहृदयगत एव बोद्धव्यः ।

अनुवाद—

से मैं यत्स्वरूप एवं यत् स्वभाव का हूँ, इसका सम्यक् ज्ञान होता है, अनन्तर मेरे साथ मिलित होता है ।"

यहाँ "विश" धातु का मिलन अर्थ है । राजपुर में प्रवेश किया, कहने से जिस प्रकार राज पुर होने का बोध नहीं होता है, प्रत्युत पुर में प्रविष्ट होने का बोध होता है । अर्थात् देहेन्द्रिय का संयोग बोध होता है । जैसे राजा "दुर्योधनं परित्यज्य युधिष्ठिरं प्रविष्टवानयं राजा" कहने से "युधिष्ठिर के साथ मिलित हुआ राजा" इस प्रकार समीचीन अर्थ बोध होता है, तद्रूप मेरे साथ मिलित होना एवं मद्विषयक सम्यक् परिज्ञान प्राप्त करना ही 'प्रवेश' का तात्पर्य्य है । स्वनिष्ठ साधक का साधन है, एवं साध्य प्राप्ति की पद्धति है । स्वामिपाद ने दशम स्कन्ध में ईदृशी व्याख्या ही की है । "गोपगण ब्रह्म सम्पत्ति लाभ के अनन्तर वैकुण्ठ दर्शन किए थे ।" मैत्रेय महाशय कहे थे ॥८३॥

"ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर जीव भगवद्भजन करता है, तत्सम्बन्ध में एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे । 'हे उद्धव ! ज्ञान से जीव, स्वरूप को जान कर उक्त परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञानसम्पन्न होता है, अनन्तर भक्ति भावित चित्त से मेरा भजन करता है ।" यहाँ आत्मा—जीवस्वरूप है, ज्ञान एवं विज्ञान सम्पन्न अर्थ से ब्रह्मविषयक परोक्ष एवं अपरोक्ष उभयविध ज्ञान को जानना होगा । इसमें श्रीशुकदेव श्रीचतुःसनादि ही प्रकृष्ट दृष्टान्त स्थल है, उन सबकी आलोचना पहले हो चुकी है । उससे स्पष्ट होता है कि—ब्रह्मज्ञान के अनन्तर श्रीशुक-चतुःसनादि भगवद् भजनपरायण हुये थे ।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे ॥८४॥

श्रीभगवान् के शब्दब्रह्ममय कम्बु के स्पर्श से बालक ध्रुव ने चमत्कृत होकर जो कहा था, उससे भी प्रतीत होता है कि—आनन्दविशेष की पूर्णता श्रीभगवत् स्वरूप में ही है । "हे भगवन् ! देहधारिगण, आपके पादपद्म का ध्यान एवं तदीय भक्तजन की कथा श्रवण से जिस शान्ति को प्राप्त करते हैं, हे नाथ ! स्वीय असाधारण महिमा में अवस्थित होकर ब्रह्मज्ञान में भी उसकी प्राप्ति नहीं होती है । सुतरां कालकवल

स्वमहिमनि असाधारणमाहात्म्येऽपि मा भूत् न भवतीत्यर्थः। अन्तकासिः कालः ।।ध्रुवः श्रीध्रुवप्रियम् ।।

८६। परमसिद्धिरूपाद्ब्रह्मणि लयादपि तद्भजनस्य गरीयस्त्वेन तस्यैव गरीयस्त्वमुपदिशति (भा० ३।२५।३२) "अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी" इति। "सिद्धेर्मुक्तेरपि" इति टीका च; 'सिद्धेर्ज्ञानात् मुक्तेर्वा' इति श्रीभगवन्नामकौमुदी च ।। श्रीकपिलदेवः ।।

८७। तदेवं श्रीभगवानेवाखण्डं तत्त्वं साधकविशेषाणां तादृशयोग्यत्वाभावात् सामान्याकारोदयत्वेन तदसम्यक्स्फुर्त्तिरेव ब्रह्मेति साक्षादेव वक्ति द्वाभ्याम् (भा० ३।३२।३२-३३)—
"ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः। द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ।।३६७।।
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः। एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः" ।।३६८।।

टीका च—"अनेन च ज्ञानयोगेन भगवानेव प्राप्यः, यथा भक्तियोगेनेत्याह—नैर्गुण्यो ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो भक्तिलक्षणश्च यो योगस्तयोर्द्वयोरप्येक एवार्थः प्रयोजनम्। कोऽसौ? भगवच्छब्दो लक्षणं ज्ञापको यस्य। तदुक्तं श्रीगीतासु (गी० १२।४)–"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः" इति। ननु ज्ञानयोगस्यात्मलाभः फलं शास्त्रेणावगम्यते, भक्तियोगस्य तु

सर्वसम्वादिनी

अथ श्रीभगवतः पूर्णतत्त्वाकारत्व-निर्द्धारण-प्रकरणे एकोनशततमाद्वाक्यात् पूर्वत्र (९९तमअनु०—"तत्त्वं जिज्ञासमानानाम्" इति) मोक्षधर्मवचनानन्तरं श्रीमध्वभाष्यादेव तदाहार्य्याणि; यथा प्रथमसूत्रे (महा-ना० १।४)—"यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति, यदक्षरे परमे प्रजाः।

अनुवाद—

से ग्रस्त होकर स्वर्गादि लोक से जो लोक पतित होते रहते हैं, उन सब की कथा ही क्या है?" अर्थात् ध्रुव महाशय, श्रीध्रुवप्रियावतार श्रीभगवान् को कहे थे,—जीव जब स्वीय असाधारण माहात्म्य में अवस्थित होकर भी आपके श्रीचरण ध्यानादि जनित शान्ति का किञ्चित्मात्र अंश को प्राप्त नहीं कर पाता तब क्षयिष्णु स्वर्गादि लोक का महत्त्व ही कहाँ है? श्रीध्रुव, ध्रुवप्रिय को कहे थे ।।८५।।

ब्रह्म में लीन होना ही परम सिद्धि है, किन्तु उससे भी भगवद्भजन की ही श्रेष्ठता है। अर्थात् सोऽहं भावना के द्वारा जीव-ब्रह्म का भेद तिरोहित होने से ब्रह्मरूप में अवस्थिति को मुक्ति कहते हैं, यह ही सर्व श्रेष्ठ लक्ष्य है। किन्तु उस मुक्ति को भी अति तुच्छ ज्ञान से परित्याग कर मुक्त पुरुषगण भगवद् भजन में आत्मनियोग करते हैं, अतः ब्रह्मानन्द से श्रीभगवत् परिचर्य्यारूप भजन में आनन्दाधिक्य है, इससे प्रतिपन्न हुआ कि—ब्रह्मस्वरूप से श्रीभगवत्तत्त्व की श्रेष्ठता है। श्रीकपिलदेव का कथन है—"अनिमित्ता भागवती भक्ति की श्रेष्ठता मुक्तिरूपा सिद्धि से भी गरीयसी है।" यहाँ स्वामिपाद ने 'सिद्धि' पद का अर्थ 'मुक्ति' किए हैं। नामकौमुदीकार भी सिद्धि शब्द का अर्थ—'ज्ञान-मुक्ति' किए हैं। श्रीकपिलदेव कहे थे ।।८६।।

श्रीभगवान् ही अखण्ड तत्त्व हैं। साधक विशेष में योग्यता के अभाव से उक्त तत्त्व का स्फुरण सामान्याकार से होता है। उसे परतत्त्व की असम्यक् स्फूर्त्ति करते हैं, जिसका अपर नाम 'ब्रह्म' है। श्लोकद्वय से उसका वर्णन करते हैं—"निर्गुण ज्ञानयोग एवं मन्निष्ठ भक्तियोग, उभय का एक ही अर्थ—प्रयोजन है। वह क्या है? उत्तर,—भगवत् शब्द जिसका ज्ञापक है। गीता में उक्त है—"संयतेन्द्रिय, सर्वत्र समबुद्धि से उपासनाकारी साधक, सर्वभूतों के मङ्गल कार्य्य में निरन्तर रत होकर आत्मसाक्षात्कार पूर्विका, मदर्पित-कर्मलक्षणा मद्भक्ति से मुझको प्राप्त करता है।" यहाँ आशङ्का हो सकती है,—शास्त्र

भजनीयेश्वर-प्राप्तिः, कुतस्तयोरेकार्थत्वमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति— यथा बहूनां रूप-रसादीनां गुणानामाश्रयः क्षीरादिरेक एवार्थो मार्गभेदप्रवृत्तैरिन्द्रियैर्नाना प्रतीयते, चक्षुषा शुक्ल इति, रसनेन मधुर इति, स्पर्शेन शीत इत्यादि, तथा भगवानेक एव तत्तद्रूपेणावगम्यते" इत्येषा। अत्र भगवानेवाङ्गित्वेन निगदितः। अतः सर्वांशप्रत्यायकत्वाद्भक्तियोगश्च मनःस्थानीयो ज्ञेयः ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

८८। अतएव तदंशत्वेनैव ब्रह्म श्रूयते (भा० ६।१६।५१)—

"अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः। शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू"॥३६६॥

टीका च—"सर्वभूतान्यहमेव ; भूतानामात्मा भोक्ताप्यहमेव। भोक्तृभोग्यात्मकं विश्वं मद्व्यतिरिक्तं नास्तीत्यर्थः। यतोऽहं भूतभावनः, भूतानां प्रकाशकः कारणञ्च। ननु शब्दब्रह्म प्रकाशकम्, परब्रह्म कारणं प्रकाशकञ्च ; सत्यम्, ते उभे ममैव रूपे इत्याह—शब्दब्रह्मेति। शाश्वती शाश्वत्यौ इत्येषा। अत्र शब्दब्रह्मणः साहचर्य्यात् परब्रह्मणोऽप्यंशत्वमेवायाति ॥ श्रीसङ्कर्षणश्चित्रकेतुम् ॥

सर्वसम्वादिनी

यतः प्रसूता जगतः प्रसूति-,स्तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम्" ।।७७।।

इत्यारभ्य (महा-ना० १।६) "तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' इत्यन्ता श्रुतिः; तथा (ऋक्सं० १०म० १२५सू० ५मः)

अनुवाद—

चिरदिन ही कहते हैं कि—ज्ञान अथवा योगाचरण के द्वारा आत्म लाभ होता है, अर्थात् परमात्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्मावाप्ति होती है। किन्तु भक्तियोग का फल तो सर्वदा सक्रिय भजनीय परमेश्वर को प्राप्त करना। सुतरां ज्ञान एवं भक्तियोग का एक प्रयोजन "भगवान्" कैसे हो सकते हैं ? एक निष्क्रिय होना, अपर सक्रिय होना है ? उस एकार्थता को समझाने के निमित्त दृष्टान्त उपस्थित करते हैं,—जिस प्रकार रस-रूपादि बहु गुणों का आश्रय क्षीरादि की प्रतीति, अनेक इन्द्रियों से अनेक प्रकार होती है। उस प्रकार एक सशक्तिक भगवत्तत्त्व ही मार्ग भेद से ही अनेक प्रकार दृष्ट होते हैं। अर्थात् रसनेन्द्रिय से क्षीर की स्वादुता, एवं दर्शनेन्द्रिय से शुक्लादि की प्रतीति होती है, तद्रूप श्रीभगवान् भी उपासना के मार्ग भेद से ब्रह्मादि रूपमें अवगत होते हैं।" यहाँ सर्वरूप के अङ्गीरूप में एक श्रीभगवान् ही अभिहित हुये हैं। अतएव सर्वांश के प्रत्यायकता निबन्धन मनस्थानीय, (अर्थात् अन्तरिन्द्रिय मनः जिस प्रकार रूपरसादि का प्रत्यायक है) भक्तियोग ही सर्वांश का प्रत्यायक है। केवल स्वरूपावबोधक ज्ञान केवल ब्रह्म का, योग—परमात्मा का, एवं भक्ति—अंशीस्वरूप सशक्तिक सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्त्ति श्रीभगवान् का प्रत्यायक होने से सर्वांश का ही प्रत्यायक है। यह श्रीकपिलदेव की उक्ति है ।।८७।।

अतएव मूल श्लोक में भगवदंशरूप में ही ब्रह्म अभिहित हुए हैं। "मैं ही समस्त भूतों का अधिष्ठान हूँ। सर्व भूतों का आत्मा भी मैं ही हूँ। सर्वभूतों का कारण मैं ही हूँ। अतएव शब्दब्रह्म एवं परमब्रह्म उभय ही मेरी नित्य मूर्त्ति हैं।"

स्वामिपाद की व्याख्या—समस्त भूतसमूह मैं ही हूँ। भूतगणों का आत्मा एवं भोक्ता भी मैं हूँ। मत् व्यतिरिक्त भोक्तृ—भोग्यात्मक विश्व नहीं है, अर्थात् जड़ अथवा चित्‌रूप में जो कुछ देखते हो, वे सब ही मैं हूँ, मुझको छोड़कर वे सब पृथक् नहीं हैं। कारण मैं भूतभावन हूँ, भूतों का प्रकाशक—कारण हूँ। यदि कहो, शब्दब्रह्म प्रकाशक है, परब्रह्म कारण एवं प्रकाशक है ? सत्य है, दोनों ही मेरे रूप हैं। शब्दब्रह्म—इससे उभय देह ही शाश्वती है। यहाँ शब्दब्रह्म के साहचर्य्य से परब्रह्म का भी अंशत्व बोधित हुआ है।

८६। अतो भगवतोऽसम्यक्प्रकाशत्वाद्विभूतिनिर्विशेष एव तदित्यप्याह (भा० ८।२४।३८)—
"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि"॥३७०

महिमानमैश्वर्य्यं विभूतिनिर्विशेषमिति यावत्। अतएव मे मया अनुगृहीतमनुग्रहेण प्रकाशितं हृदि अपरोक्षं वेत्स्यसि; त्वया कृतैः संप्रश्नैर्मया विवृतमिति स तु यद्यपि मदनुभवान्तर्भूत एव ब्रह्मानुभव इत्यतो नास्ति मत्तः पृथगनुभवापेक्षा, तथापि भक्तिप्रकाशित-साक्षान्मदनुभवे तन्मात्रानुभवो न स्फुटो भवति। यदि तदीयस्फुटतायां तवेच्छा कथञ्चिद्वर्त्तते, तदा सापि भवेदिति भावः। अतएव (भा० १०।४६।३१)—

"एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी, रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य, ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ" ॥३७१॥

इति श्रीमदुद्धववाक्यम्। ज्ञानस्येत्येकवचनादेकं ब्रह्मैवोच्यत इति ॥श्रीमत्स्यदेवः सत्यव्रतम्॥

९०। तथा च विभूतिप्रसङ्ग एव (भा० ११।१६।३७ —

"पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्" ॥३७२॥

सर्वसम्वादिनी

"यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिन्तं सुमेधाम्" इत्युक्त्वा (ऋक्सं० १०म० १२५सू० ७मः) "मम योनिरपस्वन्तः" इति शक्तिवचनात्मक-श्रुतिः; (ब्र०सू०१।१।२०) "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इत्यत्र च तद्भाष्यम्—"अन्तः श्रूयमाणो विष्णुरेव;—(चित्युप० ११।११)

अनुवाद—

अतएव कार्य्यकारणात्मक भाव के अतीत श्रीभगवान् अंशी है। उसका प्रकाश अर्थतः प्रस्फुट हुआ है। श्रीसङ्कर्षण चित्रकेतु को उपदेश दिये थे ॥८८॥

अतएव श्रीभगवान् का असम्यक् प्रकाशत्व हेतु निर्विशेष विभूति ही ब्रह्म है, इस सम्बन्ध में कहते हैं— "मदीयं" तुम्हारे हृदय में जिज्ञासा का उदय होने से मेरे अनुग्रह से प्रकाशित परब्रह्माख्य मदीय महिमा को जान सकोगे।" अर्थात् मेरा अनेक ऐश्वर्य्य हैं, उसमें निर्विशेष विभूति रूप एक ऐश्वर्य्य है। मेरे अनुग्रह से तुम्हारे हृदय में उसका प्रकाश होने से तुम उसका अपरोक्षानुभव कर सकोगे। तत्कृत संप्रश्न का फल ही मेरा अनुग्रह एवं प्रकाश है। और भी उक्त निर्विशेषानुभव, मदीय अनुभव का ही अन्तर्भूत है, ब्रह्मानुभव के स्थल में,—सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न भगवान् मैं हूँ। मेरे अनुभव से पृथक् अनुभव की अपेक्षा नहीं है। कारण सर्वैश्वर्य्य के मध्य में ऐश्वर्य्य का अंशविशेष ब्रह्म भी अन्तर्निहित है। तथापि भक्ति प्रकाशित षडैश्वर्य्य परिपूर्ण भगवदाकार साक्षात् मदनुभव से ऐश्वर्य्य का एकदेशविशेष का परिस्फुट अनुभव नहीं होता है। यदि निर्विशेष का अनुभव करने की इच्छा तुम्हारी हो, तो उस निर्विशेष स्वरूप का भी अनुभव होगा। इस अभिप्राय से उद्धव महाशय कहे थे। साक्षात् मूर्त्ति में परिदृश्यमान यह राम एवं कृष्ण, साक्षात् पुराणपुरुष हैं। जगत् के निमित्त उपादान कारण हैं, आप दोनों प्रधान पुरुष संज्ञा से अभिहित होते हैं। सर्वभूत में अनुप्रविष्ट होने से उनके पृथक् पृथक् नाम रूप, पृथक् ज्ञान की अभिव्यक्ति कराते हैं। आप दोनों जीवों के नियन्ता हैं।" यहाँ मूल श्लोक में एक ब्रह्म को लक्ष्य करके ही 'ज्ञानस्य' यह एकवचनान्त का प्रयोग हुआ है। अर्थात् सब के मूल में ही जो एक अद्वय तत्त्व हैं, एवं उनकी ही अवस्थानुसार विभिन्नाभिव्यक्ति का विभिन्न नाम हैं, शास्त्र का तात्पर्य्य यह ही है।

श्रीमत्स्यदेव सत्यव्रत को कहे थे ॥८९॥

टीका च—"परं ब्रह्म च" इत्येषा। अतएव श्रीवैष्णवसाम्प्रदायिकैः श्रीमद्भिरालमन्दाराचार्य्यमहानुभावचरणैरप्युक्तम्—

"यदण्डमण्डान्तरगोचरश्च यद्,-दशोत्तराण्यावरणानि यानि च।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं, परात् परं ब्रह्म च ते विभूतयः" ॥३७३॥ इति।

पैङ्गश्रुतावपि तद्गणपातित्वेन श्रूयते—"एष पुरुष एष प्रकृतिरेष आत्मैष ब्रह्मैष लोक एष अलोक एष योऽसौ हरिरादिरनादिरन्तोऽनन्तः परमः पराद्विश्वरूपः" इति ॥ श्रीभगवान्॥

६१। अतो ब्रह्मरूपे प्रकाशे तद्वैशिष्ट्यानुपलम्भनात्तत्प्रभालक्षणत्वमपि तस्य व्यपदिश्यते (भा० १०।३।२४) "रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं, ब्रह्मज्योतिः" इत्यादि। ब्रह्मैव ज्योतिः प्रभा यस्य तथाभूतं रूपं श्रीविग्रहम्; तथा चोक्तं ब्रह्मसंहितायाम् (५।५१)—

"यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि,-कोटिष्वशेषवसुधादि-विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" ॥३७४॥ इति।

श्रीदेवकी श्रीभगवन्तम्॥

६२। अतो ब्रह्मणः परत्वेन श्रीभगवन्तं कण्ठोक्त्यैवाह (भा० ४।२४।२८)—

यः परं रहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्। भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥३७५

सर्वसम्वादिनी

'अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तं, ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे।
समुद्रेऽन्तः कवयो विचक्षते, मरीचिनां पदमिच्छन्ति वेधसः" ॥७८॥

अनुवाद—

विभूति के प्रसङ्ग में भी उक्त है—"पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, तन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्च महाभूत, एकादशेन्द्रिय, जीव, प्रकृति, तमः, रजः, सत्त्व प्रकृति के गुणत्रय, एवं इसके बाद पर, परतत्त्व ब्रह्म भी मैं ही हूँ।" स्वामिपाद ने पर शब्द का अर्थ "ब्रह्म" किए हैं। अतएव वैष्णव साम्प्रदायिक, महानुभाव श्रेष्ठ श्रीआलमन्दाराचार्य्य भी कहे हैं—"ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत, उसके दशोत्तर आवरण, गुणसमूह, प्रधान, पुरुष, परपद, एवं पर से भी पर ब्रह्म—समुदय ही आपकी विभूति हैं।" इत्यादि वाक्य में भी भगवद् विभूति का उल्लेख दृष्ट होता है। श्रीभगवान् कहे थे ॥६०॥

अतएव ब्रह्म रूपमें प्रकाशित होने से भी उक्त वैशिष्ट्य का अनुभव न होने से वह ब्रह्म भगवत्-प्रभाव रूपमें ही उक्त होते हैं। देवकीदेवी निजकृत स्तव में कही थी—"वेद में एक, अनिर्वचनीय, आद्य, अव्यक्त रूप की कथा वर्णित है। ब्रह्म—उनकी ही ज्योति है।" अर्थात् ब्रह्म ही प्रभा जिनकी इस प्रकार श्रीविग्रह आप हैं। ब्रह्मसंहिता में उक्त है,—"अनन्त प्रभावशाली श्रीभगवान् की जो प्रभा, कोटि कोटि जगदण्ड में एवं अशेष वसुधादि में विभिन्न प्रकार विभूति का परिचय प्रदान करती है। जिनकी निष्कल अनन्त अशेष भूत व्यापकावस्था ब्रह्म नाम से अभिहित हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।"

उसकी टीका—"तस्य सर्वावतारित्वेन पूर्णत्वमुक्त्वा स्वरूपेणाप्याह—यस्येति; द्वयोरेकरूपत्वेऽपि विशिष्टतया आविर्भावात् श्रीगोविन्दस्य धर्मिरूपत्वमविशिष्ट्यतया आविर्भावाद्ब्रह्मणो धर्मरूपत्वम्।" अर्थात् पूर्व श्लोक में सर्वावतार का अवतारित्व स्वरूप में पूर्णता का प्रदर्शन करके स्वरूपतः ब्रह्म भगवान् में एकरूपता होने पर भी विशिष्ट्याविर्भाव के कारण श्रीगोविन्द की धर्मिरूपता है, एवं अवशिष्टाविर्भाव में धर्मरूपता (ज्योतिः प्रभारूपता) प्रदर्शित हुई है। श्रीदेवकीदेवी भगवान् को बोली थी ॥६१॥

अतएव श्रीरुद्र की उक्ति में ब्रह्म से भगवान् की परतमता वर्णित है,—"जो त्रिगुण से, जीव संज्ञित

(भा० ३।१५।४६) "पित्रानुवर्णितरहाः" इति श्रवणेन रहो ब्रह्म तस्मादपि परं ततः सुतरां त्रिगुणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् जीवात्मनः परं भगवन्तं यः साक्षात् श्रवणादिनैव, न तु कर्मार्पणादिना प्रपन्न इत्यन्वयः। तथा च श्रीविष्णुधर्मे नरकद्वादशीव्रते श्रीविष्णुस्तवः—

"आकाशादिषु शब्दादौ श्रोत्रादौ महदादिषु। प्रकृतौ पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स प्रभुः ॥३७६॥
यथैक एव सर्वात्मा वासुदेवो व्यवस्थितः। तेन सत्येन मे पापं नरकार्त्तिप्रदं क्षयम्।
प्रयातु सुकृतस्यास्तु ममानुदिवसं जयः" ॥३७७॥ इति।

अत्र प्रकरणानुरूप्येण सर्वात्म-शब्देन चान्यथा समाधानं च पराहतम्। तथा च तत्रोत्तरं क्षत्रबन्धूपाख्याने—"यन्मयं परमं ब्रह्म तदव्यक्तञ्च यन्मयम्।
यन्मयं व्यक्तमप्येतद्भविष्यामि हि तन्मयः" ॥३७८॥ इति।

तत्रैव मासर्क्षपूजाप्रसङ्गे ततः परत्वं स्फुटमेवोक्तम्—

"यथाच्युतस्त्वं परतः परस्मात्, स ब्रह्मभूतात् परमः परात्मन्।
तथाच्युत त्वं कुरु वाञ्छितं त,-न्ममापदं चापहराप्रमेय" ॥३७९॥ इति।

श्रीविष्णुपुराणे (१।१५।५५) च– "स ब्रह्मपारः परपारभूतः" इति; (मु० २।१।२) 'अक्षरात् परतः परः" इति श्रुतेः ॥ श्रीरुद्रः प्रचेतसः ॥

९३। तदेवमेवाभिप्रायेण (तै० २।१।३) "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यादावन्तरङ्गा-

सर्वसम्वादिनी

(चित्युप० ११।४) "यस्याण्डकोशं शुष्ममाहुः" इत्यादि-तद्धर्मोपदेशात्। स हि प्रलयसमुद्रशायी; तस्य विश्वमण्डकोशः ;—(मनु-सं० १।८—१०)

अनुवाद—

पुरुष से, रहस्य स्वरूप ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हैं, उन श्रीभगवान् वासुदेव की मैं शरणापन्न हूँ। वह मेरा अत्यन्त प्रिय है।" अर्थात् रहः—ब्रह्म, उनसे भी जो श्रेष्ठ हैं, सुतरां त्रिगुण प्रधान से, एवं जीव संज्ञित—जीवात्मा से भी श्रेष्ठ श्रीभगवान् का भजन साक्षात् श्रवणादि के द्वारा जो जन करता है, कर्मार्पणादि के द्वारा गौण रूपसे भजन नहीं करता है, वह व्यक्ति—मेरा अति प्रिय है। इस प्रकार ही अन्वय है।

तथा च श्रीविष्णुधर्म में नरकस्थ जीवकृत द्वादशी व्रत के श्रीविष्णु स्तव में उक्त है,—आकाशादि में, शब्दादि में, श्रोत्रादि इन्द्रियादि में, महदादि तत्त्व में, प्रकृति पुरुष में, ब्रह्म में भी जो सर्वात्मा सर्वनियन्ता वासुदेव अवस्थित हैं। उस सत्य ज्ञान से ही मेरे नरकार्त्ति प्रद समस्त पाप विनष्ट होवे। अतएव सुकृति शील मेरी जय अनुदिन हो।"

यहाँ प्रकरणानुसार सर्वात्मादि शब्द से भिन्नरूप व्याख्या पराहत हुई है। अपि च,—तदुत्तर क्षत्रबन्धु के उपाख्यान में भी उक्त है—यह परब्रह्म यन्मय, अव्यक्तादि यन्मय, व्यक्त चराचरादि भूत जात भी यन्मय हैं, मैं भी तन्मय बनूँगा।" उक्त स्थल की मास-नक्षत्रादि पूजा के प्रसङ्ग में भी ब्रह्म से भी भगवान् स्पष्टतः ही परत्व उक्त है। "हे परात्मन्! पर से पर जो ब्रह्म हैं, उन ब्रह्म से भी आप परम एवं अच्युत हैं, तद्रूप हे अच्युत! आप मेरी कामना पूर्ण करो। हे अप्रमेय! आप निज शक्ति से मेरी समस्त विपत्ति दूर करो।" श्रीविष्णुपुराण में लिखित है—"आप ब्रह्म से भी श्रेष्ठ, परपारभूत—अर्थात् अनात्मभूत प्रपञ्च एवं ब्रह्म के अवधिभूत हैं। यह उनकी निरङ्कुश अचिन्त्य ऐश्वर्य्य का ही परिचायक है।" मुण्डकोपनिषत् में उक्त है,—"अक्षर 'ब्रह्म' से भी परतर" इत्यादि। श्रीरुद्र प्रचेतस् गण को कहे थे ॥९२॥

ब्रह्म से भगवान् को परत्वाभिप्राय से कहते हैं—"स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः" "वह प्रसिद्ध पुरुष

न्तरङ्गैकात्म्यकथनान्ते (तै० २।१।३) "इदं पुच्छं प्रतिष्ठा"; (तै० २।२।३) "पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा"; (तै० २।३।२) "अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा"; (तै० २।४।१) "महः पुच्छं प्रतिष्ठ";(तै० २।५।१) "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति श्रुत्युक्तायाः पञ्चम्या अपि प्रतिष्ठाया उपरि; श्रीगीतोपनिषदो यथा (गी०१४।२७)

सर्वसम्वादिनी

"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।।७६।।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।।८०।।

अनुवाद—

अन्नरस प्राचुर्य्यवान् है", इत्यादि श्रुति में अन्तरङ्ग का भी अन्तरङ्गत्व रूपमें एकात्मता कथन के अनन्तर चरम प्रतिष्ठा ही ब्रह्म निर्दिष्ट हुए हैं। अर्थात् जिससे प्रतिष्ठित होता है, वह ही प्रतिष्ठा है। सुतरां प्रतिष्ठा अर्थ "आधार" में पर्य्यवसित होने से ब्रह्म ही उसका आश्रय हैं। विशदीकरणाभिप्राय से उक्त मूल श्रुति उद्धृत हुई है—"सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेर्वाशिरः, अयं दक्षिणपक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपानः उत्तरपक्षः आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, तेनैव पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरपक्षः, आदेश अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयः पुरुषविधः, तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरपक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः, तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदो उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्तिरीयकोपनिषद् २।१।१)

अर्थात् यह अन्नरसमय कोष ही देहरूप पुरुष है। पुरुष देह में यथावस्थित शिर ही शिर, दक्षिण बाहु ही दक्षिण पक्ष, वाम बाहु ही वाम पक्ष, मध्यम देह भाग ही आत्मा, नाभि के अधोभाग ही पुच्छ एवं आश्रय है। उस अन्नरसमय पुरुष से भिन्न अथच इनके अन्तर्वर्त्ती आत्मस्वरूप प्राणमय कोष है, तद्द्वारा आप पूर्ण हैं। यह प्राणमय कोष भी पुरुष सदृश है। प्राणमय पुरुष भी अन्नमय पुरुष के अनुरूप है, उसका प्राण ही शिर, व्यान दक्षिण पक्ष, अपान उत्तर पक्ष, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छ एवं आश्रय है। आप पूर्वोक्त अन्नमय पुरुष का आत्मा हैं। प्राणमय पुरुष से भिन्न तदन्तर्वर्त्ती उत्तर आत्मस्वरूप मनोमय पुरुष हैं। मनोमय के द्वारा प्राणमय पूर्ण होते हैं। मनोमय भी पुरुषाकार विशिष्ट है, यजु ही इनका शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष, साम उत्तर पक्ष, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरस पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है। आप, प्राणमय का आत्मा हैं। मनोमय से अन्यतर विज्ञानमय आत्मा है। आप मनोमय का आत्मा हैं, मनः इससे पूर्ण है। यह विज्ञानमय भी पुरुषविध है, श्रद्धा इनका शिर है, ऋत दक्षिण पक्ष, सत्य उत्तर पक्ष, योग इनका आत्मा, महः इनकी पुच्छ एवं आश्रय है, आप मनोमय का शारीर आत्मा है, इस विज्ञान से अन्य, इनके अन्तर्वर्त्ती आत्मा आनन्दमय है, इस आनन्दमय भी पुरुष है। पूर्व पूर्व रीति के अनुसार प्रिय ही आनन्द का शिर है, मोद दक्षिण पक्ष, प्रमोद उत्तर पक्ष आनन्दमय आत्मा, ब्रह्म इनकी पुच्छ एवं आधार है। (तै० उ० २।१।१) पुनश्च आश्रयभूत ब्रह्म कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ? इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्लीय ब्रह्म जिज्ञासा से जिज्ञासा के क्रमोत्कर्ष के पर्य्यवसान से आनन्द ब्रह्म में ही जिज्ञासा का शेष उपलब्ध होता है। यथा—"भृगुर्वै वारुणि, वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भो

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति। अत्र ब्रह्म-शब्दसन्निहितप्रतिष्ठाशब्देन सा श्रुतिः स्मर्य्यते। ततश्चैवमेव व्याख्येयं हि-शब्दः (गी० १४।२६)—

"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" ॥३८०॥

इत्यस्य निरन्तरप्राचीनवचनस्य हेतुताविवक्षया। अतो गुणातीत-ब्रह्मणः प्रकृतार्थत्वात् प्राचीनार्थहेतुवचनेऽस्मिन्नुपचारेण-तच्छब्दस्य ब्रह्मशक्तिरूपं हिरण्यगर्भरूपं वा अर्थान्तरमयुक्तम्, किन्त्वेवमेव युक्तं यथा;—ननु तद्भक्त्या कथं निर्गुणब्रह्मधर्मप्राप्तिः; सा तु त्वदेकानुभवेन भवेत्? तत्राह—"ब्रह्मणो हि" इति; हि यस्मात् (तै० २।५।१) "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" परम-

सर्वसम्वादिनी

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥८१॥

इति व्यास-स्मृतेः" इति।

अथ (१०६तम-अनु०) (चतुर्वेदशिखायाम्) "सर्वैश्च वेदैः परमो हि देवो, जिज्ञास्यः" इति प्रकरणान्तरं

अनुवाद—

भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच अन्नं प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वाचमिति, तं होवाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत प्रयान्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा" अर्थात् भृगु पिता वरुण के निकट ब्रह्मतत्त्व अध्ययन कराने का अभिप्राय को व्यक्त करने पर, पिता वरुण, प्रथमतः उनको ब्रह्मतत्त्व ग्रहण के द्वारस्वरूप अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्य इत्यादि के द्वारा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण (वस्तु से भिन्न होकर वस्तु का प्रकाशक) का वर्णन किए थे।

"जिनसे परिदृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है। उत्पत्ति के अनन्तर जिनसे प्राणादि धारण द्वारा वर्द्धित हो रहा है, अवस्थित है। अन्त में जिनमें पुनर्बार प्रविष्ट होता है, उन ब्रह्म को तपस्या के द्वारा सम्यक् जानने की इच्छा करो।" इस प्रकार उपदिष्ट होकर भृगु तपस्या में प्रवृत्त हो गए। कारण—नियत साध्य प्राप्ति के निमित्त साधनान्तर से तपस्या ही श्रेष्ठ साधन है। तपस्या के विना कभी भी किसी को अभीष्ट प्राप्त करते नहीं देखा गया है। (प्रकारान्तर से जिज्ञासु को तपस्या करने के लिए कहा गया है।) भृगु—पिता वरुण के उपदेश से तपस्या के द्वारा तत्त्वाधिगम की सामर्थ्य प्राप्त किए थे, उनको उस प्रकार ही उत्तरोत्तर शिक्षा प्रदान किए थे। "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" यहाँ पर ही ब्रह्म जिज्ञासा की समाप्ति हुई है। उक्त आनन्द अथवा आनन्दमय ब्रह्म ही श्रीभगवान् हैं, जो स्वीय आनन्दानुभव में आनन्दी होते हैं। "रसो वै सः" इस श्रुतिमें जिनकी रसरूपता उद्घोषित हुई है। उन रसस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म ही श्रीभगवान् हैं। यहाँ पर ही ब्रह्म जिज्ञासा की पर्य्याप्ति है। यहाँ पर पूज्यपाद श्रीआचार्य्य शङ्कर, स्वीय भाष्य में लिखे हैं—"अन्नमयादात्मनोपाधि प्रवृत्ता, एवमन्योऽपि तपस्या एव साधनेन अनेनैव क्रमेणानुप्रविश्यानन्दं ब्रह्म वेद स एवं विद्याप्रतिष्ठानात् प्रतितिष्ठत्यानन्दे परमे ब्रह्मणि" अर्थात् अन्नमय से प्रवृत्त होकर क्रमशः तपस्या के द्वारा जब आनन्दमय ब्रह्म को जानने में सक्षम होता है, तब उनकी विद्या की प्रतिष्ठा होती है। इससे आनन्द ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म को सम्पूर्णरूप से जानने में एवं अनुभव करने में सक्षम होता है। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "इस श्रुति में भी उन अद्वय ब्रह्म के आनन्द को जान कर ही विद्या की परिसमाप्ति होती है।" कहा गया है एतज्जन्य ही भगवान् स्वयं कहे हैं—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं" यहाँ ब्रह्म शब्द सन्निहित प्रतिष्ठा शब्द के द्वारा पूर्वोक्त श्रुत्यर्थ का स्मरण होता है। सुतरां वक्ष्यमाण व्याख्या ही सुसङ्गत है। यथा, हि—अर्थ में गीतोक्त अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा

प्रतिष्ठात्वेन श्रुतौ यत् प्रसिद्धम्, तच्च तस्यामेव श्रुतौ आनन्दमयाङ्गत्वेन दर्शितम्; तस्य पुच्छत्वरूपितब्रह्मणः (ब्र०सू० १।१।१२) 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति सूत्रकार-सम्मत-परब्रह्मभाव आनन्दमयाख्यः प्रचुरप्रकाशो रविरितिवत् प्रचुर आनन्दरूपः श्रीभगवानहं प्रतिष्ठा। यद्यपि ब्रह्मणो मम च न भिन्नवस्तुत्वम्, तथापि श्रीभगवद्रूपेणैवोदिते मयि प्रतिष्ठात्वस्य परा काष्ठेत्यर्थः,—स्वरूपशक्तिप्रकाशेनैव स्वरूपप्रकाशस्याप्याधिक्याहर्त्वात्, निर्विशेषब्रह्मप्रकाश-

सर्वसम्वादिनी

सप्ताधिक-शततमाद्वाक्याात् पूर्वत्र, श्रीभगवति सर्वशास्त्रसमन्वय एवं विवेचनीयः; यथा—वेदो द्विविधः 'मन्त्रो' 'ब्राह्मणं' च। मन्त्रोऽपि द्विविधः—भगवन्निष्ठो, देवतान्तरनिष्ठश्च। तत्राद्यस्य साक्षादेव तत्(भगवत्)

अनुवाद—

जो जन मेरी सेवा करता है, वह समस्त गुण को सम्यक् अतिक्रम करके साधर्म्म लाभ करता है। अर्थात् ब्रह्म सदृश अपने को चिद्रूप में अनुभव करता है। अति प्राचीन वचन में,—साधनभक्ति हेतु रूपमें निर्दिष्ट होने से, स्पष्टतः ही गुणातीत ब्रह्म का प्रकृतार्थ—श्रीभगवान् में ही पर्य्यवसित हुआ है। "माञ्च योऽव्यभिचारेण" इस श्लोकोक्त तत् शब्द का ब्रह्म शक्तिरूप अथवा हिरण्यगर्भरूप अर्थ करना अयुक्त है, किन्तु इस प्रकार अर्थ ही सङ्गत है—"अर्थात् आपकी भक्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म धर्म प्राप्ति कैसे होगी ? कारण ब्रह्मधर्म प्राप्ति—ऐकानुभव से होती है। इसके उत्तर में ही परवर्त्ति वाक्य है—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं" 'हि' जिस लिए, "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस श्रुति परम प्रतिष्ठात्व रूपमें जो प्रसिद्ध है, वह उस श्रुति में ही उद्धृत है, उक्त श्रुति में उसका उल्लेख आनन्दमय का अङ्गरूप में हुआ। पुच्छ रूपी ब्रह्म का विशदार्थ "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (ब्र० सू० १।१।१२) सूत्र में सूत्रकार स्वयं प्रतिपादन किए हैं।

गोविन्दभाष्य—"किञ्चोत्तरत्र ब्रह्म जिज्ञासुं प्रति तत् पिता वरुणो विश्वोत्पत्त्यादि हेतुभूतं वस्तु ब्रह्मेत्युपदिश्य पुनः बुद्धचर्थमन्न प्राणमनो विज्ञानानि क्रमेण ब्रह्मेत्युक्त्वान्ते त्वानन्दमयं ब्रह्मेत्युपदश्योपरराम। मदुक्तेयं विद्या भगवन्निष्ठेत्यभिदधौ। अन्नोपसंहारेऽपि, स य एवम्विदस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमन्नमय-मात्मानं उपसंक्रम्येत्यादुक्त्वा एतमानन्दमयमात्मानं उपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्न् तत् सामगायन्नास्ते इत्युक्तमतःपरं ब्रह्मैवानन्दमयः।" अर्थात् अन्नमयादि दुःखमय कोषसमूह के मध्य में आनन्दमय कोष का उल्लेख होने से भी उसकी मुख्यत्व हानि नहीं होती है। कारण वह उक्त समस्त का ही अन्तर्वर्त्ती है। परमोपकारी वेदशास्त्र, अज्ञ जन को समझाने के लिए अरुन्धती दर्शन न्याय से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं अन्तर्वर्त्ती रूप में सूचित करने के निमित्त अन्नमय से आरम्भ कर आनन्दमय पर्य्यन्त का उल्लेख एक स्थान में ही किए हैं।

अतएव आनन्दमय पुरुष में ही मुख्य तात्पर्य्य है। पिता वरुण, ब्रह्म जिज्ञासु पुत्र को विश्वसृष्टि की कारणभूत वस्तु ही ब्रह्म है। इसका उपदेश प्रथम करके आनन्दमय पुरुष में ही ब्रह्मोपदेश की पर्य्याप्ति प्रदर्शन पूर्वक विरत हुए थे। मदुक्त भगवन्निष्ठात्मिका विद्या के द्वारा जो व्यक्ति आनन्दमय पुरुष को जानने में सक्षम होगा, वह मृत्यु के पश्चात् उत्कृष्ट गति लाभ से पूर्णकाम होकर साम मन्त्र में भगवद् यशोगान कर यदृच्छाक्रम से चतुर्द्दश भुवन में भ्रमण एवं श्रीभगवान् के नित्य सान्निध्य प्राप्त करेगा।

अतएव सूत्रकार के अभिमत में भी दृष्ट होता है, आनन्दमयाख्य पुरुष; प्रचुर प्रकाश रवि तुल्य, प्रचुर आनन्दरूप श्रीभगवान् मैं ही प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्म का भी आश्रय हूँ। यदि च—ब्रह्म एवं मुझमें वस्तुतः अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयं'—श्रुत्युक्त अद्वय तत्त्व रूपमें कुछ भी पार्थक्य नहीं है। तथापि आंशिकत्व एवं पूर्णत्व में भेद है। सुतरां श्रीभगवद्रूप में उदित मुझ में ही प्रतिष्ठात्व की पराकाष्ठा है। स्वरूपशक्ति का जहाँ प्रकाश है, वहाँ ही स्वरूपशक्ति प्रकाश के द्वारा ही स्वरूप का प्रकाशाधिक्य की योग्यता को स्वीकार करना अवश्य कर्त्तव्य है। तज्जन्य निर्विशेष ब्रह्म के ऊपर भी श्रीभगवान् का प्रकाश; शास्त्रमें अभिहित है।

स्याप्युपरि श्रीभगवत्प्रकाशश्रवणात् । अत एकस्यापि वस्तुनस्तथा तथा प्रकाशभेदो रजनीखण्डिनो ज्योतिषो मार्त्तण्डमण्डल-तद्गभस्तिभेदवदुत्प्रेक्ष्यः । अतो ब्रह्मप्रकाशस्यापि मदधीनत्वात् कैवल्यकामनया कृतेन मद्भजनेन ब्रह्मणि लीयमानो ब्रह्मधर्ममपि प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र श्रीविष्णुपुराणमपि (वि०पु० ६।७।३५) संप्रवदते—"शुभाश्रयः सचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः इति। व्याख्यातञ्च तत्रापि स्वामिभिः "सर्वगस्यात्मनः परब्रह्मणोऽप्याश्रयः प्रतिष्ठा"; तदुक्तं भगवता (गी० १४।२७) 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इति । अत्र च तैर्व्याख्यातम्—"ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा घनीभूतं ब्रह्मैवाहम् । यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्य्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः" इति । अत्र च्विप्रत्ययस्तु तत्तदुपासक-हृदि तत्प्रकाशस्याभूतत्वं ब्रह्मण उपचर्य्यत इतीत्थमेव । अत्रैव 'प्रतिष्ठा प्रतिमा" इति टीका मत्सरकल्पिता, न हि तत्कृता, असम्बन्धत्वात् । न हि निराकारस्य ब्रह्मणः प्रतिमा सम्भवति,न च तत्प्रकाशस्य प्रतिमा सूर्य्यः,न च (गी० १४।२७)'अमृतस्याव्ययस्य' इत्याद्यनन्तरपादत्रयोक्तानां मोक्षादीनां प्रतिमात्वं घटते ; न वा श्रुतिशैली-विष्णुपुराणयोः संवादितास्ति। तस्मान्न सादरणीया; यदि वादरणीया, तदा तच्छब्देनाप्याश्रय एव वाचनीयः। प्रति लक्षीकृत्य माति परिमितं भवति यत्रेति । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याहुः (भा० १०।८७।१७ —

"दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्" ॥३८॥

सर्वसम्वादिनी

परता; द्वितीयस्तु कर्मोपासनयोरङ्गमिति तद्गत्यैव गतिं भजति । अथ ब्राह्मणस्य कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डात्मकास्त्रयो भेदाः। तत्र कर्मणो जड़त्वेनास्वातन्त्र्यात् स एव फलदातेति तत्काण्डस्य तत्परत्वमेव ।

अनुवाद—

इस लिए एक वस्तु के भिन्न भिन्न प्रकाश भेद होते हैं। जिस प्रकार रजनी विखण्डी ज्योतीर्मार्त्तण्ड मण्डल एवं उनके किरणों का भेद है, तद्रूप यहाँ भी जानना होगा। अतएव ब्रह्म का प्रकाश भी मेरा अधीन है। केवल कामना से भजनकारी भक्त मद्भजन के द्वारा ब्रह्म में नीयमान होकर ब्रह्मधर्म को प्राप्त करता है।

एतत् सम्बन्ध में विष्णुपुराण का कथन,—शुभाश्रय सचित्त सर्वत्र आत्मा का आश्रय, स्वामिपाद की व्याख्या—"सर्वत्र परब्रह्म का भी आश्रय अर्थात् प्रतिष्ठा है।" श्रीभगवान् भी उस प्रकार ही कहे हैं। मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। स्वामिपाद की व्याख्या—ब्रह्म की प्रतिष्ठा, अर्थात् घनीभूत ब्रह्म ही मैं हूँ। प्रकाश स्वरूप सूर्य्य का घनीभूत प्रकाशवद्रूप सूर्य्यमण्डल, तद्रूप जानना होगा। यहाँ घनीभूतपद में अभूत तद् भावार्थ में च्वि प्रत्यय हुआ है। उक्त अभूत तद् भावार्थ ब्रह्म में उपचरित हुआ है। अर्थात् जिस समय उपासक के हृदय में केवल ब्रह्म की स्फूर्त्ति थी, उस समय घनीभूत सच्चिदानन्द मूर्त्ति भगवत् प्रकाश का 'अमूतत्व का' असद्भाव नहीं होता है। सुतरां "प्रतिष्ठा—प्रतिमा इति" मत्सरकल्पित पाठ है। यह स्वामिकृत पाठ नहीं है। उससे असम्बन्ध दोष होता है। अथवा जिसको निराकार कहते हो, उस निराकार ब्रह्म की प्रतिमा नहीं हो सकती है। उस प्रकाश की प्रतिमा—सूर्य्य नहीं हो सकता है। अमृत अव्यय इत्यादि पादत्रयोक्त मोक्षादि का भी प्रतिमात्व नहीं हो सकता है, ऐसा होने पर विष्णुपुराण अथवा श्रुति में उसकाउल्लेख नहीं होता। सुतरां प्रतिमा शब्द का आश्रय अर्थ ही समीचीन है। 'प्रतिमा' अर्थ आदृत नहीं हो सकता है। यदि आदृत हो, तब प्रतिमा शब्द का आश्रयार्थ ही होगा। यथा—प्रति लक्ष्मी

असुभृतो जीवा दृतय इव श्वसदाभासा अपि यदि ते तवानुविधा भक्ता भवन्ति, तदा श्वसन्ति प्राणन्ति; तेषु त्वद्भक्तानामेव जीवनं जीवनं मन्यामह इति भावः। कथम्? यस्य तव अनुग्रहतः समष्टिव्यष्टिरूपमण्डं देहं महदहमादयोऽसृजन्, अतः स्वयमेव तथाविधात् त्वत्तः पराङ्मुखानामन्येषां दृतितुल्यत्वं युक्तमेवेति भावः। अनुग्रहमेव दर्शयन्ति—अत्र महदहमादिषु अन्वयः प्रविष्टस्त्वमिति। कथं मत्प्रवेशमात्रेण तेषां तथा सामर्थ्यं स्यात्? तत्राहुः—यद् यस्मात् सत आनन्दमयाख्यब्रह्मणोऽवयवस्य प्रियादेरसतस्तदन्यस्मादन्नमयादेश्च यत् परं पुच्छभूतं सर्वप्रतिष्ठा ब्रह्म, तत् खलु त्वम्; तत्रापि एषु प्रतिष्ठावाक्येषु अवशेषं वाक्यशेषत्वेन स्थितम् "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्यादावन्यत्र प्रसिद्धम् (भा० २।९।४)—

"आत्मतत्त्वविशुद्धयर्थं यदाह भगवानृतम्। ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः" ॥३८१

इत्यत्र ऋतत्वेनापि प्रसिद्धं श्रीभगवद्रूपमेव तत्त्वम्, अतोऽन्नमयादिषु पुरुषविधः पुरुषाकारो यश्चरमः प्रिय-मोद-प्रमोदानन्द-ब्रह्मणामवयवी आनन्दमयः, स त्वमिति। तस्मान्मूलपरमानन्दरूपत्वात्तवैव प्रवेशेन तेषां तथा सामर्थ्यं युक्तमेवेति भावः; (तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात्

सर्वसम्वादिनी

उपास्तिरत्र देवतान्तरनिष्ठैव गृह्यते,—भगवन्निष्ठायास्तु ज्ञानान्तर्भावात्। ततश्चोपासना-काण्डस्यान्यासां देवतानां तदीयत्वेन तत्परत्वम्। ज्ञानकाण्डं 'ब्रह्म'-'भगवत्'-प्रतिपादकत्वेन द्विविधम्;—उभयोरपि

अनुवाद—

कृत्य माति, अर्थात् अनन्त अपरिसीम होकर भी जहाँ मित होते हैं। वह ही प्रतिष्ठा है।

एतदभिप्राय से ही श्रीमद्भागवत में श्रुतिगण कहती हैं। "जो सब आपके अनुवर्त्ती भक्त हैं। उन सब के जीवन ही धन्य है, तदितर लोकों का प्राणधारण, भस्त्रा के समान वृथा श्वास-प्रश्वास ग्रहणकारी है। जिनके अनुग्रह से महदहङ्कारादि समूह समष्टि एवं व्यष्टिरूप देह उत्पन्न करते हैं, जिसमें अन्नमय प्रभृति पञ्च कोष सचेतनवत् होते हैं। अर्थात् उसके मध्य में जो पुरुषाकार में अनुप्रविष्ट होकर कार्य्य कराते रहते हैं। इस अन्नमयादि का चरम पुच्छरूप में उक्त ब्रह्म भी, आप ही हैं, एवं सदसदातिरिक्त अबाधित सत्य एवं साक्षिस्वरूप भी आप ही हैं।" अर्थात् प्राणधारी जीव—भस्त्रा के समान श्वास-प्रश्वास ग्रहण करने पर भी उसे प्राणधारी नहीं कहा जा सकता है। तन्मध्य में जो जन आपका भजन करता है, उसे प्राणधारी जीव कहा जाता है। कारण—उसका जीवन ही जीवन पदवाच्य है। कारण—आपके अनुग्रह से समष्टि व्यष्टिरूप देह अहङ्कारादि की सृष्टि है। अतएव स्वतः ही जिनके प्रति कृतज्ञ होना उचित् है, किन्तु आपके प्रति पराङ्मुख होकर प्राण धारण से वह जीवन दृति तुल्य ही है। पूर्वोक्त अनुग्रह के सम्बन्ध में कहते हैं,—महदादि में जो अनुप्रविष्ट हैं। "तत् सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्" (तैत्ति० २।६।२) इत्यादि श्रुति उसका प्रकृष्ट प्रमाण हैं। यदि आशङ्का हो कि—प्रवेश मात्र से सामर्थ्य प्राप्त करना कैसे सम्भव है? उत्तर में वक्तव्य,—स्वतःसिद्ध आनन्दमयाख्य ब्रह्म अवयव प्रियादि असत् से इतर अन्नमयादि का जो श्रेष्ठ, पुच्छ भूत है, उस सब की प्रतिष्ठास्वरूप जो ब्रह्म हैं। वह भी आप ही हो, प्रतिष्ठा वाक्य का अवशेषरूप में स्थित "ब्रह्म की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ।" वाक्य शास्त्रान्तर में प्रसिद्ध है।

"आत्मतत्त्व (जीव का तत्त्वज्ञान) विशुद्धि के निमित्त भगवान् ब्रह्म को जो कुछ कहे थे, एवं अवशेष में स्वीय चित्घनमूर्त्ति का प्रदर्शन भी किए थे।" यहाँ ऋतत्व के द्वारा भी प्रसिद्ध श्रीभगवद्रूप भी आप हैं। अतएव अन्नमयादि श्रुति का वाक्य में पुरुषाकार जो चरम वस्तु—प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द ब्रह्म का अवयवी—आनन्दमय भी आप ही हैं। सुतरां मूल परमानन्दरूपता वशतः आपका प्रवेश से ही महदादि

कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति श्रुतेः। प्रकरणेऽस्मिन्नेतदुक्तं भवति— यद्यप्येकस्वरूपेऽपि वस्तुनि स्वगतनानाविशेषो विद्यते, तथापि तादृशशक्तियुक्ताया एव दृष्टेस्तत्तत्सर्वविशेषग्रहणे निमित्तता दृश्यते, न त्वन्यस्याः। यथा मांसमयी दृष्टिः सूर्य्यमण्डलं प्रकाशमात्रत्वेन गृह्णाति, दिव्या तु प्रकाशमात्रस्वरूपत्वेऽपि तदन्तर्गतदिव्यसभादिकं गृह्णाति, एवमत्र भक्तेरेव सम्यक्त्वेन तयैव सम्यक् तत्त्वं दृश्यते; तच्च भगवानेवेति तस्यैव सम्यग्-रूपत्वम्। ज्ञानस्य तु असम्यक्त्वेन दर्शितत्वात् तेनासम्यगेव तद्दृश्यते; तच्च ब्रह्मेति, तस्य असम्यग्रूपत्वम्। तत्र च सामान्यत्वेनैव ग्रहणे एकाकारस्य ज्ञानस्य तदन्तरीणावान्तरभेद-पर्य्यालोचनेष्वसामर्थ्याद्बहिरेवावस्थितेन तेन भागवत-परमहंसवृन्दानुभवसिद्धनानाप्रकाश-विचित्रेऽपि स्वप्रकाशलक्षणपरतत्त्वे प्रकाशसामान्यमात्रं यद्गृह्यते, तत्तस्य प्रभारूपत्वेनैवोत्-प्रेक्ष्यते। ततश्चाघनत्वमंशत्वं विभूतित्वञ्च व्यपदिश्यते तस्य। तस्मादखण्डतत्त्वरूपो भगवान् सामान्याकारस्फूर्त्तिलक्षणत्वेन स्वप्रभाकारस्य ब्रह्मणोऽप्याश्रय इति युक्तमेव। अतएव

सर्वसम्वादिनी

चिदेकरसत्वात्। ज्ञान-शब्देनात्र ज्ञानं भक्तिश्चोच्यते। ज्ञाने ज्ञानशब्दस्य प्राधान्यतो वृत्तिर्धार्त्तराष्ट्रेषु 'कौरव'-शब्दवत्। तत्र द्वितीयं साक्षादेव भगवत्परम्; प्रथमं तदीय-सामान्याकारेण स्वरूपनिरूपकत्वस्तत्परम्।

अनुवाद—

की सामर्थ्य प्राप्ति हुई थी, यह कथन युक्तिसङ्गत है। "यह आकाश यदि आनन्द नहीं होता, तब किसकी प्राणादि चेष्टा रहती, कौन प्राणधारण करता।" इत्यादि श्रुति वाक्य से आनन्दमय की अभिव्यक्ति दृष्ट होती है। इस प्रकरण में वह उपलब्ध होता है। यद्यपि स्वरूपभूत एक वस्तु में स्वगत नानाविध विशेष विद्यमान है। किन्तु साधारण दृष्टि से उपलब्ध नहीं होता है, तादृश शक्तिशालिनी दृष्टि ही उसका दर्शन करने में सक्षम है। जैसे मांसमयी दृष्टि सूर्य्यमण्डल की प्रकाशमयता को देखती है। दिव्य दृष्टि, प्रकाश-मयता के सहित तदभ्यन्तरस्थ सभादि का दर्शन में सक्षम होती है।

भक्ति की सम्यक् सामर्थ्यता भी तद्रूप भक्ति के द्वारा ही तत्त्व की सम्यक् स्फूर्त्ति होती है। दर्शन भी होता है। एक अद्वय तत्त्वान्तर्गत ब्रह्म, परमात्मादि स्वगत नानावस्था में अवस्थित श्रीभगवान् ही अन्न-मयादि रूपमें उपदिष्ट, अद्वय तत्त्व का अथवा ब्रह्म का सम्यक् रूप हैं। भक्ति के द्वारा जब उनका उदय साधक के हृदय में होता है, तब किसी अंश का अभाव अथवा अदर्शन नहीं रहता है, सर्वांश के सहित ही उक्त तत्त्व की स्फूर्त्ति होती है। ज्ञान का बल— असम्यक् बल है। सुतरां तद्दृष्ट तत्त्व भी असम्यक् है। अतएव श्रीभगवान् का असम्यक्रूपत्व ही ब्रह्मत्व है। अर्थात् ज्ञानदृष्टि को असम्यक् निर्देश करने से तद्दृष्ट वस्तु भी असम्यक् ही है। सुतरां अनन्त अचिन्त्य श्रीभगवान् की शक्ति का परिचय जहाँ पर नहीं मिलता है। तदवस्था असम्यक् होने से ही ब्रह्म श्रीभगवान् का असम्यक् रूप हैं। सामान्याकार से अद्वय तत्त्व उपलब्धि का कारणभूत ज्ञान की शक्ति उस प्रकार नहीं है। जिससे तत्त्वान्तर्गत अवान्तर भेद की पर्य्यालोचना हो सकती है। कारण 'ज्ञान' बाहर ही रहता है, भीतर प्रवेश नहीं कर सकता है। भागवत परमहंसवृन्द के अनुभवसिद्ध तत्त्व में नानाविध प्रकाश विचित्रता हैं। किन्तु परमहंसगण का तत्त्व उससे पृथक् है, इसमें केवल प्रकाश सामान्य का ही ग्रहण होता है। प्रभामात्र का ग्रहण होने से ही भागवत परमहंसगण के द्वारा उसकी उत्प्रेक्षा ज्योति रूपमें हुई है।

अतएव अघनत्व, अंशत्व एवं विभूतित्व रूपमें ही ब्रह्म का व्यपदेश हुआ है। सुतरां अखण्ड तत्त्व स्वरूप श्रीभगवान्, सामान्याकार स्फूर्त्ति लक्षण ब्रह्म का भी आश्रय हैं, यह युक्ति सङ्गत है। एतज्जन्य

(सुबाल० ७।१) "यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्य आत्मा शरीरम्, यस्याव्यक्तं शरीरम्, यस्याक्षरं शरीरम्, एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्येतच्छ्रुत्यन्तरं चाक्षर-शब्दोक्तस्य ब्रह्मणोऽप्यात्मत्वेन नारायणं बोधयति। उक्तात्मादि-शब्दपारिशेष्य-प्रमाणेन (भा० ३।१५।४३) "चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि" इति प्रयोगदृष्टया चात्र ह्यक्षर-शब्देन ब्रह्मैव वाच्यम्। तथा श्रीभगवता सांख्यकथने (भा० ११।२४।२७) "कालो मायामये जीवे" इत्यादौ महाप्रलये सर्वावशिष्टत्वेन ब्रह्मोपदिश्य, तदापि तस्य द्रष्टृत्वं स्वस्मिन्नुक्तम् (भा० ११।२४।२६)—"एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।

प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया" ॥३८३॥

इत्यत्र परावरदृशेत्यनेन सोऽयञ्चात्र विवेकः—सांख्यं हि ज्ञानम्, तच्छास्त्रं खलु स्वरूपभूत-तद्विशेषमननुसन्धाय यत्तत् स्वरूपमात्रं तदानीमवशिष्टं वदति, तदेव च ब्रह्माख्यम् तदेव च प्रपञ्चावच्छिन्नचरमप्रदेशे प्रपञ्चलयाद्वैकुण्ठ इव स्वरूपभूतविशेषाप्रकाशादवशिष्यमाणत्वेन वक्तुं युज्यते। तच्च स्वविशेष्यमात्रं स्वरूपशक्तिविशिष्टेन वैकुण्ठस्थेन श्रीभगवता पृथगिव तत्रानुभूयत इति। तदेवं निर्विशेषत्वेन स्पर्श-रूपरहितस्यापि तस्य भगवत्प्रभारूपत्वमुत्प्रेक्ष्य तदभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वं व्यपदिष्टम्। ततः स्पर्शरूपादिमाधुरीधारितया सविशेषस्य साक्षाद्-भगवदङ्गज्योतिषः सुतरामेव तत् सिध्यति। यथोक्तं श्रीहरिवंशे (विष्णु-प०११४।९-१२) महाकाल-

सर्वसम्वादिनी

अथ वेदनिर्विशेषाणि तदङ्गान्यपि श्रीभगवदुपासन-साधकत्वात्तत्र समन्वयन्ते।—यथा श्रीविष्णुसूक्तादीनां करस्वरादेर्ज्ञानाय 'शिक्षा'; आनुपूर्व्याः 'कल्पः'; साधुत्वस्य 'व्याकरणम्'; पदार्थस्य 'निरुक्तम्'; श्रीविष्णोर्महोत्सवादि-समयस्य 'ज्योतिः'; मन्त्राणां 'छन्दः'।

अनुवाद—

उपनिषद् में उक्त है—"जिनका पृथिवी शरीर, आत्मा शरीर, निर्म्मल, सर्व भूतों के अन्तरात्मा, एक दिव्य नारायण।" इस श्रुति में उक्त है,—सुस्पष्ट अक्षर शब्दोक्त ब्रह्म का भी आत्मा नारायण हैं।

उक्त आत्मादि शब्द के परिशेष से लब्ध 'नारायण' शब्द प्रमाण से पूर्वोक्त सनकादि की अवस्था का विवरण सुस्पष्ट है। अर्थात् उक्त "अक्षर सेविगणों के चित्त भी संक्षुभित हुए थे" यहाँ अक्षर शब्द का वाच्यार्थ निर्द्धारित हुआ है।

सांख्य योग कथन प्रसङ्ग में श्रीभगवान् स्वयं ही उद्धव को कहे थे—

"कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे। आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापारलक्षणः॥

(भा० ११।२४।२७)

इस श्लोक में उक्त है—महा प्रलय में सब के अवशेष भूत निरूपाधि ब्रह्म रहते हैं। उस समय भी द्रष्टा आप स्वयं हैं। परवर्त्ती श्लोक में संशय ग्रन्थि भेदन सांख्य विधि का कथन है,—जिससे प्रतिलोम-विलोम द्वारा परावर द्रष्टृत्वरूप ईश्वर का ज्ञान होता है। कारण, सांख्यज्ञान अथवा तत्शास्त्र, स्वरूपभूत विशेष का अनुसन्धान करता है। जो प्रलय के बाद अवशिष्ट रहता है, वह ही ब्रह्माख्य तत्त्व है, जो प्रपञ्चावच्छिन्न चरम प्रदेश में अवस्थित है। सुतरां उनकी ही अविकृत अवशेष अथवा सीमा कहते हैं। आपाततः विशेष्य मात्र स्वरूप ब्रह्म, स्वरूपशक्ति विशिष्ट वैकुण्ठस्थ श्रीभगवान् के सहित पृथक्वत् अनुभूत होते हैं। किन्तु वस्तुतः अपृथक् हैं। कारण—निर्विशेषत्व हेतु स्पर्शादि रूपादि रहित ब्रह्म, श्रीभगवान्

पुराख्याने श्रीमदर्जुनं प्रति स्वयं भगवता—

"ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महद् यद् दृष्टवानसि । अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम् ॥३८४॥
प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी । तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥३८५॥
सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगिनाञ्च तपस्विनाम् । तत् परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् ॥३८६॥
ममैव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत" ॥३८७॥ इति ।

प्रकृतिरिति तत्प्रभात्वेन स्वरूपशक्तित्वमपि तस्य निर्दिष्टम् । एवं पूर्वोदाहृतकौस्तुभविषयक-विष्णुपुराणवाक्यमप्येतदुपोद्वलकत्वेन द्रष्टव्यम् । तस्माद्दृतय इवेत्यपि साध्वेव व्याख्यातम्॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

९४ । ततश्च यस्मिन् परमवृहति सामान्याकारसत्तायास्तदङ्गज्योतिषोऽपि वृहत्त्वेन ब्रह्मत्वम्, तस्मिन्नेव मुख्या तच्छब्दप्रवृत्तिः । तथा च ब्राह्मेच—

अनन्तो भगवान् ब्रह्म आनन्देत्यादिभिः पदैः । प्रोच्यते विष्णुरेवैकः परेषामुपचारतः" ॥३८८॥ इति ।

क्वचिच्चानन्तगुणयुक्तत्वेनैव भगवान् ब्रह्मेत्युच्यते ; यथा पाद्मे—

सर्वसम्वादिनी

अथ वेदानुगान्यपराण्यपि शास्त्राणि वक्ष्यमाणहेतोः समन्वयन्ते ।– तत्र 'पूर्वोत्तरमीमांसे',– कर्म-ज्ञान-काण्डयोस्तात्पर्य्यावधृतेः ; 'गोतम'-'कणाद'-'कपिल'-न्यायाः- ईश्वरास्तित्व-चिदचिद्वस्त्वादीनामूहनात्;

अनुवाद—

की प्रभा रूपमें उत्प्रेक्षित होने से ब्रह्म—भगवदभिन्न ही हैं । हरिवंश के महाकाल पुराख्यान में श्रीमदर्ज्जुन को श्रीभगवान् कहे हैं—"ब्रह्मतेजोमयदिव्य, जिसको महद्रूप में देख रहे हो, हे भरतश्रेष्ठ ! वे सब मेरे तेज हैं । अतएव सनातन मैं ही उक्त रूप हूँ । एवं अव्यक्तरूपा नित्या प्रकृति भी मेरी शक्ति है । श्रेष्ठ योगविद्गण उसमें प्रविष्ट होकर मुक्त होते हैं । हे पार्थ ! वह ही सांख्यतत्त्वानुशीलनपरायणोपयोगी एवं तपस्विगण की गति स्वरूप है । प्रकृति को अवलम्बन करके ही परब्रह्म जगत् विभाग करते हैं । उक्त परब्रह्म को मेरा 'घन तेज' जानना ।" यहाँ प्रकृति को प्रभा रूप में निर्देश करने से उसकी स्वरूपभूतता निर्दिष्ट हुई है । एवं पूर्वोक्त विष्णुपुराणोक्त कौस्तुभ मणि विषयक वाक्य को उसका पोषक ही जानना होगा । अतएव "दृतय" इत्यादि श्लोक में भगवत् पराङ्मुख व्यक्ति की निन्दा दृति रूपमें की गई है । वह अतीव समीचीन है । श्रुतिगण श्रीभगवान् को बोली थीं ॥९३॥

पूर्व प्रकार से निष्कर्ष यह हुआ कि—ब्रह्म शब्द की मुख्यावृत्ति श्रीभगवान् की अङ्गज्योति में है । अर्थात् जहाँ देशतः, कालतः, शक्तितः परमवृहत् गुणसमूह अवस्थित हैं । उन सर्वप्रकार परमवृहत्तमत्व की सामान्याकार सत्तामात्र द्योतक, अङ्गज्योति को भी वृहत्व हेतु ब्रह्म कहते हैं । उक्त वृहत्व धर्म के द्वारा जिनको ब्रह्म कहा जाता है । वह निर्विशेष नहीं है । कारण जब "वृहत्" कहते हैं । तब ही उनमें धर्म का आपतन स्वतः ही होता है । "महतोमहीयान्" श्रुति भी उनका वृहत्व का द्योतक है । पुनश्च जब "अणोरणीयान्" श्रुति पठित होगी, तब विरुद्ध अणुत्व उनकी अचिन्त्यशक्ति व्यतीत सम्भव नहीं है । बाध्य होकर ही शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा । सुतरां ब्रह्मत्व की मुख्य प्रवृत्ति श्रीभगवान् में ही मानना होगा ।

लौकिक व्यवहार में किसी मनुष्य को बड़ा आदमी कहा जाता है । साधारण मनुष्य से वृहदाकार को देख कर नहीं अपितु धनादि सम्पत्तिशालीत्व को देख कर ही 'बड़ा' आख्या दी जाती है । तद्रुप ब्रह्मपक्ष में भी जानना होगा ।

ब्राह्मपुराण में उक्त है—"आनन्द इत्यादि पद के द्वारा अभिहित अनन्त भगवान् ही ब्रह्म हैं । अनन्त

"पृथग्वक्तुं गुणास्तस्य न शक्यन्तेऽमितत्वतः। यतोऽतो ब्रह्मशब्देन सर्वेषां ग्रहणं भवेत् ॥३८६॥
एतस्माद्‌ब्रह्मशब्दोऽसौ विष्णोरेव विशेषणम्। अमितो हि गुणो यस्मान्नान्येषां तमृते विभुम्" ॥३६०॥इति।

अत्र निर्गलितोऽयं महाप्रकरणार्थः,—यदद्वयं ज्ञानं तदेव तत्त्वमिति तत्त्वविदो वदन्ति। तच्च वैशिष्टंच विनैवोपलम्भमानं ब्रह्मेति शब्द्यते, वैशिष्टेचन सह तु श्रीभगवानिति। स च भगवान् पूर्वोदितलक्षण-श्रीमूर्त्त्यात्मक एव, न तु अमूर्त्तः। अथ (वि०पु० ६।७।४७) "भूप! मूर्त्तममूर्त्तञ्च परञ्चापरमेव च" इति श्रीविष्णुपुराणपद्ये तस्य चतुर्विधत्वमङ्गीकुर्वद्भिर्यद्यमूर्त्तत्वमपि पृथगङ्गीकर्त्तव्यम्, तदा ब्रह्मत्ववत् तदुपासकदृष्टियोग्यतानुरूपमेवास्तु। तथाहि—यस्य समीचीना भक्तिरस्ति, तस्य परमूर्त्त्या श्यामसुन्दरचतुर्भुजादिरूपया प्रादुर्भवति; यस्यार्वाचीनोपासनारूपा, तस्यापरमूर्त्त्या पातालपादादिकल्पनामय्येव; यस्य च रूक्षं ज्ञानम्, तस्य परेण ब्रह्मलक्षणामूर्त्तत्वेन; यस्य ज्ञानप्रचुरा भक्तिस्तस्य त्वपरेणेश्वरलक्षणमूर्त्तत्वेनेति। अत्राऽपरत्वं परमूर्त्त्याविर्भावानन्तरसोपानत्वेन न ब्रह्मवदतीव मूर्त्तत्वानपेक्ष्यमित्येवम्, न त्वश्रेष्ठत्वविवक्षयेति ज्ञेयम्; परमूर्त्तापेक्षयापरत्वं वा। तत्रैव (वि०पु० ६।७।७०)—"तद्विश्वरूपरूपं वै रूपमन्यद्धरेर्महत्" इति विश्वाधिष्ठानत्वेन नित्यत्व-विभुत्वे (वि०पु० ६।७।७७) "मूर्त्तं भगवतो

सर्वसम्वादिनी

'पतञ्जलि'-न्यायस्तु—ईश्वरोपासनोद्देशात्। 'स्मृत्यादीन्यपराणि' तु काण्डत्रयमनुगच्छन्तीति पूर्वयुक्तेरेव; 'काव्यालङ्कार'-'काम'-'तन्त्र'-'गान्धर्व'-'कला'स्तु—तस्य तत्तच्चरित-माधुर्य्यानुभव-वैदुष्य-सिद्धेः; 'नीतिः'

अनुवाद—

आनन्द पदों के उपचार से एक श्रीविष्णु ही (जो सर्वत्र अनुप्रविष्ट हैं, व्यापक हैं) यहाँ अभिहित होते हैं।" अर्थात् अनन्त, आनन्दादि गुणयुक्तता हेतु ब्रह्म नाम से अभिहित होते हैं। पद्मपुराण में लिखित है—"अपरिमित गुणशालित्व निबन्धन गुणसमूह पृथक् भाव से वर्णित होते हैं, एवं ब्रह्म शब्द का उच्चारण से ही अनन्त गुणसमूह का बोध होता है। तज्जन्य 'ब्रह्म' शब्द विष्णु का ही विशेषण है। कारण विभु 'व्यापक' विष्णु व्यतीत अमित गुणों की सम्भावना नहीं है। अतएव यहाँ इस महा प्रकरण की (अर्थात् भगवत्तत्त्व की) निर्गलित यथार्थ्यता इस प्रकार है—जो अद्वय ज्ञान है, वह ही तत्त्व है, तत्त्वविद्‌गण कहते हैं। वैशिष्ट्य व्यतीत उपलभ्यमान अवस्था का नाम ही ब्रह्म है, एवं वैशिष्ट्य के सहित ही भगवान् हैं। वह भगवान् पूर्वोक्त लक्षण विशिष्ट हैं—श्रीमूर्त्यात्मक हैं, किन्तु प्राकृत मनुष्यादिवत् केवल मूर्त्त नहीं हैं। हे भूप! "वह ब्रह्म मूर्त्त अमूर्त्त, पर एवं अपर रूप चतुर्विध।" उक्त ब्रह्म मूर्त्ति के चतुर्विधत्व स्वीकारकारिगण यदि अमूर्त्त को भी पृथक् अङ्गीकार करते हैं। तब ब्रह्मवत् वह भी उपासक की योग्यता के अनुसार ही होगा।

अपि च—जिसकी समीचीना भक्ति है, उसके निकट श्यामसुन्दर कभी चतुर्भुज कभी द्विभुज परामूर्त्ति में प्रादुर्भूत होते हैं। जिसकी स्थूल उपासना है, उसके सम्बन्धमें अपर मूर्त्ति,—पातालपादादि कल्पनामयी विराट मूर्त्ति है। केवल रूक्ष ज्ञानमार्ग में उपासनाकारियों के सम्बन्ध में, अर्थात् अमूर्त्त लक्षण ब्रह्माकार में, ज्ञान प्रचुरा भक्ति जहाँ है, उनके सम्बन्ध में अपर रूप में अर्थात् जगत् स्रष्टृत्व लक्षण ईश्वर रूपमें आविर्भूत होते हैं। ईश्वराविर्भाव का अपरत्व—ब्रह्मवत् मूर्त्तत्वानपेक्ष्य नहीं है, एवं पर शब्द भी श्रेष्ठत्व विवक्षा से गृहीत नहीं हुआ है। अथवा परमूर्त्ति की अपेक्षा अपर है, अर्थात् पृथक् अर्थ में ही अपर शब्द का प्रयोग हुआ है। विष्णुपुराण में उसके बाद ही—'विश्वरूप" रूपमें श्रीहरि का एक महत् रूप है, उक्त है। अतएव उक्त रूप में भी समस्त विश्व की अधिष्ठानता है, वह नित्य एवं विभु है। कारण उसके

रूपं सर्वापाश्रयनिस्पृहम्" इति निरुपाधित्वम्; (वि०पु० ६।७।२२) "चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तम्" इति परतत्त्व-लक्षणत्वम्; (वि०पु० ६।७।७५) "त्रिभावभावनातीतः" इति तत्र प्रसिद्धकर्ममयज्ञानकर्मसमुच्चयमय-केवलज्ञानमयभावनात्रयातीतत्वेन परतत्त्वलक्षणत्वेऽपि भक्त्यैकाविर्भावितया सम्यक् प्रकाशत्वं मूर्त्तस्यैव व्यञ्जितम् । अतएव (वि०पु० ६।७।७५)"शुभाश्रयः सचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः" इत्युक्तम् । ततश्च तस्या श्रीमूर्त्तेरपि साकाशात् तदन्ते प्रत्याहारोक्तिः केवलाभेदोपासकं प्रति व्यवस्थापिता भवतीत्यप्यनुसन्धेयम् । अत्र (वि०पु० ६।७ ७०) "तद्विश्वरूपरूपम्" इत्येतत् पद्यं मूर्त्तपरमेवेति ज्ञेयम् । (वि०पु० ६।७।७०)—

"समस्तशक्तिरूपाणि यत् करोति नरेश्वर । देवतिर्य्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया" ।।३६१।।

इत्यनन्तरवाक्यबलात् । यतः प्रथमस्य तृतीये (भा० १।३।२)"यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः" इत्याद्युक्तलक्षणस्य मूर्त्तस्यैव तत्तदवतारित्वं दर्शितम्; (भा० १।३।५) "एतन्नाना-वताराणां निधानं वीजमव्ययम्" इति तद्विश्वरूपवैरूप्यमिति पठद्भिः श्रीरामानुजचरणैरपि मूर्त्तपरत्वेनैव व्याख्यातम्—"विश्वरूपाद्वैरूप्यं वैलक्षण्यं यत्र तद्विश्वविलक्षणं मूर्त्तं स्वरूपम्" इति । तदेवं तस्य वस्तुतः श्रीमूर्त्त्यात्मकत्व एव सिद्धे यत् सर्वतः पाणिपादादिलक्षणा मूर्त्तिः श्रूयते, सापि पूर्वोक्तलक्षणायाः श्रीमूर्त्तेर्न पृथगिति विभुत्वप्रकरणान्ते व्यञ्जितमेव । यत्तु—

सर्वसम्वादिनी

'शिल्प'ञ्च—तत्सेवाचातुरी-सिद्धेः; 'आयुर्वेद'-'धनुर्विद्ये'—तदुपासन-प्रतिबन्ध-निराकरणत इति । इत्थ-मभिप्रेत्यैवोक्तं श्रीमत्प्रह्लादेन,—(भा० ७।६।२६)

अनुवाद—

परवर्त्ती पद्य में मूर्त्तिमत् श्रीभगवान् रूप,—सर्वविधहेयगुणातीत है। स्वामिपाद पूर्ववर्त्ती श्लोक में लिखते हैं—"भगवन्मूर्त्तिधारणमेव दृढ़ीकरोति अन्येचेति द्वाभ्यां"। सर्वापाश्रय—निस्पृह, शब्द का प्रतिवाक्य में कहे हैं—"आश्रयणीयेषु अर्थेषु निस्पृहं परमानन्दरूपत्वात् ।" सुतरां उपाधिशून्य ही कहा गया है। ब्रह्मभूत—उनकी चिन्ता करें। उसके बाद 'कर्त्तृ लक्षणता' उक्त है। पूर्व पद्य में 'त्रिभाव भावनातीत' अर्थात्—"शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वत्रस्य तथात्मनः त्रिभावभावनातीतः ।"

इस श्लोक की टीका में स्वामिपाद लिखते हैं—सर्वगस्य आत्मनः परब्रह्मणोऽप्याश्रय प्रतिष्ठा, तदुक्तं भगवता—"ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।" उक्त सर्वत्र भगवान् की धारणा १। प्रसिद्ध कर्ममय, २। ज्ञानकर्म समुच्चयमय, ३। केवल ज्ञानमय" त्रिविध भावनातीत है। केवल भक्ति में आविर्भूत होकर प्रकाशित होते हैं। यह केवल मूर्त्तिमत् श्रीभगवान् के अविर्भाव के सम्बन्ध में ही व्यञ्जित है। अतएव कहा गया है—"शुभाश्रय स्वचित्त सर्वत्र परब्रह्म का भी आश्रय श्रीभगवान् हैं ।" श्रीमूर्त्ति से केवल अभेद उपासक का ही प्रत्याकार व्यवस्थापित हुआ है। यहाँ "पूर्वोक्त विश्वरूप रूपादि" पद्य श्रीभगवत् मूर्त्ति पर ही है। कारण उसके द्वितीय चरण में—समस्त रूपाणि, देवतिर्य्यङ्मनुष्यादि समस्त ही जिनके शक्ति रूप है, एवं सब जो स्वीय लीला के द्वारा सचेष्ट किये हैं। अर्थात् स्वीया जगल्लीला शक्ति के द्वारा अनायास चेष्टादि विशिष्ट किए हैं। 'गर्भोदकशायी' इत्यादि प्रथम स्कन्धोक्त के अनुसार मूर्त्तिमत् योग-निद्राशायी पुरुष का अवतारित्व दर्शाया गया है। "यह ही नानावतार का बीज आश्रय है। यह श्लोक अवतार पर है। "तद्विश्वरूप वैरूप्यम्" श्लोक पाठकारी श्रीरामानुजाचार्य्य चरण भी इसकी व्याख्या मूर्त्ति पर ही किए हैं। अर्थात् आप विश्वरूप से विलक्षण स्वभाव होने पर भी विश्वरूप लक्षण मूर्त्ति ही जिनका स्वरूप है। अतएव उक्त अद्वय वस्तु की मूर्त्त्यात्मकता सिद्ध है। कारण श्रीभगवत् स्वरूप ही समस्त शक्ति

"बृहच्छरीरोऽभिविमानरूपो, युवा कुमारत्वमुपेयिवान् हरिः।
रेमे श्रियाऽसौ जगतां जनन्या, स्वज्योत्स्नया चन्द्र इवामृतांशुः" ॥३९२॥

इति पाद्मोत्तरखण्डवचनम्, अत्र परब्रह्मस्वरूपशरीरः सर्वतोभावेन विगतपरिमाणोऽपि नित्यं कैशोराकारमेव प्राप्तः सन् श्रिया सह रेम इत्यर्थः। उपेयिवान् इत्युक्तावपि नित्यत्वम्, अपहतपाप्मे तिवत्,–तत्रैव तदीयतच्छ्रीमूर्त्यधिष्ठातृकत्रिपाद्विभूतेरपि प्रघट्टकेन वाकचसमूहकेन परमनित्यताप्रतिपादनात्। तथा चोक्तं तत्रैव—

"अच्युतं शाश्वतं दिव्यं सदा यौवनमाश्रितम्। नित्यं सम्भोगमीश्वर्य्या श्रिया भूम्या च संवृतम्"॥३९३॥इति

तस्मात् श्रीभगवान् यथोक्तलक्षण एव; स एव 'वदन्ती' इत्यस्य मुख्यार्थभूतं मूलं तत्त्वमिति पर्य्यवसानम्। तदुक्तं मोक्षधर्मे श्रीनारायणीयोपाख्याने—

"तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः। तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः" ॥३९४॥ इति।

नारायणीयोपनिषदि च–"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्" इति। अत श्रीरामानुजोदाहृताः श्रुतयश्च, (सुबाल० ७।१) "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यारभ्य "एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्याद्या बह्व्य इह श्रीभगवदंशभूतानां पुरुषादीनां परमतत्त्वविग्रहतासाधनं

सर्वसम्वादिनी

"धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग, ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं, स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः" ॥८२॥ इति।

अनुवाद—

प्रादुर्भाव का कर्त्ता है। सर्वतः पाणिपाद लक्षण सर्वमूर्त्ति का संवाद भी श्रुत होते हैं। वह पूर्वोक्त लक्षणाक्रान्त श्रीमूर्त्ति से पृथक् नहीं है। वह विभुत्व, प्रकरण के पहले व्यञ्जित हुआ है।

पद्मोत्तर खण्डमें वर्णित है—"बृहत् शरीराभिमान् विगत रूप युवा कुमारत्व को स्वीकार कर श्रीहरि, अमृतांशुचन्द्र जिस प्रकार स्वीय ज्योत्स्ना के सहित क्रीड़ा करते हैं, तद्रूप जगज्जननी लक्ष्मी के सहित क्रीड़ा करते हैं। यहाँ परब्रह्मस्वरूप शरीर,—सर्वतोभावेन विगत परिमाण होने पर भी नित्य कैशोराकार को प्रकट कर लक्ष्मी के सहित विहार करते हैं; यह ही तात्पर्य्य है। उपेयिवान्—पद का कथन होने पर भी नित्य कैशोर का बाध नहीं होता है। जिस प्रकार अपहत पाप्मा पद से नित्य पापराहित्य का बोध होता है। इसको भी उस प्रकार जानना होगा। श्रीमूर्त्यधिष्ठातृक त्रिपाद विभूति के प्रतिपादक वाक्यसमूह के द्वारा परमनित्यताप्रतिपादक होने से यहाँ भी उसका नित्यत्व अबाधित हुआ है। उक्त श्रुतिमें उक्त है—"अच्युत, शाश्वत, दिव्य, सदा यौवन आश्रित, श्री, भू-शक्ति संवृत ईश्वरी के सहित नित्य सम्मिलित इत्यादि।"

पूर्वोक्त वाक्यसमूह के तात्पर्य्य से यथोक्त लक्षण अर्थात् अचिन्त्य अनन्तशक्तिशाली नित्य लील, नित्य किशोर वयः, सच्चिदानन्दघनमूर्त्ति श्रीभगवान् हैं। अतएव "वदन्ति तत् तत्त्वविदः" इस श्लोकोक्त मुख्यार्थभूत अद्वय तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं, यह पर्य्यवसित हुआ है।

मोक्ष धर्मीय नारायणीयोपाख्यान में कथित है—"तत्त्व जिज्ञासु जनगण के सर्वतोमुखी हेतु के द्वारा महायोगी प्रभु नारायण श्रीहरि ही एकमात्र तत्त्व रूपमें निर्द्धारित हुये हैं।"

नारायणोपनिषद् में भी उक्त है—"नारायण ही परब्रह्म हैं। प्रभु नारायण ही परतत्त्व हैं।" श्रीरामानुजाचार्य्यपाद के द्वारा उदाहृत श्रुति—"पृथिवी जिनका शरीर, जो सर्वभूतों के अन्तरात्मा, दिव्य देव नारायण", इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। यहाँ श्रीभगवान् के अंशभूत पुरुषावतारगण के परतत्त्वत्व

वाक्यजातमपि तस्यांशिनस्तद्रूपविग्रहत्वं कैमुत्येनाभिव्यनक्तीति पूर्वत्र चोत्तरत्र च ग्रन्थे तथोदाहरणानि। विष्णुपुराणे तु साक्षादेव श्रीभगवन्तमधिकृत्य तथैवोदाहरणम् (वि०पु० १।२२।५३-५४)—"द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च। क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते ॥३९५॥
अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्" ॥३९६॥

इत्युक्त्वा जगन्मध्ये ब्रह्मविष्ण्वीशरूपाणि च पठित्वा पुनरुक्तम् (वि०पु० १।२२।५८)—

"तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भाव-तिरोभाव-जन्म-नाशविकल्पवत्" ॥३९७॥**इति।**

तदेतदक्षराख्यं परब्रह्म नित्यमखिलं जगत्तु आविर्भावादिभेदवदित्यर्थः। तत्राविर्भाव-तिरोभावौ श्रीविष्णुतदंशानाम्, जन्म-नाशौ त्वन्येषाम्। अतो जगत्याविर्भावादिकृत्येनैव पूर्वेषां (ब्रह्मादीनाम्) तदन्तःपातव्यपदेशो न वस्तुत इत्यर्थः। तथ सदा स्वधाम्नि विराजमानत्वेन क्षररूपतो मूर्त्तत्वादिना चाक्षरतोऽपि विलक्षणं तृतीयं रूपं भगवतः परमं स्वरूपमिति पुनरुच्यते (वि०पु० १।२२।५६,६१-६२)—

"सर्वशक्तिमयो विष्णुः स्वरूपं ब्रह्मणोऽपरम्। मूर्त्तं तद्योगिभिः पूर्वं योगारम्भेषु चिन्त्यते ॥३९८॥
स परः सर्वशक्तीनां ब्रह्मणः समनन्तरः। मूर्त्तं ब्रह्म महाभाग सर्वं ब्रह्ममयो हरिः ॥३९९॥
तत्र सर्वमिदं प्रोतमोतञ्चैवाखिलं जगत्" ॥४००॥

सर्वसम्वादिनी

अथ (१०७तम-अनु०) **सप्ताधिक-शततमाङ्कमारभ्य** (भा० १०।८७।१) **'ब्रह्मन्' इत्यादि-प्रकरणे विशेषः कश्चिद्-दर्शयते।—ब्रह्म चेदवचनीयं भवति, तर्ह्यवचनीय-पदेनोच्यत इति वाच्यत्वमेवायाति। तेनापि**

अनुवाद—

एवं नित्य श्रीविग्रहवत्व का साधक वाक्यसमूह के कैमुतिक न्याय से उक्त पुरुषावतारादि अंशी पुरुषों की परतत्त्वरूपता एवं नित्य सच्चिदानन्दविग्रहता अभिव्यक्त हुई है। इस विषय का कथन पूर्व में हुआ है। उत्तर ग्रन्थ में भी सोदाहरण विशेष रूप से उक्त होगा।

विष्णुपुराण में साक्षात् श्रीभगवान् को लक्ष्य करके कहा गया है—"उन परब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त्त, अपर अमूर्त्त। वे दोनों सर्वभूत में अवस्थित—क्षर एवं अक्षर स्वरूप हैं। उन परब्रह्म अक्षर हैं, और यह परिदृश्यमान जगत् क्षर है।" तदनन्तर जगत् के मध्य में—ब्रह्मा, विष्णु, ईश-रूपादि का वर्णन कर कहते हैं—"हे मुनिवर! यह पुरुष अक्षर नित्य, कभी कभी इनके आविर्भाव-तिरोभाव होते रहते हैं। ये जन्मनाशादि भेदवत् हैं।" यहाँ उत्पत्ति विनाशशील जगत् को आविर्भावादि भेदवत् कहने से—जगत् के सृष्टिपालनादि कार्य्य में श्रीविष्णु के अंशभूत अवतारादि के आविर्भाव-तिरोभाव एवं तदन्य सृष्ट वस्तु जगत् का जन्म एवं नाश प्रकट हुए हैं। अतएव जगत् में आविर्भावादि कृत्य को लेकर ही पूर्वोक्त ब्रह्मादि का तदन्तःपात कथन होता है, किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है।

सम्प्रति स्वधाम में नित्य विराजमान क्षर रूप से एवं मूर्त्तत्व हेतु अक्षर से विलक्षण स्वभाव अर्थात् क्षराक्षरातीत तृतीय स्वरूप ही श्रीभगवान् का परम स्वरूप है, जो उनके नित्य धाम में विराजित हैं। पुनर्बार इस विषय की आलोचना हो रही है।

योगारम्भ में योगिगण ब्रह्म का अपर (श्रेष्ठ) स्वरूपभूत सर्वशक्तिमय विष्णु का स्मरण करते हैं। समस्त ब्रह्म शक्ति के मध्यमें श्रीविष्णु ही श्रेष्ठ हैं। कारण, आप ही घनीभूत ब्रह्ममूर्त्ति श्रीहरि हैं। कारण सर्वब्रह्ममय अर्थात् जिस वृहत्त्व के कारण ब्रह्म हैं। उक्त सर्वविध वृहत्त्व का जो आश्रय हैं, अथवा जहाँ समस्त वृहत्व का पर्य्यवसान होता है। अखिल जगत् में जो कार्य्यतः, कारणतः, उपादानतः, शक्तितः, ओतप्रोतः हैं। उक्तावस्था का ज्ञान ही यथार्थ ब्रह्मज्ञान है। सुतरां सर्वशक्तिमय विष्णु को ब्रह्म का अपर

इति ब्रह्मसाक्षात्कारात् पूर्वं योगिभिश्चिन्त्यते । तथा ब्रह्मणः समनन्तरः, उपासनानुक्रमेण यथैवाक्षरादनन्तरं तदुक्तं तथा (गी० "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्याद्यनुसारेण ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तराविर्भावी च स इत्यर्थः । यतः सर्वासां शक्तीनां स्वरूपभूतादीनां परमाश्रयः ; अतएव सर्वब्रह्ममयोऽखण्डब्रह्मस्वरूपश्च,—अक्षराख्यस्य पूर्वस्य शक्तिहीनत्वेन खण्डितत्वात् । यद्वा, अतएव सर्ववेदवेद्य इत्यर्थः । तत एव च तत्र सर्वमित्यादीति । एवम् (गी० १५।१८)—

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ।।४०१।।

इत्यादि-श्रीगीतोपनिषदपि योज्या । अत्र यद्यपि (गी० १५।१६) "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यक्षरशब्देन शुद्धजीव एव प्रस्तूयते, तथापि परब्रह्म च लक्ष्यम् ; (गी० ८।३) "अक्षरं परमं ब्रह्म" इति तच्च तत्र पूर्वोक्तमिति,अनयोश्चिन्मात्रवस्तुत्वेनैकार्थ्यत्वादिति । तदेतदभिप्रेत्य(भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः" इत्यादौ मूर्त्तस्यैव स्वयंभगवत एव तल्लक्षणत्वं साक्षादेवाह— "तत्त्वं परं योगिनाम्" इति ; योगिनां श्रीचतुःसनादीनाम् ।। श्रीशुकः ।।

सर्वसम्वादिनी

लक्ष्यते चेद्वस्तुतस्तद्वल्लक्ष्यम् ; लक्ष्य-गङ्गा-शब्दवत्तस्याप्यवचनीयत्वाभावे वचनीयत्वमेव सिध्यति । वचनीयत्वावचनीयत्वाभावे त्वनिर्वचनीयत्वापातः ; स च मिथ्या, न नित्य इति "घट्टकुट्यां प्रभातम्" ।

अनुवाद—

स्वरूप कहा गया है—अर्थ है । न—पर=अपर, यदपेक्षा कोई श्रेष्ठ नहीं है । स्वामिपाद की व्याख्या— "अपरं—यदपेक्षा न विद्यते परं यस्मात् तदपरं श्रेष्ठं रूपम्" । इस रूप की चिन्ता योगिगण, ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्व में करते हैं । इसका तात्पर्य्य यह है कि—प्रथम उपासना में सामान्याकार से ब्रह्मज्ञान पश्चात् उपासना के क्रम से अक्षर ज्ञान, तदनन्तर सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान अथवा सर्वशक्तिमय विष्णु का ज्ञान होता है ।

गीतास्थ भगवदुक्ति से भी उक्त विवरण प्राप्त होता है—"ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा साधक" इत्यादि वाक्यानुसार ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर आविर्भावी षड़ैश्वर्य्य परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्त्ति श्रीभगवान् हैं । कारण आप ही स्वरूपभूत समस्त शक्ति का परम आश्रय हैं । अतएव सर्व ब्रह्ममय—"अखण्ड ब्रह्म स्वरूप" इत्यादि सकल वाक्य ही सुसङ्गत हैं । सुतरां अक्षराख्य पूर्वानुभूत ब्रह्म की शक्ति हीनता के कारण खण्डत्व होना सुस्पष्ट ही है । अथवा जो सर्व वेद वेद्य हैं, वह परिपूर्ण हैं, तदितर का खण्डत्व है । तज्जन्य श्रीभगवान् में ही सर्वप्रकार के वृहत्वादि है । "मैं क्षरातीत अक्षर से भी उत्तम हूँ, मैं वेद एवं लोक में पुरुषोत्तम नाम से ख्यात हूँ ।" इत्यादि गीतोपनिषद् वाक्य की योजना करना कर्त्तव्य है । यद्यपि कूटस्थ को ही अक्षर कहा जाता है, इस वाक्य में अक्षर शब्द से शुद्ध जीव ही प्रस्तुतार्थ है । तथापि परब्रह्म ही उसका लक्ष्य है, कारण "अक्षर ही परम ब्रह्म" पहले कहा गया है । चिन्मात्र वस्तुत्व में एकार्थता निबन्धन शुद्ध जीव एवं परब्रह्म का अक्षरत्व सुव्यक्त है ।

श्रीभगवान् में उनके अंशभूत पुरुषावतारादि, असम्यक् आविर्भाव—ब्रह्म परमात्मादि समस्त ही अवस्थित हैं, एवं साधक स्वीय साधनानुसार श्रीभगवन्मूर्त्ति में समस्त ही देखते हैं । इसका विवरण कंस सभा में प्रविष्ट श्रीमूर्त्ति को लक्ष्य कर सुव्यक्त हुआ है । "अग्रज के सहित रङ्गस्थल में प्रविष्ट श्रीभगवान् को मल्लगण—वज्रसम, साधारण मनुष्यगण—नरश्रेष्ठ, स्त्रीगण—मूर्त्तिमान् कन्दर्प, गोपगण—स्वजन, उन्मार्गगामी राजन्यवर्ग—शास्तारूप, पितामाता—निज पुत्ररूप, भोजपति कंस—साक्षात् मृत्युरूप में, अज्ञगण—विराट् रूपमें, योगिगण—परतत्त्व रूप में, वृष्णि वंशीगण—परदेवता रूप में देखे थे ।" यहाँ

९५। अतएव श्रीमद्भागवतस्य निगमकल्पतरुपरमफलभूतस्य बहुधा श्रैष्ठेच सत्यपि तथाभूतस्यापि भगवदाख्य-परमतत्त्वस्याकर्षविद्यारूपत्वादेव परमश्रैष्ठ्यमाह (भा० १।१।२)—

"धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" ॥४०२॥

अत्र यस्तावद्धर्मो निरूप्यते, स खलु (भा० १।२।६) "स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" इत्यादिकया (भा० १।२।१३)—

"अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः। स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्" ॥४०३॥

इत्यन्तया रीत्या भगवत्सन्तोषणैकतात्पर्य्येण शुद्धभक्त्युत्पादकतया निरूपणात् परम एव; यतः सोऽपि तदेकतात्पर्य्यत्वात् प्रकर्षेण उज्झित कैतवं फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् तथाभूतः; प्र-शब्देन सालोक्यादि-सर्वप्रकारमोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः। यत एवासौ तदेकतात्पर्य्यत्वेन निर्म्मत्सराणाम्, फलकामुकस्येव परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानामेव,

सर्वसम्वादिनी

एवं लक्ष्य-शब्देनोच्यते चेद्वचनीयत्व-सिद्धिः। लक्ष्यते चेत् लक्ष्यत्व-च्युतिः,—गङ्गा-शब्द-लक्ष्यस्यालक्ष्यत्व-वल्लक्ष्य-शब्द-लक्ष्यस्यालक्ष्यत्वात्। द्वितीयलक्ष्य-शब्देन तस्य लक्ष्यत्वमिति चेदनवस्थायामपि लक्ष्य-

अनुवाद—

श्रीभगवान् का सर्वरसरूपत्व सुव्यक्त हुआ है। श्रीकृष्ण को योगिगण परतत्त्व रूप में देखे थे। यहाँ योगिगण शब्द से चतुःसनादि को ही जानना होगा। यह उक्ति श्रीशुकदेव की है ॥९४॥

निगमकल्पतरु का परम फलस्वरूप होने से ही श्रीमद्भागवत की सर्वश्रेष्ठता तो है ही, अधिकन्तु भगवदाख्य परम तत्त्वाकर्षविद्यारूप होने से ही श्रीमद्भागवत की परम श्रेष्ठता है। "श्रीमद्भागवत में फलाभिसन्धान रहित निर्मत्सर साधुगण के आचरित परम धर्म वर्णित है। जिससे आध्यात्मिकादि तापत्रय उन्मूलन होकर परममङ्गल प्राप्त होता है। महामुनि वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत शुश्रूषुगण के हृदय में सद्य (तत्क्षणात्) श्रीभगवान् अवरुद्ध होते हैं।

श्रीमद्भागवत में ईदृश धर्म वर्णित है—जो सर्वापेक्षा श्रेष्ठ पुरुषों के आचरित धर्म के मध्यमें श्रेष्ठधर्म है, जिससे अधोक्षज श्रीभगवान् में भक्ति होती है। इत्यादि क्रम से—"अतएव हे द्विजश्रेष्ठ! वर्णाश्रम विभागानुसार स्वीय आचरित धर्म का साफल्य वहाँ पर है—जिससे श्रीहरि की तुष्टि होती है।" इत्यन्त उक्ति के अनुसार श्रीभगवत् सन्तोष ही धर्म का एकमात्र तात्पर्य्य है। इससे निर्णीत होता है कि—श्रीमद् भागवत ही शुद्ध भक्ति का उत्पादक है। अतः श्रीमद्भागवत की सर्वोत्कर्षता सुसिद्ध है। कारण—श्रीहरि तोषण में ही श्रीमद्भागवत का तात्पर्य्य है। प्रोज्झितकैतव—प्रकृष्ट रूप से उज्झित हुआ है। कैतव—कामना रूप कपटता जिससे (जिस धर्म से अथवा ग्रन्थ से) इस प्रकार ही श्रीमद्भागवत है। प्र—शब्द से सालोक्यादि सर्व प्रकार मोक्षाभिसन्धि भी निरस्त हुई है। कारण मोक्ष लाभ की वासना भी कामना के मध्य में परिगणित होने से शुद्धाभक्ति कामना व्यतीत मानव निर्मत्सर नहीं हो सकता है। दूसरे का उत्कर्ष असहन को मत्सर कहते हैं। सुतरां दूसरे की मुक्ति एवं भौतिक सुखभोगादि को देख कर फलकामी व्यक्ति के चित्त में असहिष्णुता रूप मत्सरता आती है, तज्जन्य कहा गया है—मत्सर शून्य साधुजनाचरित

तदुपलक्षणत्वेन पश्वालम्भने दयालूनामेव च; सतां स्वधर्मपराणामेव विधीयत इति। एवमीदृशं स्पष्टमनुक्तवतः कर्मशास्त्रादुपासनाशास्त्राच्चास्य तत्तत्प्रतिपादकांशेऽपि श्रैष्ठ्यमुक्तम्, उभयत्रैव धर्मोत्पत्तेः। तदेवं सति साक्षाच्छ्रवण-कीर्त्तनादिरूपस्य वार्त्ता तु दूरत एव आस्तामिति भावः। अथ ज्ञानकाण्डशास्त्रेभ्योऽप्यस्य पूर्ववत् श्रैष्ठ्यमाह—'वेद्यम्' इति। भगवद्भक्तिनिरपेक्षप्रायेषु तेषु प्रतिपादितमपि (भा० १०।१४।४) "श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य" इत्यादि-न्यायेन वेद्यं निश्चयं न भवतीत्यत्रैव वेद्यमित्यर्थः। तन्मतैकदेशि-शास्त्रेभ्यो वैशिष्ट्यमाह—शिवं स्वरूपं परमानन्दं ददात्यनुभावयतीति तथा, तापत्रयमुन्मूलयति तन्मूलभूताविद्या-पर्य्यन्तं खण्डयतीति तथा। अन्यत्र मुक्तावनुभवामनने ह्यपुरुषार्थत्वापातः स्यादिति तन्मननादत्र तु वैशिष्ट्यमिति। न चास्य तत्तद्दुर्लभवस्तुसाधनत्वे तादृशनिरूपणसौष्ठवमेव कारणम्, अपि तु स्वरूपमपीत्याह—'श्रीमद्भागवते' इति। श्रीभागवतत्वं भगवत्प्रतिपादकत्वं श्रीमत्त्वं श्रीभगवन्नामादेरिव तादृशस्वाभाविकशक्तिमत्त्वम्। नित्ययोगे मतुप्। अतएव समस्ततयैव निर्दिश्य नीलोत्पलादिवत्तन्नामत्वमेव बोधितम्। अन्यथा त्वविमृष्टविधेयांशता-

सर्वसम्वादिनी

पदवाच्यत्वानतिक्रम एव स्यात्। एवं 'निर्विशेष'-'स्व-प्रकाश'-'परमार्थ'-'सदि'त्यादि-शब्दैर्न ह्योच्यते चेद्वाच्यत्वसिद्धिः। न च तैरपि लक्ष्यते,—तत्तच्छब्दमुख्यार्थस्यान्यस्याभावात्। निर्विशेषादि-शब्दानां

अनुवाद—

धर्म। इस प्रकार उक्ति को उपलक्ष्य करके पशुहत्यादि में दयालुस्वभाव एवं स्वधर्मपरायण साधुगण के सम्बन्ध में ही श्रीमद्भागवत विहित है। सुस्पष्ट उक्त होने पर भी कर्म एवं उपासना शास्त्र की अपेक्षा **श्रीमद्भागवत की श्रेष्ठता है, कारण दयालुता का प्रतिपादन उससे ही सर्वाधिक रूपसे हुआ है। निर्मत्सर** एवं प्राणियों के प्रति दयापरायण होने से ही श्रीहरि सन्तोषरूप धर्मलाभ होता है। यदि सौभाग्यवश श्रीहरि कथा श्रवण-कीर्त्तन का आचरण होता है तो, सर्वोत्तम हेतु श्रीहरि सन्तोष के निमित्त वह होगा।

सम्प्रति ज्ञानकाण्ड शास्त्र से भी श्रीमद्भागवत का पूर्ववत् वैशिष्ट्य कहा गया है "वेद्यं" इस पद से। ज्ञानकाण्ड शास्त्र में जिस तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। वह भगवद्भक्ति निरपेक्ष है। किन्तु श्रीब्रह्मा की उक्ति के अनुसार "अशेष मङ्गल की निदानभूता भक्ति को परित्याग कर साधन करने से तत्त्व लाभ नहीं होता है। किन्तु श्रीमद्भागवत से तत्त्ववस्तु लाभ होता है। अर्थात् श्रीमद्भागवत में ही वह शक्ति निहित है, जिसके अनुशीलन से परतत्त्व स्वयं ही वेद्य होते हैं। श्रीमद्भागवत अथवा श्रीमद्भागवत प्रतिपादित भक्ति के अनुशीलन से श्रीभगवान् की सम्यक् उपलब्धि होती है। तापत्रय उन्मूलन होते हैं—अर्थात् तापत्रय की मूलभूता अविद्या भी विनष्ट होती है। उनके फलस्वरूप शिव,—कल्याण, परमानन्दानुभव होता है। अन्यत्र मुक्ति में परमानन्दानुभव का मनन न होने से वह पुरुषार्थ नहीं होती है। सुतरां परमानन्दानुभवजनित मनन हेतु श्रीमद्भागवत का सर्वाधिक वैशिष्ट्य है।

उक्त दुर्ल्लभ वस्तु लाभ के लिए (अविद्यानाश परमानन्दादि का अनुभव के लिए) श्रीमद्भागवत शास्त्र जो निरूपण किए हैं, उक्त निरूपण सौष्ठव ही महत्त्व के प्रति कारण है, इस प्रकार आशङ्का निवारणार्थ "श्रीमद्भागवते" पदविन्यास से श्रीभागवत स्वरूप का भी कारण प्रतिपादित हुआ है। श्रीभागवतत्व—भगवत् प्रतिपादकता शक्ति जिसकी है। श्रीमत्त्व—श्रीभगवान् के नामादिवत् स्वाभाविक शक्तिमत्त्व है। श्रीशब्द शक्ति वाचक है, उसके उत्तर "नित्ययोगे" मतुप् प्रत्यय होने से श्रीमत् शब्द निष्पन्न हुआ। इससे स्वाभाविक भगवत्तत्त्व प्रतिपादक शक्तिमत्त्व अर्थ ही यहाँ पर अभिव्यक्त हुआ है। अतएव जिस प्रकार

दोषः स्यात्। अत उक्तं श्रीगारुड़े–'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः" इति टीकाकृद्भिरपि "श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुः" इति। अतः क्वचित् केवलभागवताख्यत्वन्तु 'सत्यभामा भामा' इतिवत्। तादृशप्रभावत्वे कारणं परमश्रेष्ठकर्त्तृकत्वमप्याह–महामुनिः श्रीभगवान् तस्यैव परमविचारपारङ्गतत्वात् महाप्रभावगणशिरोमणित्वाच्च ; 'स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्' इति श्रुतेः। तेन प्रथमं चतुःश्लोकीरूपेण संक्षेपतः प्रकाशिते (भा० १२।१३।१९) "कस्मै येन विभासितोऽयम्" इत्याद्यनुसारेण सम्पूर्ण एव वा प्रकाशिते। तदेवं श्रैष्ठ्यजातमन्यत्रापि प्रायः सम्भवतु नाम सर्वज्ञानशास्त्रपरमज्ञेयपुरुषार्थ-शिरोमणि-श्रीभगवत्साक्षात्कारस्तत्रैव सुलभ इति उपासनाकाण्डेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यं वदन् सर्वोर्द्ध्वप्रभावमाह–'किंवा' इति ; परैः शास्त्रैस्तदुक्तसाधनैर्वा ईश्वरो भगवान् हृदि किंवा सद्य एवावरुध्यते स्थिरीक्रियते। वा-शब्दः कटाक्षे,किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव। अत्र तु शुश्रूषुभिः श्रोतुमिच्छुभिरेव तत्क्षणादेवावरुध्यते। ननु इदमेव तर्हि सर्वे किमिति न शृण्वन्ति ? तत्राह—कृतिभिरिति सुकृतिभिरित्यर्थः। श्रवणेच्छा तु तादृशसुकृतिं विना नोत्पद्यत इति भावः। अथवा अपरैर्मोक्षपर्य्यन्तकामना-रहितेश्वराराधनलक्षणधर्मब्रह्मसाक्षात्कारादिभिरुक्तैरनुक्तैर्वा साध्यैस्तैरत्र किं वा कियद्वा

सर्वसम्वादिनी

विशेषाभावविशिष्टं वा तदुपलक्षितं वा ब्रह्म चेत्, तत्तच्छब्दवाच्यत्वं दुर्निवारम्।

किञ्च, निर्गुण-स्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यद्ब्रह्मतयेष्टम्, तत्तदर्थो ब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवादः।

अनुवाद—

नीलोत्पलादि शब्द समस्त प्रकार से ही अर्थ प्रकाशक होते हैं, तद्रूप श्रीमद्भागवत,—समस्त रूप से ही उनके नामादि का बोधक हैं। अन्यथा—अविमृष्ट विधेयांश दोष होगा।

श्रीगरुड़पुराण में उक्त है—"अष्टादश सहस्र श्लोकात्मक श्रीमद्भागवताख्य ग्रन्थ है।" टीकाकारगण की उक्ति है—"श्रीमद्भागवताख्य सुरतरु"। श्रीमद्भागवत के पूर्वोक्त प्रभाव के सम्बन्ध में कर्त्तृगत श्रेष्ठता भी उक्त है, यथा—महामुनिः—श्रीभगवान्, आप महा विचारक शिरोमणि हैं। आप श्रीमद्भागवत कर्त्ता हैं। अतः श्रीमद्भागवत की सर्वथा श्रेष्ठता है। श्रुति में वर्णित है—"आप मुनि होकर सम्यक् चिन्ता किए थे।" तज्जन्य प्रथम चतुःश्लोकी रूपमें संक्षेप से श्रीमद्भागवत का प्रकाश हुआ। अथवा "कल्प के आदि में ब्रह्मा को जिस अतुल ज्ञान प्रदीप को कहे थे।" इस वाक्य के अनुसार सम्पूर्ण ही श्रीमद्भागवत प्रकाशित हुए थे।

पुनश्च यदि शङ्का हो कि—ईदृश श्रेष्ठता अन्य ग्रन्थ में भी सम्भव है ? शङ्कापनयनार्थ कहते हैं—"सर्वज्ञानशास्त्र के मध्य में परमश्रेष्ठ पुरुषार्थशिरोमणि श्रीभगवत्साक्षात्कार लाभ है, वह श्रीभागवत से ही अनायास होता है। अतएव ग्रन्थान्तर की विद्यमानता से कुछ हानि नहीं, समस्त ग्रन्थ के ऊपर श्रीमद् भागवत का प्रभाव है। कारण शास्त्र श्रवण द्वारा अथवा शास्त्रोक्त साधन के द्वारा श्रीभगवान् सद्य हृदय में अवरुद्ध होते हैं। अर्थात् वे सब भगवत्तत्त्व निर्णय करने में सक्षम होते हैं। यहाँ कटाक्ष से कथित हुआ है कि—अन्यत्र काल विलम्ब में कथञ्चित् भगवत् प्रवणता होती है। श्रीमद्भागवत् श्रवणेच्छु व्यक्तिगण के हृदय में तत्क्षणात् अवरुद्ध श्रीहरि होते हैं। ऐसा सहज उपाय का ग्रहण मानव क्यों नहीं करता है ? उत्तर—कृतिभिः, कुशली सुकृतिशाली व्यतीत सबको श्रीमद्भागवत श्रवणेच्छा नहीं होती है।

अथवा "किं वा परैरीश्वरः"—यहाँ "किम्वा अपरैः" इस प्रकार पाठ को मान कर कटाक्ष किया गया है कि—मोक्ष पर्य्यन्त कामनाशून्य धर्म, केवल ईश्वराराधन लक्षण धर्म, ब्रह्म साक्षात्कारादि पर्य्यन्त, उक्त

माहात्म्यमुपपन्नमित्यर्थः। यतो य ईश्वरः कृतिभिः कथञ्चित् तत्तत्साधनानुक्रमलब्धया भक्त्या कृतार्थैः सद्यस्तदेकक्षणमेव व्याप्य हृदि स्थिरीक्रियते, स एवात्र श्रोतुमिच्छद्भिरेव तत्क्षण-मारभ्य सर्वदैवेति। तस्मादत्र काण्डत्रयरहस्यस्य प्रव्यक्तप्रतिपादनादेर्विशेषत ईश्वराकर्षि-विद्यारूपत्वाच्च इदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम्। अतएव 'अत्र' इति पदस्य त्रिरुक्तिः कृता; सा हि निर्द्धारणार्थेति। अतो नित्यमेतदेव सर्वैरेव श्रोतव्यमिति भावः॥ श्रीवेदव्यासः श्रीशुकम्॥

९६। तदेवं श्रीशुकहृदयमपि सङ्गमितं स्यात्। अतश्चतुःश्लोकी-प्रसङ्गेऽपि श्रीभगवानेवार्थः॥ स हि स्वज्ञानाद्युपदेशेन स्वमेवोपदिदेश। तत्र परमभागताय ब्रह्मणे श्रीमद्भागवताख्यं निजं शास्त्रमुपदेष्टुं तत्प्रतिपाद्यतमं वस्तुचतुष्टयं प्रतिजानीते, (भा० २।९।३०)—

"ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया" ॥४०४॥

मे मम भगवतो ज्ञानं शब्दद्वारा याथार्थ्यनिर्द्धारणं मया गदितं सत् गृहाण; इत्यन्यो न जानातीति भावः। यतः परमगुह्यं ब्रह्मज्ञानादपि रहस्यतमम्, (भा० ६।१४।५) "मुक्तानामपि सिद्धानाम्" इत्यादेः। तच्च विज्ञानेन तदनुभवेनापि युक्तं गृहाण। न चैतावदेव; किञ्च, सरहस्यं तत्रापि रहस्यं यत् किमप्यस्ति, तेनापि सहितम्, तच्च प्रेमभक्तिरूपमित्यग्रे व्यञ्जयिष्यते।

सर्वसम्वादिनी

तथा तन्मते स्फुटम् 'अशब्दम्' इत्यादि-शब्द-वाच्यत्वस्य (तै० २।४।१) 'यतो वाचः' इत्यत्रापि यच्छब्दवाच्य-त्वस्य निषेधेन स्व-व्याघातापातः स्यातः। (अथर्वशिराः ३।५) 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यादौ 'तस्मादुच्यते

अनुवाद—

अथवा अनुक्त धर्मसमूह के जो जो साधन निर्दिष्ट हैं। उन सब का महत्त्व कितना वर्णित है, और उससे प्राप्ति भी कितनी सम्भव है? इस अभिप्राय से प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् श्रीमद्भागवत के समक्ष में उन सब शास्त्रों की अकिञ्चित्करता सुप्रसिद्ध है। यहाँ अनादर में—किं वा, पद का प्रयोग हुआ है। कारण सुकृतिमान् व्यक्ति के हृदय में श्रीमद्भागवत श्रवण के समकाल में ही श्रीभगवान् साधक हृदय में प्रविष्ट होकर अनुक्षण जागरुक रहते हैं। सुतरां पूर्वोक्त कर्म-ज्ञान-देवतारूप काण्डत्रय से श्रीमद्भागवत का उत्कर्ष है। कारण श्रीमद्भागवत ही श्रीभगवत् आकर्षक विद्या है, तज्जन्य इस श्लोक में तीनबार 'अत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। विशेष निर्द्धारण के निमित्त ही अत्र त्रय का प्रयोग हुआ है। सुतरां सबके लिए ही नित्य श्रवणीय श्रीमद्भागवत शास्त्र है। श्रीवेदव्यास महाशय, श्रीशुकदेव को बोले थे ॥९५॥

शास्त्रान्तर एवं साधनान्तर से श्रीमद्भागवत की जो श्रेष्ठता है, उसमें श्रीशुकदेव का एकमत है। आप ब्रह्मानन्दानुभवी होकर भी, ब्रह्मानन्द को तुच्छ करके श्रीभगवन्महिमा में आसक्त चित्त हुये थे। यह ही ग्रन्थ वैशिष्ट्य की महिमा है।

अतएव ब्रह्मोपदिष्ट चतुश्लोकी भागवत प्रसङ्ग में भी अनन्त अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्त्ति श्रीभगवान् ही अभिहित हुये हैं। श्रीभगवान् स्व-सम्बन्धीय ज्ञानादि उपदेश के द्वारा निज स्वरूप का ही वर्णन किए हैं। परम भागवत ब्रह्मा को श्रीमद्भागवताख्य निज शास्त्र उपदेश करने के निमित्त प्रथमतः शास्त्र प्रतिपाद्य वस्तु चतुष्टय का वर्णन किये थे। यथा—मदुक्त विज्ञानसमन्वित मद्विषयक परम गुह्य ज्ञान, उसका रहस्य, एवं उसका अङ्ग विषयक ज्ञान प्राप्त करो। जो ज्ञान अपर के लिए अज्ञात है। कारण, वह परम गुह्य है। मुक्त अथवा सिद्ध पुरुषगण जिस ब्रह्मज्ञान लाभ करते हैं—उससे भी रहस्यतम है। वह विज्ञान अर्थात् अपरोक्ष अनुभवयुक्त है, अर्थात् मैं केवल शाब्दिक उपदेश ही नहीं करूँगा, किन्तु अनुभव भी तुम्हें कराऊँगा। एवं उसको प्राप्त करने का उपाय, भक्ति एवं तदुत्तर साध्य—जिसको प्रेमभक्ति

तथा तदङ्गञ्च गृहाण, तच्च सति त्वपराधाख्यविघ्ने न झटिति विज्ञान-रहस्ये प्रकटयेत्। तस्मात्तस्य ज्ञानस्य सहायञ्च गृहाणेत्यर्थः। तच्च श्रवणादिभक्तिरूपमित्यग्रे व्यञ्जयिष्यते। यद्वा,सरहस्यमिति तदङ्गस्यैव विशेषणं ज्ञेयम्। सुहृदोरिव मिथः सम्वर्द्धकयोरेकत्रावस्थानात्।

अत्र साध्ययोर्विज्ञान-रहस्ययोराविर्भावार्थमाशिषं ददाति (भा० २।९।३१)—

"यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्" ॥४०५॥

यावान् स्वरूपतो यत्परिमाणकोऽहम्; यथाभावः सत्ता यस्येति यल्लक्षणोऽहमित्यर्थः। यानि स्वरूपान्तरङ्गाणि रूपाणि श्यामत्व-चतुर्भुजत्वादीनि, गुणा भक्तवात्सल्याद्याः, कर्माणि तत्तल्लीला यस्य स यद्रूपगुणकर्मकोऽहम्, तथैव तेन तेन सर्वप्रकारेणैव तत्त्वविज्ञानं याथार्थ्यानुभवो मदनुग्रहात् ते तवास्तु भवतादिति। एतेन चतुःश्लोकचर्थस्य निर्विशेषत्वं स्वयमेव परास्तम्। वक्ष्यते च चतुःश्लोकीमेवोपदिशता श्रीभगवता स्वयमुद्धवं प्रति (भा० ३।४।१३)— "पुरा मया" इत्यादौ "ज्ञानं परं मन्महिमावभासम्" इति। तत्त्वविज्ञान पदेन रूपादीनामपि स्वरूपभूतत्वं व्यक्तम्। अत्र विज्ञानाशीः स्पष्टा, रहस्याशीश्च परमानन्दात्मक-तत्तद्-याथार्थ्यानुभवेनावश्यं प्रेमोदयात्।

सर्वसम्वादिनी

परं ब्रह्म' इति श्रुत्या, (गी० १३।२३) 'परमात्मेति चाप्युक्तः' इति श्रीगीतादिना च 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' इति 'वाच्यत्वं' साक्षादेवोच्यते।

अत्रानुमानानि च।—वेदान्त-तात्पर्यविषयः परब्रह्म वाच्यम्,—वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च तटवत्।

अनुवाद—

कहते हैं, विशद रूपसे व्यक्त करूँगा। एवं उसके अङ्गरूप जो साधन भक्ति है, जिसके अनुशीलन से अपराध की आशङ्का विदूरित होती है। कारण अपराधाख्य विघ्न विद्यमान होने से सहसा विज्ञान रहस्य प्रकटित नहीं होता है। अतएव उक्त ज्ञान का सहायभूत अङ्ग का परिज्ञान करो, वह श्रवणादि भक्तिरूप है, इसका विवरण अग्रिम ग्रन्थ में कहेंगे। अतएव रहस्य पद अङ्ग का ही विशेषण है। परस्पर सम्वर्द्धित सौहार्द्य पूर्ण सुहृद् का एकत्रावस्थान ही होता है।

सम्प्रति साध्य-विज्ञान एवं रहस्य एतदुभय के आशीर्वाद के अभिप्राय से कहते हैं—"मेरा अनुग्रह से मेरा स्वरूप, परिमाण, सत्ता, गुण, कर्मादि का यथार्थ्य तत्त्व का अनुभव हो।" अर्थात् श्रीभगवत् कृपा व्यतीत भगवत्तत्त्व का अनुभव नहीं होता है। तज्जन्य कृपापूर्वक तत्त्व विज्ञान का आशीर्वाद कर रहे हैं। मेरा अनुग्रह से तुम्हारे निकट सम्पूर्ण तत्त्व की स्फूर्त्ति हो, स्वरूपतः मेरा जो परिमाण है, मेरी सत्ता किस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है। अर्थात् मेरा प्रकृत लक्षण क्या है? श्यामत्व, चतुर्भुजत्वादि मेरा स्वरूप एवं अन्तरङ्ग जो सब मूर्त्ति हैं। भक्त वात्सल्यादि गुण, एवं कर्मादि के अर्थात् भक्त की वाञ्छापूर्त्ति हेतु जो सब लीला नित्य विहित है, उक्त समस्त तत्त्व का याथार्थ्यानुभव हो।

ब्रह्मा के प्रति भगवान् के उपदेश से,—श्लोक चतुष्टय का निर्विशेष परत्व स्वतः ही परास्त हुआ। चतुःश्लोकी का उपदेश श्रीभगवान् ने उद्धव को भी दिया था। "मेरा महिमावभासक परमज्ञान का उपदेश मैंने पूर्वकल्प में नाभिपद्म में स्थित अज को दिया था। जो भागवत नाम से अभिहित है।" स्वामिपाद ने इस श्लोक की टीका में "महिमा" शब्द का अर्थ 'लीला' किया है। "मम महिमा अवभास्यते येन तत्।" विज्ञान पद से रूपादि की स्वरूपभूतता व्यक्त हुई है। यहाँ विज्ञान—अपरोक्षानुभव का आशीर्वाद स्पष्टतः है, एवं रहस्याशीर्वाद से परमानन्दात्मिका रूप-गुण-लीलादि का याथार्थ्यानुभव होता है, अनन्तर प्रेमोदय

तदेव उपदेश्य चतुष्टयं चतुःश्लोक्या निरूपयन् प्रथमं ज्ञानविज्ञानार्थं स्वलक्षणं प्रतिपादयति द्वाभ्याम् । तत्र ज्ञानार्थमाह (भा० २।९।३२)--

"अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम् । पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्" ॥४०६

अत्राहं-शब्देन तद्वक्ता मूर्त्त एवोच्यते, न तु निर्विशेषं ब्रह्म, तदविषयत्वात् । आत्मज्ञानतात्पर्य्यकत्वे तु (छा० ६।८।७) "तत्त्वमसि" इतिवत् त्वमेवासीरित्येव वक्तुमुपयुक्तत्वात् । ततश्चायमर्थः—सम्प्रति भवन्तं प्रति प्रादुर्भवन्नसौ परममनोहर श्रीविग्रहोऽहमेवाऽग्रे महाप्रलयकालेऽप्यासमेव ; "वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः" ; (महोपनिषत् १) "एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादि श्रुतिभ्यः ; (भा० ३।५।२३) "भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः" इत्यादि तृतीयात् । अतो वैकुण्ठतत्पार्षदादीनामपि तदुपाङ्गत्वादहंपदेनैव ग्रहणम्, राजाऽसौ प्रयातीतिवत् । ततस्तेषाञ्च तद्वदेव स्थितिर्बोध्यते । तथा च राजप्रश्नः (भा० २।८।९)—"स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।

मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः" ॥४०७॥ इति ।

श्रीविदुर-प्रश्नश्च (भा० ३।७।३७)—"तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते" ॥४०८॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

परमार्थसदादि-पदं कस्यचिद्वाचकं पदत्वाद्घटपटवत् । सत्य-ज्ञानादिवाक्यं वाच्यार्थवद्वाकचत्वादग्निहोत्रादि-वाकचवदिति विपक्षे लक्ष्यत्वं न स्यात् ; तथा हि लाक्षणिक-शब्दो न स्वत एवार्थगोचरधी-हेतुः,—

अनुवाद—

की अवश्यम्भाविता है । अतः श्रीभगवान् के रूपादि की स्वरूपभूतता का अर्थतः लाभ होता है ।

श्लोक चतुष्टय में उपदेश्य विषयों का निरूपणार्थ प्रथम स्वीय स्वरूप ज्ञापन करना अत्यावश्यक है । उससे ही ज्ञान एवं विज्ञान का उपदेश कार्य सुष्ठु सम्पादित होता है । तज्जन्य श्लोकद्वय में उसका कथन करते हैं । "मैं सृष्टि के पहले था, सदसत् नाम से अभिहित स्थूल एवं सूक्ष्म, अथवा उसके कारणसमूह नहीं थे । सृष्टि के बाद भी मैं ही था, इस विश्व ब्रह्माण्ड में जो भी वस्तु है वह भी मैं ही हूँ, एवं प्रलय के पश्चात् जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह भी मैं हूँ ।"

यहाँ 'अस्मद्' शब्द निर्द्देश से बोध होता है कि—उपदेष्टा मूर्त्तिमत् कोई है । निर्विशेष ब्रह्म उसका विषय नहीं है । यदि शास्त्र का तात्पर्य्य आत्मज्ञान में ही होता तो, 'तत्त्वमसि' वाक्यवत् "त्वमेव असि" इस प्रकार कहना ही युक्तियुक्त होता । सुतरां यहाँ इस प्रकार अर्थ ही सुसङ्गत है—"मैं तुम्हारे निकट परम मनोहर मूर्त्ति में आविर्भूत हुआ हूँ । प्रलय काल में भी इस प्रकार ही मैं रहा ।" "एकमात्र वासुदेव रूप में मैं ही सृष्टि के पहले था । ब्रह्मा, शङ्कर कोई नहीं थे ।" एक नारायण थे, शिव, ब्रह्मादि नहीं थे । इत्यादि श्रुति में "आत्मा के आत्मा एक भगवान् ही थे ।" इत्यादि का वर्णन तृतीय स्कन्ध में है । अतएव ब्रह्मा को जब भगवान् वैकुण्ठलोक दिखा कर उपदेश दिये थे,—"यह मैं ही था" । यहाँ "अहं" पर से 'राजा जा रहे हैं'—कहने से सपार्षद राजा का गमन बोध होता है, तद्रूप "मैं था" शब्द से उपाङ्गभूत पार्षदगण के सहित वैकुण्ठलोक में अवस्थिति को जानना होगा । सुतरां श्रीभगवान् के समान तदीय लोक एवं पार्षदगणों की नित्य स्थिति भी बोधित होती है ।

महाराज परीक्षित के प्रश्न भी—"विश्वसृष्ट्यादि के कर्त्ता स्वीय मायामुक्त, मायेश, सर्वगुहाशायी पुरुष जहाँ शयन करते हैं ।" श्रीविदुर के प्रश्न—"हे भगवन् ! तत्त्वगण के मध्य में प्रलय काल में किसकी

काशीखण्डेऽप्युक्तं श्रीध्रुवचरिते—

"न च्यवन्ते हि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः" ॥४०६॥ **इति।**

अहमेवेत्येवकारेण कर्त्रन्तरस्यारूपत्वादिकस्य च व्यावृत्तिः। आसमेवेति तत्रासम्भावनाया निवृत्तिः; तदुक्तम्—"यद्रूपगुणकर्मकः" इति। अतएव यद्वा, "आसमेव" इति ब्रह्मादि-वहिर्जनज्ञानगोचरसृष्ट्यादिलक्षणक्रियान्तरस्यैव व्यावृत्तिः, न तु स्वान्तरङ्गलीलाया अपि। यथाऽधुनाऽसौ राजा कार्य्यं न किञ्चित् करोतीत्युक्ते राज्यसम्बन्धिकार्य्यमेव निषिध्यते, न तु शयनभोजनादिकमपीति, तद्वत्। यद्वा, (पाणिनि० ६।४।६८) "अस गति-दीप्त्यादानेषु" **इत्यस्मात् आसं साम्प्रतं भवता दृश्यमानैर्विशेषैरेभिरग्रेऽपि विराजमान एवातिष्ठमिति निराकारत्वादि-कस्यैव विशेषतो व्यावृत्तिः। तदुक्तमनेन श्लोकेन साकारनिराकार-विष्णुलक्षण-कारिण्यां मुक्ताफलटीकायामपि—**"नापि साकारेष्वव्याप्तिः; तेषामाकारातिरोहितत्वात्" **इति; ऐतरेयकश्रुतिश्च** (वृ० १।४।१) **"आत्मैवेदमग्रे आसीत् पुरुषविधः" इति। एतेन प्रकृतीक्षणतोऽपि प्रागभावात् पुरुषादप्युत्तमत्वेन भगवज्ज्ञानमेव कथितम्। ननु क्वचिन्निर्विशेषमेव ब्रह्म आसीदिति श्रूयते? तत्राह** (भा० २।९।३२) **"नान्यद् यत् सदसत्परम्" इति। सत् कार्य्यमसत् कारणं**

सर्वसम्वादिनी

तत्रागृहीतशक्तित्वात्। किन्तु पूर्वधीस्थे वाच्यार्थेऽनुपपत्ति-दर्शने सति तदयोगेन स्वरूपतो वाच्यार्थ-सम्बन्धित्वेन चावगतस्यार्थान्तरस्य बोधकः;—गङ्गा-शब्दादौ तथा-दर्शनात्,—अन्यथातिप्रसङ्गात्। तथा

अनुवाद—

अवस्थिति किस प्रकार होती है। परमेश्वर के शयन के अनन्तर कौन सेवा निरत रहते हैं? एवं अनुशयन कौन करते हैं?" काशीखण्ड के ध्रुव चरित्र में वर्णित है—"जिनके भक्तगण महती प्रलयापद में भी अविचलित रहते हैं। अतः सर्वग अव्यय श्रीभगवान् को अच्युत कहते हैं। इस प्रकार अनेक उक्ति हैं। "अहमेवासमेवाग्रे" इस श्लोक में 'अहं एव – यह एव, अव्यय से अवधारणार्थ द्योतित होने से कर्त्रन्तर एवं अरूपादि की व्यावृत्ति होती है। अतएव रूपवान् कर्त्ता मैं ही उस काल में था। "आसमेव" पद से तात्कालिक विद्यमानता की असम्भावना की निवृत्ति बोधित होती है। यद्रूप गुण कर्मक पद उसका ही स्पष्टाभिव्यञ्जक है।

अथवा आसमेव पद का अन्य प्रकार अर्थ भी हो सकता है। ब्रह्मादि वहिर्जन ज्ञानगोचर सृष्ट्यादि लक्षण क्रियान्तर की व्यावृत्ति होती है केवल मैं हूँ। किसी प्रकार जागतिक सृष्ट्यादि कार्य नहीं करता हूँ। किन्तु अन्तरङ्ग लीलादि करता हूँ। जिस प्रकार अधुना राजा कार्य नहीं करता है, कहने से राजकार्य्य करना निषेध होता है। किन्तु शयन-भोजनादि का निषेध नहीं होता है। यहाँ भी तद्रूप अर्थ को जानना होगा। अथवा अस धातु का 'गति, दीप्ति, आदान' अर्थ होने से त्वत् कर्त्तृक दर्शन के पहले मैं मेरी मूर्त्ति में अवस्थित था" इस प्रकार अर्थ भी होता है। इससे निराकारत्व की व्यावृत्ति होती है। आकार एवं निराकार रूप में श्रीविष्णु की लक्षणकारिणी मुक्ताफल की टीका में "साकार लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। कारण मूर्त्ति—चिरविराजित है। वह कभी भी तिरोहित नहीं होता है।" इस प्रकार लिखित है। ऐतरेय श्रुति कहती है—"प्रथम यह जगत् पुरुषविध आत्मस्वरूप में ही अवस्थित था। इससे प्रकृति ईक्षण के पूर्व में ईक्षण कर्त्ता पुरुष से भी उत्तमत्त्व रूप में भगवत् ज्ञान ही अभिहित हुआ है। यदि आशङ्का हो कि—सृष्टि के पूर्व में निर्विशेष ब्रह्म ही रहा, किसी श्रुतिमें वैसा ही वर्णन भी है? उत्तर में कहते हैं—"सत् अथवा असत् से सत्—कारण, असत्—कार्य्य, कार्य्य-कारण से पृथक् जो ब्रह्म हैं, वह

तयोः परं यद्ब्रह्म तन्न मत्तोऽन्यत्। क्वचिदधिकारिणि शास्त्रे वा स्वरूपभूतविशेषव्युत्पत्त्य-समर्थे सोऽयमहमेव निर्विशेषतया प्रतिभामीत्यर्थः। यद्वा,तदानीं प्रपञ्चे विशेषाभावान्निर्विशेष-चिन्मात्राकारेण, वैकुण्ठे तु सविशेषभगवद्रूपेणेति शास्त्रद्वय-व्यवस्था। एतेन च (गी० १४।२७) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्यत्रोक्तं भगवज्ज्ञानमेव प्रतिपादितम्। अतएवास्य ज्ञानस्य परम-गुह्यत्वमुक्तम्। ननु सृष्टेरनन्तरं नोपलभ्यसे ? तत्राह—पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्म्येव, वैकुण्ठेषु भगवदाद्याकारेण, प्रपञ्चेष्वन्तर्याम्याद्याकारेणेति शेषः। एतेन (भा० ११।३।३५) "सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतुरहेतुरस्य" इत्यादिप्रतिपादितं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। ननु सर्वत्र घट-पटाद्याकारा ये दृश्यन्ते, ते तु त्वद्रूपाणि न भवन्तीति तवापूर्णत्वप्रसक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह यदेतद्विश्वं तदप्यहमेव, मदनन्यत्वान्मदात्मकमेवेत्यर्थः। अनेन (भा० २।७।५०)—

"सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्" ॥४१०॥

इत्याद्युक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा प्रलये योऽवशिष्येत सोऽहमेवास्म्येव। एतेन (भा० ३।५।२३)—"भगवानेक आसेदमग्रे आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्माऽनानामत्युपलक्षणः" ॥४११॥

इत्याद्युक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा पूर्वं स्वानुग्रहप्रकाश्यत्वेन प्रतिज्ञातं यावत्त्वं सर्व-कालदेशापरिच्छेद्यत्वज्ञापनयोपदिष्टम्। एवम् (भा० २।६।३२) 'नान्यद्यत् सदसत्परम्' इत्यनेन (गी० १४।२७)'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इति ज्ञापनया यथाभावत्वम्, सर्वाकारावयवि-भगवदाकार-

सर्वसम्वादिनी

च—ब्रह्मणो लक्ष्यतावाच्यार्थ-सम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वादौ प्रतिषेध-श्रुत्या वेदैकगम्यस्य शब्देनाज्ञेयत्वात्,

अनुवाद—

मुझ से पृथक् नहीं है।" शास्त्र के किसी विभाग में, अथवा स्वरूपभूत विशेष व्युत्पत्ति की असामर्थ्य स्थल में ही निर्विशेष रूप में प्रतिभात होता हूँ। अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है—उस समय प्रपञ्च विशेष का (अर्थात् स्वरूपभूत रूप, गुण शक्त्यादि का) अभाव वशतः निर्विशेष चिन्मात्र आकार में एवं वैकुण्ठ में सविशेष ब्रह्म रूप में अवस्थित रहता हूँ। यह ही विशेष निर्विशेष उभयविध शास्त्र की व्यवस्था है। इससे "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं" इत्यादि वाक्योक्त भगवत् ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है। अतएव भगवत् ज्ञान की परमगुह्यता ही हुई है। सृष्टि के बाद यदि अनुपलब्धि की आशङ्का होती है तो, उसके उत्तर में कहता हूँ। पश्चात् सृष्टि के अनन्तर मैं ही रहता हूँ। उस समय वैकुण्ठादि में भगवदादि मूर्त्ति रूपमें एवं प्रपञ्च में प्रापञ्चिक जीवान्तर्य्यामी रूप में अवस्थित रहता हूँ। इससे सृष्टि, स्थिति, प्रलय के हेतु-अहेतु" इत्यादि श्लोक में प्रतिपादित भगवत् ज्ञान ही उपदिष्ट हुआ है। प्रपञ्च में घट-पटादि का जो आकार दृष्ट होता है, वह आकार आपका नहीं है। वे सब आपके रूप न होने से आप में अपूर्णता अवश्य होगी ? उत्तर में कहते हैं—"परिदृश्यमान जगत् भी मैं हूँ। मेरे साथ अनन्यता के कारण विश्व, मदात्मक है। इससे "हे तात! विश्व भावन भगवान् की कथा मैं कहता हूँ। सदसत् से जो अन्य है, वह श्रीहरि व्यतीत अपर नहीं है।"

इत्यादि श्लोक में अभिहित भगवत् ज्ञान ही यहाँ उपदिष्ट हुआ है। पहले जो कुछ स्वीय अनुग्रह-प्रकाशत्व रूप में प्रतिज्ञान है, उसका सर्वकाल तथा सर्वदेश में अपरिच्छेद्यत्व ज्ञापन के निमित्त ही यह

निर्द्देशेन विलक्षणानन्तरूपत्वज्ञापनया यद्रूपत्वम्, सर्वाश्रयतानिर्द्देशेन विलक्षणानन्तगुणत्वज्ञापनया यद्गुणत्वम्, सृष्टि-स्थिति-प्रलयोपलक्षित-विविधक्रियाश्रयत्वकथनेनालौकिकानन्तकर्मत्वज्ञापनया यत्कर्मत्वञ्च। अथ यथानुभावत्वमुपदिशन् तादृशरूपादिविशिष्टस्यात्मनो विज्ञापनार्थं व्यतिरेकमुखेन मायालक्षणमाह (भा० २।९।३३) "ऋतेऽर्थम्" इत्यादि। पूर्वं व्याख्यातमेव। संक्षेपश्चायमर्थः—परमपुरुषार्थभूतं मामृते मद्दर्शनादन्यत्रैव यत् प्रतीयेत, यच्चात्मनि न प्रतीयेत, मां विना स्वतः प्रतीतिरपि यस्य नास्तीत्यर्थः; तद्वस्तु आत्मनो मम परमेश्वरस्य मायां विद्यात्। अत्र दृष्टान्तः—यथाऽऽभासः प्रतिबिम्बरश्मिः; यथा च तमस्तिमिरमिति। तत्राभासस्य तादृशत्वं स्पष्टमेव। तमसोऽपि ज्योतिर्दर्शनादन्यत्रैव प्रतीतेर्ज्योतिरात्मकं चक्षुर्विना चाप्रतीतेरिति। विद्यादिति प्रथमपुरुषनिर्द्देशस्याऽयं भावः। अन्यान् प्रत्येव खल्वयमुपदेशः—त्वन्तु मद्दत्तशक्त्या साक्षादेवानुभवन्नसीति। एवं मायिकदृष्टिमतीत्यैव रूपादिविशिष्टं मामनुभवेदिति। व्यतिरेकमुखेनानुभावनस्यायं भावः—शब्देन निर्द्धारितस्यापि मत्स्वरूपादेर्मायाकार्य्याविशेनैवानुभवो न भवति, अतस्तदर्थं मायात्याजनमेव कर्त्तव्यमिति। एतेन तदविनाभावात् प्रेमाप्यनुभावित इति गम्यते।

अथ तस्यैव प्रेम्णो रहस्यत्वंबोधयति (भा० २।९।३४)--

"यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्"॥४१२

सर्वसम्वादिनी

स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धौ च शब्दवैयर्थ्यादवाच्यत्वेन शब्दस्य लक्षकस्यैव वक्तव्यत्वात्; तत्रापि वाच्यसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वेन चानवस्थेति कथमवचनीये लक्षणेति।

इति श्रीभागवतसन्दर्भे श्रीसर्वसम्वादिन्यां श्रीभगवत्सन्दर्भानुव्याख्या ॥२॥

अनुवाद—

उपदेश है। समस्त कार्य का अवयवि स्वरूप श्रीभगवान् के आकार निर्देश से, विलक्षणरूपत्व, सर्वाश्रयता निर्देश से यद्रूपत्व, विलक्षण अनन्त गुणवत्व ज्ञापन से यद्गुणत्व, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के द्वारा उपलक्षित विविध क्रिया का आश्रयत्व निर्देश से एवं अलौकिक अनन्त कर्म का ज्ञापन से—यत् कर्मत्व प्रभृति कहा गया है।

अनन्तर तादृश रूप-गुण-क्रियादि विशिष्ट आत्मा का निर्देश अन्वयमुख से स्वरूप निर्देश करके व्यतिरेक मुख से दर्शाने के लिए माया का लक्षण कहते हैं—"ऋतेऽर्थं" इत्यादि। उसका संक्षेपार्थ यह है कि—परम पुरुषार्थभूत मद्व्यतिरिक्त जिसकी प्रतीति होती है, आत्मस्वरूप मुझमें जिसकी प्रतीति नहीं होती है। ऋतेऽर्थं श्लोक में 'विद्यात्' क्रिया पद से प्रथम पुरुष निर्देश हुआ है। उसका अभिप्राय—अपर के प्रति उपदेश किया गया है।

ब्रह्मा के पक्ष में विशेष यह है कि—"तुम मद्दत्त शक्ति से साक्षात् अनुभव कर रहे हो। व्यतिरेक अनुभव का तात्पर्य्य भी वह ही है। माया के कार्य्य में अभिनिविष्ट होने से—शब्द के द्वारा निर्द्धारित मत्स्वरूप का अनुभव नहीं होता है। अतएव जिससे मायिक कार्य में अभिनिवेश न हो ऐसा करना कर्त्तव्य है। इससे माया त्याग—भगवत्तत्त्वज्ञान एवं प्रेमानुभव होता है।

भगवत् प्रेम का रहस्यत्व। सम्प्रति भगवत्प्रीति का रहस्यत्व विबोधित हो रहा है। यथा—"जिस

यथा महाभूतानि भूतेष्वप्रविष्टानि वहिःस्थितान्यपि अनुप्रविष्टान्यन्तःस्थितानि भान्ति, तथा लोकातीतवैकुण्ठस्थितत्वेनाप्रविष्टोऽप्यहं तेषु तत्तद्गुणविख्यातेषु नतेषु प्रणतजनेषु प्रविष्टो हृदिस्थितोऽहं भामि। अत्र महाभूतानामंशभेदेन प्रवेशाप्रवेशौ तस्य तु प्रकाशभेदेनेति भेदेऽपि प्रवेशाप्रवेशमात्रसाम्येन दृष्टान्तः। तदेवं तेषां तादृगात्मवशकारिणी प्रेमभक्तिर्नाम रहस्यमिति सूचितम्। तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५।४८-४६)—

"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि,-स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४१३॥
प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन, सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" ॥४१४॥

अचिन्त्यगुणस्वरूपमपि प्रेमाख्यं यदञ्जनं तेन च्छुरितवत् उच्चैः प्रकाशमानं भक्तिरूपं विलोचनं तेनेत्यर्थः; (गी० ६।२६) "ये भजन्ति च मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" इति गीतोपनिषदश्च। यद्वा, तेषु यथा तानि वहिःस्थितानि चान्तःस्थितानि च भान्ति, तद्वद्भक्तेषु अहमन्तर्मनोवृत्तिषु वहिरिन्द्रियवृत्तिषु च विस्फुरामीति च। भक्तेषु सर्वथाऽनन्यवृत्तिताहेतुर्नाम

अनुवाद—

प्रकार महाभूत, उच्चावचभूत में प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रहता है, तद्रूप मैं जीव हृदय में प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रहता हूँ।" अर्थात् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुत्यनुमोदित महा भूतसमूह बाहर अवस्थित होकर भूत मध्य में प्रविष्ट रूपमें विराजित हैं। तद्रूप मैं लोकातीत वैकुण्ठ में अवस्थित हूँ। अतः प्रविष्ट न होकर भी उन-उन गुण विख्यात प्रणत जनके (भक्त के) हृदय में प्रविष्ट होकर विराजमान रहता हूँ। यहाँ महाभूत के सम्बन्ध में प्रवेश एवं अप्रवेश अंश भेद से सम्पादित होते हैं। जीव हृदय में एवं वैकुण्ठ में जो प्रवेश होता है, वह प्रवेश प्रकाश भेद से ही होता है। प्रकाश का तारतम्य ही प्रकाश-अप्रकाश का द्योतक है। दृष्टान्त के सहित विशेष पार्थक्य होने पर भी केवल प्रवेश-अप्रवेश रूप एकदेश की समता से ही दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्त में कहीं पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक के सर्वांश में समता नहीं होती है।

सुतरां जिस प्रेमभक्ति—ममत्व का सञ्चार जीवहृदय में होने से श्रीभगवान् वशीभूत होते हैं। प्रणत जीव के हृदय में भगवद्वशीकारिणी उक्त भक्ति विद्यमान रहती है। इससे उक्त प्रेमभक्ति की परम रहस्यता सूचित होते हैं।

श्रीब्रह्म संहिता में सुस्पष्ट उल्लेख है, "श्रीगोविन्द—अखिलात्मभूत (प्रियवर्ग के आत्मा से भी श्रेष्ठ हैं) श्रीभगवान् जो नित्य धाम गोलोक में, आनन्दचिन्मय परम प्रेमोज्ज्वल रस प्रतिभाविता स्वीया ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति रूपिणी देवीगण के सहित निवास करते हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ। साधुगण प्रेमरूप अञ्जनरञ्जित भक्तिनेत्र से नियत निरीक्षण करके जिन अचिन्त्यगुणस्वरूप श्यामसुन्दर को हृदय में स्थापन करते हैं, आदि पुरुष उन श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।"

अचिन्त्य गुणस्वरूप होने पर भी प्रेमाख्य अञ्जन द्वारा विशेष रूप से विभासितवत् भक्ति चक्षु का उन्मेष होने पर उसके द्वारा श्रीभगवान् की हृदयमें स्थिर भाव से आबद्ध कर रखा जा सकता है। अथवा भगवान् स्वयं ही हृदय में आबद्ध होते हैं। श्रीगीता में भगवान् स्वयं कहे हैं—"जो जन मेरा भजन भक्ति सहकार से करता है, वह मुझमें रहता है, और मैं उनमें रहता हूँ।" अथवा जिस प्रकार वहिःस्थित महाभूतसमूह भूतों के मध्य में विभासित होते हैं, तद्रूप मैं भक्त की मनोवृत्ति में एवं वहिरिन्द्रिय वृत्ति में

किमपि स्वप्रकाशं प्रेमाख्यमानन्दात्मकं वस्तु मम रहस्यमिति व्यञ्जितम्। तथैव श्रीब्रह्मणोक्तम् (भा० २।६।३४)—"न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते, न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।

न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे, यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः" ॥४१५॥ इति।

यद्यपि व्याख्यान्तरानुसारेणायमर्थोपलपनीयः स्यात्तथाप्यस्मिन्नेवार्थे तात्पर्य्यं प्रतिज्ञा-चतुष्टयसाधनायोपक्रान्तत्वात् तदनुक्रमगतत्वाच्च। किञ्च, तस्मिन्नर्थे न तेषु इति छिन्नपदमपि व्यर्थं स्याद्दृष्टान्तस्यैव क्रियाभ्यामन्वयोपपत्तेः। अपि च रहस्यं नाम ह्येतदेव यत् परमदुर्ल्लभं वस्तु दुष्टोदासीनजनदृष्टिनिवारणार्थं साधारणवस्त्वन्तरेणाच्छाद्यते, यथा चिन्तामणिः सम्पुटादिना। अतएव (भा० ११।२१।३५) "परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्" इति श्रीभगवद्वाक्यम्; तदेव च परोक्षं क्रियते, यददेयं विरलप्रचारं महद्वस्तु भवति, अस्यैवादेयत्वं विरलप्रचारत्वं महत्त्वञ्च; (भा० ५।६।१८) 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इत्यादिषु बहुत्र व्यक्तम्। स्वयञ्चैतदेव श्रीभगवता परमभक्ताभ्यामर्जुनोद्धवाभ्यां कण्ठोक्त्यैव कथितम् (गी० १८।६४) "सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः" इत्यादिना, (भा० ११।११।४९) "सुगोप्यमपि वक्ष्यामि" इत्यादिना च। इदमेव रहस्यं श्रीनारदाय स्वयं श्रीब्रह्मणैव प्रकटीकृतम् (भा० २।७।५१-५२)—"इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।

संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ॥४१६॥

अनुवाद—

नित्य स्फुरित होता रहता हूँ। मैं वाह्येन्द्रिय की अग्राह्यता वशतः अधोक्षज नाम से अभिहित होने से भी भक्त के निकट वैसा नहीं हूँ। भक्त मुझको अन्तर-बाहर देखता है। भक्त की सर्वप्रकार अनन्यवृत्तिता के कारण उसके हृदय में उदित स्वप्रकाश आनन्दात्मक प्रेमाख्य एक वस्तु वैसी ही है, जिसको मैं रहस्य शब्द से अभिव्यञ्जित करता हूँ।

उक्त अनन्यवृत्तिता के सम्बन्ध में ब्रह्मा की उक्ति इस प्रकार है—"हे नारद! मेरी वाणी कभी भी जैसे अन्य कथा न बोले, मेरी मनोगति जैसे असत् पथ में धावित न हो, मेरी इन्द्रियसमूह असत् पथ में परिचालित न हो। कारण मैं भक्त्युद्रिक्त हृदय में श्रीहरि को धारण किया हूँ।" यद्यपि यहाँ पर व्याख्यान्तर के द्वारा कुछ व्यक्ति उसका अपलाप करते हैं। तथापि उक्तार्थ ही होगा। कारण "ज्ञानं परमगुह्यं" इत्यादि श्लोकोक्त ज्ञान, विज्ञान, रहस्य एवं तदङ्गरूप विषय चतुष्टय के प्रतिपादन करने के निमित्त उपक्रान्त होने से एवं अनुक्रमानुसार उसका लाभ होने से यहाँ रहस्यार्थ ही समीचीन है। अन्यार्थ कल्पना के पक्ष में दृष्टान्त की क्रिया के द्वारा ही अन्वय की उपपत्ति होने से "न तेषु" इस छिन्न पद की व्यर्थता होती है। अपिच जो परम दुर्लभ वस्तु है, वह ही रहस्य है। दुष्ट उदासीन जन की दृष्टि निवारण के निमित्त साधारण वस्त्वन्तर के द्वारा उसको आवृत किया जाता है। जैसे सम्पुटादि के द्वारा चिन्तामणि को रखते हैं। अतएव श्रीभगवान् की उक्ति भी इस प्रकार है—"सब ऋषिगण परोक्षवादी हैं, परोक्ष ही मेरा प्रिय है।" अदेय विरलप्रचार महद्वस्तु का ही अदेयत्व, विरल प्रचारत्व, महत्त्व जानना होगा। श्रीभगवान् वरं मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्तियोग नहीं देते हैं।" अनेक स्थलों में सुव्यक्त है। श्रीभगवान् स्वीय भक्त अर्ज्जुन एवं उद्धव को कहे थे—"हे अर्जुन! पुनश्च सर्वापेक्षा गुह्यतम तत्त्व का वर्णन करता हूँ, श्रवण करो।" उद्धव को कहे थे—"तुम मेरा भृत्य हो, सुहृत् हो, सखा हो, तज्जन्य सुगोप्य होने पर भी तुम्हें कहूँगा।" ब्रह्मा स्वयं ही नारद को इस रहस्य को कहे थे। "सम्प्रति जो कुछ

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्पच्च वर्णय" ॥४१७॥ इति ।

तस्मात् साधु व्याख्यातं स्वामिचरणैरपि (भा०टी० २।९।३०) "रसस्यं भक्तिः" इति ।

अथ कथं तथाभूतं रहस्यमुदयेतेत्यपेक्षायां क्रमप्राप्तं रहस्यपर्य्यन्तसाधकत्वात् रहस्यत्वेनैव तदङ्गभूतं तदीयसाधनमुपदिशति (भा० २।९।३५)—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥४१८

आत्मनो मम भगवतस्तत्त्वजिज्ञासुना प्रेमरूपं याथार्थ्यं रहस्यमनुभवितुमिच्छुना एतावदेव जिज्ञास्यं श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयम् । किं तत् ? यदेकमेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विधि-निषेधाभ्यां सदा सर्वत्र स्यादुपपद्यते । यथा (भा० २।२।३३)—

"न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्" ॥४१९॥

इति व्यतिरेकेणोपक्रम्य तदुपसंहारे (भा० २।२।३६)—

"तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्" ॥४२०॥

इत्यन्वयेन सर्वत्र सर्वदेत्युक्तम्। तस्मात् स्वज्ञान-विज्ञान-रहस्य-तदङ्गानामुपदेशेन चतुःश्लोक्या-मपि स्वयं श्रीभगवानेवोपदिष्टः । अत्र (भा०२।९।९) "तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः"इति भगवच्छब्देन, (भा० २।९।१४) "ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिम्" इत्यत्र तापनीश्रुत्याद्यनुकूलित-

अनुवाद—

मैंने कहा, उससे अज्ञानान्ध जीवगण सर्वात्मा अखिल विश्व के आधार श्रीहरि में भक्ति प्राप्त कर सके, तदुद्देश्य से तुम इसका वर्णन विस्तार से करो ।" अतएव देखने में आता है कि—"ज्ञानं परमगुह्यं" इस श्लोक की टीका में स्वामिपाद भी "रहस्यं—भक्तिः" इस प्रकार रहस्य पद का अर्थ 'भक्ति' करके साधु-व्याख्या किए हैं ।

तादृश 'रहस्य' कैसे जीव के हृदय में उदित हो सकता है । तज्जन्य क्रमलब्धा तदङ्गभूता साधनभक्ति का उपदेश करते हैं । यथा—"आत्मतत्त्व जिज्ञासु कर्त्तृक, श्रीभगवान् अन्वय, व्यतिरेक द्वारा सर्वत्र सर्वदा अवस्थित हैं ।' यह ही चरम जिज्ञास्य है । अर्थात् आत्मतत्त्व जिज्ञासु (श्रीभगवत्तत्त्व जिज्ञासु जन को) जन को प्रेमरूप परमरहस्य को जानने के लिए श्रीगुरु के समीप में इसकी शिक्षा करना परम कर्त्तव्य है । जो एक तत्त्व, विधि एवं निषेध के द्वारा सर्वत्र सर्वदा विद्यमान हैं । कारण अन्यत्र भी उक्त है—,'संसारी जीव की भक्तिप्राप्ति श्रीभगवान् वासुदेव के चरणों में हो, तद्भिन्न अपर मङ्गलमय पथ नहीं है ।"

यह ही व्यतिरेकमुख से श्रीभगवद्भक्ति का उपदेश है । इसके उपसंहार में—"सुतरां हे राजन् ! सब समय, सर्वत्र, सब देश में, सब प्रकार से श्रीभगवत् कथादि श्रवण, उनके नामादि का कीर्त्तन स्मरण करना मनुष्यमात्र का ही कर्त्तव्य है ।" यह ही अन्वयमुख से उपदेश है । तन्निमित्त ही श्रीभगवान् स्वयं ही श्लोक चतुष्टय के द्वारा स्वीय तत्त्वज्ञान, विज्ञान, रहस्य, तदङ्ग का उपदेश किए हैं । "श्रीभगवान् सम्यक् आराधित होकर उनको निज लोक दिखाये थे ।" तत्पश्चात् ब्रह्मा "उक्त लोक में अखिल सात्वत गण के पति का दर्शन किये थे" । यहाँ तापनी श्रुति के अनुकूल (अर्थात् ब्रह्मा जिनका दर्शन किए थे) ब्राह्मणगण के प्रश्नोत्तर में उक्त रूप का ही उपदेश किए थे ।

श्रीकृष्णत्वलिङ्गेन चास्य वक्तुः श्रीभगवत्त्वमेव स्फुटम् । न जातु तदंशभूत-नारायणाख्य-गर्भोदधिशायिपुरुषत्वम् । अतएवास्य महापुराणस्यापि श्रीभागवतमित्येवाख्या । तथैवोक्तम् (भा० १२।१३।१९) "कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा" इत्यादौ "तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि" इत्यत्र पर-शब्देन भगवद्वक्तृत्वम्; (भा० २।६।४२) 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' इति द्वितीये भेदाभिधानात् । अतः (भा० १२।१३।१०)—

"इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् संप्रकाशितम्"।।४२१

इत्यत्रापि भगवच्छब्दप्रयोगः । श्रीनारायणनाभिपङ्कजे स्थितं ब्रह्माणं प्रति स्वयं श्रीभगवता तत्रैव व्यापिमहावैकुण्ठं प्रकाश्येदं पुराणं प्रकाशितमित्यर्थः । अनुगतश्चैतत् द्वितीयस्कन्धेतिहासस्येति ।। श्रीभगवान् ब्रह्माणम् ।।

९७ । तदेतत् सर्वशास्त्राणां समन्वयस्तस्मिन्नेव भगवति ; तथा च—

"सर्वैश्च वेदैः परमो हि देवो, जिज्ञास्यो नान्यो वेदैः प्रसिध्येत् ।
तस्मादेनं सर्ववेदानधीत्य, विचार्य्य च ज्ञातुमिच्छेन्मुमुक्षुः" ।।४२२।।

इति चतुर्वेदशिखायाम् ; (नृ०ता०पू० २।४) "यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" इति श्रीनृसिंहतापन्याम्; (कठ० १।२।१५) "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति", "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं, सर्वानुभूतमात्मानं साम्पराये", (बृ० ३।९।२६) "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिरन्यत्र

अनुवाद—

"श्रीकृष्णो वै परमं दैवतम्" (तापनी, पू, ३) इत्यादि प्रकरण में "सत् पुण्डरीक नयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्" इत्यादि । श्रीकृष्णमूर्त्ति का दर्शन प्राप्त करने से प्रस्तुत चतुःश्लोकी का वक्ता पुरुष की भगवत्त्वा भी परिस्फुट हुई है । अर्थात् चतुःश्लोकी का कथन श्रीकृष्णचन्द्र ही किए थे, यह परिस्फुट हुआ है । चतुःश्लोकी नारायणाख्य गर्भोदशायी पुरुष कर्त्तृक अभिहित नहीं है । अतएव इस महापुराण का नाम श्रीमद्भागवत हुआ है । द्वादश स्कन्धमें उक्त है—"अतुल ज्ञान प्रदीप को पुराकल्प में प्रदान किए थे । (ब्रह्मा के हृदयान्धकार को विदूरित करके विभासित हुए थे)" "वह शुद्ध, विमल, विशोक, अमृत, सत्य स्वरूप परतत्त्व श्रीकृष्ण का मैं ध्यान करता हूँ ।" यहाँ पर भी "पर" शब्द के द्वारा भगवत् वक्तृत्व प्रदर्शित हुआ है । यदि कहो "परपुरुष का आद्य अवतार" इस श्लोक में परपदाभिहित तत्त्व का भेद, निर्देश हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । कारण—श्रीभगवत् कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में अनेक उक्ति देखी जाती है । यथा—"नाभिपङ्कज में स्थित भवभीत (संसार भयसे भीत) ब्रह्मा को कारुण्यवशतः श्रीभगवान् यह भागवत का उपदेश सम्यक् प्रकार से दिये थे ।" यहाँ भी साक्षात् भगवत् शब्द ही प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् ब्रह्मा श्रीनारायण के नाभिपङ्कज में अवस्थित होने पर भी स्वयं भगवान् वहाँ पर ही स्वीय महा-वैकुण्ठ को प्रकाश कर—अनन्तर श्रीभागवत पुराण का प्रकाश किए थे ।

द्वादश स्कन्ध की उक्ति भी द्वितीय स्कन्धोक्त आख्यायिका का ही सम्पूर्ण अनुगत है ।

श्रीभगवान् ब्रह्मा को कहे थे ।।९६।।

श्रीभगवान् में ही समस्त शास्त्रों का समन्वय है । अतएव श्रीभगवान् में ही समस्त शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य्य है । यथा, चतुर्वेद शिखा श्रुति में वर्णित है—"समस्त वेदों में उक्त परदेवता ही वर्णित है । वेद में अन्यान्य देवताओं की प्रसिद्धि नहीं है । सुतरां समस्त वेदाध्ययन एवं विचार करके मुमुक्षुगण उन परदेवता श्रीभगवान् को जानने की इच्छा करें ।" श्रीनृसिंहतापनी में उक्त है—"मुमुक्षुगण, ब्रह्मवादिगण एवं देवतावृन्द भी जिनकी पूजा स्तुत्यादि के द्वारा करते रहते हैं ।" "समस्त वेद जिनकी महिमा गान

श्रुतौ; (गी० १५।१५) "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" इति श्रीगीतोपनिषत्सु; "सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम,-व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते" इति पाद्मे; "सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदेड़ितश्च सः" इति स्कान्दे; (वि०पु० १।१४।२३) "नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" इति वैष्णवे;

"सर्ववेदान् सेतिहासान् सपुराणान् सयुक्तिकान्। सपञ्चरात्रान् विज्ञाय विष्णुर्ज्ञेयो न चान्यथा"॥४२३॥

इति ब्रह्मतर्के। तदेवं सर्ववेदसमन्वयं स्वस्मिन् श्रीभगवत्येव स्वयमाह (भा० ११।२१।४३) **"मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्पयापोह्यते ह्यहम्" इति; मामेव यज्ञपुरुषं विधत्ते, श्रुतिः मामेव तत्तद्देवतारूपमभिधत्ते। यच्चाकाशादिप्रपञ्चजातम्** (तै० २।१।३) **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना विकल्पयापोह्यते, तदप्यहमेव, न मत्तः पृथगस्ति; सर्वस्य मदात्मकत्वादिति भावः॥ श्रीभगवान्॥**

६८। तदेवं भगवत एव सर्ववेदार्थत्वं दर्शितम्। तत्र राज्ञः प्रश्नः। श्रीविष्णुरात उवाच
(भा० १०।८७।१)—**"ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्य निर्गुणे गुणवृत्तयः।**
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे"॥४२४॥

अस्यार्थः—श्रुतयस्तावच्छब्दमात्रस्य साधारण्याद्गुणेषु सत्त्वादिषु वृत्तिर्यासां तादृश्यो

अनुवाद—

करते हैं। जो समस्त तपस्या का फलस्वरूप हैं।" "देहत्याग के समय अवेदज्ञ व्यक्ति, उन वृहत् सर्वानुभूत आत्मा को जान नहीं सकता।" "उन औपनिषद् पुरुष को जानने की इच्छा करें।" श्रीगीतोपनिषद् में उक्त है—"समस्त वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ। वेदान्तकृत् एवं वेदज्ञ भी मैं ही हूँ।" पद्मपुराण में उक्त है—"समस्त वेदों के तात्पर्य्य विचार करके सिद्धान्त से एक श्रीविष्णु ही निर्णीत हुए हैं।" स्कन्दपुराण में वर्णित है—"एक विष्णु ही वेद में निखिल नामों से अभिहित एवं स्तुत होते हैं।"

विष्णुपुराण में उक्त है—"समस्त जगत की एवं वेदादि समस्त वाक्यों की शाश्वती प्रतिष्ठा स्वरूप उन श्रीभगवान् को हम सब प्रणाम करते हैं।" ब्रह्मतर्क में भी उक्त है—"इतिहास के सहित समस्त वेद, सकल पुराण, युक्ति, पञ्चरात्रादि शास्त्र को विशेष रूपसे विचार करने से भगवान् श्रीविष्णु ही ज्ञात होते हैं। अन्यथा उनको जाना नहीं जाता है।" श्रीभगवान् में ही समस्त वेदों का समन्वय है—इसका कथन श्रीभगवान् ने स्वयं ही किया है। वेद—मुझको यज्ञपुरुष रूपमें एवं उन-उन यज्ञीय देवता रूपमें अभिहित करते हैं, एवं आकाशादि प्रपञ्च भी मैं ही हूँ, इसका निर्द्धारण भी करते हैं।" अर्थात् "तस्माद् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः।" इस श्रुति के अवलम्बन से आकाशादि प्रपञ्च से आरम्भ करके 'तावत् देवता, यज्ञा व विष्णुः'—इस श्रुति के अवलम्बन से यज्ञ भी मुझको छोड़कर पृथक् अपर कोई वस्तु नहीं है। अतएव समस्त ही मदात्मक रूप में निर्द्धारित हुए हैं।

यह उक्ति श्रीभगवान् की स्वयं की है॥६७॥

श्रीभगवान् में ही सर्ववेदार्थतात्पर्य्य है,—कहने पर महाराज परीक्षित सन्दिग्ध चित्त से प्रश्न किए थे। वेद का वाच्य भगवान् कैसे हो सकते हैं? उस प्रश्न का उत्तर श्रुतिगणकृत भगवत् स्तुति के द्वारा सुविशद् रूप से किया गया है।

जीव मात्र ही श्रीभगवान् कर्त्तृक रहित होने पर भी जिनकी विशेष रक्षा के फलस्वरूप विष्णुरात" आख्या से विभूषित होकर जो जगत् में प्रसिद्ध थे, उन परमभागवत महाराज प्रश्न किये थे—"हे ब्रह्मन्! अनिर्देश्य निर्गुण सदसदातीत ब्रह्म का प्रतिपादन—गुणवृत्तिविशिष्ट श्रुतिगण कैसे कर सकती है? अर्थात् श्रुतिसमूह की वृत्ति, शब्दमात्र की साधारण सत्त्व-रजो-तमः आदि गुण की कार्य्यभूत जाति, गुण, क्रिया

दृश्यन्ते ; ब्रह्म तु निर्गुणं सत्वादिगुणातीतं तस्मादेवानिर्द्देश्यम् । तत्तद्गुणकार्य्यभूत-जाति-गुण-क्रियाख्यानां गुणान्तराणामभावास्पदत्वात्तादृशद्रव्यस्याप्यप्रसिद्धत्वादनिर्द्देश्यं सत्त्वादि-कार्य्यभूताभ्यां सदसद्भ्यां कार्य्यकारणाभ्यां परमिति तेन तेनासम्बन्धं चेत्यर्थः। तथा च सति यथा डित्थवाचि कस्मिंश्चिदद्वितीये द्रव्ये तच्छब्दस्य मुख्या वृत्तिः प्रवर्त्तते। यथा च— "सिंहो देवदत्तः" इत्यत्र गौण्या वृत्त्या शौर्य्यगुणयुक्ते देवदत्ते सिंहशब्दः प्रवर्त्तते। यथा च— "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र लक्षणया वृत्त्या गङ्गाशब्दस्तस्मिन्नित्यसम्बन्धे तटे प्रवर्त्तते, तथा तत्तदभावास्पदे ब्रह्मणि तया तया वृत्त्या श्रुतयः कथं प्रवर्त्तेरन् ? श्रुतीनाञ्च (ब्र०सू० १।१।३) 'शास्त्रयोनित्वात्' इति न्यायेन तत्प्रतिपादकतायामनन्यानां तत्र प्रवृत्तिरवश्यं वक्तव्या; स्वतः-प्रमाणानाञ्च तासां मुख्या प्रवृत्तिस्तु विशेषतो वक्तव्या। तस्मात्तस्मिंस्ताः साक्षाद्रूपतया मुख्यया वृत्त्या केन प्रकारेण चरन्ति; तं प्रकारं विशेषतः कृपयापि स्वयमुपदिशेति। अन्यथा पदार्थत्वायोगादपदार्थस्य च वाक्यार्थत्वायोगान्न श्रुतिगोचरत्वं ब्रह्मणः स्यादिति स्थिते कुतस्तरां तदुपरिचरस्फूर्त्तेर्भगवतस्तद्गोचरत्वम्, तत् कथमेव 'स्वभक्तयोः' इत्यादौ स्वतां स्वतप्रमाणभूतानां वेदानां मार्गं भगवत्परत्वमादिश्येत्युक्तमिति। स्वतःप्रामाण्यसिद्धये मुख्य-

अनुवाद—

में ही वृत्ति दृष्ट होती है। ब्रह्म, सत्त्वादि गुणातीत है, सुतरां निर्गुण—तज्जन्य अनिर्द्देश्य है, जाति-गुण-क्रिया के द्वारा ही वस्तु का निर्देश होता है।

सत्त्वादि गुणों के तारतम्य के अनुसार जातिगुणादि विशिष्ट द्रव्य निर्देश्य है, यह गुणमयी सृष्टि है।

जिसमें गुण सम्बन्ध नहीं है, ऐसी वस्तु की प्रसिद्धि भी नहीं है, वह शब्द वेद्य भी नहीं हो सकती है। ब्रह्म में गुणों का असद्भाव है, ब्रह्म, सदसत् कार्य्यकारणातीत हैं। पर कार्य्यतः, कारणतः असम्बन्ध—सुतरां अनिर्द्देश्य है। द्रव्योपलब्धि के प्रति वह कारण होने से, डित्थादि शब्द वाच्य अद्वितीय द्रव्य में डित्थ शब्द की मुख्यावृत्ति प्रवर्त्तित होती है। अर्थात् अभिधावृत्ति डित्थ—शब्द से उसका बोध करा देती है। किन्तु सिंहो देवदत्तः,—यहाँ उस प्रकार मुख्यावृत्ति नहीं होती है। कारण—सिंह शब्द, सिंह को न समझा कर गौणी वृत्ति के द्वारा शौर्य्यादि गुणसम्पन्न देवदत्त में प्रवर्त्तित होता है। जिस प्रकार—"गङ्गायां घोषः" शब्द उच्चारण करने से लाक्षणिक वृत्ति के द्वारा गङ्गा शब्द के सहित नित्य सम्बन्ध विशिष्ट शीतत्व पावनत्वादि सम्बन्धविशिष्ट तट में गङ्गाशब्द प्रवर्त्तित होता है। किन्तु सर्वथा गुणादि का अभावास्पद ब्रह्म में एतदुभय वृत्ति के द्वारा श्रुति समूह किस प्रकार प्रवर्त्तित हो सकती हैं ?

इसका तात्पर्य्य यह है कि—सिंह अथवा गङ्गादि शब्द से शौर्य्यादि गुणशाली सिंह, गङ्गादि शब्द से पवित्र जलमयादि का बोध होता है। किन्तु ब्रह्म पहले से ही अनिर्द्देश्य होने से शब्द की अभिधा अथवा लाक्षणिक वृत्ति ब्रह्म को विषय नहीं कर सकती है। यह ही आशङ्का है।

वस्तुत "शास्त्रयोनित्वात्" इस न्याय के अनुसार ब्रह्मतत्त्व निर्णय में श्रौत शब्द का प्रामाण्य अथवा तत् शब्द की प्रवृत्ति अवश्य स्वीकार्य्य है। सुतरां ब्रह्म में उक्त समुदाय स्वतः प्रमाणरूपा श्रुतिसमूह की साक्षात् प्रवृत्ति विद्यमान होने से, मुख्यावृत्ति से किस रीति से प्रवर्त्तित श्रुति समूह होती है, उसका उपदेश कृपया करें। यह ही राजा का प्रश्न था।

स्वतः प्रमाण शब्द की ब्रह्म प्रतिपादकता अस्वीकृत होने से पदार्थत्वायोग होता है, एवं अपदार्थ होने से वाक्यार्थ का अयोग स्वाभाविक होगा। अतः जब ब्रह्म ही प्रतिपाद्य नहीं है, तब ब्रह्म के चरम विकाश रूप को भगवान् कहते हैं, उनमें श्रुतिगोचरता है ? श्रीकृष्ण निज भक्तद्वय को सन्मार्ग का उपदेश प्रदान

वाक्यानां तु साक्षाच्चरणमवश्यं वक्तव्यम्, लक्षणादौ प्रमाणान्तरमूलत्वात्। ततो यत्र लक्षणादिकमपि न सम्भवति, तत्र कथन्तरां साक्षाच्चरणमिति भावः।

अत्र श्रीशुकदेवेन दत्तमुत्तरमाह; ऋषिरुवाच (भा० १०।८७।२)—

"बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः। मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च"॥४२५

बुद्धयादीनुपाधीन् जनानामनुशायिनां जीवानां मात्राद्यर्थं प्रभुः परमेश्वरोऽसृजत्, न तु जनाः स्वाविद्ययासृजन्निति विवर्त्तवादः परिहृतः। मीयन्त इति मात्रा विषयास्तदर्थम्;भवार्थं भवो जन्मलक्षणं कर्म तत्प्रभृतिकर्मकरणार्थमित्यर्थः। आत्मने लोकान्तरगामिने; आत्मनस्तत्तल्लोकभोगायेत्यर्थः। अकल्पनाय कल्पनानिवृत्तये मुक्तये इत्यर्थः। अर्थ-धर्म-काम-मोक्षार्थमिति क्रमेण पदचतुष्टयस्यार्थः। मोक्षोऽप्यत्र चिन्मात्रतयावस्थितिरूपः (भा० ५।१९। १८-१९) "यथावर्णविधानमपवर्गश्च भवति। योऽसौ भगवति" इत्यादिना"अनन्यनिमित्तभक्ति-योगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण" इत्यन्तेन पञ्चमोक्तगद्येन तथा निरुक्तत्वात् साध्यभक्तिप्रादुर्भावलक्षणश्चेति द्विविधो ज्ञेयः। उभयत्रापि कल्पनारूपाविद्याग्रा

अनुवाद—

कर द्वारका लौट गये थे। पूर्वाध्याय के अन्तिम में उक्त वाक्य से ही सन्देह उपस्थित होता है कि ब्रह्मतत्त्व का चरम विकाश का वर्णन शास्त्र से कैसे सम्भव हो ?

एतद्विषय में ऋषिगण के मतानुसार श्रीशुकदेव ने जो उत्तर प्रदान किया था, उसकी समीक्षा हो रही है। यथा—"परमेश्वर जीवगण के सम्बन्ध में विषय, जन्म कर्मादि एवं मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त बुद्धि इन्द्रिय, मन, प्राणादि का सृजन किए हैं।" अर्थात् परमेश्वर अनुशयी जीवगण के निमित्त बुद्धि प्रभृति का सृजन किये थे। इससे मायावादिगण कर्त्तृक स्वीकृत जीवाविद्या कल्पित जगदादि नहीं है। इसको दर्शाकर उक्त विवर्त्तवाद—अतत्त्वतोऽन्यथाख्याति का निरास मूलतः हुआ है। 'मीयते'—इति मात्राः विषयः, इस व्युत्पत्ति के द्वारा मात्रा पद सिद्ध होने से मात्रा शब्द का भोगार्थ विषयादि का बोध होता है। 'भवार्थं' भवः—जन्मलक्षण कर्म अर्थात् कर्मावलम्बन से ही जन्म होता है। इस प्रकार जन्म प्रभृति कर्म करने के निमित्त सृजन किया गया है। आत्मने—आत्मा का लोकान्तर गमन के निमित्त अर्थात् कर्मानुसार उस-उस लोक में गमन एवं तल्लोकस्थ सुख-दुःखादि का भोग करने के निमित्त। अकल्पनाय—कल्पना की निवृत्ति के निमित्त, अर्थात् मुक्ति के निमित्त।

यहाँ क्रमशः चतुर्विध पुरुषार्थ का,—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का वर्णन हुआ है। अर्थात् विषय से,—अर्थ अर्थ प्रयोजन। आजन्म कर्म से,—धर्म। लोकान्तरगामी आत्मा का भोग से,—काम। कल्पना की निवृत्ति से,—मोक्ष रूप चतुर्वर्ग पुरुषार्थ को कहा गया है।

चिन्मात्रस्वरूप में अवस्थिति ही मुक्ति है। "मुक्तिर्हित्वान्यथाख्यातिः स्वरूपेण व्यवस्थितिः" अर्थात् देव मनुष्यादि रूप अन्यथाख्याति को परित्याग कर शुद्ध जीवरूप में अवस्थिति ही मुक्ति है। पञ्चमस्कन्ध में अभिहित है। "स्व स्ववर्णाश्रमोचित धर्मानुष्ठान के द्वारा अनुगृहीत भक्तियोग द्वारा अथवा श्रीभगवान् में वर्णाश्रमोचित कर्मार्पण द्वारा जीवगण मुक्त होता है।" परवर्त्ति गद्य में—"जीवगण श्रीभगवान् में अनन्य निमित्त भक्तियोग के अनुष्ठान द्वारा देव, मनुष्य, नारकादि विविध गति की निमित्तभूता अविद्या वन्धन को छेदन कर मुक्तिलाभ करते हैं।" यहाँ साधनभक्ति का अनुष्ठान से साध्या प्रेमभक्ति का प्रादुर्भाव पर्य्यन्त, भक्ति की उभयावस्था ही ज्ञातव्य है। उभय स्थल में ही कल्पनारूप अविद्या की निवृत्ति होती है।

निवृत्तेः। एतदुक्तं भवति—यस्मात् स्वयमीश्वरस्तत्तदर्थं तत्तत्साधकत्वेन दृश्यमानानां जीवानां बुद्धयादीन् सृष्टवान्, तस्मात्तत्सम्पादनशक्तिनिधानयोग्यतां तेषु कृतवानिति लभ्यते। तत्र त्रिवर्गसम्पादिकाः शक्तयः कल्पनात्मिका मायावृत्त्यविद्याशक्तेरंशाः, वहिर्मुख-कर्मात्मकत्वात् स्वरूपान्यथाभाव-संसारित्वहेतुत्वाच्च। अपरा मोक्षसम्पादिका शक्तिरकल्पना-रूपा चिच्छक्तेरेवांशः, अन्तर्मुखज्ञानभक्तिरूपत्वात् स्वरूपान्यथाभावसंसारित्वच्छेदहेतुत्वाच्च। एवञ्च यावज्जीवानां भगवद्वहिर्मुखता, तावत् केवलं कल्पनात्मिकानामविद्याशक्तीनां प्रकाशात्तत्प्रधाना बुद्धयादयः सगुणा एवेति निर्गुणं साक्षान्न कुर्वत इत्येवं सत्यमेव। यदा तु तदन्त-र्मुखता, तदा तेषु चिच्छक्तेः प्रादुर्भावात् तं साक्षात्कुर्वत एव इति स्थिते बुद्धयादिमयत्वाद्-वचसोऽपि तथा व्यवहारः सिध्यति। तदत्रैवाभेदेन सिद्धान्तितमन्ते (भा० १०।८७।४९)—

"तदेतद्वर्णितं राजन् यो नः प्रश्नः कृतस्त्वया।
यथा ब्रह्मण्यनिर्द्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत्" ॥४२६॥

इत्यत्र मन इति। तत्र बुद्धयादौ चिच्छक्तिस्तदीयाप्राकृत-परमानन्दस्वरूपतादृशगुणादि-स्वयं-प्रकाशमयी वचसि च तत्तनिर्द्देशमयीति ज्ञेयम्। अतोऽप्राकृत-तादृशस्वरूपाद्यालम्वनेन

अनुवाद—

उपरि उक्त उत्तर श्लोकमें वह विषय अभिहित है। कारण ईश्वर,—स्वयं ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्षादि का साधक दृश्यमान उपाय रूपमें बुद्धीन्द्रियादि का सृजन किये हैं। अर्थात् बुद्धि प्रभृति में उक्त कार्यसमूह का सम्पादन के उपयोगी शक्ति निहित कर बुद्धि इन्द्रिय प्रभृति को कार्य्योपयोगी किये हैं।

अर्थ, धर्म, काम रूप त्रिवर्ग सम्पादिका शक्ति सकल वहिर्मुख कर्मात्मिका होने से कल्पनात्मिका माया वृत्ति है। सुतरां अविद्या शक्ति की अंशरूपा है। कारण उसके द्वारा जीव शुद्ध जीवस्वरूप का अन्यथा भावरूप देवादि देह को प्राप्त कर संसारी होता है। अर्थात् धर्मादि पुण्यानुष्ठान से दिव्य देहादि होने से भी देहाभिमान नष्ट नहीं होता है। यावत् देहाभिमान रहता है, तावत्काल पर्य्यन्त अविद्या का प्रभाव अक्षुण्ण रहता है। अविद्या निवृत्ति के सहित ही अन्यथा ख्याति तिरोहित होती है।

अपरा-मोक्ष सम्पादिका शक्ति—अकल्पनारूपा है। कारण वह अन्तर्मुख ज्ञान एवं भक्तिरूपा होने से एवं अन्यथा भावरूप संसरण की छेदिका होने से वह चित्शक्ति की अंशरूपा है। वह जीव की अज्ञानावरण से उन्मुक्त करके मोक्ष प्राप्त कराती है।

अतएव जब तक जीव की भगवद्वहिर्मुखता है, तव तक कल्पनात्मिका अविद्याशक्ति सकल के प्रसार से बुद्धयादि भी तत् प्रधाना होकर सगुणा होती हैं। उक्त सगुणा बुद्धयादि निर्गुण को (प्राकृत गुणातीत को) प्राप्त नहीं कर सकती है—यह अतीव सत्य है। पुनश्च उक्त बुद्धयादि की अन्तर्मुखतावस्था में उसमें चित् शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उससे प्राकृत-गुणलेशशून्य होने से निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार सम्भव होता है। अतएव बुद्धयादि मयता हेतु वाक्यादि का व्यवहार सगुण निर्गुण शब्द से होता है। अर्थात् जब मायिक बुद्धीन्द्रियादि रहती हैं, उस समय माया सम्बलित वागादि का प्राकृतत्व होता है। जिस समय चित्शक्त्युद्भासिता बुद्धीन्द्रियादि होती है। उस समय वागादि का अप्राकृतत्व अथवा चिन्मयत्व होता है। प्रत्येक चिन्ताशील व्यक्ति निज जीवन में इसकी आंशिक उपलब्धि कर सकते हैं। उपसंहार में अभेद में सिद्धान्तित हुआ है। यथा—"हे राजन्! आपके द्वारा उपस्थापित प्रश्न के उत्तर में निर्गुण अनिर्देश्य ब्रह्म में भी जिस प्रकार से मन अवस्थित होता है, उसका वर्णन मैंने किया है।" उस समय बुद्धयादि में स्वयं प्रकाशमयी चित्शक्ति एवं अप्राकृत परमानन्दस्वरूप तादृश गुणादि एवं स्वयं प्रकाशमयी वाक्य में

श्रुतयश्चरन्तीति सिद्धान्तयिष्यते। तदेवं पौरुषेयस्यापि वचसो भगवच्चारित्वं सिद्धम्; यथोक्तम् (भा० १।५।११) "यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि" इति। तथा च सति तथाविध-वचआदीनामेकाश्रयस्य साक्षाद्भगवन्निश्वासाविर्भाविनोऽपौरुषेयस्य तच्चारित्वं किमुत। तस्मात् साक्षादपि चरन्त्येव श्रुतयः। वक्ष्यते च (भा० १०।८७।१४) "क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः" इति। तथा च प्रणवमुद्दिश्योक्तं द्वादशे (भा० १२।६।४८)—

"स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदवीजं सनातनम्" ॥४२७॥ इति।

श्रुतौ तु "ओमित्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम" इति; नेदिष्ठं लक्षणादिव्यवधानं विनेत्यर्थः। अतएव केन च प्रकारेण साक्षाच्चरन्ति स कथ्यतामित्येव राजाभिप्रायः। अत्र शब्दनिर्द्देश्यत्वे दोषस्त्वग्रे (भा० १०।८७।४१) "द्युपतयः" इत्यत्र परिहार्य्यः। अथ श्रुतिष्वपि याः काश्चित्त्रिवर्ग-परत्वेन वहिर्मुखाः प्रतीयन्ते, तासामप्यन्तर्मुखतायामेव पर्य्यवसानम्। तथाहि परमेश्वरस्य सतत-परमार्थवहिर्मुखतापराहत-जीवनिकायविषयकृपाविलासपर्य्यवसायिनिश्वासरूपाः श्रुतयः

अनुवाद—

तत्त्व निर्देशमयी श्रुति—इत्यादि शब्द का आविर्भाव होता है।

अतएव अप्राकृत परमानन्दस्वरूपादि के अवलम्बन से ही श्रुति प्रवर्त्तित होती है, यह सिद्धान्त हुआ। अपौरुषेय श्रुत्यादि वाक्य के समान पौरुषेय वाक्य का भी श्रीभगवत् चारित्व अर्थात् श्रीभगवत् तत्त्व प्रतिपादकत्व होता है। उक्त पौरुषेय वाक्य के सम्बन्ध में उक्त है—

"तद्वाग् विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥"

अर्थात् सौष्ठव व्यतीत रचना भी यदि भगवद् यशः वर्णन प्रधान हो तो वह रचना जनगण के पापसमूह को विनष्ट करती है। साधुगण अनन्त के यश परिपूरित नाम श्रवण कीर्त्तनादि के द्वारा आत्मशुद्धि करने का विधान प्रदान करते हैं।" पौरुषेय वाक्य के सम्बन्ध में ही जब ईदृशी उक्ति है, तब अपौरुषेय वचनों का एकमात्र आश्रय साक्षात् श्रीभगवान् के निःश्वास से आविर्भूता श्रुतियों की भगवच्चारिता के सम्बन्ध में वक्तव्य ही क्या है? अतएव श्रुतिगण साक्षात् रूपसे ही श्रीभगवान् की वर्णना करती है। श्रुतिगण स्वयं ही कहती हैं—"सृष्टि के आदिमें माया के अवलम्वन से क्रीड़ाशील अविलुप्त ऐश्वर्य्य सत्य ज्ञानानन्त आनन्दैक रस में अवस्थित आपमें श्रुतिगण अनुचरित होती हैं। अर्थात् श्रीभगवत् स्वरूप कथन में सक्षम होती हैं।

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्ष वैं शरणमहं प्रपद्ये।" इत्यादि सकल श्रुति ही श्रीभगवत् स्वरूपादि का साक्षात् प्रकाशक हैं।

द्वादश स्कन्धमें लिखित है—"प्रणव, समस्त वेद, मन्त्र, उपनिषद् रहस्य के सूक्ष्म सनातन मूर्त्तिस्वरूप स्वाश्रयभूत ब्रह्म परमात्मा का साक्षात् वाचक है।"

श्रुति—"ॐ' प्रणव ब्रह्म का नेदिष्ठ नाम है।" नेदिष्ठ—लक्षणादि व्यवधान व्यतीत ही तत्स्वरूप का द्योतक है। अतएव किस प्रकार से श्रुति सकल श्रीभगवान् का प्रतिपादन साक्षात् रूप से करने में सक्षम होती हैं? इस प्रकार जिज्ञासा ही राजा के प्रश्न का तात्पर्य्य है। यहाँ शब्द प्रतिपाद्य ब्रह्म होने से जो दोष होता है, उसका निराकरण "द्युपतय" श्लोक में होगा।

कतिपय श्रुति त्रिवर्ग का वर्णन करती हैं, उससे उन सबकी वहिर्मुखता प्रतीति होने पर भी तात्पर्य्यतः अन्तर्मुखता को ही जानना होगा।

प्रथमतः स्वविषयकं विश्वासं जनयितुमदृष्टवस्त्वनभिज्ञान् सततं दृष्टमैहिकमेवार्थं मीहमानांस्तान् प्रति तत्सम्पादकं पुत्रेष्ट्यादिकं विदधति। ततश्च तेन जातविश्वासान् ऐहिकस्यात्यन्तमस्थिरत्वं प्रदर्शय दिव्यानन्दचमत्कारविचित्रस्य पारलौकिकस्वर्गादिलक्षणतत्तत्कामस्य जनकेऽग्निष्टोमादौ प्रवर्त्तयन्ति। ततस्तेषां निरन्तर-तदभ्यासाद्धर्म एव रुचिं जनयन्ति। अथ लब्धधर्मरुचीनां शुद्धान्तःकरणानां तदर्थ विचारपराणां जगदप्यनित्यमिति ज्ञानवतां संसारभयदीनानां निर्वाणानन्दाभिलाषं सम्पादयन्ति। निर्वाणानन्दश्च परतत्त्वाविर्भावरूप एवेति। तदुक्तं श्रीसूतेन (भा० १।२।९-१०)—

"धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥४२८॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः" ॥४२९॥ इति।

ततश्च तथा बुद्ध्यादयोऽन्तर्मुखता-तारतम्येन चिच्छक्त्याविर्भावात् परे तत्त्वे तारतम्येन चरन्ति, तथा श्रुतिलक्षणं वचनमपि चिच्छक्तिप्रकाशानुक्रमेण त्रैगुण्यविषयत्वमतिक्रम्य केवलनैर्गुण्यविषयमेव सत् तस्मिन्निर्गुणे तत्त्वे सम्यगेव चरितुं शक्नोति, अगुणवृत्तित्वेन योग्यत्वात्। तदुक्तं द्वादशे प्रणवमुपलक्ष्य (भा० १२।६।३९)—

"ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः" ॥४३०॥ इति।

अनुवाद—

वेद समूह—श्रीभगवान् के निःश्वास स्वरूप हैं। परमार्थतत्त्व के प्रति वहिर्मुख मायामोहित जीवगण के प्रति कृपा करने के निमित्त ही श्रुतिगण प्रथमतः जागतिक स्वानुभूत विषयों का वर्णन करती हैं। उससे वेदोक्त वचनों में विश्वास होकर जीवगण श्रीभगवद् भजन में आत्मनियोग कर सकते हैं। तज्जन्य उत्तर ग्रन्थमें ऐहिक भोग की अस्थिरता का प्रदर्शन एवं पारलौकिक स्वर्गादि भोग की अनश्वरता का वर्णन करते हैं। इससे धर्मानुष्ठान में रुचि होती है। अनन्तर अन्तःकरण शुद्ध होने से मोक्ष मार्ग में जीवगण की रुचि होती है। चित्त में परतत्त्व का आविर्भाव ही निर्वाणानन्द है। श्रीसूत महाशय ने कहा है—

"हे जनार्दन! आपके प्रति जो निश्चला भक्ति है, वह ही मुक्ति अपवर्ग है, उसका फल कभी भी 'अर्थ' नहीं हो सकता है, एवं धर्मानुगत अर्थ का फल 'काम' भी नहीं है। विषय भोगरूप काम का फल इन्द्रिय प्रीति नहीं है, सदसत् कर्म जनित ऐहिक अथवा पारत्रिक स्वर्गादि सुख भी फल नहीं है। किन्तु जब तक जीवन रहता है, तब तक तत्त्व जिज्ञासा ही जीवन का फल है।" अतएव बुद्ध्यादि के तारतम्य से अन्तर्मुखता का तारतम्य होती है। उससे चित्शक्ति आविर्भाव का भी तारतम्य होता है। उक्त तारतम्य के अनुसार ही परतत्त्व का वर्णन होता है। इस रीति से श्रुति भी चित्शक्ति के प्रकाशानुक्रम से त्रैगुण्य विषय को अतिक्रम करके केवल नैर्गुण्य विषय को प्राप्त करती है। निर्गुण ब्रह्म को वर्णन करने में सर्वथा सक्षम होती है।

द्वादश स्कन्ध में वर्णित है—"अनन्तर त्रिविद् ओंकार उद्‌भूत हुआ। जो अव्यक्त प्रभव हैं, जो स्वराट् हैं, जो भगवान् परमात्मा का स्वरूप है।"

तत्र तत्तत्त्वं द्विधा स्फुरति, भगवद्रूपेण ब्रह्मरूपेण चेति। चिच्छक्तिरपि द्विधा, तदीय-स्वयंप्रकाशादिमयभक्तिरूपेण तन्मयज्ञानरूपेण च। ततो भक्तिमयश्रुतयो भगवति चरन्ति, ज्ञानमयश्रुतयो ब्रह्मणीति सामान्यतः सिद्धान्तितम्। अथ तत्र तत्र विशेषं वक्तुं तदीय एवेतिहास उपक्षिप्यते। श्रीसनन्दन उवाच (भा० १०।८७।१२)—

"स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः। तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्"॥४३१

स्वयं निर्मितमिदं विश्वं प्रलयसमये आपीय संहृत्य शक्तिभिः सह शयानं प्रकृतिं पुरुषं तदंशांश्चात्मसात्कृत्य तत्कार्य्यं प्रति निमीलिताक्षं परं भगवन्तं तदन्ते प्रलयकालावसानप्राये तल्लिङ्गैस्तत्प्रतिपादकैर्वाक्यैः श्रुतयः प्रबोधयाञ्चक्रुः;प्रातःप्रबोधनस्तुतिभङ्ग्या तुष्टुवुरित्यर्थः। अस्य भगवत्त्वमेव गम्यते, न तु पुरुषत्वम्; (भा० ३।५।२३)—

"भगवानेक आसेदमग्रे आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः" ॥४३२॥

अनुवाद—

उक्त तत्त्व ब्रह्म-तत्त्व एवं भगवद्तत्त्व रूप में द्विधा स्फुरित होते हैं। "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि श्रुति कहती है—जिनकी चित् प्रभा से जगत् प्रभावित है, जिस चित्शक्ति के उद्भास से बुद्धचादि का कार्य्य होता है। उक्त चित्शक्ति भी तदीय स्वयं प्रकाशादि-मयी भक्ति रूपमें एवं ज्ञान रूपमें द्विविधा है। इसके मध्य में भक्तिमयी श्रुति समूह श्रीभगवान् को वर्णन करती है, और ज्ञानमयी श्रुतिसमूह ब्रह्म को कहती है। सामान्यतः सिद्धान्त करने के पश्चात् विशेष आलोचना करने के अभिप्राय से इतिवृत्त की अवतारणा करते हैं।

श्रीसनन्द ऋषि कहे थे—एक समय देवर्षि नारद सनातन ऋषि नरनारायण को दर्शन करने के मानस से नारायणाश्रम गये थे। वहाँ जाकर श्रीनारायण के निकट प्रश्न करने पर श्रीनारायण कहे थे—"पूर्व काल में जनलोक में एक ब्रह्मसत्र हुआ था। वहाँ ऊर्द्धरेता तत्त्वज्ञ मुनिगण परस्पर प्रश्नोत्तर के द्वारा जिसका निर्णय किए थे उसको मैं कहता हूँ।" पूर्वोक्त कथा की अवतारणा के द्वारा श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित् के "ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये" श्लोकोक्त प्रश्न का विशेष समाधान करते हैं।

जिस समय "स्वसृष्ट विश्व को प्रलय काल में संहरण करके श्रीभगवान् शक्तिवर्ग के सहित योगनिद्रा में रत होते हैं, उक्त प्रलय काल का अवसान प्राय होने से प्रथम निश्वासभूता श्रुति सकल श्रीभगवान् को उनके प्रतिपादक स्तवादि के द्वारा प्रबोधित करती हैं।"

अर्थात् स्वीय निर्मित दृश्यमान विश्व को संहार करके, शक्तिवर्ग के सहित अव्याकृत प्रकृति, पुरुष, एवं उनके अंशसमूह को आत्मसात् करके सृष्ट्यादि कार्य्य के प्रति श्रीभगवान् निमीलिताक्ष होते हैं। यह ही प्रलय है। पुनश्च उद्बुद्ध होने से सृष्टि कार्य्य होता है।

प्रलय काल के अवसान में "स ऐक्षत" श्रुति प्रतिपादित ईक्षण के पूर्व श्रीभगवन्महिमा व्यञ्जक स्तुति वाक्य के द्वारा श्रुतिसमूह श्रीभगवान् को जागरित करती थीं। अर्थात् प्रातःकाल में प्रबोधन स्तुति वाक्य के द्वारा व्याज से श्रुतियों ने श्रीभगवान् की स्तुति की। श्रुतियों ने जिनका उद्बोधन स्तव किया, वह श्रीभगवान् हैं, पुरुष नहीं। अर्थात् केवल प्रकृति—ईक्षण कर्त्ता पुरुष अथवा पुरुषावतार नाम से कथित चतुर्व्यूह का कोई व्यूह नहीं। कारण मूल में "शक्तिभिः" शब्द का प्रयोग होने से उक्त बहुवचनान्त शब्द के द्वारा अनन्त शक्ति का आधार का बोध होता है। इससे "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादि श्रुति में वर्णित सर्वशक्तिमान् श्रीभगवत्तत्त्व का बोध होना ही समीचीन है। अन्यत्र उक्त वचन से भी स्पष्ट प्रतीत

इति तृतीयस्कन्धप्रकरणे तदानीं पुरुषस्यापि तदन्तर्भावश्रवणात्। पूर्वपद्यार्थे दृष्टान्तः (भा० १०।८७।१३)— "यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः" ॥४३३॥

तस्य सम्राजः पराक्रमो यत्र तैर्न तु निर्विशेषत्वव्यञ्जकैः शोभनैः श्लोकैः; "यथा शयानं सम्राजम्" इत्यस्यायमभिप्रायः—यथा रात्रौ सम्राट् महिषीभिः क्रीड़न्नपि वहिःकार्य्यं परित्यज्यान्तर्गृहादौ स्थितत्वात्तज्जनैः शयान एवोच्यते, वन्दिभिश्च तत्प्रभावमयश्लोककृत-प्रबोधनभङ्ग्या स्तूयते, तथायं भगवान् तदानीं जगत्कार्य्याकृतदृष्टिर्निगूढ़ं निजधाम्नि निज-परिकरैः क्रीड़न्नपीति। 'अनुजीविनः' इत्यनेन ते यथा तन्मर्मज्ञास्तथा ता अपीति सूचितम्।

तत्र प्रथमतो ज्ञानादिगुणगणसेवितेन सम्यग्दर्शनकारणेन भक्तियोगेनानुभूयमानं भगवदा-कारमखण्डमेव तत्त्वं स्वप्रतिपाद्यत्वेन दर्शयन्त्यो ब्रह्मस्वरूपमपि तथात्वेन क्रोड़ीकुर्वत्यः श्रुतय ऊचुः (भा० १०।८७।१४) —

"जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां, त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते, क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः" ॥४३४

भो अजित! जय जय निजोत्कर्षमाविष्कुरु। आदरे वीप्सा। अत्राजितेति सम्बोधनेनेदं लभ्यते, (भा० ६।२।१०) "नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः" इति न्यायेन नाम्ना

अनुवाद—

होता है, यथा—"परिदृश्यमान विश्वसृष्टि के आदि में सबके अंशी रूप आत्मा हैं, जो कारणादि से आरम्भ कर ब्रह्म परमात्मादि विभिन्न नाम से वर्णित होते हैं। वह एक विभु श्रीभगवान् ही सृष्टि के आदि में रहते हैं। तृतीय स्कन्धोक्त प्रकरण से ज्ञात होता है कि—उस समय पुरुषादि उनमें अन्तर्भूत थे।

पूर्वोक्त श्रुतिसमूह की स्तुति के सम्बन्ध में दृष्टान्त इस प्रकार है—'प्रातः काल में जिस प्रकार अनुजीवी वन्दिगण निद्रित सम्राट के पराक्रम-यशः कीर्त्तन से सम्राट को जागरित कराते हैं। (अर्थात् सम्राट की पराक्रम द्योतक वाक्यावली) किन्तु जो निर्विशेषत्व द्योतक वाक्य नहीं है। उक्त सम्राट के दृष्टान्त से निवृत्त राजकार्य सम्राट रात्रिकाल में अन्तःपुर में शयन करते हैं। तद्रूप श्रीभगवान् भी प्रलय समय में वाह्य जगत् कार्य्य से दृष्टि को अपसारित करने पर भी अन्तरङ्ग नित्य परिकरगण के सहित स्वीय धाम में निगूढ़ आनन्द रस आस्वादन में विभोर होते हैं।

प्रथमतः श्रुतिगण—सम्यग् दर्शन के हेतुभूत ज्ञानादि गुणगण सेविता भक्तियोग के द्वारा अनुभूयमान भगवदाकार अखण्ड तत्त्व को ही निज प्रतिपाद्य रूपमें दर्शाकर, ब्रह्मस्वरूप भी उन तत्त्व में अन्तर्भुक्त है", इसका वर्णन करती हैं।

"हे अजित! आप पुनः पुनः जययुक्त हो। कारण आप सम्प्रति समस्तैश्वर्य्य अखिल शक्ति का अवबोधक हैं। सृष्टि के आदि में क्रीड़ार्थ माया को अङ्गीकार करके भी अलुप्त समस्त भग हैं। अतएव सत्य, ज्ञान, अनन्तानन्दैकरसस्वरूप में अवस्थित हैं। हम सब चिरदिन आपकी महिमा कीर्त्तन, प्रतिपादन करती रहती हैं। जीव के स्वरूपानन्द को आवृत करने के निमित्त अविद्या ने जो गुण ग्रहण किया है, आप स्थावरजङ्गमादि शरीर में स्थित जीवगण की अविद्या को विनष्ट करो।"

अर्थात् भो अजितः आप निजोत्कर्ष को प्रकट करो। आदर अर्थ में जय जय शब्द में वीप्सा हुई है। "अजित" सम्बोधन से बोध होता है कि—"भगवन्नाम ग्रहण से भगवद्विषयिनी मति होती है।" इस

भगवानसौ साक्षादभिमुखीक्रियत इति लिङ्गादेव तच्छ्रीविग्रहवत्तदपि तत्स्वरूपभूतमेव भवति, तद्विजातीयेन तदभिमुखीकरणानर्हत्वात्। अतएव भयद्वेषादौ श्रीमूर्त्तेः स्फूर्त्तेरिव साङ्केत्यादावप्यस्य *प्रभावः श्रूयते। विशेषतश्चात्र श्रुति-विद्वदनुभवावपि पूर्वमेव प्रमाणीकृतौ। तस्माद्यत्तत्त्वं श्रीविग्रहरूपेण चक्षुरादावुदयते, तदेव नामरूपेण वागादाविति स्थितम्। तस्मान्नामनामिनोः स्वरूपाभेदेन तत्साक्षात्कारे तत्साक्षात्कार एवेत्यतः किं वक्तव्यमन्यत्रान्यवद्भगवति श्रुतयोऽपि जात्यादिकृतसंज्ञासंज्ञि-सङ्केतादिरीत्या रूढ्यादिवृत्तिभिश्चरन्तीति। यासां श्रुत्यभिधानां वल्लीनां साक्षात्तथाभूतानि नामान्येव फलानीति। उत्कर्षमाविष्कुर्वित्यनेन इत्थं सर्वोत्कृष्टतागुणयोगेन मुख्ययैव वृत्त्या श्रुतयस्तस्मिंश्चरन्तीति दर्शितम्। श्रुतयश्च "न ते महित्वामन्वश्नुवन्ति," (श्वे० ६।८) "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्याद्याः। अत्र श्रुतयो जय जयेति स्वभक्त्याविष्कारात् भक्तिमेव तत्प्रकाशे हेतुं गमयन्ति। केन व्यापारेणोत्कर्षमाविष्करवाणीत्याशङ्क्य मायानिरसनद्वारा स्वभक्तिदानेनैवेत्याहुः— अजां मायां जहि। ननु माया नाम विद्याविद्यावृत्तिका शक्तिः; तर्हि तद्धनने विद्याया अपि हतिः स्यादित्यत

अनुवाद—

उक्ति से नाम ग्रहण के फल से श्रीभगवान् का साक्षात् आभिमुख्य लाभ होता है। उस प्रथा से श्रीभगवद् विग्रहवत् श्रीभगवन्नाम भी स्वरूपभूत हैं। नाम एवं नामी के मध्य में कोई भी भेद नहीं है। कारण विजातीय वस्तु के द्वारा कभी भी आभिमुख्य लाभ नहीं होता है। अतएव भय-द्वेषादि के समान साङ्केत्यादि का भी प्रभाव है। विशेषतः विद्वत्प्रमाण तो इसके पहले प्रदर्शित हुआ है। सुतरां जो तत्त्व श्रीविग्रह रूप से चक्षुरादि इन्द्रिय के समक्ष में उपस्थित होता है, वह ही नाम रूपमें वाणी प्रभृति में उदित होता है। अतएव सर्वतोभावेन नाम एवं नामी का स्वरूपतः पार्थक्य न होने से एक के साक्षात्कार से अपर का साक्षात्कार—नाम का साक्षात्कार होने से नामी का साक्षात्कार होता है, नामी का साक्षात्कार से नाम का साक्षात्कार होता है। मुख से जो नाम उच्चारित होता है, उसके साथ उन नाम के अनुरूप श्रीमूर्त्ति की चिन्ता करके स्थिर भाव से नाम ग्रहण करने से ही सद्य उन मूर्त्ति का उदय हृदय में होता है। शब्द उच्चारित होने से जात्यादिकृत संज्ञा-संज्ञि सङ्केत भेद से रूढ़ि वृत्ति से उस वस्तु का बोध होता है। उस प्रकार श्रुतिसमूह भी रूढ़ि वृत्ति द्वारा श्रीभगवत्स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं।

जिन श्रुतिवल्ली का फल श्रीनाम है, अर्थात् आम्र प्रभृति फल जिस प्रकार तत्तद् वृक्ष का परिचायक है, तद्रूप श्रुतिरूपा वल्लीफल साक्षात् नाम ही है। इस नाम के द्वारा ही श्रुति स्वीय साफल्य विधान में सक्षम हुई है।

यहाँ "जय जय" शब्द के द्वारा उत्कर्ष आविष्कार की प्रार्थना करके सूचित किया गया है कि श्रुतिगण मुख्यावृत्ति से ही श्रीभगवान् को वर्णन करती रहती है। जिस प्रकार "तुम्हारी महिमा, तुम्हारे अनुगमन करने में असमर्थ है। तुम्हारे समान अथवा अधिक कोई नहीं है।" इत्यादि। यहाँ श्रुतिसमूह 'जय जय' शब्द के द्वारा निज भक्ति का आविष्कार करने पर भगवन्महिमा प्रकाश के निमित्त भक्ति की ही कारणता निर्दिष्ट हुई है।

यहाँ जिस कार्य्य के द्वारा उत्कर्ष आविष्कार करने के लिए कहा गया है, उसको कहते हैं। "स्वीय भक्ति प्रदान द्वारा माया निरास करके।" माया का निरास होने से विद्या का विनाश अवश्य ही होगा। कारण—विद्या-अविद्या दोनों ही माया है। इसलिए माया का एक विशेषण है—"दोषगृभीतगुणां" अर्थात्

आहुः—दोषगृभीतगुणां जीवानामात्मविस्मृतिहेतावविद्यालक्षणे दोषे एव गृभीतो गृहीतस्तत्-स्मृतिहेतुविद्यालक्षणो गुणो यया ताम्। स्वयमेव स्वावेशेनाविद्यालक्षणं दोषमुत्पाद्य क्वचिदेव कदाचिदेव कथञ्चिदेव कश्चिदेव जीवं त्यजतीति तस्यास्त्यागात्मकविद्याख्यगुणोऽपि दोष एव। तस्मात्तां निर्मूलां विधाय जीवेभ्यो निजचरणारविन्दविषयां भक्तिमेव दिशेति तात्पर्य्यम्। अतो मायाघातनयोग्यशक्तित्वेन तदतीतत्वं व्यपदिश्य सच्चिदानन्दघनत्वं भगवतो व्यञ्जयन्त्योऽतन्निरसनमुखेन तात्पर्य्यवृत्त्या श्रुतयश्चरन्तीति व्यञ्जितम्। श्रुतयश्च (श्वे० ४।१०) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' इति, (श्वे० ४।५) 'अजामेकाम्' इति; (वृ० ५।६।१) 'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्येशानः,' (वृ० ४।४।२२) 'स वा एष—नेति नेति' इत्याद्याः। ननु माया-नाशं संप्रार्थ्य मम तदुपाधिकमैश्वर्य्यादिकमपि नाशयितुमिच्छथेत्यत्र समादधते—त्वमिति। यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वरूपेणैव समवरुद्धसमस्तभगः प्राप्तपरमत्रिपाद्विभूत्याख्यसर्वैश्वर्य्यादिरसि, तस्मात्तव तया तुच्छया तदुपाधिकैरैश्वर्य्यादिभिर्वा किमित्यर्थः। तथा च (भा० १०।८७।३८) "स यदजया त्वजाम्" इत्यत्र पद्ये टीका—"नहि निरन्तराह्लादिसम्वित्कामधेनुवृन्दपतेरजया

अनुवाद—

जिससे जीव की आत्मविस्मृति के कारणभूत अविद्या, एवं स्वरूपस्मृति के हेतुभूत विद्या को धारण किया है। माया, स्वीया अविद्या वृत्ति के द्वारा दोष उत्पादन करती है। कभी तो जीव के हृदयमें आत्मस्मृति उत्पन्न करती है। अतएव माया की त्यागात्मिका विद्या वृत्ति गुण होने से भी दोष है।

जिस प्रकार वारवनिता धनादि भोगाकाङ्क्षा से उपनायक के प्रति वाह्य अनुराग प्रकट करती है, उससे उपनायक की आत्मविस्मृति होती है। वह व्यक्ति वित्तहीन होने से उसको त्याग करती है। गणिका का, ग्रहण एवं त्याग जिस प्रकार दोष है, तद्रूप माया की उभय वृत्ति ही दोषावह है। तज्जन्य माया को निर्मूलित करके जीव को निज चरणारविन्द में भक्ति प्रदान करो।

जो वस्तु जिससे विनष्ट होती है, वह उससे अधिक शक्तिशाली है, यह नियम लोकसिद्ध है। अतएव माया घातकशक्तिमत्त्व हेतु श्रीभगवान् जो मायातीत हैं, उसका प्रकाश सच्चिदानन्दघनत्व कथन से हुआ है। तात्पर्य्य वृत्ति से माया निरासादि का वृत्तान्त होता है। "माया को प्रकृति नाम से जानना, मायी पुरुष महेश्वर हैं।" "अजा—एका" "सबके अधिपति सबका प्रेरक।" "वह पुरुष" "यह नहीं, यह नहीं" इत्यादि श्रुति में श्रीभगवान् की महिमा साक्षाद् भाव से उक्त है। अर्थात् ईश्वराभिहित शिव, ब्रह्मादि देववृन्द का भी जो ईश्वर हैं, वह ही यहाँ महेश्वर नाम से अभिहित हैं। जागतिक वस्तुसमूह की एवं जगत् स्रष्टा देवादि की जो अवधि हैं। इस निषेध श्रुति का तात्पर्य्य - सर्व चरम में अवस्थित अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न श्रीभगवत्तत्त्व प्रतिपादन में ही है।

माया नाश की प्रार्थना से श्रीभगवदैश्वर्य्य नाश करने की इच्छा है? इस प्रकार आशङ्का अपनोदनार्थ उक्त है—"त्वमसि" आप सम्प्राप्त समस्त ऐश्वर्य्य हैं। अर्थात् निज स्वरूप में ही समस्त ऐश्वर्य्य के सहित आप अवस्थित हैं। त्रिपाद विभूति में विराजित आप हैं। एकपाद विभूति जो मायिक है, वह आपकी वहिरङ्गा शक्ति द्वारा संघटित है। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि मन्त्र में एवं पुराण प्रभृति में अभिहित नित्य विभूतिसम्पन्न आप हैं। आपका मायिक ऐश्वर्य्य नाश होने से कुछ भी हानि नहीं होगी।

"स यदजया" इत्यादि श्लोक की टीकामें कहा गया है—"निरन्तरानन्द-सम्वित् कामधेनु पति आप हैं।

कृत्यमिति। तथा न ह्यन्येषामिव देशकालादिपरिच्छिन्नं तवाष्टगुणितमैश्वर्य्यम्, अपि तु परिपूर्णस्वरूपानुबन्धित्वादपरिमितमित्यर्थः" इत्येषा। अत्रात्म-शब्देन स्वरूपमात्रवाचकेन तथा भग-शब्देन स्वरूपभूतगुणवाचकेनेदं ध्वन्यते—स्वरूपादिशब्दा ईश्वरादि-शब्दाश्च स्वरूप-मात्रावलम्बनया स्वरूपभूतगुणावलम्बनयापि रूढ्या निर्द्देष्टुं शक्नुवन्तीति। श्रुतयश्च—"यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः" इत्याद्याः, (श्वे० ६।८) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादिकाश्च। सा च स्वरूपशक्तिः सर्वैरेवावगम्यत इत्याहुः—अगानि स्थावराणि, जगन्ति जङ्गमानि ओकांसि शरीराणि येषां तेषां सर्वेषामेव जीवानां या अखिलाः शक्तयस्तासा-मुद्बोधकेति सम्बोधनम्। तेषु विचित्रशक्तिव्यञ्जकतादर्शनान्मायाया अपि त्वदीक्षणेनैव क्षमत्वात् त्वं स्वरूपभूताशेषशक्तिलहरीरत्नाकर इत्यनुमीयत इत्यर्थः। यद्वा, ननु मायाहननेन तदुपाधेर्जीवस्य तु शक्तिहानिः स्यात्तत्राहुः—अगेति। अर्थः पूर्ववदेव। ततः स्वरूपशक्त्यैव प्रत्युत तेषां सुखैकप्रदा पूर्णा शक्तिर्भविष्यतीति भावः। अत्रेत्थं तटस्थलक्षणेन श्रुतयश्चरन्ती-त्युक्तम्; श्रुतयश्च (तै० २।७।१) 'को ह्येवान्यात्' इत्यादिकाः, (वृ० ४।४।१८) 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिकाः, (श्वे० ६।१४) 'तमेव भान्तम्' इत्यादिकाः, देहान्ते देवस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे (श्वे० ६।२३)—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥४३५॥

इत्याद्याश्च। ननु विशेषतो भवत्यः कथं जानन्ति, यदजया मम कृत्यं नास्ति, तथा सच्चिदा-

अनुवाद—

आपका अभिनिवेश सामान्या अजा माया—वहिरङ्गाशक्ति में नहीं हो सकता है। कारण अपर के ऐश्वर्य्य के समान आपका ऐश्वर्य्य देश-कालादि परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु वह परिपूर्ण स्वरूपानुबन्धित्व हेतु अपरिमित है।"

यहाँ "आत्मन्" शब्द स्वरूपमात्र का वाचक है। "भग" शब्द स्वरूपभूत गुणवाचक होने से उक्तार्थ ध्वनित हुआ है। स्वरूप शब्द—ईश्वरादि शब्द, स्वरूप मात्र को एवं स्वरूपभूत गुण को अवलम्बन कर आपका वर्णन रूढ़िवृत्ति से हो करते हैं। श्रुति कहती है—"भगवान् यदात्मक, उसका प्रकाश भी तदात्मक है" "पराशक्ति विविध रूप है" इससे शक्ति का विवरण प्रकाशित हुआ है।

"अगानि" स्थावर जङ्गमादि शरीरावलम्बी जीवगण की जो कुछ शक्ति है, उसका उद्बोधक आप हैं। स्थावर जङ्गमसमूह के मध्य में विचित्र शक्ति को देख कर जानती हूँ। जब आप एकबार माया को ईक्षण करके विचित्र सृजन करने की शक्ति प्रदान करते हैं, तब आपमें शक्ति कितनी है, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकती हूँ। तब अनुमान से कह सकती हूँ—आप स्वरूपभूत अशेष शक्ति लहरी का रत्नाकरस्वरूप हैं।

अथवा माया हनन से आपकी कोई क्षति नहीं हो सकती है। मायोपाधिक जीव, जिसको आश्रय करके निज आत्मविस्मृति कर लिया है। उस जीव की शक्ति हानि होगी। अग शब्द की व्याख्या में पहले कहा गया है। माया शक्ति निरस्त होने से स्वरूपशक्ति का विकाश होगा, उससे जीव सुखमात्र सम्पादिका पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर धन्य होगा। तटस्थ लक्षण के द्वारा श्रुति ने उसका ही प्रतिपादन किया है। श्रुति इस प्रकार है—"प्राणधारण कौन करता, आप प्राणों का प्राण, आपकी दीप्ति से सब प्रकाशित—शक्तिसम्पन्न है।" देवगण ब्रह्म जिज्ञासा करते हैं, जिसकी पराभक्ति देव में है।"

यदि कहा जाय कि—इन सब तत्त्वों का ज्ञान कैसे होगा? माया के सहित मेरा सम्पर्क नहीं है?

नन्दघन एव स्वरूपशक्त्या समवरुद्धसमस्तभग इति,तत्राहुः—क्वचिदिति । क्वचित् कदाचित् सृष्ट्यादिसमये पुरुषरूपेण अजया मायया चरतः क्रीड़तः नित्यश्च स्वरूपशक्त्याविष्कृतस्वरूपभूतभगेन सत्यज्ञानानन्दैकरसेनात्मना च चरतस्तवास्मल्लक्षणो निगमः शब्दरूपेण देवतारूपेण च अनुचरेत् सेवते । तस्माद्वयं तत् सर्वं जानीम इत्यर्थः । कर्मणि षष्ठी । एतदुक्तं भवति—अत्र द्विविधो भेदस्त्रैगुण्यविषयो निस्त्रैगुण्यविषयश्च । तत्र त्रैगुण्यविषयस्त्रिविधः ;—प्रथमप्रकारस्तावत् तदवलम्बन-ताटस्थेचन तल्लक्षकः ; यथा (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिः ; द्वितीयप्रकारश्च त्रिगुणमय-तदीशितव्यादिवर्णनादिद्वारा तन्महिमादिदर्शकः; यथा, "इन्द्रो यतोऽवसितस्य राजा" इत्यादिः ; तृतीयप्रकारश्च त्रैगुण्यनिरासेन परमवस्तूद्देशकः ; सोऽप्ययं द्विविधः ;—निषेधद्वारा सामानाधिकरण्यद्वारा च ; तत्र पूर्वद्वारा (वृ० ३।८।८)—'अस्थूलमनणु,' 'नेति नेति' इत्यादिः; उत्तरद्वारा(छा० ३।१४।१)'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',(छा०६।८।७) 'तत्वमसि' इत्यादिः । पूर्ववाक्ये तज्जातत्वादिति हेतोः सर्वस्यैव ब्रह्मत्वं निर्दिश्य तत्राविकृतः सदिदमिति प्रतीतिपरमाश्रयो योऽंशः स एव शुद्धं ब्रह्मेत्युद्दिश्यते । उत्तरवाक्ये त्वंपदार्थस्य तद्वच्चिदाकार-तच्छक्तिरूपत्वेन तत्पदार्थैक्यं यदुपपाद्यते, तेनापि तत्पदार्थोऽपि ब्रह्मैवोद्दिश्यते । तत्पदार्थज्ञानं विना त्वंपदार्थज्ञानमात्रमकिञ्चित्करमिति हि तत्-पदोपन्यासः । त्रैगुण्यातिक्रमस्तूभयत्रापि । अत्र त्रैगुण्यनिरासेन तदुद्देशेन यत्र तदीयधर्माः स्पष्टमवगम्यन्ते, तत्र

अनुवाद—

स्वरूपशक्ति में मैं अवस्थित हूँ ?

उत्तर—कदाचिद् 'क्वचित्' सृष्टि के आदिमें पुरुषरूप धारण कर माया के सहित सम्पर्क स्थापन करते हैं। नित्य स्वरूपशक्ति में अवस्थित, स्वरूपभूत ऐश्वर्य्यादि षड् भग के सहित सत्य ज्ञानानन्दरस में आप नित्य विराजित रहते हैं। श्रुतिगण,—कभी देवमूर्त्ति में, कभी शब्दमूर्ति में आपकी सेवा करती हैं। सुतरां आपकी उभय अवस्था एवं उसके कार्य्यसमूह को श्रुतिगण जानती हैं। 'तव' आपका, कर्म में षष्ठी है। यहाँ कथित है कि,—वेद—त्रैगुण्य एवं निस्त्रैगुण्य का प्रतिपादक है। उसके मध्य में त्रैगुण्य विषय वेद भी त्रिविध है। प्रथम—आपको तटस्थ रूपमें वर्णन करने में—"यतो वा इमानि भूतानि" श्रुति आपका लक्षक है। द्वितीय—त्रिगुणमय ईशितव्यादि का प्रकाश द्वारा अर्थात्—"इन्द्रो यतोऽवसितस्य राजा" श्रुति केवल आपकी महिमा का दर्शक है। तृतीय—त्रैगुण्य निरास के द्वारा परम वस्तु का निर्देशक है। वह द्विविध है, एक—निषेध के द्वारा, द्वितीय—सामानाधिकरण्य के द्वारा।

"अस्थूलमनणु नेति नेति" निषेध श्रुति है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमसी" इत्यादि सामान्याधिकरण्य श्रुति है। पूर्ववाक्य में तज्जातत्वादिति हेतु वशतः प्रथम सब को ब्रह्मत्व निर्देश किया गया है। अनन्तर उस के मध्य में 'अप्राकृत एवं सत्' प्रतीति का आश्रयरूप जो अंश है, वह ही ब्रह्म है, यह उपदिष्ट हुआ है। उत्तर वाक्य में—'त्वं' पदार्थ के समान चिदाकार शक्तिरूप में "तत्" पद के सहित ऐक्य उपपादित हुआ है, उससे "तत्" पद के द्वारा ब्रह्म बोधित हुये हैं। इसका तात्पर्य्य यह है कि—जीव स्वरूप का ज्ञान 'त्वं' पद द्वारा साधित होने से भी यदि ब्रह्म की स्वरूपावस्था अपरिज्ञात रहती है, तो वह ज्ञान अति अकिञ्चितकर होता है। तज्जन्य 'तत् त्वमसि' इस वाक्य में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करके जीव की औपाधिक "देवमनुष्यादि" भ्रान्ति का निरास किया गया है, एवं सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्वांश का उपदेश प्रदान किया गया है। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां" इत्यादि श्रुति उक्त उभय

भगवत्परत्वम् ; यत्र त्वस्पष्टम्, तत्र ब्रह्मपरत्वमित्यवगन्तव्यम् । व्याख्यातस्त्रैगुण्यविषयः । तदेतदजया चरतोऽनुचरेदिति व्याख्यातम् । अथ निस्त्रैगुण्योऽपि द्विविधः;—ब्रह्मपरो भगवत्परश्च; यथा (तै० ३।६।१) "आनन्दो ब्रह्म" इत्यादिः; (श्वे० ६।८) –

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ।४३६॥

इत्यादिश्च । तदेतदात्मना (१०।८७।१४) "चरतोऽनुरेन्निगमः" इति व्याख्यातम् । अतः श्रुतेस्तच्चारित्वं सिद्धम्, साक्षाच्चारित्वञ्च निस्त्रैगुण्यानां स्वत एव, अन्येषान्तु तदेकवाकचतया ज्ञेयम् मायानिरसनार्थमेव तत्तद्गुणानुवादः क्रियते, पश्चादखण्डामेव तां निरस्य साक्षाद्-भगवत्स्वरूपगुणादिकं निर्द्दिश्यत इति तदेकवाकचताद्योतनया स एष एव सिद्धान्तोऽस्मिन्नु-पक्रमवाक्ये समुद्दिष्टः । तथोपसंहारे च (भा० १०।८७।४१)"श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः" इति; श्रुतयश्च मध्वभाष्यप्रमाणिताः (ब्र०सू० २।१।३ धृतभाल्लवेय-श्रुतिः) "न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्वेदो ह्येवैनं वेदयति" इत्याद्याः; (बृ० ३।६।२६) "औपनिषदः पुरुषः" इत्याद्याश्च ।

अनुवाद—

तत्त्व का ही स्वरूप प्रकाशक हैं। अतएव उभयत्र ही त्रैगुण्यातिक्रम में श्रुति का तात्पर्य्य है। जहाँ त्रैगुण्य का निरास कर स्पष्ट रूपमें धर्म का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ उसका भगवत् परत्व है। जहाँ अस्पष्ट रूपमें धर्म का उल्लेख हुआ है। वहाँ उसका ब्रह्म परत्व है। यह ही त्रैगुण्य विषय है, एवं इस त्रैगुण्य विषय द्वारा "अजया चरतोऽनुचरेत्" वाक्य का अर्थ प्रदर्शित हुआ है।

पूर्वोक्त निस्त्रैगुण्य द्विविध है, एक—ब्रह्मपर, अपर—भगवत् पर। "आनन्दो ब्रह्मेति, न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादि ब्रह्मपर है। "न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि श्रुति भगवत्पर है।

इससे "आत्मना चरतोऽनुचरेन्निगमः" इसकी व्याख्या हुई है। अतएव श्रुति का भगवत् चारित्व सुसिद्ध हुआ। निस्त्रैगुण्य श्रुति का साक्षात् भगवत् प्रतिपादकत्व स्वतः अभिव्यक्त है। अन्य त्रैगुण्यपर श्रुति का भगवत् चारित्व परस्पर एक वाक्यता द्वारा जानना होगा।

प्रथमतः माया निरसन निबन्धन ही गुणानुवाद है, पश्चात् माया का निरास करके अर्थात् मायिक गुणादि का निरास करके, अनन्तर 'परास्यशक्ति' इत्यादि रूपमें स्वरूपभूत गुणादि का निर्देश किया गया है।

उपक्रम उपसंहार की एकवाक्यता प्रतिपादन हेतु श्रीभगवत्तत्त्व प्रतिपादन के उपक्रम में जिसका निर्देश हुआ था, उपसंहार में भी "श्रुतयस्तयि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना" अर्थात् निर्गुण की अगोचरता, सगुण की अगुणवत्त्वा हेतु, तदाश्रिता श्रुतिगण अतन्निरसन मुख से आपमें ही पर्य्यवसित हैं। अर्थात् तात्पर्य्य के द्वारा आपकी महिमा का वर्णन करती रहती हैं। प्रस्तुत श्लोक में उसका प्रदर्शन हुआ है। "त्वयि फलन्ति—भवन्निधना" उभय वाक्य से श्रुतिगणों की भगवत्परता स्पष्ट उक्त है। यहाँ पर श्रीधर स्वामिपाद की स्वरचित श्लोक यह है—

"त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो। जय जयेति भजे तव पदम् ॥

अर्थात् जब आपमें ही हम सब की पर्य्याप्ति है, तब आपको प्रणाम करती हैं। आप निरतिशय जययुक्त हो, हम सब आपके पदपद्म का अथवा नित्य धाम का भजन करती हैं।

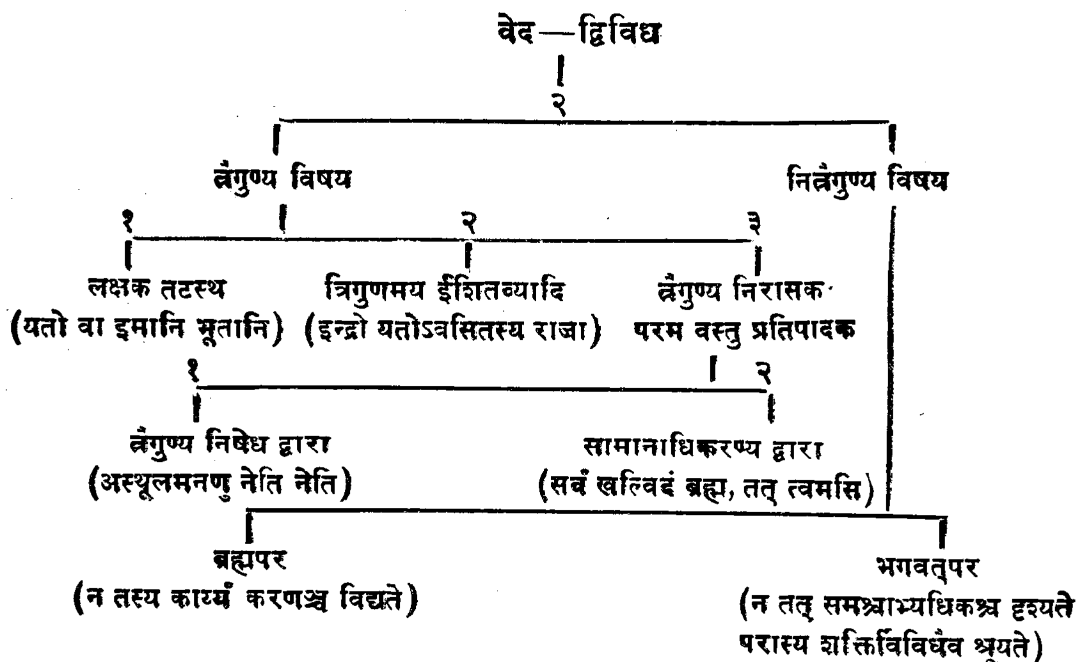
श्रुति की उक्ति का समर्थक मध्यभाष्य प्रमाणिता एक श्रुति है। "चक्षु, कर्ण, तर्क, स्मृति-वेद परमपुरुष

अथ विशेषतो ब्रह्मण्यपि यथा चरन्ति, ब्रह्मणि चरन्तीनामपि यथा भगवत्येव पर्य्यवसानं तथैवोद्दिशन्ति ; (भा० १०।८७।१५)—

अनुवाद—

को प्रकाश करने में सक्षम नहीं हैं, इत्यादि "उपनिषद् पुरुष" अर्थात् 'उपनिषद् जिनको प्रकाश करती है' इत्यादि।

अतएव पहले श्रुति अथवा वेद की द्विविध प्रवृत्ति की कथा प्रदर्शित हुई हैं। उसको जानने के लिए वेद का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। जिससे परतत्त्व का ज्ञान होता है, अथवा जो परतत्त्व का प्रकाशक है। इस प्रकार अपौरुषेय वाक्य ही वेद है। वह श्रुति, आम्नाय, त्रयी नाम से अभिहित है। उसमें मन्त्र, ब्राह्मण, संहितादि भेद हैं। इस त्रय्यादि से हमारी अभीष्ट सिद्धि का उपाय लाभ ही होता है। ऋक्, साम, यजु, तीन का बोधक होने से त्रयी कही जाती है, अथवा जिसमें गद्य, पद्य, गान—त्रिविध प्रणाली विद्यमान है, उसे त्रयी कहते हैं। "श्रूयते धर्मो अनया श्रुतिः"। आम्नायते उपदिश्यते धर्मोऽनेन आम्नायः। वेदार्थ एवं व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन पण्डितगणों का निर्देश बहुविध हैं। किन्तु मूलतः उद्देश्य एक है—"इष्ट प्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः" अर्थात् इष्ट लाभ एवं अनिष्ट परिहार का अलौकिक उपाय को जो सूचित करता है वह ही वेद है। सुतरां अनिष्ट परिहार पूर्वक इष्टानुसन्धान का चरमानुसन्धान शब्द से श्रीभगवान् का अनुसन्धान ही बोध होता है। इससे समस्त वेद की भगवत्परता सुसिद्ध होती है। इस अद्वय तत्त्व वर्णन सुविशद् रूपसे एवं साक्षात् रूपसे उपनिषद् भाग में होने से ही उसकी श्रेष्ठता सर्वाधिक है। वेद, श्रीभगवान् का प्रतिपादक है, इसका प्रदर्शन पहले द्विविध प्रकार से हुआ है। बोध के लिए चित्र प्रस्तुत है—



वेद के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की उक्ति यह है—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन !" अर्थात् कर्मकाण्डादिमय वेद त्रैगुण्य विषयक है, अति तुच्छ विषयासक्ति को छोड़कर वेदान्त

"बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया, यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृ दिवाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं, कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्" ॥४३७

एतत् सर्वं बृहद्ब्रह्मैवोपलब्धमवगतम् । तत् कथम् ? विकृतेर्विश्वस्य सकाशादवशिष्यमाणत्वेन । किमिव ? मृदिव । यथा विकृतेर्घटादेः सकाशादवशिष्यमाणत्वेन सर्वं घटादि द्रव्यं मृदेवोपलब्धा दृष्टा, तथा बृहदपीत्यर्थः । तत्र हेतुः—यतो बृहतः सकाशाद्विकृतेरुदयास्तमयौ अवयन्ति मन्यन्ते श्रुतयः (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि" इत्याद्याः । तस्मात् मृत्साम्यं तस्य युज्यत इति भावः । तर्हि कथं तद्वद्विकारित्वमपि नेत्याहुः—अविकृतात्;(ब्र०सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति न्यायेनाचिन्त्यशक्त्या तथाप्यविकृतमेव यत्तस्मादित्यर्थः । यद्यप्यत्रापि सशक्तिकमेव बृहदुपपद्यते, तथाप्याविष्कृत-भगवत्त्वेनानुपादानात् ब्रह्मैवोपपादितं भवति,सर्वथा शक्तिपरित्यागे तदुपपादनासामर्थ्यात्तुच्छत्वापाताच्च । तस्मादत्र ब्रह्मैवोदाहृतम् । अतएव मृन्मात्रदृष्टान्ते कर्त्तृत्वादिकमपि तत्र नोपस्थापितम् । तदेतद्ब्रह्मप्रतिपादनमपि श्रीभगवत्येव पर्य्यवस्यतीत्याहुः—अत इति ; अतो ब्रह्मप्रतिपादनादपि ऋषयो वेदास्त्वयि

अनुवाद—

वेद्य त्रिगुणातीत वस्तु के अनुशीलन के द्वारा निष्काम बनो । इत्यादि एवं तत्परवर्त्ति उक्ति समूह से वेद की प्रवृत्ति एवं तत् प्रवर्त्तित धर्म का विषय सुपरिस्फुट है । अतएव वेद में जो विभिन्न प्रवृत्ति का विषय उक्त है, वह श्रीभगवान् की साक्षादुक्ति द्वारा अनुमोदित है ।

श्रुतिगण ब्रह्मप्रतिपादक होकर भी जिस प्रकार श्रीभगवान् में पर्य्यवसित होती हैं, उसको दर्शाते हैं—

"इन्द्रादि सकल आपको ही बृहत् ब्रह्म मानते हैं । कारण बृहद् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रभृति आपसे ही होती है । आप सबके उपादान हैं, अवशेष में आप ही अवशिष्ट रहते हैं । अविकृत मृत्तिका से जिस प्रकार नाम धेय घट-पटादि विकार होते हैं, अवशेष में मृत्तिका ही अवशेष रहती है । तद्रूप आप ही अविकृत रहते हैं । एतज्जन्य ऋषिगण (मन्त्र अथवा मन्त्र द्रष्टागण) मन, वचन का तात्पर्य्य अवधारण आपमें ही करते हैं । कारण, भूचर प्राणिगण जहाँ पर पदक्षेप करते हैं, वह जिस प्रकार भूतल ही होता है, तद्रूप आप सब का अव्यभिचरित आधार हैं ।"

अर्थात् समुदय वस्तु को बृहद्ब्रह्म जानना होगा । कारण विकृत विश्व से अवशेष में वह ही पर्य्यवसित होता है । जिस प्रकार विकृत घटादि का अवशेष मृत्तिका में ही होता है । तद्रूप विश्व के अवशेष में बृहत् का ही लाभ होता है ।

श्रुतिसमूह—बृहत् ब्रह्म में ही (यतो वा इमानि भूतानि) उत्पत्ति विनाशशील विश्व का उदय एवं अस्त का वर्णन करते हैं । सुतरां मृत्तिका के साम्य का ब्रह्म में असामञ्जस्य नहीं होता है ।

यदि मृत्तिका के दृष्टान्त से ही ब्रह्म के कार्य्यसमूह को जानना होगा । तब मृत्तिका के समान ब्रह्म विकारी क्यों नहीं होगा ? उत्तर में कहते हैं—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस न्याय के अवलम्बन से हम सब अपोरुषेय शब्द प्रमाण के अनुसार ब्रह्म में अचिन्त्यशक्ति द्वारा समस्त कार्य्य सम्भव हैं, कहती हैं । यद्यपि यहाँ सशक्तिक बृहत् ब्रह्म प्रतिपादित हो रहे हैं,—तथापि अनाविष्कृत भगवत्तत्त्व की ग्रहण करने की असामर्थ्यवशतः ब्रह्म ही उपपादित हो रहे हैं । सर्वथा शक्ति को परित्याग करने से वस्तु उपपादित नहीं होती है । फलतः वस्तु में तुच्छता का आपतन अवश्यम्भावी है । शक्ति व्यतीत बृहत् धर्म का ग्रहण ही नहीं होता है । सुतरां यहाँ ब्रह्म ही उदाहृत हैं । अतएव मृन्मात्र दृष्टान्त के द्वारा उसमें कर्त्तृत्वादि भी उपस्थापित नहीं होते हैं । उससे यहाँ का ब्रह्म प्रतिपादन भी श्रीभगवान् में ही पर्य्यवसित हो रहा है ।

श्रीभगवत्येव मनस आचरितं तात्पर्य्यं वचनस्याचरितमभिधानञ्च दधुर्धृतवन्तः। द्वयोरेक-वस्तुत्वाद्भगादीनामाविष्कारानाविष्कारदर्शनमात्रेण भेदकल्पनाच्च तत्रार्थान्तरन्यासः। नृणां भूचराणां सम्यग्दर्शिनामसम्यग्दर्शिनां वा भुवि दत्तानि निक्षिप्तानि पदानि कथमयथा भवन्ति, भुवं न प्राप्नुवन्ति, अपि तु तत्रैव पर्य्यवस्यन्ति, तस्माद् यथाकथमपि प्रतिपादयन्तु, फलितन्तु त्वय्येव भवतीति भावः। तदुक्तम् (भा० ३।३२।३२)—

"ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः" ॥४३८॥ इति।

अत्र श्रुतयश्च माध्वभाष्यप्रमाणिताः—"हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति। यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रमभिविशन्ति, एवमेवैतानि नामानि सर्वाणि पुरुषमभिविशन्ति" इति।

तदेवं भगवत्त्वेन ब्रह्मत्वेन च त्वमेव तात्पर्य्याभिधानाभ्यां सर्वनिगमगोचर इत्युक्तम्। तच्च यथार्थमेव, न तु काल्पनिकमित्याहुः (भा० १०।८७।१६)—

"इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल,-क्षपण-कथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः, परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम्" ॥४३९॥

अनुवाद—

एतज्जन्य ही कहा गया है—"अतः" इति—मूल श्लोक में "अत ऋणयो" पद विन्यास से, अर्थात् वेद सकल ब्रह्म प्रतिपादन में प्रवृत्त होकर भगवत्तत्त्व प्रख्यापन में कृत निश्चय होकर मनसा अभिप्रेत तात्पर्य्य वचन का अभिधान से मानसानुरूप वाक्य से आपको अभिव्यक्त किए हैं। कारण ऐश्वर्य्य वीर्य्यादि षड़् भग का आविष्कार को देख कर निश्चय होता है कि—एक तत्त्व का उभय भेद कल्पित मात्र है। वस्तुतः उभय ही एक होने से वह अर्थान्तरन्यास हुआ है। अलङ्कार शास्त्र में आठ प्रकार अर्थान्तरन्यास स्वीकृत होने पर भी "अर्थान्तरं न्यस्यतेऽत्र" एक प्रकार अर्थ के द्वारा अन्य प्रकार अर्थ का समर्थन ही अर्थान्तरन्यास है। यहाँ ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य के द्वारा अर्थतः श्रीभगवान् ही पर्य्यवसित हुए हैं।

सम्यक्दर्शी एवं असम्यक्दर्शी जनगण के निक्षिप्त पदक्षेप जिस प्रकार पृथिवी में दत्त पद ही होता है। उसका अपलाप नहीं होता है, अर्थात् वह क्या भूमि को स्पर्श नहीं करता है? अपि च उसका तात्पर्य्य भूमि स्पर्श में ही है। तद्रूप वेद जिस किसी प्रकार से जिस किसी प्रकार वस्तु का प्रतिपादन क्यों न करें—उन सब का पर्य्यवसान आपमें ही है। एतत् सम्बन्ध में उक्ति यथा—"मन्निष्ट ज्ञानयोग एवं निर्गुण भक्ति योग—एतदुभय का भगवत् शब्द लक्षण, एक अर्थ ही अभिप्रेत है।" मध्वभाष्य प्रमाणिता श्रुति यथा—"सकल नाम ही उन एक महापुरुष को प्रतिपादन करते हैं, जिस प्रकार पृथक् प्रदेशमें प्रवाहित नदी सकल एक समुद्र में ही प्रविष्ट होती रहती हैं, तद्रूप पृथक् पृथक् विभिन्न नाम भी उन पुरुष में ही प्रविष्ट हैं।

सुतरां वेद की अभिधा एवं तात्पर्य्य वृत्ति के द्वारा भगवत्व एवं ब्रह्मत्व रूपमें आप ही एकमात्र सकल निगम का विषय हैं। आपकी उक्त निगमगोचरता काल्पनिक नहीं है, वह यथार्थ है। तत्पक्ष में विशेष उक्ति यथा—"हे त्र्यधिपते! विवेकिगण अखिल लोकों के अज्ञानादि पाप नाशक आपके कथामृताब्धि में अवगाहन कर सर्वपापों से निर्मुक्त होते हैं। आप जिसके हृदय में नित्य स्फुरित होते हैं, जो धौताशय हैं, जो लोक अजस्र सुखानुभव आपके पादपद्म का भजन करते हैं, उन सब की बात को क्या कहूँ।"

भोस्त्र्यधिपते ! त्रयाणां ब्रह्मादीनां पतिस्तत्तदवतारी नारायणाख्यः पुरुषस्तस्याप्युपरिचरस्वरूपत्वादधिपतिर्भगवान्, ततो हे सर्वेश्वरेश्वर ! यस्मात्त्वय्येव वेदानां तात्पर्य्यमभिधानञ्च पर्य्यवसितमिति, अतो हेतोरेव सूरयो विवेकिनः परम्परात्वत्प्रतिपादनमयं वेदभागमपि परित्यज्य केवलं तवाखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिं सकललोकवृजिन निरसनहेतु-कीर्त्तिसुधासिन्धुमवगाह्य श्रद्धया निषेव्य तपःप्राधान्येन तापकत्वेन वा तपांसि कर्माणि तानि जहुस्त्यक्तवन्तः। तेषां साधकानामपि यदि तत्रैवम्, तदा किमुत वक्तव्यं स्वधामविधुताशय-कालगुणाः शुद्धात्मस्वरूपस्फुरणेन निर्जितमन्तःकरणं जरादिहेतुः कालप्रभावः सत्त्वादयो गुणाश्च यैस्ते ये पुनस्तवाजस्रसुखानुभवस्वरूपं पदं ब्रह्माख्यं तत्त्वं भजन्ति, ते तमवगाह्य तानि जहुरिति; किन्तर्हि ब्रह्ममात्रानुभवनिष्ठामपि जहुरित्यर्थः। एतदुक्तं भवति,—अत्र तावत्त्रिविधा जनाः—मुग्धा विवेकिनः, कृतार्थाश्चेति। तत्र सर्वानेवाधिकृत्य वेदानामकल्पना-मयत्वेनैव भगवन्निर्द्देशकता दृश्यते। तथाहि यदि तथात्वेनैव सा न दृश्येत, तदा वस्तुतस्तत्-सम्बन्धाभावादखिललोकमलक्षपणत्वेन पदपदार्थज्ञानहीनानां मुग्धानामपि यत् पापहारित्वं वेदान्तर्वर्त्तिन्या भगवत्कथायाः प्रसिद्धम्, तन्न स्यात्, अस्पृष्टानललोहदाहकतावत्। किञ्च, तस्याः कल्पनामयत्वे सति विवेकिनस्तु न तत्र प्रवर्त्तेरन्, बन्ध्यायाः सुप्रजस्त्वगुणश्रवणवत्। प्रवर्त्तन्तां वा तदावेशेन स्वधर्मं पुनर्न त्यजेयुः, राजयशसो गङ्गात्वश्रवणेन तीर्थान्तरसेवनवत्।

अनुवाद—

अर्थात् हे ब्रह्मादि के पति—चतुर्व्यूहाधिपति का अवतारी जो मूल नारायण हैं, उनका भी उपरिचर स्वरूप, अतएव अधिपति स्वयं भगवान् आप ही हो, सर्वेश्वर का भी ईश्वर आप हैं, आपमें ही सकल वेदों का तात्पर्य्य पर्य्यवसित होने से, विवेकिगण—परम्परा क्रमसे आपका प्रतिपादनमय वेद भाग को परित्याग करके जिस भाग में अखिल लोकों के मालिन्य नाशक आपकी कथा है। समस्त पाप निरसन के हेतुभूत आपके कीर्त्ति सुधासिन्धु में अवगाहन करके तापप्रद तपस्यादि समस्त कर्म को परित्याग करते हैं। अथवा सकल प्रकार ताप से मुक्त होते हैं।

जब साधकगण इस प्रकार अवस्था को प्राप्त करते हैं। आशयादि काल गुण से भी वे सब मुक्त हो गये है। आत्मस्वरूप की स्फूर्त्ति से जिनके अन्तःकरण विशुद्ध हो गये हैं। जो लोक अजस्र सुखानुभव स्वरूप आपका ब्रह्माख्य तत्त्व का भजन करते हैं। वे सब आपकी कीर्त्ति सिन्धु में अवगाहन करके समस्त परित्याग करेंगे। इस सन्दर्भ में कहना ही क्या है ? सुतरां ब्रह्ममात्र निष्ठा को विवेकिगण परित्याग करते हैं।

मानव तीन श्रेणी में विभक्त हैं। मुग्ध, विवेकी, कृतार्थ, सबके निमित्त ही अकल्पनामय रूप वेद की भगवन्निर्देशकता दृष्ट होती है। यदि अकल्पनामय भगवन्निर्देशकता दृष्ट नहीं होती है तो, "भगवत् कथा अखिल मुग्ध जनों का पाप हरण करती है", यह सार्थक नहीं होगी। अनलास्पृष्ट लौह में जिस प्रकार दाहिका शक्ति नहीं होती है, तद्रूप भगवत् कथा ही पाप हारित्व के प्रति कारण है। भगवत् निर्देशकता ही पाप हारित्व के प्रति कारण है। बन्ध्या का गुणवान् पुत्र का जीवन चरित सुनकर विवेकिजन जिस प्रकार मुग्ध नहीं होते हैं, तद्रूप भगवत् चरित्र काल्पनिक होने से विवेकीगण उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। यदि कहो कि—स्वधर्म का परित्याग कोई नहीं करता, राजा का यशः गङ्गा के समान पवित्र है। ऐसा

अपि च तथा सति ये पुनरात्मारामत्वेन परमकृतार्थास्ते तदनादरेण तत्कथां नैवावगाहेरन्; अमृतसरसीमवगाढ़ा आरोपिततदधिकगुणक-नदीवत्। श्रूयते च तस्यास्तत्तद्गुणकत्वम्; यथा वैष्णवे (६।८।५७)—"हन्ति कलुषं श्रोत्रं स यातो हरिः" **इत्यादौ; अत्रैव** (भा० १०।८७।४०)—**"त्वदवगमी न वेत्ति" इत्यादौ, प्रथमे** (भा० १।७।११) **"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः" इत्यादौ च। तस्माद्गुणानां गुणादिप्रतिपादकवेदानाञ्च भगवता सम्बन्धः स्वाभाविक एव सर्वथेति सिद्धम्।**

अत्र श्रुतयः (ऋग्वेद० १।१५६।३)—"ओम् आस्य जानन्तः" **इत्याद्याः**, (छा० ४।१४।३) "यथा पुष्कर-पलाशमाप न श्लिष्यन्ति, एवमेवं विदन् पापं कर्म न श्लिष्यति";

"न कर्मणा लिप्यते पापकेन तत्सुकृतदुष्कृते विधुनिते।
एवं वाव न तपति किमहं साधु करवं किमहं नाकरवम्" ॥४४०॥

इत्याद्याः; "मुक्ता ह्येनमुपासते" इत्याद्याश्च। एवमन्येऽपि श्लोका उपासनादिवाक्यानां भगवत्परतादर्शका यथायथं योजयितव्या इत्यभिप्रेत्य नोद्ध्रियन्ते। ननु तर्हि भवन्मते शब्द-निर्द्देश्यत्वे प्राकृतत्वमेव तत्रापतति। किञ्च, श्रुतिभिरपि (तै० २।४।१) "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "अवचनेनैव प्रोवाच", (केन० १।४) "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते", (केन० १।७) "यत् श्रोत्रं न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्" **इत्यादौ शब्दनिर्द्देश्यत्वमेव तस्य निषिध्यत**

अनुवाद—

प्रतिदिन सुन कर भी पवित्र होने के लिए पवित्र तीर्थ गमन करते हैं, यहाँ वैसा नहीं है। जो लोक आत्मारामत्व से परम कृतार्थ हो गये हैं। वे सब अन्यत्र प्रवर्त्तित नहीं होते हैं। जो लोक, अमृत ह्रद में निमज्जन किया है। वे लोक आरोपित गुणयुक्त नदी को अवश्य परित्याग करते रहते हैं तद्रूप आत्माराम अवस्था में अवस्थित जन स्वीयानन्द की उपेक्षा कर भगवत् कथा में प्रवृत्त न हो? किन्तु भगवत् कथा का ही तादृश गुण है कि—आत्मारामगण भगवद्गुण में आकृष्ट होते हैं। श्रीविष्णुपुराण में उक्त है—"श्रीहरि श्रोत्र पथ से हृदय में प्रविष्ट होकर कलुष विनष्ट करते हैं।" अर्थात् श्रीहरि कथा श्रवण से पाप विनष्ट होता है। यहाँ भी वैसी ही कथा कही गयी है। "आपको जिसने जान लिया है, वह भवदुत्थ सुख का अनुसन्धान नहीं करता है।" अर्थात् सुख-दुःखातीत अवस्था को प्राप्त करता है।

उक्त श्लोक की टीका में स्वामिपाद कहे हैं—"हे सगुण षड़ गुणैश्वर्य्ययुक्त त्वदवगमी त्वज् ज्ञानवान्, भवदुत्थशुभाशुभयोर्भवतः कर्मफलदातुरीराद्धेतोरुत्थयोः आविर्भूतयोः शुभाशुभयोः प्राचीनपुण्यकर्मणोः फल-भूतान् गुणविगुणान्वयान् सुखदुःखसम्बन्धान् न वेति नानुसन्धत्ते। श्रवणभृतः अनुदिनं श्रवणेन चेतसि भृतो धृतस्त्वं" अर्थात् षड़ गुणैश्वर्य्यशाली आपकी महिमामें विभोर होकर वे सब आपको हृदयमें धारण किए हैं।

श्रीहरि के गुण से आक्षिप्त चित्त" इत्यादि। अतएव गुण एवं गुणादि प्रतिपादक वेद के सहित श्रीभगवान् का अनारोपित स्वाभाविक सम्बन्ध सर्वथा सिद्ध है। श्रुति,—"प्रणवादि व्यञ्जित सत् चित् स्वरूप आपका नाम" "पद्मपत्र में यद्रूप जल स्पर्श नहीं होता है, तद्रूप आपको जिसने जाना है, उसको पाप कर्म स्पर्श नहीं करता है। पापज कर्म उसको आवृत नहीं करता है। वह सुकृति दुष्कृति से मुक्त होता है एवं सदसद् कर्म करेंगे अथवा नहीं करेंगे—इस प्रकार अनुताप भी वह नहीं करता है।" "मुक्त जीव उनकी उपासना करता है।" इत्यादि अनेकानेक उक्ति प्रसिद्ध है। आत्मारामगण त्वदीय गुणाकृष्ट होकर स्व-सुखाधिक आनन्दानुभव करते हैं।

शब्द प्रतिपाद्य होने से प्राकृत होने की आशङ्का आप में होगी? श्रुति कहती है,—"जिनको न प्राप्त कर मन के सहित वाणी जिनसे निवर्त्तित होती है।" "जो वाक्यातीत रूपमें अभिहित हैं"। "वाक्य के

इत्याशङ्कायामुच्यते। यथा साक्षान्निर्द्देश्यत्वे दोषस्तथा लक्ष्यत्वेऽपि कथं न स्यात् उभयत्रापि शब्दवृत्तिविषयत्वेनाविशेषात्। किञ्च, न तस्य प्राकृतवत् साक्षान्निर्द्देश्यत्वेनैव तथा निर्द्देश्यत्वमिति सिद्धान्त्यते। तथैव हि तासां महावाक्योपसंहारः (भा० १०।८७।४१)—

"द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया, त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय,-स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥४१

अत्र स्वरूपगुणयोर्द्वयोरपि द्विधैवानिर्द्देश्यत्वम्, आनन्त्येन इदमित्थं तदिति निर्द्देशासम्भवेन च। तत्र प्रथममानन्त्येनाहुः—हे भगवन्! ते तव अन्तमेतावत्त्वं द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयो ब्रह्मादयोऽपि न ययु र्न विदुः। तत् कुतः? अनन्तया। यदन्तवद्वस्तु तत् किमपि न भवसीति। आसतां ते यस्मात्त्वमपि आत्मनोऽन्तं न यासि। कुतस्तर्हि सर्वज्ञता सर्वशक्तिता वा? तत्राप्याहुः–अनन्ततयेति अन्ताभावेनैव। न हि शशविषाणाज्ञानं सार्वज्ञंच तदप्राप्तिर्वा शक्तिवैभवं विहन्ति; श्रुतिश्च—"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद"

अनुवाद—

द्वारा जिनको अभिहित नहीं किया जाता है।" जिनसे हमारे वाग् प्रभृति अभ्युदित हैं। अर्थात् इन्द्रियगण निज निज कर्म में सक्षम होती हैं। इत्यादि स्थानों में उनका शब्द निर्देश्यत्व निषिद्ध हुआ है।

शब्द निर्देश्य भगवान् में आपाततः प्राकृतत्व की आशङ्का अपनोदनार्थ कहते हैं। यदि शब्द का साक्षात् निर्देश्यत्व दोषावह होता है, तब लक्ष्यत्व में ही दोष क्यों नहीं होगा? कारण शब्दवृत्ति विशेषत्व में उभयत्र कोई विभेद नहीं है। शब्द की अभिधा-लक्षणा दो वृत्ति, शक्ति हैं। सुतरां शब्द निर्देश्यत्व होने से प्राकृत दोष कभी भी नहीं हो सकता है। यहाँ प्राकृत के समान उनका साक्षात् निर्देश्यत्व नहीं है। किन्तु अनिर्देश्यत्व कहने का तात्पर्य्य है—वाक्य के द्वारा उनके गुणसमूह वर्णित नहीं हो सकते हैं। अतः आप अवाङ्मानसगोचर हैं। इस प्रकार सिद्धान्त करके वक्ष्यमाण प्रकार से श्रुति वाक्य का उपसंहार कर रहे हैं।

भगवत्तत्त्व की दुरधिगमता। आपकी महिमा दुरधिगम है, श्रुतिगण उस प्रकार ही कहती हैं। अपरिमितता के कारण आप वाङ्मन का अगोचर हैं। श्रुतिगण कहती हैं—"हे भगवन्! स्वर्गादि लोक पति ब्रह्मादि देवगण भी अनन्त महिम आपकी महिमा की सीमा नहीं कर सकते हैं। स्वयं आप भी सीमा प्राप्त नहीं होते हैं। उत्तरोत्तर दशावरण से आवृत ब्रह्माण्डसमूह काल चक्र से आपके लोमकूप में आकाशस्थित धूलीकणा के समान युगपत् परिभ्रमण कर रहे हैं। अतएव त्वत् परायणा श्रुति समूह अतन्निरसनमुख से ही आप में पर्य्यवसित होती रहती हैं।"

अर्थात् यहाँ स्वरूपगण-गुणगण एतदुभय की ही अनिर्देश्यता सुव्यक्त है, आनन्त्य वशतः स्वरूपगत अनिर्देश्यता है। कारण इदमित्थं रूपसे निर्णय किया जाता है। इस अनन्त भाव को लेकर ही सम्बोधन हे भगवन्! स्वरूप निर्देश करने में तवात्मजाभिमानी ब्रह्मादि एवं लोकपतिगण भी असमर्थ हैं। अतः अपर कैसे समर्थ होगा? समीपस्थ वस्तु का ज्ञान होता है, आप समीप में हैं, ब्रह्माण्डनिचय के बाहर आप अवस्थान करते हैं। जिनमें ब्रह्माण्ड निचय अवस्थित, अथवा जिनसे ब्रह्माण्डनिचय उद्भूत हैं। असर्वज्ञ व्यक्ति कैसे उनको जान सकता है। जिसका अन्त है ही नहीं, उसका परिज्ञान न होने से उसकी हानि नहीं है, शशशृङ्ग का अपरिज्ञान से सर्वज्ञता के शक्ति वैभव की हानि नहीं होती है।

श्रुति कहती है—"जो जगत् का अध्यक्ष, परव्योम में स्थित हैं, आप जाने या न जाने।" यहाँ

इति। अनन्तमेवाहुः—यदन्तरेति। यस्य तवान्तरा मध्ये। ननु अहो सावरणा उत्तरोत्तर-दशगुणसप्तावरणयुक्ता अण्डनिचया वान्ति परिभ्रमन्ति, वयसा कालचक्रेण खे रजांसि इव सह एकदैव, न तु पर्य्यायेण। अनेन ब्रह्माण्डानामनन्तानां तत्र भ्रमणात् स्वरूपगतमानन्त्यं तेषां विचित्रगुणगणानामाश्रयत्वाद्गुणगतञ्चेति ज्ञेयम्। श्रुतयश्च (वृ० ३।८।४) "यदूर्द्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च" इत्याद्याः; (नारा० पू०ता० ४।४, ऋग्वेद० १।१५४।१) "विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्र वोचं य पार्थिवानि विममे रजांसि" इत्याद्याश्च। हि यस्मादेवमतः श्रुतयस्त्वयि फलन्ति कथञ्चित् किञ्चिदेवोद्दिश्य पुनरनन्तत्वकथनेनैव त्वयि पर्य्यवस्यन्ति। अतः श्रुतावपि प्राजापत्यानन्दतः शतगुणानन्दत्वमभिधाय पुनः (तै० २।४।१) "यतो वाचः" इत्यादिना अनन्तत्वेन वागतीतसंख्यानन्दत्वं ब्रह्मण उक्तम्। यदुक्तम्—

"न तदीदृगिति ज्ञेयं न वाच्यं न च तर्क्यते।
पश्यन्तोऽपि न जानन्ति मेरो रूपं विपश्चितः"॥४४२॥ इति।

अतोऽत्रानिर्द्देश्यत्वेनैव निर्द्देश्यत्वम् यत्तु (तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादौ स्वरूपस्य साक्षादेव निर्द्देशः, (श्वे० ६।८) "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादौ गुणस्य च श्रूयते, तत्र च तथैव इत्याहुः—"अतन्निरसनेन भवन्निधनाः" इति। अतत् प्राकृतं यद्वस्तु तन्निरस्यैव भवत्पर्य्यवसानात्। अयमर्थः—(गी० १०।४) "बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहम्" इत्यादिना (वृ० १।५।३) 'ह्रीर्धीर्भीरेतत् सर्वं मन एव" इत्यादिना, च यत् प्राकृतं ज्ञानादिकमभिधीयते, तत् सर्वं ब्रह्म

अनुवाद—

"यदन्तरा" वाक्य से अनन्तत्व प्रख्यापित हुआ है। अर्थात् आपके रोमकूप में उत्तरोत्तर दशावरणयुक्त अण्ड निचय कालचक्र से सृष्टि-स्थिति-लयादि क्रम से परिभ्रमण करते रहते हैं। इससे स्वरूपतः आनन्त्य, एवं उक्त विचित्र गुणसमूह का आश्रयत्व हेतु गुणगत आनन्त्य को भी जानना होगा।

"हे गार्गि! द्युलोक के ऊर्द्ध में पृथिवी के अधो देश में, जो पृथिवी एवं द्युलोक के मध्यस्थल में था, एवं रहेगा।" इत्यादि श्रुति से भी व्यक्त हुआ है।

"पार्थिव धूलीकण का गणन सम्भव होने से भी श्रीविष्णु के वीर्य्य को प्रकृष्ट रूप से कौन कह सकता है?" इत्यादि उक्ति समस्त श्रुति में ही है। अतः श्रुतिगण आपकी महिमा का उद्देश का वर्णन करके अनन्त महिमा को सूचित करती हैं।

अतएव श्रुति में प्राजापत्यादि आनन्द से शतगुण आनन्दत्व की कथा वर्णित है। पश्चात् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि श्रुति के द्वारा अनन्तता वशतः ब्रह्मानन्द को वागतीत असंख्य आनन्दत्व कहा गया है। "वह भगवान् इस प्रकार हैं,—ईदृश ज्ञान अथवा वाक्य का विषय नहीं होते हैं। अथवा उनके विषय में तर्क उपस्थित भी नहीं होता है। विज्ञ व्यक्ति मेरु पर्वत को देखकर सम्पूर्ण जान नहीं सकता है। अतएव उदाहरण परम्परा से ज्ञात होता है कि—भगवान् महिमा से अनिर्देश्यत्व रूप में ही निर्देश्यत्व होते हैं। "सत्यं ज्ञानं" इत्यादि श्रुति में स्वरूप का साक्षात् निर्देश हुआ है। "स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया" इत्यादि श्रुति में गुणादि स्वरूप का साक्षात् निर्देश है।

अतएव यहाँ अतन्निरसन द्वारा, अर्थात् जो स्वरूप आपका नहीं है, वह अतत् है, प्राकृत है। उक्त प्राकृत वस्तु का निरसन से ही भगवत्स्वरूप का अर्थात् अप्राकृत रूप-गुण-महिमादिमत् श्रीभगवत्तत्त्व का निर्देश एवं उन भगवत्तत्त्व में श्रुति का पर्य्यवसान है। "बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम,

न भवतीति (वृ० २।३।६) "नेति नेति" इत्यादिना (श्वे० ६।८) "न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादिना च निषिध्यते। अथ च सत्यज्ञानादिवाक्येन "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादिवाक्येन च तदभिधीयते। तस्मात् प्राकृतादन्यदेव तज्ज्ञानादि इति तेषां ज्ञानादि-शब्दानामतन्निरसनेनैव त्वयि पर्य्यवसानमिति। ततश्च बुद्ध्यगोचरवस्तुत्वादनिर्द्देश्यत्वम्, तथापि तद्रूपं किञ्चिदस्ति, इति उद्दिश्यमानत्वान्निर्द्देश्यत्वञ्च। तथा परोक्षज्ञाने च 'दशमस्त्व-मसि' इतिवद्वाक्यश्रवणमात्रेणैव तस्य स्वप्रकाशरूपस्यापि वस्तुनो विशुद्धचित्तेषु प्रकाश-दर्शनात् श्रुतिशब्दस्य स्वप्रकाशताशक्तिमयत्वमेवावसीयते; उक्तञ्च (भा० ६।१६।५१) "शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनु' इति; (भा० ११।३।४३) 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्' इति; (भा० ६।१।४०) "वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम" इति; (भा० १।१।२) "किंवापरैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" इति च। अतएव (वृ० ३।६।२६) "औपनिषदः पुरुषः" इत्यत्रोपनिषन्मात्रगम्यत्वं श्रुतिर्बोधयति चाक्षुषं रूपमितिवत्। ततश्च श्रुतिमय्या स्वप्रकाशताशक्त्या प्राकृततत्तद्वस्तुजातं तम इव निरस्य स्वयं प्रकाशते। तस्मान्न तत्रापि निर्द्देश्यत्वम्। नहि स्वेन प्रकाशेन रविः प्रकाश्यो भवति यथा तेन घट इति वक्तुं युज्यते,

अनुवाद—

सुख, दुःख, भव, अभव, भय, अभय।" गीता की उक्ति से बोध होता है कि—उक्त पदार्थ समूह का परिगणन मनमें होता है, अतः प्राकृत ज्ञानादि का विषय रूपमें जो अभिहित है, वह ब्रह्म नहीं है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति से वह ही अभिव्यक्त हुआ है।

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" उनका कार्य्य अथवा करण (इन्द्रिय) नहीं है। इससे भी प्राकृत कार्य्य करण का निषेध हुआ है। अथच "सत्य, ज्ञानादि स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया" इत्यादि श्रुति में स्वाभाविक ज्ञानादि का विषय अभिहित है। अतएव निषिद्ध ज्ञानादि प्राकृत से भिन्न नहीं है। उसे दर्शाकर उस ज्ञानादि विषय का अतन्निरसन के द्वारा हो आप में पर्य्यवसित है। सुतरां सामान्य बुद्धि का अगोचर वस्तुत्व निबन्धन ही अनिर्देश्यत्व है। तथापि 'तद्रूप' कुछ अवश्य है। अर्थात् प्राकृतातीत स्वरूपभूत अनिर्वचनीय ज्ञानादि है। इससे ही निर्देश्यत्व सम्भावित हुआ है।

परोक्ष ज्ञान में 'दशम तुम हो' इस वाक्य से निज को ग्रहण करके अनुद्दिष्ट दशम का उद्देश होता है। तद्रूप पूर्वोक्त श्रुति वाक्य का उच्चारण से ही, विशुद्ध चित्त में उन स्वप्रकाश वस्तु का भी सुप्रकाश होने से श्रुति वाक्य की स्वप्रकाशशक्तिमयता ही व्यवस्थापित हुई है। "शब्दब्रह्म, परब्रह्म, उभय ही मेरा नित्य शरीर" "वेद की ईश्वरात्मता के कारण" उक्त वाक्य में वेद को ईश्वर रूपमें दर्शाया गया है। "स्वयम्भू वेद, साक्षात् नारायण हैं, हम सब सुने हैं।" "जिसके श्रवण से शुश्रूषु जनगण के हृदय में भगवान् सद्य अवरुद्ध होते हैं।" अतएव श्रुति में "औपनिषत् पुरुष" उक्त होने से उपनिषत्मात्र गम्य (अर्थात् उपनिषदादि शास्त्र से उनको जाना जाता है) सूचित हुआ है।

इन्द्रियान्तर का सद्भाव होने से भी जिस प्रकार चक्षु व्यतीत रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता है। तज्जन्य रूप को चाक्षुष पत्यक्ष का विषय माना गया है। तद्रूप श्रीभगवान् अपौरुषेय श्रुत्यादि शब्द वेद्य हैं। आलोक जिस प्रकार अन्धकार को निरास करके स्वयं प्रकाशित होता है, श्रीभगवान् तद्रूप श्रुतिमयी स्वप्रकाश शक्ति द्वारा प्राकृत वस्तु को निरास करके स्वयं प्रकाशित होते हैं।

यहाँ एक आशङ्का हो सकती है—श्रुतिमयी स्वप्रकाश शक्ति द्वारा प्रकाशित होने से भगवान् श्रुति

स्वाभिन्नत्वात् । यदि च शक्तिशक्तिमतोर्भेदपक्षः स्वीक्रियते, तदा निर्द्देश्यत्वमपीत्यत्रा-निर्द्देश्यत्वेनैव निर्द्देश्यत्वं सिद्धम् । अतएवोक्तं गारुड़े—

"अप्रसिद्धेरवाच्यन्तद्वाच्यं सर्वागमोक्तितः । अतर्क्यं तर्क्यमज्ञेयं ज्ञेयमेवं परं स्मृतम्" ॥४४३॥ इति ।

श्रुतौ च (केन० १।३) "अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि" इति । इदमभिप्रेत्योक्तं श्रीपराशरेणापि (श्रीविष्णुपुराणे ६।८।५६) "यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वशक्तिनिलये मानानि नो मानिनां, निष्ठायै प्रभवन्ति हन्ति कलुषं श्रोत्रं स यातो हरिः" इति । नन्वाविष्कृतशक्तेर्भगवदाख्यस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशताशक्तिरूपत्वं वेदस्य सम्भवति । ततश्चानाविष्कृतशक्तेर्ब्रह्मणः प्रकाशस्तरमात् कथमिति ? उच्यते—अस्मन्मते तस्यापि प्रकाशो भगवच्छक्त्यैव; तदुक्तम् (भा० ८।२४।३८)—

"मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि" ॥४४४॥ इति ।

न चैतेन परप्रकाश्यत्वमापतति, ब्रह्मभगवतोरभिन्नवस्तुत्वात् । अत्र लौकिकशब्देनापि यः कश्चित्तदुपदेशः, स तु तस्य तदनुगतेस्तया श्रुत्यैवानुगृहीततया सम्भवतीत्युक्तम् । अतस्तदनुशीलनावसरे तद्भक्त्यनुभावरूपस्य तच्छब्दस्य तु सुतरां तत्स्वरूपशक्तिविलासमयत्वान्न तत्र निषेधः; किं तर्हि मनोविलासमयस्यैवेति सर्व मनवद्यम् । अतएव (ब्र०सू०४।२।११ माध्व-भाष्यधृत-) सौपर्णश्रुतौ—"प्रकृतिश्च-प्राकृतश्च यन्न जिघ्रन्ति जिघ्रन्ति यन्न पश्यन्ति पश्यन्ति यन्न शृण्वन्ति

अनुवाद—

निर्देश्य क्यों नहीं होंगे ? जिस प्रकार सूर्य्य स्वीय प्रकाश के द्वारा प्रकाश्य नहीं है । किन्तु उनके प्रकाश से घटादि प्रकाशित होते हैं । यहाँ इस प्रकार आशङ्का नहीं हो सकती है । यदि शक्ति-शक्तिमान् में भेद पक्ष स्वीकृत होता है, तब ही श्रुति निर्देश्यत्व होता है । कारण अनिर्देश्य रूप ही उनका निर्देश्यत्व सिद्ध है ।

गरुड़पुराण में उक्त है—"भगवान् अप्रसिद्ध होने से अवाच्य हैं । किन्तु सर्व-आगम की उक्ति से वाच्य हैं । तर्क का अविषय होने से भी तर्क्य, अज्ञेय होकर भी परम ज्ञेय रूपमें अभिहित होते हैं ।" केनोपनिषद् में उक्त है—"भगवान् ज्ञात-अज्ञात, सकल वस्तु से अतीत हैं ।" श्रीपराशर महाशय ने कहा है—"सर्व शक्तिनिलयस्वरूप ब्रह्म में प्रमाणवादियों का प्रमाण स्थान प्राप्त नहीं होता है, किन्तु श्रोता के श्रोत्र पथ में आकर सकल कलुष को विनष्ट करते हैं ।" पुनश्च आशङ्का है—आविष्कृत शक्ति भगवदाख्य ब्रह्म की स्वप्रकाशता शक्तिस्वरूपता वेदोक्त सम्भव हो सकती है, अर्थात् आविष्कृत शक्ति, भगवान् का प्रकाशक हो सकती है । किन्तु अनाविष्कृत शक्ति ब्रह्म की वेद प्रकाशता कैसे सम्भव हो ? उत्तर में कहते हैं—भगवच्छक्ति से ही ब्रह्म का प्रकाश भी होता है । "परब्रह्माख्य मदीय महिमा को मेरे अनुग्रह से ही जानना ।" इससे स्वयं प्रकाश ब्रह्म में पर प्रकाशता दोष का आपतन हो ? यहाँ दोष की आशङ्का नहीं हो सकती है । कारण ब्रह्म एवं भगवान् अभिन्न तत्त्व हैं । एक अद्वय तत्त्व का ही आविर्भाव तारतम्य से नामान्तर होता है । लौकिक शब्दमें कहीं पर जो ब्रह्मादि तत्त्व का उपदेश है, उसका भी भगवदानुगत्य है, अर्थात् वह भी श्रुति के द्वारा अनुगृहीत होकर ही सम्भव होता है । अतएव भगवत्तत्त्वानुशीलन के अवसर में भक्ति के अनुभाव रूप वेदशब्द भी भगवत् स्वरूपशक्ति के विलासमय है । अतः उनमें निषेध नहीं हो सकता है । जब शब्द का निषेध नहीं होता है, तब मनोविलास की कथा ही क्या है ? अतएव "मनसा न मनुते" इत्यादि श्रुति का भी प्राकृत दृष्टान्तानुगत अर्थ को ही जानना होगा ।

शृण्वन्ति यन्न जानन्ति जानन्ति च" इति ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

९९। अथैकमेव स्वरूपं शक्तित्वेन शक्तिमत्त्वेन च विराजतीति यस्य शक्तेः स्वरूपभूतत्वं निरूपितम्, तच्छक्तिमत्ताप्राधान्येन विराजमानं भगवत्संज्ञामाप्नोति, तच्च व्याख्यातम्। तदेव च शक्तित्वप्राधान्येन विराजमानं लक्ष्मीसंज्ञामाप्नोतीति दर्शयितुं तस्याः स्ववृत्तिभेदेनानन्तायाः कियन्तो भेदा दर्श्यन्ते ; यथा (भा० १०।३९।५५)—

"श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" ॥४४५॥

शक्तिर्महालक्ष्मीरूपा स्वरूपभूता ; शक्तिशब्दस्य प्रथमप्रवृत्त्याश्रयरूपा भगवदन्तरङ्ग-महाशक्तिः ; माया च वहिरङ्गा शक्तिः श्र्यादयस्तु तयोरेव वृत्तिरूपाः, तासां सर्वासामपि प्राकृताप्राकृतताभेदेन श्रूयमाणत्वात् । ततः श्रियेत्यादौ शक्तिवृत्तिरूपया मायावृत्तिरूपया चेति सर्वत्र ज्ञेयम् । तत्र पूर्वस्या भेदः, श्रीर्भागवती सम्पत्, न त्वियं महालक्ष्मीरूपा, तस्या मूलशक्तित्वात् । तदग्रे विवरणीयम् । उत्तरस्या भेदः—श्रीर्जागती सम्पत्, इमामेवाधिकृत्य (भा० ४।२०।२८) "स्व एव धिष्णेच्वभिरतस्य किं तया" इति, (भा० ३।१६।७) "न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति" इत्यादि-वाक्यम् । यत उक्तं चतुर्थशेषे श्रीनारदेन (भा० ४।३१।२२)—

अनुवाद—

सौपर्ण श्रुति में उक्त है—प्रकृति होकर भी जो प्राकृत ग्रहण नहीं करता है, ग्रहण करने पर भी जो नहीं देखता है, देखने पर भी नहीं सुनता है, सुनने पर भी जिसको जान कर भी नहीं जाना जाता है।" इत्यादि श्रुति वाक्य में जिनका अद्भुतत्व सुव्यक्त है। श्रुतिगण श्रीभगवान् को कही थीं ॥९८॥

प्रतीत होता है कि—एक स्वरूपभूत तत्त्व ही शक्तित्व एवं शक्तिमत्त्व रूप में विराजित होते हैं। पहले जिनकी स्वरूपभूत शक्तिरूपता निरूपित हुई है। उन अद्वय तत्त्व ही शक्तिमत्त्वा प्राधान्य से विराजमान अवस्थामें भगवत् सज्ञा से अभिहित होते हैं। उन स्वरूपभूत श्रीभगवान् ही शक्तित्व प्राधान्य से विराजमान अवस्था में लक्ष्मी आख्या से अभिहित होते हैं। इसको करने के लिए शक्ति की स्वीया वृत्ति के अनन्त भेद के मध्य में कतिपय भेद प्रदर्शित हो रहे हैं। "यथा—श्री, पुष्टि, गिर, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि, इला, उर्ज्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति एवं माया के द्वारा निषेवित हैं।"

द्वादश शक्ति के मध्यमें वृत्ति विभेद की आलोचना में देखा जाता है—प्रथमतः शक्ति—महालक्ष्मीरूपा जो स्वरूपभूता है, वह ही शक्ति है। कारण शक्ति शब्द का उच्चारण करने से अनन्त शक्ति का आश्रय "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादि श्रुति प्रतिपादिता श्रीभगवान् की अन्तरङ्गा मायाशक्ति का ही बोध होता है।

माया शब्द से जीव सम्मोहिनी वहिरङ्गा शक्ति को जानना होगा। स्वरूपशक्ति की वृत्ति में एवं माया शक्ति की वृत्ति में समान रूप से उक्त श्री आदि का गणन होता है। अर्थात् "श्रिया पुष्ट्या" इत्यादि सर्वत्र प्राकृत जगत् में एवं अप्राकृत धामादि में प्रयोग के अनुसार कभी अन्तरङ्गाशक्ति शक्तिवृत्तिता कभी वहिरङ्गा शक्तिवृत्तिता होती है। अतएव प्रथमतः शक्तिवृत्तिता का भेद की आलोचना करते हैं। श्री—भागवती सम्पत्। किन्तु महालक्ष्मीरूपिणी नहीं है। कारण "श्री" मूल शक्तिस्वरूपिणी हैं। इसका विवरण अग्रिम ग्रन्थमें प्रस्तुत करेंगे। द्वितीया—वहिरङ्गा मायाशक्ति की वृत्ति—श्री, जागतिक सम्पद्रूपा। इस जागती श्री को लक्ष्य करके ही कहा गया है, "विरक्त मुझको भी श्री परित्याग नहीं करती है।"

"श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च, द्विपदपतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः, कथममुमुद्विसृजेत् पुमान् रसज्ञः" ॥४४६॥ इति ।

तत्र तदर्थिद्विपदपत्यादिसहभाव उपजीव्यः । तथा दुर्वाससः शापनष्टायास्त्रैलोक्यलक्ष्म्या आविर्भावं साक्षाद्भगवत्प्रेयसीरूपा स्वयं क्षीरोदादाविर्भूय दृष्ट्या कृतवतीति श्रूयते । एवमपरापि । तत्र इला भूस्तदुपलक्षणत्वेन लीला अपि ; तत्र च पूर्वस्या भेदो तत्त्वावबोधकारणं सम्विदाख्यायास्तद्वृत्तेर्वृत्तिविशेषः; उत्तरस्या भेदस्तस्या एव विद्यायाः प्रकाशद्वारम् । अविद्यालक्षणो भेदः पूर्वस्या भगवति विभुत्वादिविस्मृतिहेतुर्मातृभावादिमयप्रेमानन्दवृत्तिविशेषः; अतएव (गो०ता०पू० ८) "गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकः" इति तापन्यां श्रुतौ । यथावसरमेतदपि विवरणीयम् । उत्तरस्याः स भेदः संसारिणां स्वस्वरूपविस्मृत्यादिहेतुरावरणात्मकवृत्तिविशेषः । चकारात् पूर्वस्याः, सन्धिनी-सम्वित्-ह्लादिनी-भक्त्याधारशक्ति-मूर्त्ति-विमलाजयायोगाप्रह्वीशानानुग्रहादयश्च ज्ञेयाः । अत्र सन्धिन्येव सत्या, जयैवोत्कर्षिणी, योगैव योगमाया, सम्विदेव ज्ञानाज्ञानशक्तिः शुद्धसत्त्वञ्चेति ज्ञेयम्; प्रह्वी विचित्रानन्तसामर्थ्यहेतुः; ईशाना सर्वाधिकारिताशक्तिहेतुरिति भेदः । एवमुत्तरस्याश्च यथायथमन्या ज्ञेयाः । तदेवमप्यत्र मायावृत्तयो न विव्रियन्ते, वहिरङ्गसेवित्वात् । मूले तु सेवांशमात्रसाधारण्येन

अनुवाद—

चतुर्थस्कन्ध के अवशेष में नारद महाशय की उक्ति—"अनुवर्त्तमाना श्री का, सकामी जनसमूह का, द्विपद पति का (राजा का) देवतागण का जो भजन नहीं करता है, स्वतः पूर्ण निज भृत्य परतन्त्र उन भगवान् को कौन रसज्ञ पुरुष अकृतज्ञवत् परित्याग करेगा।" यहाँ 'द्विपदपति' श्री, कामी इत्यादि वाक्योपजीव्य, क्षीरोदोद्भूता भगवत् प्रेयसीरूपा, साक्षात् लक्ष्मी की दृष्टि में दुर्वासाशापनष्टा त्रैलोक्य लक्ष्मी का आविर्भाव कथा सुनने में आती है। इस प्रकार अपरा शक्ति इला, भू है, तदुपलक्षित लीला को भी जानना होगा। यहाँ विद्या को तत्त्वावबोध के कारणस्वरूप अन्तरङ्गाशक्ति की वृत्तिविशेष को जानना होगा।

विद्या को अपरा जागती मायाशक्ति का भेद भी कहते हैं। कारण यह अन्तरङ्गा विद्या प्रकाश का द्वार है। श्रीभगवान् के विभुत्वादि की विस्मृति का हेतु—मातृभावादि-मय प्रेमानन्द की वृत्तिविशेष रूप में अन्तरङ्गा के वृत्ति भेद कहते हैं। एतज्जन्य तापनी श्रुति में "गोपी जन को अविद्या कला का प्रेरक" कहा गया है। अर्थात् गोपीजन में अविद्या कला—अज्ञान कला का प्रेरक जो कहते हैं, वह अविद्या कला प्रेरक हैं। अथवा सौन्दर्य्य माधुर्य्यादि ज्ञान का अपहरण करके निज प्रेम में उन सब को मुग्ध करते हैं।

"विस्मृति प्रभृति सम्पादन कार्य्य में मायाशक्ति का भेद को भी कहते हैं। कारण जीव स्वरूप विस्मृति का हेतु आवरणात्मक मायिक वृत्तिविशेष है। मूल श्लोक में "मायया च निषेवितं" यहाँ च-कार के द्वारा अन्तरङ्गाशक्ति के द्वारा भी श्रीभगवान् सेवित हैं, विवरण है। सन्धिनी सम्वित् ह्लादिनी सम्वलिता भक्ति की आधार शक्तिरूपा मूर्त्ति—विमला, जया, प्रह्वी, ईशानी, अनुग्रहादि को जानना होगा। 'सन्धिनी' शब्द से—सत्या, जया, अर्थात् उत्कर्षिणी, योगा, अर्थात् योगमाया का बोध होता है। सम्वित्—ज्ञान अज्ञान शक्ति एवं शुद्धसत्त्व है।

प्रह्वी—विचित्र अनन्त सामर्थ्य की हेतुभूता शक्ति, ईशाना—सर्वत्राधिकारिता शक्ति की हेतुभूता, वह सामर्थ्य का ही एक जातीय भेद है। इस रीति से वहिरङ्गा मायाशक्ति के भेद को कार्य्यानुसार जानना होगा। मायावृत्ति के विशेष विभेद का कथन यहाँ नहीं हुआ। "श्रिया पुष्ट्या" मूल श्लोक में सेवांश

गणिताः। वहिरङ्गसेवित्वञ्च तस्या भगवदंशभूतपुरुषस्य विदूरवर्त्तितयैवाश्रितत्वात्। तथा च दशमस्य सप्तत्रिंशे श्रीनारदेन भगवान् श्रीकृष्ण एवास्तावि (भा० १०।३७।२२-२३)—

"विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया, समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम्।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया,-गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥४४७॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया, विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम्।
क्रीड़ार्थमभ्यात्तमनुष्यविग्रहं, नतोऽस्मि धुर्य्यं यदुवृष्णिसात्वताम्" ॥४४८॥ इति।

अनयोरर्थः—विशुद्धं यद्विज्ञानं परमतत्त्वम्, तदेव घनः श्रीविग्रहो यस्य; स्वसंस्थया स्वरूपाकारेण स्वरूपशक्त्यैव वा सम्यगाप्ता इवाप्ता नित्यसिद्धाः पूर्णा वा सर्वे अर्था ऐश्वर्य्यादयो यत्र; अतएव न विद्यते अतितुच्छत्वात् मोघे वृथाभूते जगत्कार्य्ये वाञ्छितं वाञ्छा यस्य; क्वचिदवाञ्छितस्यापि सम्बन्धो दृश्यत इत्याशङ्क्याह—स्वतेजसा स्वरूपशक्तिप्रभावेण नित्यमेव निवृत्तो दूरीभूतो मायागुणप्रवाहस्तत्परम्परा यस्मात्। इत्थमेव (भा० ४।१२।६)— "युक्तं विहहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया" इत्युक्तम्। आत्ममायया स्वरूपभूतया शक्त्या युक्तम्, गुणमय्या विरहितमिति; तं भगवन्तं शरणं व्रजेम। तथा त्वां श्रीकृष्णाख्यं भगवन्तमेव स्वांशेनेश्वरमन्तर्यामिपुरुषमपि सन्तं नतोऽस्मि। कथम्भूतम्? ईश्वरं स्वरूपशक्त्या स्वाश्रयमपि आत्ममायया आत्मात्र जीवात्मा तद्विषयया मायया, विनिर्म्मिता अशेषविशेषाकारा कल्पना येन; यद्वा, आत्ममायया स्वरूपशक्त्या स्वाश्रयम्; विनिर्मिता अशेषविशेषा यया तथाभूता

अनुवाद—

साधारण धर्म को लेकर गणना हुई है। भगवदंशभूत पुरुष की विदूरवर्त्तिता के द्वारा आश्रयता होने पर भी वह वहिरङ्गा है, अज्ञ जीव को आश्रय कर रहती है।

श्रीनारद महाशय श्रीभगवान् को बोले थे—विशुद्ध विज्ञानघनस्वरूप आप स्वीय शक्ति के द्वारा समाप्त सर्वार्थ, अतएव सिद्धाभीष्ट स्व-प्रभा से निवृत्त मायागुण प्रवाह, श्रीभगवान् आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सर्वाश्रय हैं, आश्रिता माया द्वारा अशेष वस्तु का निर्माण करते हैं। क्रीड़ार्थ मनुष्य शरीर में आप प्रकट हुए हैं। यदु, वृष्णि, सात्वतगण के सूर्य्य—आपको मैं प्रणाम करता हूँ।" अर्थात् विशुद्ध विज्ञान जो परमतत्त्व वह ही जिनका विग्रह है, जो स्वीय स्वरूपाकार से अथवा स्वरूपशक्ति के द्वारा परिपूर्ण सर्वार्थ में अथवा सर्वार्थ में विराजित हैं। अति तुच्छ वृथाभूत इस जगत् कार्य्य में जिनकी कुछ भी वाञ्छा नहीं है। यदि किसी अवाञ्छित की सम्बन्धाशङ्का होती है, वह स्वीय तेज से—अर्थात् स्वरूपशक्ति के प्रभाव से 'जो माया प्रवाह परम्परा है'—नित्य ही विदूरित हुई है। अन्यत्र भी इस प्रकार उक्ति है— "गुणमयी शक्ति परिशून्य स्वरूपशक्ति युक्त उन श्रीभगवान् की शरणापन्न होता हूँ।" अर्थात् श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूँ, जो स्वीयांश में ईश्वर हैं, उन अन्तर्य्यामिपुरुष को प्रणाम करता हूँ। ईश्वर किस प्रकार हैं? जो स्वरूपशक्ति से स्वयं ही स्वयं का आश्रय हैं। "आत्ममाया" शब्द से, आत्मा—जीव, तद्विषया माया, अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महावाहो! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥" (गीता)

यहाँ गीतोक्त जीवमाया ही विचित्र जगत् सृष्टि का रूपमें निर्द्धारित है। उस माया के द्वारा अशेषविध आकार की रचना उन्होंने की है। अथवा आत्ममाया,—स्वरूपशक्ति से जो निज का आश्रय है, अर्थात् महापुराण पुराणोक्त आश्रयतत्त्व हैं। उस शक्ति के द्वारा अशेषविधा मायाशक्ति की कल्पना जिन्होंने की है।

कल्पना मायाशक्तिर्यस्य। कीदृशं त्वाम्? सम्प्रति त्वदाविर्भावसमये तस्यापीश्वरस्य त्वयि भगवत्येव प्रवेशात्। युगपद्विचित्र-तत्तच्छक्तिप्रकाशेन या क्रीड़ा तदर्थमभ्यात्तः अभि भक्ताभिमुख्येन आत्त आनीतः प्रकटितो मनुष्याकारो "नराकृति परं ब्रह्म" इति स्मरणात् तद्रूपो भगवदाख्यो विग्रहो येन। तमेव पुनर्विशिनष्टि यदुवृष्णिसात्वतां धुर्य्यम्; तेषां नित्यपरिकराणां प्रेमभारवहमिति। अथवा मूलपद्ये (भा० १०।३९।५५) "शक्त्या" इति सर्वत्रैव विशेष्यपदम्। श्रीर्मूलरूपा, पुष्ट्यादयस्तदंशाः, विद्या ज्ञानम्; आ समीचीना विद्या भक्तिः; (गी० ९।२) "राजविद्या राजगुह्यम्" इत्याद्युक्तेः। माया वहिरङ्गा, तद्वृत्तयः श्र्यादयस्तु पृथक् ज्ञेयाः। शिष्टं समम्। ततश्चात्र शुद्धभगवत्प्रकरणे स्वरूपशक्तिवृत्तिष्वेव गणनायां पर्य्यवसितासु विवेचनीयमिदम्। प्रथमं तावदेकस्यैव तत्त्वस्य सच्चिदानन्दत्वाच्छक्तिरप्येका त्रिधा भिद्यते; तदुक्तं श्रीविष्णुपुराणे श्रीध्रुवेण (वि० पु० १।१२।६९)—

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते"॥४९॥इति।

व्याख्यातश्च श्रीस्वामिभिः—"ह्लादिनी आह्लादकरी, सन्धिनी सन्तता, सम्विद्विद्याशक्तिः। एका मुख्या अव्यभिचारिणी स्वरूपभूतेति यावत्। सा सर्वसंस्थितौ सर्वस्य सम्यक् स्थितिर्यस्मात् तस्मिन् सर्वाधिष्ठानभूते त्वय्येव, न तु जीवेषु। जीवेषु च या गुणमयी त्रिविधा सा त्वयि नास्ति। तामेवाह—"ह्लादतापकरी मिश्रेति। ह्लादकरी मनःप्रसादोत्था सात्त्विकी; तापकरी विषयवियोगादिषु तापकरी तामसी; तदुभयमिश्रा विषयजन्या राजसी; तत्र हेतुः

अनुवाद—

सम्प्रति आपका आविर्भाव के समय में उक्त समस्त विचित्रा मायाशक्ति,—अधीश, आप में प्रविष्ट हुई हैं। अर्थात् आप सर्वथा परिपूर्ण रूप में प्रकट हुए हैं। युगपत् विचित्र शक्ति को प्रकट कर क्रीड़ार्थ भक्त के सम्मुख में नराकृति परब्रह्मस्वरूप भगवदाख्य जिन स्वरूप का प्रकट आपने किया है, उसका कारण—आपकी अशेष करुणा है। अतएव यदु, वृष्णि, सात्वत प्रभृति नित्य परिकरगण के प्रेमभार वहनक्षम,—आपको प्रणाम करता हूँ।

अथवा 'श्रिया पुष्ट्या'—इस श्लोकोक्त 'श्री'—मूलरूप शक्ति, पुष्ट्यादि उनके अंश हैं, विद्या—ज्ञान। आ—समीचीना विद्या, भक्ति—"राजविद्या राजगुह्य" इत्यादि गीता की उक्ति के अनुसार इस प्रकार अर्थ भी हो सकता है। माया—वहिरङ्गा शक्ति, उसकी वृत्ति श्री-आदि पृथक् हैं। अतएव पूर्व में जो व्याख्या की गई है, "श्री-आदि शक्ति—अन्तरङ्गा एवं वहिरङ्गा उभय शक्ति में समान रूप से हैं।" अर्थात् उभय शक्ति की ही द्विविधा वृत्ति हैं। यहाँ का प्रकरण शुद्ध भगवत् तत्त्व का है, अतएव स्वरूपशक्ति के मध्य में पर्य्यवसिता शक्तिसमूह की विवेचना करनी होगी।

प्रथमतः सच्चिदानन्दमय अद्वय तत्त्व की सच्चिदानन्दमयता वशतः शक्ति भी सच्चिदानन्दात्मिका है, उक्त शक्ति का भेद त्रिविध हैं। विष्णुपुराण में ध्रुव की उक्ति, यथा—"सकल के आश्रयस्वरूप श्रीभगवान् में एक शक्ति ही ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्विद् आख्या से विभूषिता है। किन्तु गुणातीत ह्लाद तापकरी एवं मिश्रा शक्ति उनमें नहीं है।" अर्थात् ह्लादिनी—आह्लादकरी, सन्धिनी—सन्तता विस्तारात्मिका, सम्वित्—विद्या शक्ति, एका—मुख्या अव्यभिचारिणी स्वरूपभूता हैं। उक्त शक्ति सर्वाधिष्ठानभूत आपमें ही अवस्थिता हैं। जीव में यह शक्ति नहीं रहती है, एवं जीव में जो गुणमयी त्रिविधा शक्ति है। वह शक्ति भगवान् में नहीं रहती है। ह्लादकरी—मनःप्रसादोत्था सात्त्विकी, तापकरी—विषयवियोगादिजनिका

सत्त्वादिगुणैर्वर्जिते । तदुक्तं सर्वज्ञसूक्तौ—

"ह्लादिन्या सम्विदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः । स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः" ॥४५०॥ इति ।

अत्र क्रमादुत्कर्षेण सन्धिनीसम्विद्ह्लादिन्यो ज्ञेयाः । तत्र च सति घटानां घटत्वमिव सर्वेषां सतां वस्तूनां प्रतीतेर्निमित्तमिति क्वचित् सत्तास्वरूपत्वेन आम्नातोऽप्यसौ भगवान् (छा० ६।२।१) "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकाल-द्रव्यादिव्याप्तिकरी सन्धिनी ; तथा सम्विद्रूपोऽपि यया सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा सम्वित् ; तथाह्लादरूपोऽपि यया सम्विदुत्कर्षरूपया तं ह्लादं सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा ह्लादिनीति विवेचनीयम् । तदेवं तस्या मूलशक्तेस्त्र्यात्मकत्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूपं वा स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविर्भवति तद्विशुद्धसत्त्वम् । तच्चान्यनिरपेक्षयस्तत्प्रकाश इति ज्ञापनज्ञानवृत्तिकत्वात् सम्विदेव । अस्य मायया स्पर्शाभावाद्विशुद्धत्वम् । तत्र चेदमेव विशुद्धसत्त्वं सन्धिन्यंश-प्रधानं चेदाधारशक्तिः ; सम्विदंशप्राधानमात्मविद्या ; ह्लादिनीसारांशप्रधानं गुह्यविद्या ; युगपत् शक्तित्रयप्राधानं मूर्त्तिः । अत्राधारशक्त्या भगवद्धाम प्रकाशते; तदुक्तम् (भा० १२।८।४६) "यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वम्, लोको यतः" इति । तथा ज्ञानतत्प्रवर्त्तकलक्षणवृत्ति-

अनुवाद—

तामसी, ह्लाद एवं तापकरी मिश्रभूता—राजसी, सत्त्वादि गुणत्रयातीत आप में मायिक गुण सम्बन्ध ही जब नहीं है, तब गुणमयी माया का अवस्थान आप में नहीं हो सकता है। यह व्याख्या श्रीधरस्वामिपाद ने की है। सर्वज्ञसूक्त में लिखित है—

"सच्चिदानन्द परमेश्वर ह्लादिनी एवं सम्विद् शक्ति के द्वारा आश्लिष्ट हैं। क्लेश निकर के आकर जीव स्वीया अविद्या से संवृत है।" यहाँ सन्धिनी सम्वित् एवं ह्लादिनी शक्ति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। अर्थात् घटसमूह की विद्यमानता में घटत्व के समान समस्त वस्तु की विद्यमानता की प्रतीति निमित्त निबन्धन कहीं पर विद्यमानता स्वरूप में सन्धिनी होती है। "अग्र में सद्रूप में यह ब्रह्म थे।" इत्यादि श्रुति में सद्रूपत्व में जो व्यपदिष्ट हुये हैं, उन श्रीभगवान् जिस शक्ति के द्वारा सत्त्वा को धारण करते हैं, एवं धारण करवाते हैं, वह ही सर्वदेश-काल-द्रव्यादि प्राप्तिकरी सन्धिनी है। ज्ञान स्वरूप होकर भी जिस शक्ति के द्वारा भगवान् सकल को जानते हैं, एवं जीव को जानाते हैं, वह ही सम्वित् शक्ति है। आनन्दस्वरूप होकर भी सम्वित् उत्कर्ष रूप जिस शक्ति के द्वारा आनन्दानुभव करते हैं, एवं जीव को आनन्दानुभव करवाते हैं, वह ही शक्ति ह्लादिनी है, यह अवश्य विवेचनीय है।

अतएव भगवदीय मूल शक्ति का त्रिविधत्व सिद्ध होने से, स्व-प्रकाशता लक्षण उसकी वृत्तिविशेष के द्वारा स्वरूप तत्त्व, स्वरूपशक्ति, अथवा स्वरूपशक्तिविशिष्ट स्वरूपतत्त्व आविर्भूत होते हैं। वह ही विशुद्ध सत्त्व है, वह अन्यनिरपेक्ष्य वस्तु (तत्त्व) प्रकाशक है। इसको जानाने के निमित्त जो ज्ञान है, उस ज्ञान वृत्तिता के कारण सम्वित् को ज्ञान स्वरूप ही जानना होगा। माया स्पर्श के अभाव वशतः उसकी विशुद्धता ही है। द्वादशस्कन्ध में इस सत्त्व के प्राकृतेतरत्व के सम्बन्ध में श्रीनारद ऋषि के प्रति मार्कण्डेय महाशय की उक्ति इस प्रकार है,—"हे ईश ! हे आत्मबन्धो ! सत्त्व, रजः, तम, इस जगत् के स्थिति, लय, उद्भव की हेतुभूत माया है, वह आपकी माया है, और आपकी मायामयी लीला से सब धृत हैं। तथापि जिससे जीव के व्यसन, मोह, भय होते हैं, उस तमो रजः से आपकी सत्त्वमयी मूर्त्ति ही जीव की

द्वयकयात्मविद्यया तद्वृत्तिरूपमुपासकाश्रयं ज्ञानं प्रकाशते। एवं भक्ति-तत्प्रवर्त्तकलक्षणवृत्ति-द्वयकया गुह्यविद्यया तद्वृत्तिरूपा प्रीत्यात्मिका भक्तिः प्रकाशते। एते एव विष्णुपुराणे लक्ष्मीस्तवे स्पष्टीकृते (वि०पु० १।९।११८)—

"यज्ञविद्य महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी"॥४५१॥इति।

यज्ञविद्या—कर्म, महाविद्या—अष्टाङ्गयोगः, गुह्यविद्या—भक्तिः, आत्मविद्या—ज्ञानम्; तत्तत्सर्वाश्रयत्वात्त्वमेव तत्तद्रूपा विविधानां मुक्तीनामन्येषाञ्च विविधानां फलानां दात्री भवसीत्यर्थः। अथ मूर्त्या परतत्त्वात्मकः श्रीविग्रहः प्रकाशते। इयमेव वसुदेवाख्या; तदुक्तं चतुर्थस्य तृतीये श्रीमहादेवेन (भा० ४।३।२३)—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं, यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो, ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते" ॥४५२॥ इति।

अस्यार्थः—विशुद्धं स्वरूपशक्तिवृत्तित्वाज्जाड्यांशेनापि रहितमिति विशेषेण शुद्धं सत्त्वं यत् तदेव वसुदेवशब्देनोक्तम्। कुतस्तस्य सत्त्वता वसुदेवता वा? तत्राह—यद् यस्मात् तत्र

अनुवाद—

मुक्ति विधायिनी है। हे भगवन्! तज्ज्ञ्य कुशली जीवगण आपकी शुक्लमूर्त्ति, श्रीविष्णु रूप की एवं तद्भक्त लक्षण प्रियमूर्त्ति की उपासना कतते हैं। जिससे वे सब वैकेण्ठ लोक एवं परमानन्द को प्राप्त करते हैं।" श्लोकद्वय का तात्पर्य्य,—हे ईश! यद्यपि सत्त्व, रज, तम—आपकी माया कृत लीला है। जो विश्व के स्थित्यादि के हेतु है। तथापि जो सत्त्वमयी है, वह ही प्रकृष्ट सुख की जनयित्री है। किन्तु अन्य रजो अथवा तमोमयी मूर्त्ति है, वह सुख के निमित्त नहीं होती है। एवं केवल सुख का अभाव ही होता है वैसा नहीं। किन्तु व्यसन—शब्द अनिष्ट का हेतु भी है। कहा गया है—हे भगवन्! तज्ज्ञ्य निपुण जनगण आपकी शुक्ला सत्त्वमयी लीलाधिष्ठात्री तनु श्रीविष्णु मूर्त्ति की सेवा करते हैं। अपर ब्रह्म रुद्र मूर्त्ति की सेवा नहीं करते हैं। इस प्रकार सत्त्वैकनिष्ठ आपके भक्त जीवगण के मध्य में स्वायम्भुवादि रूपा मूर्त्ति, जिसको लोक शान्तिकरी कहते हैं। आपका भी प्रिय है, जनगण उन मूर्त्ति का भजन करते हैं। किन्तु दक्ष भैरवादि मूर्त्ति का अनुसरण नहीं करते हैं।

यदि कहा जाय कि—मेरी स्वरूप सत्त्वात्मिका मूर्त्ति प्रसिद्ध है, तब उसमें मायामयत्व होने की सम्भावना कहाँ है? उत्तर में कहते हैं—नहि नहि, जिसके कारण—सात्वतगण (भागवतगण) पुरुषरूपी आपके सत्त्व रूप को ही प्रकाशस्वरूप मानते हैं। जिस सत्त्व से वैकुण्ठ लोक प्रकाशित होता है। वह ही अभय आत्मसुख परमानन्दस्वरूप है, वह अन्य प्राकृतिक सत्त्व नहीं है। सुतरां यहाँ पर स्वप्रकाशलक्षण स्वरूप शक्ति के वृत्तिविशेष को सत्त्व शब्द से कहा गया है।

"वसुदेव शक्तित ही विशुद्धसत्त्व है। जिससे पुरुष 'जीव' अपगतावरण होने से वहाँ वासुदेव का प्रकाश होता है।" इत्यादि श्रीशिव वाक्य के अनुसार अगोचर का गोचरत्व हेतु विशुद्ध सत्त्व ही यहाँ 'सत्त्व' पद का अर्थ है। प्राकृतिक गुण सत्त्व—अशुद्ध है। विशुद्ध सत्त्व प्रकाशक होने से वह चित्शक्ति विशेष ही है। इस प्रकार अर्थ ही यहाँ सङ्गत है। अतएव जो स्वरूपशक्ति की वृत्ति है। वह स्वरूपात्मक ही है। अभयम्—आत्मसुख, इस प्रकार अर्थ शक्तित्व विवक्षा से ही हुआ है। कारण जिससे लोक वैकुण्ठादि नित्य धाम है। यदि अर्थान्तर से भगवद्विग्रह पर अर्थ किया जाय तो "रूपं यदेतत्" इत्यादि तृतीय स्कन्धोक्त ब्रह्मा की उक्ति के अनुसार प्रतिज्ञा भङ्ग एवं सरलार्थ की हानि होगी। एवं न चान्यत्—इत्यादि श्लोकोक्त एक अन्यत् पद का रजः-तमः इत्याकार द्विरावृत्ति से प्रतिपत्ति गौरव होता है। कारण,

तस्मिन् पुमान् वासुदेवः ईयते प्रकाशते। आद्ये तावदगोचरगोचरताहेतुत्वेन लोकप्रसिद्ध-सत्त्वसाम्यात् सत्त्वता व्यक्ता। द्वितीये त्वयमर्थः—वसुदेवे भवति प्रतीयत इति वासुदेवः

अनुवाद—

प्रथम श्लोक में 'नान्ये' द्विवचन के द्वारा ही रजः तमः परामृष्ट हुआ है। सुतरां प्रसिद्ध प्राकृतिक सत्त्व से अन्य स्वरूपभूत सत्त्व है, यह अवश्य स्वीकार्य्य है। एकादश स्कन्ध में उक्त है—"आपके जिस शरीर में भुवनत्रय सन्निविष्ट है।" इत्यादि श्लोकमें 'ज्ञानं स्वतः' इस पद की व्याख्या में स्वामिपाद ने लिखा है—"जिनके स्वरूपभूत सत्त्व से शरीरधारी मात्र का ज्ञान होता है।" एवं ब्रह्मस्तवान्त में—"एतत् सुहृद्भि-श्चरितं" इस श्लोक में व्यक्तेतरं पद की व्याख्या में लिखे हैं, व्यक्त—जड़ प्रपञ्च से पृथक् शुद्धसत्त्वात्मक है।" पुनश्च "परोरजः सवितुः" इत्यादि श्रीभरत जाप्य में आपने परोरजः पद का अर्थ—"रजसः प्रकृतेः" अर्थात् प्रकृति से पर, शुद्धसत्त्वात्मक, इस प्रकार व्याख्या करके प्रपञ्चेतर शुद्धसत्त्व को स्वीकार किया है।

अतएव प्राकृत सत्त्वादि गुण जीव के हैं। वे सब श्रीभगवान् में नहीं हैं, शास्त्र का कथन यह ही है। श्रीभगवान् स्वयं ही एकादश स्कन्ध में कहे हैं—"सत्त्व-रजो-तमः आदि गुण जीव के हैं, मेरा नहीं।" गीता में उक्त है—सात्त्विक राजसिक तामसिक भावसमूह मुझसे उत्पन्न हैं, किन्तु वे सब मुझमें नहीं रहते हैं। त्रिगुणमय भाव के द्वारा समस्त जगत् मोहित हैं, अतः त्रिगुणातीत अव्यक्त वस्तुस्वरूप मुझ के वे सब नहीं जानते हैं। मेरी दैवी गुणमयी माया दुरतिक्रमणीया है, जो लोक मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं। वे सब ही उसके ग्रास से मुक्त होते हैं।"

द्वादश स्कन्ध में वर्णित है—"श्रीहरि निर्गुण—प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष, सर्वद्रष्टा, साक्षी, उनका भजन कर जीव गुणातीत अवस्था को प्राप्त करता है।" विष्णुपुराण में उक्त है—प्राकृत सत्त्वादि गुण ईश्वर में नहीं है। जो सर्वशुद्ध से भी शुद्ध, आदि पुरुष, आप मेरे प्रति प्रसन्न हो।" यहाँ सत्त्वादि गुण नहीं है, इस उक्ति से प्रतीत होता है,—अप्राकृत गुणादि हैं, यह व्यञ्जित है। एवं प्रसीदतु—इस पद से प्रसाद के हेतुभूत अन्यान्य गुण उनमें है, एवं वे सब गुण विशुद्ध सत्त्व हैं। विष्णुपुराण के उक्त प्रकरण में ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्वित् इत्यादि की उक्ति है। दशम स्कन्ध में इन्द्र की उक्ति है—"विशुद्ध सत्त्वरूप आपका दिव्य धाम शान्त तपोमय है, आपमें रजो तमो भाव मायामय गुण प्रवाह का अज्ञान अनुबन्ध भी नहीं है। अतएव सर्वज्ञरूप आपकी शरणापन्न हूँ।" यहाँ धाम, स्वरूपभूत प्रकाशशक्ति, विशुद्ध के सम्बन्ध में "ध्वस्तरजस्तमस्कं एवं तपोमयं" उभय विशेषण से गुणसम्बन्धातीत, तप—अर्थात् ज्ञान है। "ऋषि ज्ञानार्थ तपस्या किए" इस श्रुति में "तप" शब्द का अर्थ ज्ञान किया गया है। अतएव तमोमय प्रचुर ज्ञानस्वरूप है जिसमें जाड्य का अंश पर्य्यन्त नहीं है। "आत्मा ज्ञानमय शुद्ध" इस प्रकार जानना होगा। सुतरां प्राकृत सत्त्व की व्यावृत्ति ही स्थापित हुई है। प्राकृत सत्त्व की व्यावृत्ति से मायिक गुणों का प्रवाह आपमें नहीं है, उसका प्रकाश स्वतः ही होता है। अतएव गर्भ स्तव में ब्रह्मादि देवगण की सयौक्तिक उक्ति है—"आप शरीरिगण के सकल मङ्गल का आश्रयस्वरूप विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति को धारण कर जीवगण वेदादि विहित योग-तपस्या समाधि के द्वारा आपकी सम्यक् पूजा करते रहते हैं। हे धातः! आपकी यह विशुद्ध सत्त्वोर्जित श्रीमूर्त्ति यदि स्वरूपतः नहीं होती तो जीव का अज्ञानजनित भेद दूरीकरण पूर्वक आपका परोक्षानुभव नहीं होता। गुण प्रकाश के द्वारा आप केवल अनुमित होते हैं। जिनका गुण समूह प्रकाशित होते हैं, एवं जिनके द्वारा अर्थात् बुद्धि के अधिष्ठाता आप हैं, आपके द्वारा बुद्धि, इन्द्रियादि परिचालित एवं प्रकाशित होते हैं। आपकी सेवा के फल से आपकी कृपा से उपासना के अनन्तर में उक्त तत्त्व समूह प्रकाशित होते हैं। अर्थात् सत्त्व की प्रकाशमानता हेतु अभिन्नता द्वारा रूपित मूर्त्ति को आप प्रकट करते हैं। जो सत्त्व विशुद्ध नाम से अभिहित है, रजस्तमो मिश्र प्राकृत सत्त्व की कदापि विशुद्धता नहीं होती है। किन्तु विशुद्ध सत्त्व कारणस्वरूप शक्त्यात्मक है। यह प्राकृत सत्त्व की अस्पृश्यता के

परमेश्वरः प्रसिद्धः; स च विशुद्धसत्त्वे प्रतीयते। अतः प्रत्ययार्थेन प्रसिद्धेन प्रकृत्यर्थो

अनुवाद—

कारण अतीव शुद्ध है।

आप किस निमित्त निज श्रीमूर्त्ति को प्रकट करते हैं? निज चरणारविन्दों में जीवगण के मनस्थैर्य्य विधानार्थ, भक्तगण को सुख प्रदान करना ही प्रकट होने का मुख्य प्रयोजन है। कुन्ती देवी कही थी—"भक्तियोग विधानार्थ आविर्भूत आप हैं, आपको मैं सामान्य स्त्री होकर कैसे जान सकूँगी।" यहाँ सुस्पष्टतः हो भक्तिविधान ही प्रकट होने का एकमात्र प्रयोजन निर्दिष्ट हुआ है। आपकी उन मूर्त्ति कैसी हैं? सकल प्रकार पुरुषार्थ का आश्रय, नित्य अनन्त परमानन्दरूप है। वपु के सहित भेद निर्देश औपचारिक है, कारण, आप एवं आपका बपु एक ही है, आप सच्चिदानन्दघन हो, आपकी श्रीमूर्त्ति भी सच्चिदानन्दघनात्मिका है। अतएव जिस बपु को अवलम्बन कर जनगण आपकी पूजा करते रहते हैं। किस उपाय से अर्च्चना करते हैं? वेदादि बोधित तपस्यान्त साधन के द्वारा। साधारणतः अर्पण के द्वारा ही अर्च्चन सिद्ध होने पर भी श्रीमूर्त्ति स्वतन्त्र है। विशुद्धसच्चिदानन्दघनस्वरूप हैं। अतः प्रकाश के प्रति ही विशुद्ध सत्त्व की स्वरूपात्मकता है। इसका स्पष्टीकरण अग्रिम वाक्य से हुआ है—"हे धात! यदि यह सत्त्व, आपका स्वरूप विज्ञान (अनुभव) स्वप्रकाशताशक्त्यात्मक नहीं होता तो, स्वप्रकाश आप का अनुभवरूप शुद्धि होती, अर्थात् केवल भेद ज्ञान मात्र तिरोहित होता। एवं वह निर्विकल्पक ज्ञान ही (शुद्धि) जगत् में पर्य्यवसित होता, आपका अनुभव का लेश मात्र भी नहीं रहता।

यदि कहो कि,—प्राकृत सत्त्वगुण के द्वारा ही मेरा अनुभव होगा। स्वरूपभूत सत्त्व की आवश्यकता ही क्या? उत्तर में कहते हैं,—प्राकृत सत्त्वादि गुण के द्वारा आप केवल अनुमित होते हैं। उससे साक्षात् दर्शन आपका नहीं होता है। अथवा पक्षान्तर में अन्यार्थ करने पर भी आपका ज्ञानरूप भेद का अपमार्जन, वह यदि आपका निज सत्त्व नहीं होता। अर्थात् आप स्वीय सत्त्व का आविर्भाव नहीं करते तो उस प्राकृत सत्त्वादि गुण के प्रकाश से आप अनुमित मात्र होते। निज स्व-प्रकाश सत्त्वादि गुण के आविर्भाव से आपका साक्षात्कार होता है। उसको स्पष्ट करने के निमित्त मूल श्लोक में द्विविध अनुमान कहा गया है। "प्रकाशते यस्य च येन वा गुण."—अर्थात् अस्वरूपभूत प्राकृत सत्त्वादि गुण के सहित आपकी अव्यभिचारि सत्त्वसम्बन्धिता अथवा एकमात्र आपके द्वारा ही प्रकाश्यमानता ही आपका परिचायक है। जिस प्रकार अरुणोदय,—सूर्य्योदय सान्निध्य का परिचायक (ज्ञापक) है, अथवा धूम जिस प्रकार अग्नि का परिचायक है। अतएव उभय प्रकार से ही आपका साक्षात्कार से, प्राकृत सत्त्व की साधकतमता का अभाव ही सूचित होता है। अतएव अप्राकृत स्व-सत्त्व की त्वदीय स्वप्रकाशरूपता सुसिद्ध है। जिस स्वप्रकाशता शक्ति के द्वारा स्वप्रकाश आनन्दघनरूप आपकी श्रीमूर्त्ति का साक्षात्कार होता है।

अप्राकृत सत्त्व की तत्स्वरूपता। जो लोक, प्राकृत रजस्तमः शून्यावस्था को ही विशुद्ध सत्त्व मानते हैं। श्रीभगवद् विग्रहादि को उसका ही कार्य्य मानते हैं, वे लोक किसी के अनुग्रह भाजन नहीं हैं। कारण रजोगुण सम्बन्धाभाव के द्वारा स्वतः शान्त स्वभाव सर्वत्र उदासीन सत्त्व की आकृति हेतु क्षोभ की असम्भवता वशतः एवं उक्त सत्त्व की विद्यमानता के द्वारा यथावस्थित वस्तु को प्रकाश करना ही उसका धर्म है। उसमें कल्पनान्तर का आरोप करना अतीव असङ्गत है।

विशेषतः उक्त सत्त्वादि गुण के सम्बन्ध में उक्ति है,—अगोचर वस्तु गोचर के प्रति प्राकृत सत्त्वगुण कारण है। गोचरीभूत वस्तु के बहुरूपत्व के प्रति रजः कारण है, एवं बहुरूप के तिरोधान के प्रति तमः कारण है। तद्रूप परस्पर की उदासीनता के प्रति सत्त्व, उपकारिता के प्रति रजः, एवं अपकारिता के प्रति तमः कारण है। यह गोचर ही सृष्टि-स्थिति संहार नाम से अभिहित है। इस रीति से उदासीनत्व को भी जानना होगा। रजो लेशशून्यता कहना ही यदि अभीप्सित हो, तो विशुद्ध पद की पूर्णतया व्यर्थतापत्ति होगी। अतएव उक्त मत में रजोगुण की प्रवर्त्तनादि व्यापार सर्वथा वर्जनीय है।

निर्द्धार्य्यते। ततश्च वासयति देवमिति व्युत्पत्त्या वा वसत्यस्मिन्निति वा वसुः, तथा दीव्यति द्योतत इति देवः, स चासौ स चेति वासुदेवः, (भा० ११।१९।३९) "धर्म इष्टं धनं नृणाम्" इति स्वयंभगवदुक्तेर्वसुभिर्भगवद्धर्मलक्षणैर्धनैः प्रकाशत इति वा वासुदेवः। तस्माद्वसुदेवशब्दितं विशुद्धसत्त्वम्। इत्थं स्वयंप्रकाशज्योतिरेकविग्रहभगवज्ज्ञानहेतुत्वेन (भा० ११।२५।२४)—

"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" ॥४५३॥॥

इत्यादौ बहुत्र गुणातीतावस्थायामेव भगवज्ज्ञानश्रवणेन च सिद्धमत्र विशुद्धपदावगतं स्वरूप-

अनुवाद—

हमारे मतमें उक्त स्थल का तात्पर्य्य यह है—विशुद्ध सत्व—सन्धिन्यंश प्रधान आधार शक्ति, सम्वित् अंश प्रधान आत्मविद्या, ह्लादिनी सारांश प्रधान गुह्यविद्या, ये तीन शक्ति जब युगपत् प्राधान्य प्राप्त करती है, तब उक्त शक्तित्रय प्रधान ही श्रीमूर्त्ति हैं। अर्थात् सच्चिदानन्दमय की सन्धिनी सम्वित् ह्लादिनी ही मूर्त्ति है। तज्जन्य ही उक्त है—"यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः", अतएव सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् युगपत् उन शक्तित्रय को अवलम्बन करके ही श्रीमूर्ति में विराजित हैं, उक्त आधार शक्ति से भगवद्धाम का प्रकाश होता है। यथा—"कारण—सात्वतगण पुरुष रूप को सत्त्व कहते हैं। जिससे वैकुण्ठादि लोक प्रकट होते हैं।"

इस प्रकार उपासकाश्रय का ज्ञान भगवत् शक्ति की प्रेरणा से ही होता है। ज्ञान का प्रवर्त्तक लक्षण वृत्ति द्वयात्मिका विद्या के द्वारा (सन्धिनी सम्वित् शक्ति द्वारा) प्रेरित होकर उपासक के हृदयमें ज्ञानोन्मेष होता है। इस प्रकार भक्ति एवं तत् प्रवर्त्तक लक्षण वृत्तिद्वयात्मिका (सम्वित् ह्लादिनी) गुह्यविद्या द्वारा प्रेरित होकर तद्वृत्तिरूपा प्रीत्यात्मिका भक्ति प्रकाशिता होती है। विष्णुपुराणस्थ लक्ष्मी स्तव में इसका सुस्पष्ट विवरण है—"हे शोभने! हे देवि! यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या, आत्मविद्यारूप आप सबको मुक्तिफल प्रदान करते हैं।" यहाँ यज्ञविद्या—कर्म, महाविद्या—अष्टाङ्ग योग, गुह्यविद्या—भक्ति, आत्म विद्या—ज्ञान, सबके आश्रय होने से आप ही तत्तद्रूप में सर्वविध मुक्ति का एवं अपर विविध फलदात्री हैं।

परतत्त्वात्मक श्रीविग्रह ही मूर्त्ति में प्रकाशित होते हैं। यह ही वसुदेवाख्या से अभिहित है। "विशुद्ध सत्त्व ही वसुदेव नाम से अभिहित हैं। उक्त विशुद्ध सत्त्व के उदय से मन निर्मल होता है, पश्चात् भगवान् वासुदेव प्रकाशित होते हैं। उन विशुद्ध सत्त्व अधोक्षज वासुदेव की मैं प्रणाम द्वारा सेवा करता हूँ।" अर्थात् विशुद्ध स्वरूपशक्ति की वृत्तिता के कारण जाड्यांश जिनमें नहीं है, वह ही विशुद्ध सत्त्व है। उनका नाम ही वसुदेव है।

प्रथमतः अगोचर की गोचरता हेतु लोक प्रसिद्ध प्राकृत सत्त्व की साम्यता के कारण सत्त्वता व्यक्त है। वसुदेव में प्रतीत होते हैं, तज्जन्य परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। यह प्रतीति विशुद्ध सत्त्व में होती है। अतएव प्रसिद्ध प्रत्ययार्थ के द्वारा प्रकृत्यर्थ निर्द्धारित हुआ है। वासयति देवं—अथवा वसति अस्मिन्, इस व्युत्पत्ति से 'वसुः' होता है। तथा दीव्यति द्योतते इस व्युत्पत्ति से 'देवः' होता है। वसु एवं देव में श्यामराम समास से वासुदेव शब्द निष्पन्न होता है। मानव का इष्ट धन—धर्म ही है। स्वयं भगवान् की वह उक्ति से भगवद्धर्म लक्षण धन के द्वारा जो प्रकाशित हैं, वह वासुदेव हैं।

सुतरां विशुद्ध सत्त्व ही यहाँ वसुदेव शब्द से कथित है। इस प्रकार स्वयं प्रकाश ज्योतिःस्वरूप विग्रह भगवत् ज्ञान के प्रति हेतु है। श्रीभगवान् कर्त्तृक उक्त हुआ है—"सात्त्विक ज्ञान कैवल्यस्वरूप है, राजस ज्ञान विकल्पात्मक है, तामस ज्ञान प्राकृत हैं, मन्निष्ठ ज्ञान निर्गुण है।" इस प्रकार अनेक स्थलों में ही भगवत् ज्ञान को गुणातीत कहा गया है। अतएव विशुद्ध पद के द्वारा स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत स्वप्रकाशता

शक्तिवृत्तिभूतस्वप्रकाशताशक्तिलक्षणत्वं तस्य व्यक्तम्। ततश्च सत्त्वे प्रतीयत इत्यत्र करण एवाधिकरणविवक्षा। स्वरूपशक्तिवृत्तित्वमेव विशदयति—अपावृत आवरणशून्यः सन् प्रकाशते। प्राकृतं सत्त्वञ्चेत्तर्हि तत्र प्रतिफलनमेवावसीयते। ततश्च दर्पणे मुखस्येव तदन्तर्गततया तस्य तत्रावृतत्वेनैव प्रकाशः स्यादिति भावः। फलितार्थमेवाह—एवम्भूते सत्त्वे तस्मिन्नित्यमेव प्रकाशमानो भगवान् मे मया मनसा विशेषेण धीयते धार्य्यते चिन्त्यते चेत्यर्थः। तत्सत्त्वतादात्म्यापन्नेनैव मनसा चिन्तयितुं शक्यत इति पर्य्यवसितम्। ननु केवलेन मनसैव चिन्त्यताम्, किं तेन सत्त्वेन? तत्राह—हि यस्मात् अधोक्षजः, अधःकृतमतिक्रान्तमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं येन सः, नमसेति पाठे हि-शब्दस्थानेऽप्यनुशब्दः पठ्यते। ततश्च विशुद्धसत्त्वाख्यया स्वप्रकाशताशक्त्यैव प्रकाशमानोऽसौ नमस्कारादिना केवलमनुविधीयते सेव्यते, न तु केनापि प्रकाश्यत इत्यर्थः। तदेवमदृश्यत्वेनैव स्फुरन्नसावदृश्येनैव नमस्कारादिना अस्माभिः सेव्यत इति भावः। ततस्तत्प्रकरणसङ्गतिश्च गम्यत इति। अथ यतो भगवद्विग्रहप्रकाशकविशुद्धसत्त्वस्य मूर्त्तित्वं वसुदेवत्वञ्च, तत एव तत्प्रादुर्भावविशेषे धर्मपत्न्यां मूर्त्तित्वं प्रसिद्धम्, श्रीमदानकदुन्दुभौ च वसुदेवत्वमिति विवेचनीयम्। अत्र श्रद्धापुष्ट्यादिलक्षणप्रादुर्भूतभगवच्छक्त्यंशवृन्दस्य भगिनीतया पाठसाहचर्य्येण मूर्त्तेस्तस्यास्तच्छक्त्यंशप्रादुर्भावत्वमुपलभ्यते, (भा० १।३।९) "तुर्य्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी" इत्यत्र कलाशब्देन च शक्तिरेवाभिधीयते। ततः शक्तिलक्षणायां तस्याञ्च नर-नारायणाख्य-भगवत्-प्रकाशफलदर्शनात् वसुदेवाख्य-शुद्धसत्त्वरूपत्वमेवावसीयते। तदेवमेव तस्या मूर्त्तिरित्याख्याप्युक्ता, तथा च श्रद्धाद्या

अनुवाद—

शक्तिलक्षणत्व व्यक्त हुआ है। अतएव "सत्त्वे प्रतीयते" यहाँ करण में अधिकरण विवक्षित है। अर्थात् स्वरूपशक्ति के वृत्तिभूत स्वप्रकाशता शक्ति रूप सत्त्व के द्वारा ही श्रीभगवान् प्रकाशित होते हैं।

स्वरूपशक्ति वृत्ति की विशदार्थता। स्वरूपशक्ति की वृत्ति को विशद् रूप से निर्देश करने के निमित्त एक विशेषण है,—"अपावृत" आवरणशून्य होकर प्रकाशित होते हैं। यदि वह प्राकृत सत्त्व होता तो, दर्पणमें मुख दर्शन के तुल्य मूर्त्ति प्रतिफलन में ही वह पर्य्यवसित होता। कारण, सत्तान्तर्गता हेतु आवृतत्व रूप में ही उसका प्रकाश होता। इसका फलितार्थ यह है—उक्त विशुद्ध सत्त्व में प्रकाशमान श्रीभगवान् मत् कर्त्तृक मानस में विशेष रूप से धृत हो। अर्थात् विशुद्ध सत्त्व के सहित तादात्म्यापन्न अन्तर में जिस प्रकार मैं श्रीभगवान् की चिन्ता कर सकूँ।

श्रीभगवान् की अपनी बात में देखने में आता है कि—"योगमाया समावृत होकर आप सकल के सामने प्रकाशित नहीं होते हैं। उन अदृश्यरूपी श्रीभगवान् अस्मदादि के अदृश्य प्रमाणादि के द्वारा सेवित होते हैं", यह ही तात्पर्य्य है। इससे उक्त प्रकरण की सङ्गति भी होती है।

जिनसे श्रीभगवद्विग्रह का प्रकाश विशुद्ध सत्त्व का मूर्त्तित्व—वसुदेवत्व है, उनसे ही उनका प्रादुर्भाव विशेष धर्मपत्नी में मूर्त्तित्व भी प्रसिद्ध है, एवं इस प्रकार आनकदुन्दुभि में भी वसुदेवत्व विवेचनीय है।

यहाँ श्रद्धा पुष्टि प्रभृति लक्षण प्रादुर्भूत भगवच्छक्त्यंश वृन्द का पाठ साहचर्य्य हेतु भगिनी रूपमें उन सब की मूर्त्ति, भगवच्छक्त्यंश प्रादुर्भावत्व का लाभ भी होता है। "तुर्य्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी" इस श्लोक में कला शब्द से शक्ति ही अभिहित है। अतएव शक्ति लक्षण उनमें नरनारायणाख्य—भगवत्

विशदार्थतया विमुच्य सैव निरुक्ता चतुर्थे (भा० ४।१।५०) 'मूर्त्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी' इति ; सर्वगुणस्य भगवत उत्पत्तिः प्रकाशो यस्याः सा तावसूतेति पूर्वेणैवान्वयः। भगवदाख्यायाः सच्चिदानन्दमूर्त्तेः प्रकाशहेतुत्वात् मूर्त्तिरित्यर्थः। तथैव तत्प्रकाशफलत्वदर्शनेन नामैक्येन च श्रीमदानकदुन्दुभेरपि शुद्धसत्त्वाविर्भावत्वं ज्ञेयम् ; तच्चोक्तं नवमे (भा० ९।२४।३०) "वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्" इति। अन्यथा हरेः स्थानमिति विशेषणस्याकिञ्चित्करत्वं स्यादिति। तदेवं ह्लादिन्याद्येकतमांशविशेष-प्रधानेन विशुद्धसत्त्वेन यथायथं श्रीप्रभृतीनामपि प्रादुर्भावो विवेक्तव्यः। तत्र च तासां भगवति सम्पद्रूपत्वं तदनुग्राह्ये सम्पत्सम्पादकरूपत्वं सम्पदंशरूपत्वञ्च—इत्यादित्रिरूपत्वं ज्ञेयम्। तत्र च तासां केवलशक्तिमात्रत्वेनामूर्त्तानां भगवद्विग्रहाद्यैकात्म्येन स्थितिस्तदधिष्ठात्रीरूपत्वेन मूर्त्तानां तु तत्तदावरणतयेति द्विरूपत्वमपि ज्ञेयमिति दिक्॥ श्रीशुकः॥

१००। अथैवंभूतानन्तवृत्तिका या स्वरूपशक्तिः, सा त्विह भगवद्वामांशवर्त्तिनी मूर्त्तिमती लक्ष्मीरेवेत्याह (भा० १२।११।२०) "अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः" इति। टीका च—"अनपायिनी हरेः शक्तिः। तत्र हेतुः—साक्षादात्मनः स्वस्वरूपस्य चिद्रूपत्वात्तस्यास्तदभेदादित्यर्थः" इत्येषा। अत्र साक्षाच्छब्देन (भा० २।५।१३)— "विलज्जमानया यस्य

अनुवाद—

प्रकाशरूप फल दृष्ट होने से वसुदेवाख्य शुद्धसत्त्वरूप ही पर्य्यवसित होता है। सुतरां उनकी मूर्त्ति, यह आख्या भी उक्त है। चतुर्थमें श्रद्धादि का विशदार्थ से वर्णन है। यथा—"मूर्त्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी", "नरनारायणाख्य ऋषि भगवदवतार सर्वगुणों का स्वरूप अथवा आधार हैं। उनकी उत्पत्तिरूपा मूर्त्ति" अर्थात् सर्वगुण-स्वरूप भगवान् की उत्पत्ति हुई है, अर्थात् जिनसे प्रकाश हुआ है, वह देवी उन दोनों को प्रसव किये। पूर्व के साथ इसका अन्वय इस प्रकार से ही होगा। भगवदाख्य सच्चिदानन्द मूर्त्ति प्रकाश के हेतुता वशतः उनको भी मूर्त्ति कही गयी है।"

तद्रूप यहाँ भी भगवत् प्रकाशरूप फल दर्शन एवं नाम की ऐक्यता के कारण आनकदुन्दुभि का भी शुद्ध सत्त्वाविर्भावत्व को जानना होगा। इसका विवरण नवम स्कन्ध में है—"वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्" "आनकदुन्दुभि को हरि का स्थान एवं वसुदेव कहते हैं।" अन्यथा 'हरि का स्थान' विशेषण की अकिञ्चित्करता होगी। सुतरां ह्लादिन्यादि एकतम शक्ति का अंशविशेष प्रधान वशतः एवं विशुद्ध सत्त्व हेतु श्री प्रभृति शक्तिवर्ग का यथायथ प्रादुर्भाव विवेचनीय है।

श्रीभगवान् में उन सबकी 'सम्पद्रूपता, अनुग्राह्य में सम्पत्सम्पादकरूपता, सम्पदंशरूपता' इत्यादि त्रिरूपता जाननी होगी। केवल शक्तिमात्रत्व में अमूर्त्त,—उन सब की श्रीभगवद् विग्रहादि की एकात्मता सम्बन्ध में अवस्थिति होती है। उक्त अवस्थिति का उभय प्रकार भेद है। एक अधिष्ठात्री रूपमें, अपर मूर्त्तिगण के तत्तदावरण रूपमें, इस प्रकार से ही शक्तिवर्ग के सहित शक्तिमान का सम्बन्ध एवं कार्य्यादि को जानना होगा। यह कथन श्रीशुकदेव का है॥९९॥

एवम्भूत अनन्त वृत्तिका जो स्वरूपशक्ति है, वह शक्ति ही श्रीभगवान् की वामांशवर्त्तिनी मूर्त्तिमती श्री लक्ष्मी ही यहाँ अभिहित हैं। "अनपायिनी (नित्या) भगवती श्री श्रीहरि की स्वरूपभूता शक्ति"। स्वामिपाद की टीका—"अनपायिनी श्रीहरि की शक्ति, तत्प्रति हेतु—साक्षात्, आत्मा को स्व-स्वरूप की चित्रूपता निबन्धन वह श्रीहरि से अभिन्न हैं।" इत्यादि। यहाँ "साक्षात्" शब्द से "विलज्जमाना जो

स्थातुमीक्षापथेऽमुया" इत्याद्युक्ता माया नेति ध्वनितम् । तत्रानपायित्वं यथा श्रीहयशीर्ष-पञ्चरात्रे—

"परमात्मा हरिर्देवस्तच्छक्तिः श्रीरिहोदिता । श्रीर्देवी प्रकृतिः प्रोक्ता केशवः पुरुषः स्मृतः ।
न विष्णुना विना देवी न हरिः पद्मजां विना" ॥४५४॥ इति ;

श्रीविष्णुपुराणे (१।८।१५)—

"नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी । यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम" ॥४५५॥ इति ;

तत्रान्यत्र (वि०पु० १।६।१४०)—

"एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्द्दनः । अवतारं करोत्येव तथा श्रीस्तत्सहायिनी" ॥४५६॥ इति ।

चिद्रूपत्वमपि स्कान्दे—

"अपरं त्वक्षरं या सा प्रकृतिर्जड़रूपिका । श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया ॥४५७॥
तामक्षरं परं प्राहुः परतः परमक्षरम् । हरिरेवाखिलगुणोऽप्यक्षरत्रयमीरितम्" ॥४५८॥ इति ।

अतएव श्रीविष्णुपुराण एव (१।६।४४-४५)—

"कलाकाष्ठानिमेषादिकालसूत्रस्य गोचरे । यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य प्रसीदतु स मे हरिः ॥४५९॥
प्रोच्यते परमेशो हि यः शुद्धोऽप्युपचारतः । प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेहिनाम्" ॥४६०॥ इति ।

अत्र स्वामिभिरेव व्याख्यातञ्च—"कलाकाष्ठानिमेषादिकाल एव सूत्रवत् सूत्रं जगच्चेष्टा-नियामकत्वात्, तस्य गोचरे विषये यस्य शक्तिर्लक्ष्मीर्न वर्त्तते, स्वरूपाभिन्नत्वात् नित्यैव सा कालाधीना न भवतीत्यर्थः । अतएव तस्याः स्वरूपाभेदात् शुद्धस्येत्युक्तम् । ननु यदि लक्ष्मीस्तत्स्वरूपाभिन्ना, कथं तर्हि लक्ष्म्याः पतिरित्युच्यते? तत्राह—प्रोच्यत इति। परा चासौ

अनुवाद—

माया, श्रीभगवान् की दृष्टि के सम्मुख में रहने में असमर्था हैं। (वह जीव सम्मोहिनी माया है) इस श्लोकोक्त माया नहीं है, यह ध्वनित हुआ है। अनपायित्व के सम्बन्ध में हयशीर्ष पञ्चरात्र का कथन है कि—"परमात्मा श्रीहरि देवता हैं, उनकी शक्तिस्वरूप श्री को जानना। देवी श्री प्रकृति नाम से विख्याता हैं। केशव को पुरुषरूप में जानना। देवी श्रीविष्णु व्यतीत नहीं रहती हैं, श्रीहरि भी पद्मजा लक्ष्मी को छोड़कर नहीं रहते हैं।" विष्णुपुराणमें उक्त है—"उन जगन्माता लक्ष्मी नित्य ही श्रीविष्णु की अनपायिनी श्री रूप में विराजिता हैं। हे द्विजोत्तम ! विष्णु जिस प्रकार सर्वगत हैं, तद्रूप आप भी सर्वत्र अवस्थिता हैं।" अन्यत्र वर्णित है—"जगत् स्वामि देवदेव जनार्दन, जिस प्रकार जगत् में स्वीयावतरण को प्रकट करते हैं, तद्रूप उनकी सहायकारिणी शक्ति श्री भी प्रकटिता होती है।" स्कन्द पुराण में चिद्रूपता वर्णित है—"अपराक्षरा जो प्रकृति वह जड़रूपिका (जड़ा) एवं परा प्रकृति श्री, विष्णु संश्रया, चिद्रूपाख्याता है। उनको परम अक्षर कहा जाता है। अक्षर स्वरूप आपको पर से भी पर कहा जाता है। पर अक्षर अखिल गुणस्वरूप होकर भी श्रीहरि ही अक्षरत्रय नाम से ख्यात हैं।" अतएव विष्णुपुराण में कथित है—"कला काष्ठा निमेषादि कालसूत्र के गोचर में शुद्ध स्वरूप जिनकी शक्ति अवस्थिता नहीं है, उन श्रीहरि मेरे प्रति प्रसन्न हो।"

स्वामिपाद की व्याख्या—कला काष्ठा निमेषादि काल ही सूत्रवत् सूत्र, जगच्चेष्टा का नियामक है। श्री-शक्ति उन कालशक्ति के अधीन नहीं हैं, स्वरूप से अभिन्ना होने के कारण नित्या हैं। सुतरां श्री काल की अनधीना हैं। अतएव शुद्धस्वरूप से अभिन्न होने से शक्ति भी शुद्धा है। यहाँ आशङ्का हो सकती है कि—लक्ष्मी, यदि उनके स्वरूप से अभिन्ना होती है, तो विष्णु को लक्ष्मीपति क्यों कहा जाता है ? उत्तर

मा च लक्ष्मीस्तस्या ईशः परमेशः, यः शुद्धः केवलोऽपि उपचारतो भेदविवक्षया प्रोच्यते। द्वितीयो यच्छब्दः प्रसिद्धौ।" इति। एवमेवाभिप्रेत्य प्रार्थितं श्रीब्रह्मणा तृतीये(भा० ३।९।२३)—
"एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत कर्मशमलञ्च यथा विजह्याम्"॥४६१॥ इति।
अतो यत्तु (भा० ७ ९।२)—

"साक्षात् श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम्।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता" ॥४६२॥

इति श्रीनरसिंहप्रादुर्भूतावुक्तम्; तत्राद्दृष्टाश्रुतपूर्वत्वं सम्भ्रमादेव जातमित्यूह्यम्। तस्मात् साधु व्याख्यातम् "अनपायिनी भगवती" इत्यादि ॥ श्रीसूतः ॥

१०१। तदेवं सच्चिदानन्दैकरूपः स्वरूपभूताचिन्त्यविचित्रानन्तशक्तियुक्तो धर्मत्व एव धर्मित्वम्, निर्भेदत्व एव नानाभेदवत्त्वमरूपित्व एव रूपित्वम्, व्यापकत्व एव मध्यमत्वं सत्यमेवेत्यादि-परस्परविरुद्धानन्तगुणनिधिः स्थूल-सूक्ष्मविलक्षण-स्वप्रकाशाखण्ड-स्वस्वरूप-भूतश्रीविग्रहस्तथाभूतभगवदाख्यमुख्यैकविग्रहव्यञ्जिततादृशानन्तविग्रहस्तादृशस्वानुरूपस्वरूप-शक्त्याविर्भावलक्षण-लक्ष्मीरञ्जितवामांशः स्वप्रभाविशेषाकारपरिच्छद-परिकर-निजधामसु

अनुवाद—

में कहते हैं—परमेश हैं। अर्थात् "परा चासौ मा लक्ष्मी स्तस्या ईशः यः" इस समास से केवल स्वरूप होकर भी औपचारिक भेद की विवक्षा से ही उनकी लक्ष्मीपति आख्या है। यहाँ 'योयः' द्वितीय 'य' शब्द, प्रसिद्धार्थ में प्रयुक्त है। इस अभिप्राय से श्रीब्रह्म कर्त्तृक प्रार्थित हुआ था—"प्रसन्न वरदाता श्रीहरि गुणावतार समूह को ग्रहण कर आत्मशक्ति रमा के सहित जो जो कर्म करते हैं।" जिसमें श्रीविष्णु का प्रभाव ही प्रख्यात हुआ है। अतएव जिससे, उनकी आज्ञा से विश्वरचना में प्रवृत्त मेरा चित्त, कर्मासक्ति एवं तज्जनित वैषम्यादि पापों से निर्म्मुक्त हो सकता है। आप मुझको उस रूपमें प्रवर्त्तित करें।" अतएव श्रीनृसिंह प्रादुर्भाव के समय—श्रीनृसिंह के दुरन्त क्रोधोपशमनार्थ देवगण प्रेषिता साक्षात् श्री भी, अदृष्टाश्रुत महदद्भुत रूप दर्शन से भीता होकर सम्मुख में आने में सक्षम नहीं हुई।" यहाँ अदृष्टाश्रुत पूर्वता, सम्भ्रम जनिता हुई थी, यह उह्य है। सुतरां "अनपायिनी भगवती" इस श्लोक की व्याख्या उत्तम ही हुई हैं। यह उक्ति श्रीसूत महाशय की है ॥१००॥

श्रीभगवान् में धर्म धर्मी भेद नहीं है, श्रीभगवान् वेदैकवेद्य हैं। अतएव सच्चिदानन्दैकरूप स्वरूपभूत अचिन्त्य विचित्र अनन्त शक्तियुक्त धर्मत्व में भी (अर्थात् धर्म-धर्मी का एकत्व वशतः जो कुछ भी भेद नहीं है, अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से विरुद्ध धर्म का समावेश श्रीभगवान् में है, उसका प्रदर्शन हो रहा है) धर्मित्व निर्भेद में भी नाना भेदवत्त्व, अरूपित्व में भी रूपित्व, व्यापक में भी मध्यमावयवत्व, ये सब सत्य हैं। इत्यादि परस्पर विरुद्ध अनन्त गुणनिधि, स्थूल-सूक्ष्म-विलक्षण, स्वप्रकाश, अखण्ड स्वरूपभूत श्रीविग्रह एवम्प्रकार श्रीभगवदाख्य मुख्य एक विग्रह के द्वारा व्यञ्जित तादृश स्वप्रकाश अनन्त विग्रह, अर्थात् श्रीभगवद् विग्रह जब अचिन्त्य एवं अनन्त हैं। उन-उन शक्ति गुण धर्मादि का आश्रय हैं। तब अपर जिस किसी विग्रह है, जिसमें उन-उन शक्ति गुणधर्म धर्मादि जिस किसी भाव का आंशिक प्रकाश है, वे सब उनके ही अंश हैं। सब विग्रह ही उनसे रञ्जित हैं।

एवं तादृश स्वीयानुरूप जो स्वरूपशक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आविर्भाव लक्षण जो लक्ष्मी देवी हैं,

विराजमानाकारः स्वरूपशक्तिविलासलक्षणाद्भुत-गुणलीलादिचमत्कारितात्मारामादिगणो निजसामान्यप्रकाशाकारब्रह्मतत्त्वो निजाश्रयैकजीवन-जीवाख्य-तटस्थशक्तिरनन्तप्रपञ्चव्यञ्जित-स्वाभासशक्तिगुणो भगवानिति विद्वदुपलब्धार्थशब्दैर्व्यञ्जितम् । तत्र तत्स्वभावं वस्त्वन्तरम-पश्यतामविदुषामसम्भावना युक्तेति विविदिषून् श्रद्धापयितुं प्रक्रियते । तत्रैकेन श्लोकेन तस्याविदुषां ज्ञानागोचरत्वम्, किन्तु वेदैकवेद्यत्वमेवेत्याहुः (भा० १०।८७।२४)—

"क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं, यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः, किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा" ॥४६३

बत अहो हे भगवन्! इह जगति अग्रसरं पूर्वसिद्धं त्वाम् अवरजन्मलयः अर्वाचीनोत्पत्ति-नाशवान् को नु पुमान् वेद जानाति । ईश्वरस्य पूर्वसिद्धावन्यस्य च अर्वाचीनत्वे कारणं वदन्त्यो ज्ञानकारणाभावमाहुः—यत उदगादिति । यतस्त्वत्त एव ऋषिर्ब्रह्मा उत्पन्नः । यं ब्रह्माणमनु उभये आध्यात्मिका आधिदैविका उत्पन्नाः, आध्यात्मिका अत्र व्यष्टिगता एव ज्ञेयाः। अतोऽर्वाचीनाः सर्वे । यदा तु भवान् शास्त्रं स्वविज्ञापकं वेदमवकृष्य वैकुण्ठ एवाकृष्य शयीत, जगत्कार्य्यं प्रति दृष्टिं निमीलयति, तर्हि तदा अनुशयिनां जीवानां ज्ञानसाधनं नास्ति। यतस्तदा न सत् स्थूलमाकाशादि, न चासत् सूक्ष्मं महदादि, न चोभयं सदसद्भ्यामारब्धं

अनुवाद—

उनसे ही श्रीहरि के वामांश रञ्जित है । अर्थात् जहाँ पर ही श्रीभगवान् के जिस विग्रह का प्रकाश होता है, वहाँ पर ही उनकी शक्तिस्वरूपिणी श्रीलक्ष्मी देवी उनके वामांश को सुशोभित कर विराजित होती हैं ।

एवं जिस प्रकार लक्ष्मीदेवी, उस प्रकार ही प्रभा, आकार, परिच्छद, एवं परिकरगण द्वारा परिवृत धामसमूह विराजमान हैं । श्रीविग्रह एवं स्वरूपशक्ति का विलासलक्षण अद्भुत गुणलीलादि उन श्रीभगवान् के हैं । उनका ही सामान्य प्रकाशविशेष ब्रह्म हैं । उन ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करने से आत्माराम संज्ञा होती है । उन आत्मारामगण भी श्रीभगवद्विग्रहादि को देखकर चमत्कृत होते हैं ।

जिनका चित्सामान्य प्रकाश ब्रह्म हैं, तटस्थाशक्ति नामक जीवशक्ति जिनमें आश्रित होकर है, अनन्त प्रपञ्च में जिनकी आभासशक्ति विच्छुरित है, इन समस्त को लेकर ही जिनकी भगवत्ता है । जो पूर्वोक्त विचित्र अनन्त शक्ति से शक्तिमान् हैं, उन सर्वशक्तिमान् पुरुष ही तत्त्वविद्गणों के उपलब्धार्थ-शब्द के द्वारा प्रकाशित हैं । अर्थात् आत्मारामगण जिस शब्दार्थ को सम्यक् रूपसे जान गए हैं, उक्त तत्त्ववस्तु ही श्रीभगवान् शब्द से अभिव्यञ्जित होते हैं । श्रीभगवान् का स्वभाव प्रभृति में जिनकी असम्भावना बुद्धि है, उन सब व्यक्ति भगवत्तत्त्व की सम्यक् उपलब्धि कर नहीं सकते हैं । यह कथन अतीव सङ्गत है । इस प्रकार कहने के अभिप्राय से एवं श्रीभगवान् में श्रद्धासम्पन्न कराने के निमित्त ही यह प्रचेष्टा है ।

सम्प्रति श्रीभागवतीय श्रुतिस्तुति के एक श्लोक के द्वारा दर्शाया जाता है कि—श्रीभगवान् अज्ञ का अगोचर हैं, एवं वेदवेद्य हैं । भा० १०।८७।१४ "हे भगवन् ! अहो इस जगत् में अनादि सिद्ध आपको, तत्परवर्त्ती कालज उत्पत्ति-विनाशशील कौन व्यक्ति जानने में सक्षम है ? कारण, आप से ब्रह्मा हुए हैं । उन ब्रह्मा से अपर देवगण उत्पन्न हुए हैं । सब ही परवर्त्ति काल में उत्पन्न हुए हैं । कारण, प्रलय के समय, आप सब को आकर्षण करके शयन किये थे । उस समय अनुशायी जीव का ज्ञान साधन ही नहीं था । अर्थात् स्थूल आकाशादि, सूक्ष्म महदादि, अथवा उक्त सदसदादि के द्वारा आरब्ध-शरीरादि, अथवा

शरीरम्, न च कालजवस्तन्निमित्तभूतं कालवैषम्यम्। एवं सति तत्र तदा किमपि इन्द्रिय-प्राणाद्यपि न। अयमर्थः—यदा सृष्टिसमये वेदप्रचारितं तादृशं भगवज्ज्ञानं तदार्वाक्सृष्टिगतत्वात् देहाद्युपाधिकृतान्तरत्वात् कालकर्मवशेन मलिनसत्त्वत्वात् तेषां तदवधारणे सामर्थ्यं नास्ति, यदा तु तव प्रलयसमये न बह्वन्तरमस्ति, तदापि तेषां वेदान्तर्द्धानमहातमोमयसुषुप्तिभ्यां साधनाभावान्न तथानुभव-सामर्थ्यमिति। तथा च श्रुतयः "न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्-युष्माकमन्तरं बभूव"; (तै० २।४।१) "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"; "को अद्धा वेद क इह प्रावोचत्। कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग् देवा अस्य विसर्ज्जनेनाथ को वेद यत आबभूव"; (ईश० ४)—

"अनेजदेकं मनसो जवीयो, नैनं देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठ,-त्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" ॥४६४॥

अनुवाद—

कालकृत वैषम्यादि न होने से इन्द्रिय-प्राणादि अथवा उसके ज्ञापक वेदादि शास्त्र कुछ भी नहीं थे।"

अर्थात् साश्चर्य्य विस्मय से श्रीभगवान् को सम्बोधन करके कहा जाता है—इस जगत् में पूर्व सिद्ध आप को जन्म-लयादि वशतः परवर्त्ति काल में उत्पत्ति विनाश स्वभावविशिष्ट कौन व्यक्ति जान सकता है? अर्थात् कोई व्यक्ति जान नहीं सकता है।

यहाँ ईश्वर की पूर्वकालसिद्धता एवं अपर की परवर्त्तिकालवर्त्तिता है। इसके प्रति कारण निर्देश करने के निमित्त—ज्ञान कारणाभाव को कहते हैं। "यत् उदगात्" आप से ऋषि ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। एवं ब्रह्मा के अनन्तर आध्यात्मिक एवं आधिदैविक - उभय देवगण उत्पन्न हुए हैं। यह आध्यात्मिक व्यष्टि चैतन्यान्तर्गत है। अतएव सब ही अर्वाचीन, परवर्त्ति कालोत्पन्न एवं अज्ञ हैं।

जब आप स्वीय तत्त्वज्ञापक वेद को अवकर्षण करतः, वैकुण्ठ को आकर्षण करके जगत् कार्य्य के प्रति दृष्टि निमीलित होकर शयन करते हैं, उस समय (प्रलय में) जो जीव पश्चात् जाकर शयन कर अनुशयी होता है, उस जीवों का ज्ञान साधन उस समय नहीं रहता है। कारण, सत्, स्थूल, आकाशादि, असत् सूक्ष्म महदादि एवं उभय अर्थात् सदसदुभय के द्वारा आरब्ध शरीर, काल की गति, गति निमित्त कालकृत वैषम्य भी नहीं रहते हैं। सुतरां उस समय इन्द्रिय प्राणादि कुछ भी नहीं थे।

इसका तात्पर्य्य यह है कि—श्रीभगवान् का प्रचार वेद के द्वारा होता है, सृष्टि काल में होता है। परवर्त्ति काल में सृष्टिगत देहादि उपाधि के द्वारा अवस्थान्तर प्राप्त होने से कालकृत कर्मवश से जीव मलिन सत्त्व को प्राप्त करता है, अतः भगवत्तत्त्वावधारण की शक्ति जीव में नहीं होती है।

प्रलय समय में भी वेद का अन्तर्द्धान एवं महातमोमय सुषुप्ति के द्वारा साधन का अभाव होता है। अतः उस समय भी भगवत्तत्त्वावधारण की सामर्थ्य जीव की नहीं होती है।

श्रुति भी कहती है—"श्रीभगवान् को हम सब नहीं जानती हैं, जो सबके अन्तर में हैं, जिनको प्राप्त न कर मन के सहित वाक्य निवर्त्तित होता है, उनको साक्षात् जानने में कौन समर्थ होगा। कहाँ यह सृष्टि हुई है? अन्यान्य देवगण जिससे उत्पन्न हुए हैं, उनको कौन जान सकता है। आप सर्व भूतस्थ आत्मा हैं, सदा निश्चल हैं, एक रूप होकर भी मन से अधिक वेगवान् हैं। अर्थात् मन का अप्राप्य हैं। इन्द्रियवर्ग एवं तदधिष्ठाता देवतागण भी उनको ज्ञानगोचरीभूत नहीं कर सकते हैं। आप सर्वगत हैं, निज स्थान में अवस्थित होकर भी द्रुतगामी मन प्रभृति को अतिक्रम करते हैं। उनमें अवस्थित होकर ही वायु—प्राणिगण के चेष्टालक्षण कर्म को सफल बनाते हैं।"

"न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्वेदो ह्य वैनं वेदयति" इत्याद्याः ।। श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ।।

१०२। अथ तत्पूर्वकं विदुषां भक्त्यैव साक्षादनुभवनीयत्वमाह त्रिभिः (भा० ६।८।२१)—

"न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो, न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः ।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी;-विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः" ।।४६५।।

अजनः अजो ब्रह्मापि त्वामद्यापि न पश्यति, न च बुध्यते। कथम्भूतम् ? आत्मनः परं प्रत्यग्रूपम्। कैर्हेतुभिरपि न बुध्यते न पश्यति च ? समाधियुक्तिभिः ब्रह्मसमाधिनाप्य-परोक्षं न पश्यति ; युक्तिभिः परोक्षमपि न सम्यग्बुध्यत इत्यर्थः। अपरेऽर्वाचीनास्तु कुतस्त्वां पश्येयुर्बुध्येरन् वा। अर्वाचीनत्वे हेतुः— तस्य ब्रह्मणः। मनश्च शरीरञ्च धीश्च ताभिः सत्त्व-तमोरजःकार्य्यभूताभिर्विविधा ये देव-तिर्य्यङ्नराणां सर्गास्तेषु सृष्टाः। तत्रापि वयमप्रकाशा अज्ञाः कुतः पश्याम इत्यर्थः। अपरे तर्हि किं न पश्यन्ति ? तत्राह (भा० ६।८।२२)—

"ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना, गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्त्वां, विदुः स्वसंस्थं न वहिःप्रकाशाः" ।।४६६।।

ये देहभाजस्ते स्वस्मिन् सम्यक् स्थितमपि त्वां न विदुः, किन्तु गुणानेव विपश्यन्ति ; कदाचिच्च केवलं तम एव विपश्यन्ति। यतस्त्रिगुणा बुद्धिरेव प्रधानं येषां बुद्धिपरतन्त्रतया जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयान् पश्यन्ति, सुषुप्तौ तु तम एव, न तु वस्तुतो निर्गुणानां सर्वेषामात्म-

अनुवाद—

चक्षु नहीं, श्रोत्र नहीं, तर्क नहीं, स्मृति श्रुत्यादि भी उनको विज्ञापित करने में सक्षम नहीं होते हैं। इस प्रकार अनेक स्थलोंमें श्रीभगवान् का दुर्ज्ञेयत्व अभिहित हुआ है। श्रीभगवान् को श्रुतिगण कही थीं ।।१०१।।

सम्प्रति विद्वज्जनगण की भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् साक्षात् अनुभूत होते हैं, इसका विवरण श्लोकत्रय के द्वारा देते हैं,—

"परमात्मस्वरूप आपको ब्रह्मा भी अद्यापि समाधि युक्ति के द्वारा जानने में सक्षम नहीं हैं। ब्रह्मा के मन, शरीर, बुद्ध्यादि द्वारा सृष्ट अर्वाचीन हम सब आपको कैसे जान सकेंगे !"

अर्थात् 'अजनः' अज ब्रह्मा भी आपको जानने में अद्यापि समर्थ हुए हैं। किस प्रकार आपको ? आत्मा का पर, अर्थात् प्रत्यग्रूप आपको, किसके द्वारा ? ब्रह्म समाधि के द्वारा भी, अर्थात् युक्ति के द्वारा परोक्षानुभूत जो आप हैं, आपको अपरोक्षानुभव के द्वारा जानने में सक्षम नहीं होते हैं।

सुतरां अपर अर्वाचीन जन कैसे आपको जानेंगे ? अपर अर्वाचीन हैं, इसके प्रति कारण—ब्रह्मा, उनके मन, शरीर, धी प्रभृति के द्वारा सृष्ट सत्त्व रजः तमः कार्य्यभूत विविध देव-तिर्य्यक् मनुष्यादि सृष्टि हैं। तन्मध्यस्थ अज्ञ हम सब हैं। कैसे आपको जान सकेंगे। यदि कहो कि—अपर सब क्यों नहीं जान सकते हैं ? उत्तर में कहते हैं—

"आपकी माया से मोहित चित्त देहधारिगण, त्रिगुण बुद्धि प्रधान के गुण सकल को, एवं तमः को जानते हैं। किन्तु उक्त वहिर्द्रष्टृगण, निज हृदय में सम्यक् अवस्थित आपको देख नहीं पाते हैं।" अर्थात् देहधारिगण,—अपने हृदय में परमात्मरूप में नित्य अवस्थित आपको जानने में सक्षम नहीं होते हैं। किन्तु बुद्धि के गुणसमूह को देखते हैं। कभी केवल तमः को देखते हैं। कारण उन सब में बुद्धिवृत्ति का ही प्राधान्य है। उक्त बुद्धिवृत्ति का प्राधान्यवशतः जाग्रत-स्वप्नावस्था में विषयसमूह को देखते हैं। सुषुप्तिकाल

नामात्मभूतं त्वाम्। सर्वत्र हेतुः—यत् यतो मायया यस्य तव मायया वा मोहितं चेतो येषां ते। तथापि त्वं विचारेण ज्ञास्यसीति चेन्मैवम्, यतो नास्मद्विधानां ज्ञानगोचरस्त्वम्, किन्तु भक्तानामेवेत्याह (भा० ६।८।२३)—

"तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव,-प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं, कथं विमूढः परिभावयामि" ॥४६७॥

तं नानाश्चर्य्यवृत्तिक-परशक्तिनिधानं त्वां कथं परिभावयामि? किं स्वरूपम्? ज्ञानघनं सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्त्तिम्; अतएव "अनिर्द्देश्यवपुः" इति सहस्रनामस्तोत्रे। अयं भावः ज्ञानघनत्वान्न तावत् ज्ञानविषयस्त्वम्, विचारविषयत्वेऽपि मायागुणैरभिभूतोऽहं न विचारे समर्थ इति। ननु तर्हि मम तथाविधत्वे किं प्रमाणम्? तत्राह—स्वेन तदीयेन भावेन भक्त्या स्वस्यात्मनो भावेनाविर्भावेनैव वा प्रध्वस्ता मायागुणप्रकारकृतमोहो येभ्यस्तैः सनन्दनाद्यैर्भगवत्तत्त्वविद्भिर्मुनिभिर्विभाव्यं विचार्य्यं साक्षादनुभवनीयञ्चेत्यर्थः। तस्मादुलूकैः प्रकाशगुणकत्वेनासम्मतेऽपि रवौ यथान्यैरुपलभ्यमान-तद्गुणकत्वमस्त्येव, तथार्वाग्दृष्टिभिरसम्भाव्यमानमपि त्वयि तत्तद्गुणकत्वं त्वद्भक्तविद्वत्प्रत्यक्षसिद्धमस्त्येवेति भावः। तथा च श्रुतिः (कठ० २।१।१)—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू,-स्तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन्।

अनुवाद—

में पूर्णज्ञानाच्छन्न होकर केवल तमः को ही देखते हैं। किन्तु सकल आत्मा के आत्मभूत आपको नहीं देखते हैं।

आपका अदर्शन एवं विषयदर्शन के प्रति हेतु आपकी दुस्त्यजा माया से उन सबके चित्त सम्पूर्ण मोहित हैं। यदि कहो कि—विचार द्वारा जान सकते हैं? नहीं, कारण आप अस्मद्विध का ज्ञानगोचर नहीं होते हैं। किन्तु भक्तगणों के ज्ञानगोचर होते हैं। दृष्टान्त—(भा० ६।८।२३) ज्ञानफल स्वरूप आपको, प्रध्वस्त मायागुण भेद मोह सनन्दनादि मुनिगण देखते हैं। विमूढ़ हम सब आपको कैसे देख सकेंगे। अर्थात् नाना प्रकार आश्चर्य्य वृत्तियुक्त पराशक्ति के निधानस्वरूप आपको कैसे चित्त में धारण करेंगे।

आप कीदृश हैं? ज्ञानघन, सत्य, ज्ञान अनन्त, आनन्दैकरसमूर्त्तिस्वरूप हैं। अतएव सहस्रनामस्तोत्र में "अनिर्देश्यशरीर" आपका एक नाम है। इसका तात्पर्य्य यह है—ज्ञानघनत्व हेतु आप ज्ञान का विषय नहीं होते हैं, आप विचार का विषय होने पर भी हम सब मायागुणाभिभूत हैं, आपका तत्त्व विचार करने में हम सब अक्षम हैं।

यहाँ पुनश्च आशङ्का हो सकती है—"तब मुझको सत्य ज्ञानानन्त आनन्दैकरसमूर्त्ति कहते हो, तत्प्रति प्रमाण क्या है? तदुत्तर में कहते हैं—"स्वेन भावेन' त्वदीय भाव जो भक्ति है, उसके द्वारा 'स्वस्य भावेन' आपकी श्रीमूर्त्ति का आविर्भाव जिसके हृदय में आप करते हैं, वे सब आपको जान सकते हैं। प्रध्वस्त मायागुण प्रकारकृत मोह श्रीसनन्दन प्रभृति भगवत्तत्त्व के ज्ञाता हैं। अतः आप सब आपका साक्षात्कार अनुभव प्रभृति करते हैं। अर्थात् स्वीय कृपाशक्ति के द्वारा जिसको निज तत्त्व का अनुभव आप कराते हैं, वे ही आपको जानते हैं। अपर व्यक्ति जान नहीं सकते हैं।

सुतरां पेचक 'उल्लूपक्षी' रवि का प्रकाश गुणवत्त्व को स्वीकार नहीं करता है। किन्तु वह उलूक व्यतीत अपर के निकट चिर अनुभूत ही है, तद्रूप अज्ञ की दृष्टि में अदृश्य, असिद्ध आप हैं। किन्तु आपके भक्तजन के निकट में आप चिर प्रकटित सौशील्य, सौन्दर्य्य-माधुर्य्य से विराजित ही हैं।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,-दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥४६८॥

इत्याद्या ; "भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी";
(मु० ३।२।३)—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य,-स्तस्यैष आत्मा विवृणूते तनुं स्वाम्" ॥४६९॥

इत्याद्या च ॥ अंशुमान् श्रीकपिलदेवम् । विवृतौ ब्रह्म-भगवन्तौ ॥

इति कलियुगपावन-स्वभजन-विभजनप्रयोजनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेव-चरणानुचर-विश्ववैष्णव-राजसभा-सभाजन-भाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासनभारतीगर्भे षट्सन्दर्भनामके श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे श्रीश्रीभगवत्सन्दर्भो नाम द्वितीयः सन्दर्भः ॥

श्रीभागवतसन्दर्भे सर्वसन्दर्भगर्भगे। भगवत्सन्दर्भनामा सन्दर्भोऽभूद्द्वितीयकः ॥

समाप्तोऽयं श्रीश्रीभगवत्सन्दर्भः ॥

मूलम् – १०२ ; लेख्याः — २७४० श्लोकाः ।

अनुवाद—

श्रुतिः—(कठ, २।१।१) "ब्रह्मा ने जीवगणों के चित्त को विषयप्रवण कर सृजन किया है। विषयासक्त चित्त जीव विषय को ही देखता है। अन्तरात्मा, एवं परतत्त्व को नहीं देखता है। मोक्षकामी कतिपय धीर व्यक्ति आवृत्त चक्षु होते हैं, अर्थात् विषय से प्रत्याहृत इन्द्रिय होकर अन्तरात्मा को देखते हैं।"

"भक्ति ही उनको प्राप्त कराती है। भक्ति, भगवान् का दर्शन कराती है। वह पुरुष, भक्तिवश हैं, अतएव श्रीभगवद्दर्शन निमित्त भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है।" (उ० मु० ३।२।३) प्रवचन द्वारा आत्मलाभ नहीं होता है। मेधा, बहु श्रवण के द्वारा भी आप वेद्य नहीं होते हैं। जो व्यक्ति उनको जानने के निमित्त कामना करता है, उसके समीप में ही परमात्मा स्वीय मूर्त्ति प्रकट करते हैं।" इस प्रकार अनेक उक्ति प्रसिद्ध हैं। अंशुमान् श्रीकपिलदेव को कहे थे ॥१०२॥

कलियुग पावन का एकमात्र उपायस्वरूप जो निज भजन(भगवद्भजन) है, उक्त भजन का वितरण करना ही जिन अवतार का एकमात्र प्रयोजन है, उन भगवान् श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव के श्रीचरणानुचर एवं विश्ववैष्णवराजसभा के पात्रश्रेष्ठ श्रीरूप श्रीसनातन के उपदेशवाक्यामृत के अन्तर्गत श्रीभागवत-सन्दर्भ में भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ समाप्त हुआ।

मूलम् १०२; लेख्याः २७४० श्लोकाः ॥

शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्य निवासिना
रचिता विमला टीका सज्जनानाञ्च तुष्टये।
वेद ब्रह्म ग्रहे चन्द्रे माधवकुहुवासरे
विनोदिनीति विख्याता टीकेयं पूर्णता गता ॥





श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

१	वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"	६०,००
२	श्रीनृसिंह चतुर्दशी,	२.००
३	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.००
४	श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति	३.५०
५	श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका	२.००
६-७-८	श्रीगोविन्दलीलामृतम्	८०.५०
९	ऐश्वर्यकादम्बिनी,	५.००
१०	संकल्पकल्पद्रुम	५.००
११	चतुःश्लोकी भाष्यम्	} ५.००
१२	श्रीकृष्णभजनामृत	
१३	श्रीप्रेमसम्पुट,	५.००
१४	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
१५	व्रजरीतिचिन्तामणि,	५.००
१६	श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१.५०
१७	श्रीराधारससुधानिधि (मूल,)	१.००
१८	,, (सानुवाद)	५४.००
१९	श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,	६.००
२०	हरिभक्तिसारसंग्रह	१५.००
२१	श्रुतिस्तुति व्याख्या,	२०.००
२२	श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	१.००
२३	धर्मसंग्रह,	४.००
२४	श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर	४.००
२५	सनत्कुमार संहिता,	२.५०
२६	श्रीनामामृतसमुद्र	०.५०
२७	रासप्रबन्ध,	५.००
२८	दिनचन्द्रिका	२.००
२९	श्रीसाधनदीपिका,	१५.००
३०	चैतन्यमतदायक	५.००
३१	स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन,	२०.००
३२	श्रीगौराङ्गचन्द्रोदय,	६.००
३३	श्रीब्रह्मसंहिता	२७.००
३४	प्रमेयरत्नावली,	} १३.००
३५	नवरत्न	
३६	भक्तिचन्द्रिका,	१२.००
३७	वेदान्तस्यमन्तक	१३.००
३८	श्रीभक्तिरसामृतशेष:,	५५.००
३९	दशश्लोकी भाष्यम्	२५.००
४०	गायत्री व्याख्याविवृति:,	५.००
४१	श्रीचैतन्यभागवत	१०१.००
४२	श्रीचैतन्य मङ्गल	७५.००
४३	श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	७५.००
४४	तत्त्वसन्दर्भ:,	२०.००
४५	भगवत्सन्दर्भ:	३८.००
४६	परमात्मसन्दर्भ:,	५०.००
४७	कृष्णसन्दर्भ:	८०.००
४८	श्रीगौराङ्गविरुदावली	१८.००
४९	सत्सङ्गम:	२०.००
५०	श्रीचैतन्यचरितामृतम्	४८.००
५१	नित्यकृत्यप्रकरणम	३०.००
५२	श्रीमद्भागवत-प्रथमश्लोक	२५.००

बङ्गाक्षर में मुद्रित

५३	श्रीबलभद्र-सहस्रनामस्तोत्रम्	२.००
५४	दुर्लभसार	३.००
५५	साधकोल्लास:	१५.००
५६	भक्तिचन्द्रिका	१२.००
५७	श्रीराधारससुधानिधि (मूल.)	२.००
५८	,, (सानुवाद)	६.००
५९	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
६०	भक्तिसर्वस्व	५.००
६१	मन:शिक्षा	५.००
६२	पदावली	१०.००
६३	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.५०

प्रकाशनरत ग्रन्थरत्न—

१। श्रीहरिभक्तिविलास: । २। श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्, ३। भक्तिसन्दर्भ:, ४। प्रीतिसन्दर्भ: ५। श्रीचैतन्यचरितामृत (श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत) ६। अलङ्कार-कौस्तुभ (प्रभृति)

सद्ग्रन्थ प्रकाशन **श्रीहरिदास शास्त्री**
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास